भगवान् महावीरके २५००वें निर्वाण महोत्सवके अवसरपर प्रकाशित

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : संस्कृत ग्रन्थांक ४५

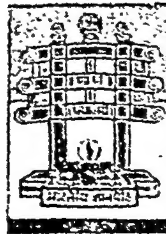
श्री-सकलकीर्ति-विरचितं

वीरवर्धमानचरितम्

[हिन्दीटीकोपेतम्]

सम्पादन-अनुवाद

पं. हीरालाल जैन, सिद्धान्तशास्त्री



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

वीर नि० संवत् २५०० : विक्रम संवत् २०३१ : सन् १९७४

प्रथम संस्करण : मूल्य उन्नीस रुपये

स्व० पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें तत्सुपुत्र साहू शान्तिप्रसादजी द्वारा

संस्थापित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन भण्डारोंकी सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, विशिष्ट विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन-साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें प्रकाशित हो रहे हैं।

●

ग्रन्थमाला सम्पादक

डॉ. आ. ने. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

●

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

प्रधान कार्यालय : बी/४५-४७, कनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-११०००१

प्रकाशन कार्यालय : दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-२२१००५

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-२२१००५

●

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७०, विक्रम सं० २०००, १८ फरवरी १९४४

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी



स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

Published on the occassion of 2500th Nirvana Mahotsava of Bhagavan Mahavir

JÑĀNAPĪṬHA MŪRTIDEVĪ GRANTHAMĀLĀ : Sanskrit Grantha No. 46

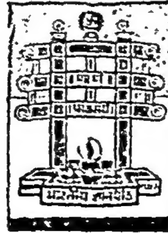
VĪRAVARDHAMĀNCARITAM

of

ŚRĪ-SAKALAKĪRTI

by

Pt. HIRALAL JAIN, Siddhantashastri



BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA PUBLICATION

VĪRA SAṀVAT 2500 : V. SAṀVAT 2031 : A. D. 1974

First Edition : Price Rs. 19/-

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA MŪRTIDEVĪ JAIN GRANTHAMĀLĀ

FOUNDED BY

SĀHU SHĀNTIPRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTIDEVĪ

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL, PAURĀṆIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRĀKṚTA, SANSKṚTA, APABHRAṀŚA, HINDI, KANNAḌA, TAMIL, ETC., ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE ARE ALSO BEING PUBLISHED.

•

General Editors

Dr. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.

Pt. Kailash Chandra Shastri

•

Published by

Bharatiya Jnanapitha

Head office : B/45-47, Connaught Place, New Delhi-110001

Publication office : Durgakund Road, Varanasi-221005.

•

Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470, Vikrama Sam. 2000, 18th Feb., 1944

प्रधान सम्पादकीय

भगवान् महावीरके पच्चीस सौवें निर्वाण महोत्सव वर्षके उपलक्ष्यमें भारतीय ज्ञानपीठके संचालक-मण्डल तथा परामर्शदात्री समितिने यह निर्णय लिया था कि प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंशमें पाये जानेवाले भगवान् महावीरके चरितोंका प्रकाशन किया जाये। तदनुसार अपभ्रंश भाषाके कवि पुष्पदन्तके महापुराणसे संकलित 'वीरजिणिदचरिउ' डॉ. हीरालाल जैनके द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशमें आ चुका है।

उसके पश्चात् आचार्य सकलकीर्तिके द्वारा संस्कृतमें निबद्ध श्री वीरवर्द्धमान चरित पं. हीरालाल जी सिद्धान्तशास्त्रीके द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशमें आ रहा है।

भगवान् महावीर जैन धर्मके अन्तिम तीर्थंकर थे। वह एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। प्राचीन बौद्ध त्रिपिटकोंमें 'निगंठ नातपुत्त' के नामसे उनका उल्लेख मिलता है। तथा उनके अनुयायी निर्ग्रन्थोंका भी उल्लेख बहुतायतसे मिलता है। डॉ. हर्मन् याकोबीने जैन सूत्रोंकी प्रस्तावनामें कहा है—"इस बातसे अब सब सहमत हैं कि नातपुत्त, जो महावीर अथवा वर्धमानके नामसे प्रसिद्ध हैं, बुद्धके समकालीन थे। बौद्ध ग्रन्थोंमें मिलनेवाले उल्लेख हमारे इस विचारको दृढ़ करते हैं कि नातपुत्तके पहले भी निर्ग्रन्थोंका, जो आज जैन अथवा आर्हतके नामसे अधिक प्रसिद्ध हैं, अस्तित्व था। जब बौद्ध धर्म उत्पन्न हुआ तब निर्ग्रन्थोंका सम्प्रदाय एक बड़े सम्प्रदायके रूपमें गिना जाता होगा। बौद्ध पिटकोंमें कुछ निर्ग्रन्थोंका बुद्ध और उसके शिष्योंके विरोधीके रूपमें और कुछका बुद्धके अनुयायी बन जानेके रूपमें वर्णन आता है। उसके ऊपरसे हम उक्त बातका अनुमान करते हैं।"

जैन आगमोंमें यह भी उल्लेख मिलता है कि भगवान् महावीरके माता-पिता पार्श्वनाथके अनुयायी थे। दिगम्बर परम्परामें उनका कोई चरित प्राकृत भाषामें निबद्ध प्राप्त नहीं हुआ। किन्तु आचार्य वीरसेनने जयधवला टीकाके प्रारम्भमें कुछ गाथाएँ उद्धृत की हैं जिनमें उनके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण तथा प्रथम धर्मदेशनाका चित्रण है। वे गाथाएँ कितनी प्राचीन हैं और कहाँसे संकलित की गयी हैं यह ज्ञात नहीं हो सका। उसके पश्चात् जिनसेनके हरिवंशपुराण (७८३ ई०) के प्रारम्भमें उनका संक्षिप्त चरित वर्णित है। प्रथम विस्तीर्णचरित गुणभद्रके उत्तरपुराणके अन्तिम परिच्छेदोंमें मिलता है उसमें उनके पूर्व भवोंका भी वर्णन है। महाकवि असगने वि. सं. ९१० में स्वतन्त्र रूपसे महावीरचरित संस्कृतमें रचा। इसमें अठारह सर्ग हैं किन्तु प्रारम्भके सोलह सर्गोंमें महावीरके पूर्व भवोंका चित्रण है और अन्तके दो सर्गोंमें उनका चरित वर्णित है। आचार्य सकलकीर्तिके वीरवर्द्धमानचरितमें १९ अधिकार हैं और प्रारम्भके छह अधिकारोंमें पूर्वभवोंका चित्रण है। शेष तेरह अधिकारोंमें जीवनचरित है किन्तु अन्य चरितोंसे इसमें कुछ विशेष कथन नहीं है। जिन घटनाओंका चित्रण असग कविने दो सर्गोंमें किया है उन्हींका इस चरित ग्रन्थमें १३ अधिकारोंमें वर्णन है।

हमें यदि किंचित् विशेषता प्रतीत हुई तो हरिवंशपुराणके कथनमें प्रतीत हुई। उसके अन्तिम छियासठवें सर्गके प्रारम्भमें गौतम गणधर श्रेणिकसे कहते हैं "जरत्कुमार, जिसके बाणसे कृष्णकी मृत्यु हुई थी, की पटरानी कलिंगराजाकी पुत्री थी। उसीकी वंश परम्परामें जितशत्रु हुआ। हे श्रेणिक! क्या तुम इस जितशत्रुको नहीं जानते जिसके साथ भगवान् महावीरके पिता राजा सिद्धार्थकी छोटी बहनका विवाह हुआ था। जब भगवान् महावीरका जन्मोत्सव हो रहा था तब यह कुण्डपुर आया था। इसकी यशोदया रानीसे उत्पन्न यशोदा नामकी पुत्री थी। उसके साथ भगवान् महावीरके विवाहकी यह उत्कट कामना रखता था किन्तु भगवान् महावीर विरक्त होकर वनको चले गये, तब वह स्वयं भी विरक्त होकर पृथिवी छोड़ तपमें लीन हो गया।"

इसका निर्देश अन्य चरितोंमें नहीं है। यह महावीरके विवाहके प्रसंगमें एक उल्लेखनीय यथाथ प्रतीत होता है। श्वे. परम्परामें महावीरकी पत्नीका नाम यशोदा ही मिलता है। हरिवंशके कथनका दूसरा उल्लेखनीय प्रसंग है कि भगवान् महावीरके निर्वाणके उपलक्ष्यमें भारतमें प्रतिवर्ष लोगोंके द्वारा दीपमालिका पर्वका मनाया जाना—

ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक् ॥
—६६।२१

इसका भी निर्देश किसी चरितकारने नहीं किया है। प्राचीन और अर्वाचीन जनमानसमें बहुत अन्तर आ गया है। प्राचीन युगमें किसी व्यक्तिको उसके मात्र वर्तमान जीवनसे ही नहीं आँका जाता था किन्तु उसके अतीत जीवन सम्बन्धी जन्मपरम्परासे भी आँका जाता था। उससे उस व्यक्तिके विगत जीवनोंके उत्थान-पतनकी शृंखलासे बद्ध पाठकका मानस अपने जीवनके प्रति सुशिक्षित होता था। वह एक जन्मकी ही मृग-मरीचिकामें न फँसकर जीवनके यथार्थरूपको देखता था। इससे उसे प्रबोध मिलता था, और मिलता था पतनसे उत्थान की ओर जानेका दिग्दर्शन। यही वजह है कि उपलब्ध महावीर चरितोंमें महावीरके पूर्व जन्मोंकी घटनाओंको विशेष प्राधान्य दिया गया।

जैन परम्परामें संसारका सर्वोच्च पद है तीर्थंकरत्व—धर्मतीर्थका प्रवर्तक होकर मोक्ष प्राप्त करना। मुक्ति तो अनेक प्राप्त करते हैं किन्तु वे सब धर्मतीर्थके प्रवर्तक नहीं होते। इसीसे तीर्थंकरके गर्भमें आने और जन्म लेने का महत्त्व है। और उन्हें गर्भकल्याणक, जन्मकल्याणक कहा जाता है। जो भी व्यक्ति मोक्ष जाता है वह पहले अपनी माताके गर्भमें आता है, फिर जन्म लेता है, फिर प्रबुद्ध हो तप धारण करता है, फिर केवलज्ञान प्राप्त करता है, तब मोक्ष जाता है। इस तरह उसके भी गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण होते हैं किन्तु न उन्हें कल्याणक कहा जाता है और न उनका उतना सार्वजनिक महत्त्व ही होता है क्योंकि वह एक व्यक्तिगत जैसी बात है। किन्तु तीर्थंकरका जीवन केवल व्यक्तिगत नहीं होता। उसका जन्म तो धर्ममार्ग प्रवर्तनके लिए होता है जो उसके मोक्ष चले जानेपर भी चलता रहता है। जैसे भगवान् महावीरके निर्वाणको अढ़ाई हजार वर्ष बीतनेपर भी उनका धर्ममार्ग चल रहा है और जनता उससे लाभान्वित हो रही है। इसी से वस्तुतः तीर्थंकर पद केवलज्ञान प्राप्त होने पर ही प्राप्त होता है इससे पहले तो वह वास्तवमें तीर्थंकर नहीं होते। तीर्थका प्रवर्तन करने पर ही होते हैं और तीर्थका प्रवर्तन पूर्ण ज्ञान प्राप्त होनेपर ही होता है। जबतक राग-द्वेष, मोहका अस्तित्व है तबतक उपदेश की पात्रता नहीं मानी गयी। क्योंकि मनुष्य रागादिके वश होकर झूठ भी बोलता है। जब वह इस त्रिवेणीको पार करके पूर्ण ज्ञानी होता है तब वह धर्मोपदेशका पात्र होता है। तब उसकी उपदेशसभा लगती है जिसका नाम समवसरण है। उसमें सब ओरसे प्राणी आकर सम्मिलित होते हैं। किसीके आनेपर प्रतिबन्ध नहीं है। पशु-पक्षी तक पहुँचते हैं। किन्तु वहाँ वही पहुँचते हैं जिनका भविष्य उज्ज्वल होता है।

जैसे—इन्द्रभूति गौतम आदि भगवान् महावीरके समवसरणमें पहुँचे और उन्होंने भगवान्का शिष्यत्व स्वीकार कर प्रधान गणधरका पद पाया। भगवान्के पश्चात् दूसरा स्थान उनके गणधरोंका ही होता है। वे ही भगवान्की वाणीका अवधारण करके उसे द्वादशांगके रूपमें निबद्ध करते हैं और फिर शिष्य प्रशिष्य परम्पराके क्रमसे अवतरित होती हुई द्वादशांगवाणी प्रवाहित होती है। इसीसे गणधरका बड़ा महत्त्व है। गणधरके अभावमें भगवान् महावीरकी वाणी ६५ दिन तक नहीं खिर सकी थी। गौतमके गणधर बनने पर ही उसका खिरना प्रारम्भ हुआ।

इस देशमें ज्ञान-विज्ञानके प्रसारमें ब्राह्मण वर्ण की महती देन है। भगवान् महावीरके प्रायः सब गणधर ब्राह्मण थे। ब्राह्मण परम्परा वेद और जगत्कर्ता ईश्वरकी अनुगामिनी है और भगवान् महावीरके धर्ममें दोनोंको ही स्वीकार नहीं किया। ब्राह्मण परम्परा और श्रमण परम्पराके पारस्परिक विरोधका मूल

कारण यह विचारभेद भी है किन्तु उसी ब्राह्मण परम्परामें ऐसे सत्य-प्रेमी भी हुए जिन्होंने उसे हृदयसे स्वीकार किया और अपने गुरु महावीर भगवान्‌का अनुगमन किया।

आचार्य सकलकीर्तिने अपने वीरवर्धमानचरितमें महाकवि असग की तरह ही केवलज्ञानके पश्चात् समवसरणका निर्माण कराकर गणधरकी उपलब्धि होनेपर भगवान्‌की देशना करायी है। पश्चात् उनका विहार कराकर राजगृहीमें समवसरणकी रचना करायी है। किन्तु भगवान्‌की प्रथम धर्मदेशना राजगृहीमें ही श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके ब्राह्ममुहूर्तमें होनेके प्राचीन उल्लेख हैं। ग्रन्थकारादिका परिचय ग्रन्थ सम्पादक पं. हीरालालजीने अपनी प्रस्तावनामें दिया है। हमें प्रसन्नता है कि उन्होंने ग्रन्थका सम्पादनादि कार्य परिश्रमपूर्वक समयसे किया है।

सकलकीर्ति एक प्रभावशाली भट्टारक थे। भट्टारक परम्परा यद्यपि एक नवीन परम्परा थी और उसमें बुराइयाँ भी आ गयी थीं। विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके ग्रन्थकार पं. आशाधरने अपने अनगार-धर्मामृतमें (२।९६) उनके आचरणको म्लेच्छोंके तुल्य कहा है। किन्तु इस परम्पराने संरक्षणका भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उसे भुलाया नहीं जा सकता। अस्तु।

हम भारतीय ज्ञानपीठके संस्थापक दानवीर साहू शान्तिप्रसादजी और ज्ञानपीठकी अध्यक्षा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैनके अतिकृतज्ञ हैं जिनकी प्राचीन भारतीय साहित्यके उद्धारकी महती भावना तथा अभिरुचि है। ज्ञानपीठके मन्त्री बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी भी धन्यवादार्ह हैं जिनके सहयोग और श्रमसे मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाका प्रकाशन कार्य बराबर प्रगति पर है।

द्वि० भाद्रपद शुक्ल ५,
वि. सं. २०३१

आ. ने. उपाध्ये
कैलाशचन्द्र शास्त्री

सम्पादकीय

भगवान् महावीरकी पचीस सौवीं निर्वाण तिथिके महोत्सवके समय विभिन्न भाषाओंमें रचित सभी महावीर-चरितोंका प्रकाशन किया जाना आवश्यक है, ऐसा निर्णय भारतीय ज्ञानपीठके संचालकोंने किया और तदनुसार संस्कृत भाषामें रचित प्रस्तुत चरितके सम्पादनका कार्य मुझे सौंपा गया। इसका सम्पादन ऐ. पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवन ब्यावरकी प्रतियोंके आधारपर किया गया है। प्रतियोंका परिचय प्रस्तावनामें दिया गया है। उन प्रतियोंके अतिरिक्त पुरानी हिन्दीमें सकलकीर्तिके इस चरितके अनुवादकी एक हस्तलिखित प्रति भी उक्त सरस्वती-भवनमें है। यद्यपि उसमें लेखन-काल नहीं दिया है, तथापि वह लगभग १०० वर्ष पुरानी अवश्य है। उसमें भाषाकारने आदि या अन्तमें कहीं भी अपना नाम नहीं दिया है। पर अनुवादमें प्रत्येक अधिकारकी श्लोक संख्या मूलके समान ही दी गयी है। अनेक सन्दिग्ध स्थलोंपर इस प्रतिका उपयोग किया है। पाढमनिवासी स्व. पं. मनोहरलालजी शास्त्रीने भी प्रस्तुत चरितका हिन्दी अनुवाद किया था, जिसे उन्होंने स्वयं ही अपने ग्रन्थोद्धारककार्यालयसे वि. सं. १९७३ में प्रकाशित किया था, जो कि इधर अनेक वर्षोंसे अप्राप्य है। इसके अनुवादमें श्लोक संख्याके अंक नहीं दिये गये हैं और मिलान करनेसे ज्ञात हुआ है कि अनेक स्थलोंपर अनेक श्लोकोंका अनुवाद भी नहीं है। प्रथम अधिकारके श्लोक ११ से लेकर ३३ तकके श्लोकोंका अनुवाद न देकर एक पंक्तिमें केवल यह लिख दिया गया है कि "इसी तरह शेष तीर्थंकर जो ऋषभदेव आदिक हैं उनको भी तीन योगोंसे नमस्कार करता हूँ।" फिर भी इस अनुवादसे अनेक सन्दिग्ध स्थलोंपर मूल पाठके संशोधन करनेमें सहायता मिली है।

सरस्वती भवनकी 'अ' संकेतवाली प्रतिको आदर्श मानकर मूलका सम्पादन किया गया है। प्रतिके अति जीर्ण होनेसे अनेक स्थलोंपर कुछ अक्षर खिर जानेसे उनकी पूर्ति अन्य प्रतियोंसे की गयी है। उन्नीसवें अधिकारके पाँच श्लोकोंके खण्डित अंशोंकी पूर्ति आमेर (जयपुर) के भण्डारकी प्रतिसे हुई है। इसके लिए मैं डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल जयपुरका आभारी हूँ।

प्रस्तुत चरितके प्रकाशनके लिए मैं भारतीय ज्ञानपीठके संचालकोंका आभारी हूँ।

ऐ. पन्नालाल दि. जैन
सरस्वती भवन, ब्यावर
२०-८-७३

—*हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री*
न्यायतीर्थ

प्रस्तावना

१. सम्पादन-प्रति परिचय—प्रस्तुत वर्धमान चरित्रका सम्पादन ऐलक पन्नालाल 'दि. जैन सरस्वती भवनकी तीन प्रतियोंके आधारसे हुआ है। उनका परिचय इस प्रकार है—

अ—इस प्रतिका आकार १२ × ५ इंच है। पत्र संख्या १३९ है। प्रत्येक पृष्ठपर पंक्ति संख्या ११ है और प्रति पंक्ति अक्षर संख्या ३५-३६ है। इस प्रतिमें अन्तिम पत्र नहीं है, जिससे ग्रन्थकारकी प्रशस्तिका अन्तिम भाग छूट गया है। जितना अंश १३९वें पत्रके अन्तमें उपलब्ध है, वह इस प्रकार है—

'श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दान्वये भ. श्री पद्मनन्दिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीसकलकीर्त्तिदेवान्....'।

यह प्रति अति जीर्ण-शीर्ण होनेपर भी बहुत शुद्ध है। यद्यपि इसके अन्तमें प्रति लिखनेका समय नहीं दिया गया है, तथापि यह लगभग तीन सौ वर्ष प्राचीन अवश्य होनी चाहिए। सभी श्लोक पडिमात्रामें लिखित हैं।

ब—इस प्रतिका आकार १०½ × ५½ इंच है। पत्र संख्या ७५ है। प्रत्येक पृष्ठपर पंक्ति संख्या १६ है। प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ४४-४५ है। यह प्रति उक्त 'अ' प्रतिसे नकल की गयी प्रतीत होती है, क्योंकि उसमें जहाँ जो पाठ अशुद्ध या सन्दिग्ध है, ठीक वैसा ही पाठ इसमें भी है, तथा उस प्रतिमें जहाँ जो पाठ खण्डित या त्रुटित है, वह इसमें भी तथैव है। अन्तिम प्रशस्ति भी उसीके समान अपूर्ण है। हाँ, उसके आगे इतना अंश और लिखा हुआ है—

'श्री....ल. पुष्करणा ज्ञाती व्यास वंनसीधर मंछाराम रेवासी नागौर....तेलीवाड़।'

इस प्रतिका कागज पुष्ट है और लिखावट लगभग १५० वर्ष पुरानी प्रतीत होती है।

स—इस प्रतिका आकार ११ × ५½ इंच है। पत्र संख्या ८७ है। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या १० है और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ३९-४० है। यह प्रति अपूर्ण है। इसमें प्रारम्भके १३ ही अधिकार लिखे गये हैं। यह वि. सं. १९८२ के वैशाख वदी १० को लिखी गयी है। लेखक हैं नूपचन्द जैन पालम (देहली)। आश्चर्य इस बातका है कि लेखकने अपूर्ण ग्रन्थको पूर्ण कैसे मान लिया ?

उपर्युक्त तीन प्रतियोंके अतिरिक्त सरस्वती भवनमें पुरानी हिन्दीमें लिखित एक और हस्तलिखित प्रति है जिसमें मूल श्लोक तो नहीं हैं, पर अनुवादक्रमसे श्लोक संख्या दी हुई है। तथा अनुवादके अन्तमें उसका ७७०० श्लोकप्रमाण परिमाण भी लिखा है। इसका आकार १०½ × ५½ इंच है। पत्र संख्या ३२३ है। प्रति पृष्ठ पंक्ति संख्या ८ है और प्रति पंक्ति अक्षर-संख्या ३५-३६ है। इसके अन्तमें लेखन-काल नहीं दिया है, तो भी कागज, स्याही आदिसे १०० वर्ष पुरानी अवश्य प्रतीत होती है।

२. वर्धमान चरित—जहाँ तक मेरी जानकारी है, दि. सम्प्रदायमें भगवान् महावीरके चरितका विस्तृत वर्णन सर्वप्रथम गुणभद्राचार्यने अपने उत्तरपुराणमें किया है। तत्पश्चात् असग कविने वि. सं. ९१० में महावीर चरितका संस्कृत भाषामें एक महाकाव्यके रूपमें निर्माण किया। इसके पश्चात् संस्कृत भाषामें प्रस्तुत महावीर-चरितको लिखनेवाले भट्टारक सकलकीर्ति हैं। इस प्रकार संस्कृत भाषामें निबद्ध उक्त तीन चरित पाये जाते हैं।

प्राकृत भाषामें किसी दि. आचार्यने महावीर चरित लिखा हो, ऐसा अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। हाँ, अपभ्रंश भाषामें पुष्पदन्त-लिखित महापुराणमें महावीर-चरित, जयमित्तहल्लका वड्ढमाणचरिउ, विबुध श्रीधरका वड्ढमाणचरिउ और रयधू कविका महावीरचरिउ, इस प्रकार चार रचनाएँ पायी जाती हैं।

राजस्थानी हिन्दी भाषामें छन्दोबद्ध महावीररास भट्टारक कुमुदचन्द्रने लिखा है जो कि भ. रत्नकीर्तिके

पट्टपर वि. सं. १६५६ में बैठे थे। ऐ० पन्नालाल दि. जैन सरस्वती भवनमें इसकी एक प्रति है जो कि वि. सं. १७४० की लिखी हुई है। दूसरा हिन्दीमें छन्दोबद्ध महावीर पुराण श्री नवलशाहने वि. सं. १८२५ में रचा है, जो कि सूरतसे प्रकाशित भी हो चुका है।

यद्यपि सकलकीर्तिने प्रस्तुत चरितके प्रत्येक अधिकारके अन्तमें 'श्रीवीर-वर्धमानचरित्र' यह नाम दिया है, तथापि सुविधाकी दृष्टिसे हमने इसका नाम 'वर्धमानचरित' रखा है।

३. वर्धमान चरितका आधार—दि. परम्परामें उपलब्ध उक्त सभी महावीर-चरितोंका आधार गुणभद्राचार्यका उत्तरपुराण रहा है, ऐसा उक्त ग्रन्थोंके अध्ययनसे स्पष्ट ज्ञात होता है। हाँ, अपभ्रंश कवियोंने एक-दो घटनाओंके उल्लेखोंमें श्वे० परम्पराके महावीर चरितका भी अनुसरण किया है।

४. वर्धमान चरितके रचयिता—भ० सकल कीर्ति—प्रस्तुत चरितके निर्माता भ० सकलकीर्ति हैं। इन्होंने प्रस्तुत चरितके अन्तमें अपने नामका इस प्रकार उल्लेख किया है—

वीरनाथगुणकोटिनिबद्धं पावनं वरचरित्रमिदं च।
शोधयन्तु सुविदश्च्युतदोषाः सर्वकीर्तिगणिना रचितं यत् ॥
(अधिकार १९, श्लो. २५६)

इस पद्यमें सकलकीर्तिने अपने नामका उल्लेख 'सर्वकीर्ति गणी'के रूपमें किया है। 'सकल' पदके देनेसे छन्दोभंग होता था, अतः अपनेको 'सर्वकीर्ति' कहा है।

प्रश्नोत्तर श्रावकाचारके अन्तमें आपने अपना उल्लेख 'समस्तकीर्ति'के रूपमें भी किया है। यथा—

उपासकाख्यो विबुधैः प्रपूज्यो ग्रन्थो महाधर्मकरो गुणाढ्यः।
समस्तकीर्त्यादिमुनीश्वरोक्तः सुपुण्यहेतुर्जयताद् धरित्र्याम् ॥
(परिच्छेद २४, श्लो. १४२)

पुराणसार संग्रह ग्रन्थके अन्तमें आपने अपना उल्लेख 'समस्तकीर्तियोगी' के रूपमें किया है। यथा—

पुराणसारः किल संग्रहान्तः समस्तकीर्त्याह्वययोगिनोक्तः।
ग्रन्थो धरित्र्यां सकलैः मुसंघैर्वृद्धिं प्रयात्वेव हि यावदार्याः ॥
(अधिकार १५, श्लो. १८)

किन्तु मूलाचार प्रदीपमें आपने अपने 'सकलकीर्ति' नामका स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

रहितसकलदोषा ज्ञानपूर्णा ऋषीन्द्रा-
स्त्रिभुवनपतिपूज्याः शोधयन्त्वेव यत्नात्।
विशदसकलकीर्त्याख्येन चाचारशास्त्र-
मिदमिह गणिना संकीर्तितं धर्मसिद्ध्यै ॥
(अधिकार १२, श्लो. २३४)

इस प्रकार यद्यपि पद्य-रचनामें यथासम्भव भिन्न-भिन्न शब्द-विन्यासके द्वारा आपने 'सकलकीर्ति' नामको सूचित किया है, तथापि प्रत्येक ग्रन्थके अधिकार या परिच्छेदके अन्तमें आपने प्रस्तुत ग्रन्थके समान 'इति भट्टारकश्री सकलकीर्तिविरचिते' लिखकर अपने नामका स्पष्ट निर्देश किया है, जिससे कि उन्हें उनके द्वारा रचे जानेमें किसी भी प्रकारका सन्देह नहीं रह जाता है।

५. सकलकीर्तिका समय—'भट्टारक-सम्प्रदाय'के लेखानुसार सकलकीर्ति नामके तीन भट्टारक हुए हैं—एक पद्मनन्दिके शिष्य, दूसरे पद्मकीर्तिके शिष्य और तीसरे सुरेन्द्रकीर्तिके शिष्य। इनमें प्रथमका समय सं. १४३७ से १४९९ है (देखो—भट्टारकसम्प्रदाय लेखांक ३३० से ३३४)। दूसरे सकलकीर्तिका समय सं. १३११ से १३२० है (देखो—भ. सं. ले० ५३३ से ५३७)। तीसरे सकलकीर्तिका समय सं. १८१६ का पाया जाता है (देखो—भ. सं. ले. ७६३)।

इन उक्त तीनोंमें से प्रस्तुत ग्रन्थके रचयिता प्रथम सकलकीर्ति हैं। यद्यपि इन्होंने अपने किसी भी

ग्रन्थमें उसके रचे जानेके कालका निर्देश नहीं किया है, तथापि निम्न लिखित उद्धरणोंसे ये प्रथम सकलकीर्ति सिद्ध होते हैं—

(१) लेखांक ३३१—चौबीसमूर्ति

सं. १४९० वैसाख सुदी ९ सनौ श्रीमूलसंघे नन्दीसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ. पद्मनन्दी तत्पट्टे श्री शुभचन्द्र तस्य भ्राता जगत्त्रयविख्यात मुनि श्री सकलकीर्ति-उपदेशात् हुंबडज्ञातीय ठा. नरवद भार्या बला तयोः पुत्र ठा. देपाल अर्जुन भीमा कृपा चासण चांपा कान्हा श्री आदिनाथ-प्रतिमेयं ॥ (सूरत, दा. ५३)

लेखांक ३३२—पार्श्वनाथमूर्ति

संवत् १४९२ वर्षे वैशाखवदि १० गुरु श्रीमूल संघे....भ. श्रीपद्मनन्दिदेवाः तत्पट्टे श्रीशुभचन्द्रदेवाः ततभ्राता श्रीसकलकीर्ति-उपदेशात् हुंबडन्याति उत्रेश्वरगोत्रे ठा. लींबा भार्या कह श्रीपार्श्वनाथं नित्यं प्रणमति सं. तेजा टोई श्रा. ठाकरसी हीरा देवा मूडलि वास्तव्य प्रतिष्ठिता । (भा. ७, पृष्ठ १५)

लेखाङ्क ३३३ शिलालेख

स्वस्ति श्री १४९४ वर्षे वैशाखसुदी १३ गुरौ मूलसंघे....भ. श्री पद्मनन्दी तत्पट्टे श्रीशुभचन्द्र भ. श्री सकलकीर्ति उपदेशाद्यौ व्याव (?) कृत्वा संघवै नरपाल....समस्त श्री संघ दिगम्बर अर्बदाचले आगिह-तीर्थ सीतांवरु प्रासाद दिगम्बर पाछि दछाव्या श्री आदिनाथ वड़ादीकीजी श्री नेमिनाथ जी जिह श्री सीतल हरवुध प्रसाद दिगम्बर पाछिह पेहरी तिन वहण री महापूज धज अवासकरी संघवी गोव्यंद प्रशस्ति लिखाती.... । (आबू, जैनमित्र ३-२-१९२१)

लेखाङ्क ३३४, आदिनाथमूर्ति

सं. १४९७ मूलसंघे श्री सकलकीर्ति हुंबडज्ञातीय शाह कर्णा भार्या भोली सुता सोमा भात्री मोदी भार्या पासी आदिनाथं प्रणमति ॥ (सूरत, दा. पृ. ५२)

'भट्टारक सम्प्रदाय' से उद्धृत उक्त मूर्ति और शिलालेखोंसे तीन बातें सिद्ध होती हैं—पहली तो यह कि सकलकीर्ति भ. पद्मनन्दीके शिष्य थे, दूसरी यह कि वे भ. शुभचन्द्रके भाई थे और तीसरी यह कि उनके उपदेशसे वि. सं. १४९० से लगाकर सं १४९७ तक उक्त मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा हुई है ।

६. जीवन-परिचय—भगवान् सकलकीर्तिके जीवनकालका बहुत कुछ परिचय जैनसिद्धान्त भास्करमें प्रकाशित ऐतिहासिक पत्रके निम्न अंशसे प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है—

'आचार्य श्री सकलकीर्ति वर्ष २६ छविसती संस्थाह तथा तीवारे संयम लेई वर्ष ८ गुरापासे रहीने व्याकरण २ तथा ४ तथा काव्य ५ तथा न्यायशास्त्र तथा सिद्धान्तशास्त्र गोम्मटसार तथा त्रिलोकसार तथा पुराणसर्वे तथा आगम तथा अध्यात्म इत्यादि सर्वशास्त्र पूर्वदेशमाहे रहीने वर्ष ८ माहे भणीने श्री वाग्वर गुजरात माहे गाम खोडेपे पधार्या, वर्ष ३४ संस्था थई तीवारे सं. १४७१ ने वर्षे.... साहा श्रीयोचाने गृहे आहार लीधो । तेहा थकी वाग्वरदेश तथा गुजरात माहे विहार कीधो । वर्ष २२ पर्यन्त स्वामी नग्न हता जुमले वर्ष ५६ छप्पन पर्यन्त आवर्या भोगवीने धर्मप्रभाववीने संवत् १४९९ गाम मेसाणे गुजरात जईने श्री सकलकीर्ति आचार्य हुआ (भुआ) ....पोछे श्री नोगामे संघे पदस्थापन करी ।

(जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग १३, पृ. ११३)

इस ऐतिहासिक पत्रके उक्त अंशसे सकलकीर्तिके समग्र जीवनपर अच्छा प्रकाश पड़ता है और अनेक निर्णय प्राप्त होते हैं । अर्थात् सकलकीर्ति २६ छब्बीस वर्षकी अवस्था तक घरमें रहे । तत्पश्चात् संयमको स्वीकार करके ८ वर्ष तक गुरुके पास रहकर व्याकरण, काव्य, न्याय और सिद्धान्त शास्त्रोंका अध्ययन करते रहे । चौंतीस वर्षकी अवस्थामें आप गुजरातके ग्राम खोडे पधारे । उस समय सं. १४७१ में आपने साह श्री योचा (पोचा ?) के घर आहार लिया । इस उल्लेखसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आपका जन्म वि. सं. १४३७ में हुआ था, क्योंकि सं. १४७१ में आपकी आयु ३४ वर्षकी थी । इस प्रकार १४७१ में से ३४ घटा देनेपर १४३७ शेष रहते हैं । सकलकीर्ति २२ वर्ष तक नग्न मुनिवेषमें रहे । इस प्रकार उपर्युक्त (२६ + ८

+२२ = ५६) छप्पन वर्षकी आयु तक अर्थात् वि. सं. १४९३ तक आपका दिगम्वर वेपमें रहना सिद्ध होता है। इसके पश्चात् पूर्वोक्त लेखांक ३३१, ३३२, ३३३ और ३३४ के अनुसार वि. सं. १४९७ तक उनका प्रतिष्ठादि कराना सिद्ध होता है और उक्त ऐतिहासिक पत्रके अनुसार वि. सं. १४९९ में आपका मरण और चरण-स्थापन सिद्ध है। इस प्रकार सकलकीर्तिकी आयु ६२ वर्ष सिद्ध होती है। यतः ऐतिहासिक पत्रमें २२ वर्ष नग्न रहनेका स्पष्ट उल्लेख है, और लेखांकोंके अनुसार सं. १४९७ तक प्रतिष्ठादि कराना भी सिद्ध है, उससे यही सिद्ध होता है कि सकलकीर्ति अपने जीवनके अन्तिम कालमें भट्टारकीय वेपके अनुसार वस्त्र-धारी हो गये थे।

यद्यपि उक्त ऐतिहासिक पत्रमें भट्टारकोंकी वि. सं. १३०० से लेकर वि. सं. १८०५ तक वागड़-देशमें होनेवाले भट्टारकोंकी पट्टावली दी गयी है अतः उसमें सकलकीर्तिके ग्रन्थरचना-कालका कोई उल्लेख नहीं है और मूर्तिलेखों आदिसे उनका वि. सं. १४९७ तक प्रतिष्ठा आदिके करानेका उल्लेख मिलता है, इससे यह सिद्ध होता है कि सकलकीर्ति वि. सं १४७१ से लेकर सं. १४९० तक वे एकमात्र ग्रन्थोंकी रचना करनेमें संलग्न रहे। उन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें उसके रचनाकालको नहीं दिया है, तो भी उनके निर्मित ग्रन्थोंको देखनेसे यह अवश्य प्रतीत होता है कि उन्होंने चार अनुयोगोंके क्रमसे अपने ग्रन्थोंकी रचना की होगी। तदनुसार आदिनाथ आदि तीर्थकरोंके चरित एवं अन्य चरित पहले रचे। पुनः प्रश्नोत्तर श्रावकाचार, मूलाचार प्रदीप आदि ग्रन्थोंकी रचना की। तत्पश्चात् कर्मविपाक, सिद्धान्तसार दीपक आदि ग्रन्थोंकी रचना की और अन्तिम कालमें समाधिमरणोत्साहदीपक-जैसे ग्रन्थोंकी रचना की होगी।

ऊपर दिये गये भट्टारक सम्प्रदायके लेखांक ३३१ और ३३२ में सकलकीर्तिको भ० शुभचन्द्रका भाई वताया गया है। तथा उक्त ऐतिहासिक पत्रके आधारपर उनका जन्म सं. १४३७ में सिद्ध होता है। सकलकीर्तिसे उनके भाई भ. शुभचन्द्र कितने बड़े थे, यह भट्टारक सम्प्रदायके लेखांक २४६ की पट्टावलीसे ज्ञात होता है। वह इस प्रकार है—

'सं. १४५० माह सुदि ५ भ. शुभचन्द्रजी गृहस्थ वर्ष १६ दिक्षा वर्ष २४ पट्टवर्ष ५६ मास ३ दिवस ४ अन्तर दिवस ११ सर्व वर्ष ९६ मास ३ दिवस २५ ब्राह्मण जाति पट्ट दिल्ली।

(वलात्कार गण, मन्दिर, अंजनगाँव)

इस पट्टावलीके अनुसार शुभचन्द्र सं. १४५० में १६ वर्षके थे, अतः १४५० में-से १६ घटा देनेपर सं. १४३४ में उनका जन्म होना सिद्ध होता है। ऊपर ऐतिहासिक पत्रके आधारपर सकलकीर्तिका जन्म सं. १४३७ में सिद्ध होता है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध है कि शुभचन्द्र सकलकीर्तिसे ३ वर्ष बड़े थे। दूसरी वात यह भी ज्ञात होती है कि शुभचन्द्र की जन्मजाति ब्राह्मण थी[1]। अतः सोलह वर्षमें ही उन्होंने दीक्षा ली, अतः वे वालब्रह्मचारी और अविवाहित ही ज्ञात होते हैं।

'भट्टारक सम्प्रदाय'के पृ. ९६ पर जो वलात्कारगणकी उत्तर शाखाका कालपट दिया है, तदनुसार भ. पद्मनन्दिके प्रथम शिष्य शुभचन्द्र जयपुर-दिल्ली शाखाके, द्वितीय शिष्य सकलकीर्ति ईडरशाखाके और तृतीय शिष्य देवेन्द्रकीर्ति सूरत शाखाके पट्टपर आसीन हुए। इनमें भ. शुभचन्द्रका समय सं. १४५० से १५०७ तक, सकलकीर्तिका समय सं. १४५० से १५१० तक और देवेन्द्रकीर्तिका समय सं. १४५० से १४९३ तक रहा है, यह वात 'भट्टारक सम्प्रदाय'के कालपटोंमें दी गयी है। परन्तु १४९९ के वादका कोई प्रमाण वहाँपर नहीं दिया गया है।

इस प्रकार ऊपरके विवेचनसे सकलकीर्तिका जीवनकाल वि. सं. १४३७ से १४९९ तक निर्विवाद सिद्ध होता है। इनसे २६ वर्ष तक वे गृहस्थ अवस्थामें रहे और ४७ वर्ष तक संयमी जीवन व्यतीत करते हुए अनेक ग्रन्थोंकी रचना की और अनेक स्थानोंपर मूर्तिप्रतिष्ठा आदि करते रहे।

---

१. किन्तु यदि शुभचन्द्र वास्तवमें सकलकीर्तिके बड़े भाई हैं, तो वे ब्राह्मण नहीं, किन्तु हमड़ होना चाहिए। मेरे विचारसें दोनों गुरुभाई थे।—सम्पादक

यद्यपि सकलकीर्तिने अपने जन्मस्थान और माता-पिता आदिका कोई भी उल्लेख नहीं किया है, तथापि गुणराजरचित सकलकीर्तिज्ञानसे पता चलता है कि उनका जन्म 'अणहिल्लपुर पट्टण' (गुजरात) निवासी हुमड़ जातीय श्री करमसिंहजीकी पत्नी शोभादेवीकी कुक्षिसे हुआ था। उनके माता-पिताने उनका नाम पूर्णसिंह रखा था। वे अपने पाँचों भाइयोंमें सबसे ज्येष्ठ थे। विवाहित होनेके पश्चात् आप संसारसे विरक्त हो गये और 'नेणवां' ग्राम आकर उन्होंने भ. पद्मनन्दिसे दीक्षा ले ली। गुरुने उनका नाम सकलकीर्ति रखा। उक्त रासके उक्त अर्थसूचक पद्य इस प्रकार हैं—

वंदिस्युं ए गुरुनिर्ग्रन्थ मूलसंघि गुरुगाइस्युं ए।
गुर्जर देश मंझार अणहिलवाडो पाटणुं ए ॥२॥
हुँवडए ज्ञाति सिणगार करमसी साह तिहां वसिए।
सोभिसिरीए देवीयकंत च्यारि पदारथ तिहां बसिए ॥३॥
तस धरि ए नन्दन पाँच धन कण पूत संजूत ताय।
पालए जिणवर धर्म सातइ व्यसन म इच्छति ताय ॥४॥
पूंनसिंघ ए पहिलो पूत वंधन तोड़ि कर्मधूय।
धिग-धिग ए ए संसार भवि भवि जामण मरण भय ॥५॥

. . .

परियणू ए माय नें वाप संवोधि करि नीकल्या ए।
पहूँच्यो ए सांवरदेस नयणवाह पुरी तिहां गया ए ॥१२॥
तिहां छे ए जिणवरधर्म पोमनंदी गुरु पाट धरु।
पूंनसिंघ ए सेवइ पाए गुरुक्रमि लीधऊ ज्ञानधरु ॥१३॥

. . . . .

श्री सकलकीरति गुरुनाम कीयो श्रीमूलसंघ सिणगार।
तां पदमनंदी गुरु पायंतली फोड्या वहुत संसार ॥१९॥

७. सकलकीर्ति-रचित ग्रन्थ

१. कर्म विपाक—संस्कृत गद्यमें रचित इसका प्रमाण ५४७ श्लोक है।
२. धर्म प्रश्नोत्तर-धार्मिक प्रश्नोंको उठाकर उनके उत्तर रूपमें रचित पद्यमय यह ग्रन्थ १५०० श्लोक प्रमाण है।
३. प्रश्नोत्तर श्रावकाचार—प्रश्न और उत्तरके रूपमें श्रावक धर्मका विस्तृत वर्णन करनेवाले इस ग्रन्थका प्रमाण २८८० श्लोक है।
४. मूलाचार प्रदीप—प्राकृत मूलाचारको आधार वनाकर मुनिधर्मके वर्णन करनेवाले इस ग्रन्थका प्रमाण ३३६५ श्लोक है।
५. सिद्धान्तसार दीपक—जैन सिद्धान्तके विषयोंका विस्तृत एवं सुगम रीतिसे वर्णन करनेवाले ग्रन्थका प्रमाण ४५१६ श्लोक है।
६. सार चतुर्विंशतिका प्रमाण २५२५ श्लोक है।
७. सुभाषितावली का प्रमाण ५७५ श्लोक है।
८. आदिनाथ या वृषभचरितका प्रमाण ४६२८ श्लोक है।
९. शान्तिनाथ चरितका प्रमाण ४३७५ श्लोक है।
१०. मल्लिनाथ चरित ९२४ श्लोक प्रमाण है।
११. पार्श्वनाथ चरित २८५० श्लोक प्रमाण है।
१२. वर्धमान चरित ३०५० श्लोक प्रमाण है।

१३. पुराणसार संग्रह—इसमें चौबीस तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों आदि शलाकापुरुषों और उनके समयमें होनेवाले अन्य भी महापुरुषोंके चरितोंका वर्णन गद्य और पद्यमें किया गया है। इसका प्रमाण ५००० श्लोक है।

१४. श्रीपाल चरित १६०० श्लोक प्रमाण है।

१५. सुकुमाल चरित ११०० श्लोक प्रमाण है।

१६. सुदर्शन चरित ९०० श्लोक प्रमाण है।

१७. व्रत कथाकोप—इसका प्रमाण १६५७ श्लोक है। इसमें २१ व्रतों की कथाएँ दी गयी हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. एकावली व्रत कथा
२. द्विकावली ,,
३. रत्नावली ,,
४. नन्दीश्वर पंक्ति कथा
५. शीलकल्याण कथा
६. नक्षत्रमाला व्रत कथा
७. विमान पंक्ति ,,
८. मेरुपंक्ति ,,
९. श्रुत ज्ञानविधि कथा
१०. सुख सम्पत्ति ,,
११. श्रुतस्कन्ध कथा
१२. दश लक्षण व्रत कथा
१३. कनकावली ,,
१४. पुरन्दर विधि ,,
१५. मुक्तावली व्रत ,,
१६. अक्षय निधि ,,
१७. सुगन्ध दशमी ,,
१८. जिनमुखावलोकन कथा
१९. मुकुट सप्तमी व्रत कथा
२०. चन्दन पष्ठी व्रत कथा
२१. अनन्त व्रत कथा कथा।

१८. तत्त्वार्थदीपक—तत्त्वार्थसूत्रके प्रमुख विषयों पर प्रकाश डालनेवाले इस ग्रन्थका प्रमाण ११०० श्लोक है।

१९. आराधना प्रतिबोध ५५ श्लोक हैं।

२०. समाधि मरणोत्साह दीपक २१५ श्लोक हैं।

उपर्युक्त सर्व ग्रन्थोंकी हस्तलिखित प्रतियाँ ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवनमें विद्यमान हैं। उन्हींके आधार पर उक्त ग्रन्थोंके श्लोकोंका प्रमाण दिया गया है। इनके अतिरिक्त सकलकीर्ति-रचित समाधि-मरणोत्साह दीपक नामक ग्रन्थ सानुवाद प्रकाशित हो चुका है।

उक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त राजस्थानके जैनशास्त्र भण्डारोंकी ग्रन्थ सूचीसे सकलकीर्ति-रचित निम्नलिखित ग्रन्थोंका और भी पता चला है—

१. अष्टाह्निक पूजा संस्कृत
२. गणधर वलय पूजा ,,
३. उत्तरपुराण ,,
४. राम पुराण ,,
५. यशोधर चरित ,,
६. धन्यकुमार चरित ,,
७. चन्द्रप्रभ चरित ,,
८. जम्बूस्वामि चरित ,,
९. आदित्यवार कथा हिन्दी
१०. आराधना प्रतिबोध ,,
११. मुक्तावली कथा ,,
१२. मुक्तावली रास ,,
१३. सोलहकारण रास ,,
१४. रक्षाबन्धन कथा संस्कृत
१५. नेमीश्वर गीत हिन्दी
१६. रत्नत्रय रास ,,

उक्त ग्रन्थोंके अतिरिक्त पं. परमानन्द शास्त्रीके लेखानुसार निम्नलिखित ग्रन्थ भी सकलकीर्तिने रचे हैं—

१. परमात्मराज स्तोत्र
२. पार्श्वनाथाष्टक
३. पंचपरमेष्ठी पूजा
४. द्वादशानुप्रेक्षा
५. आगमसार
६. णमोकार गीत
७. सोलहकारण पूजा
८. मुक्तावली गीत

इस प्रकार आपके द्वारा रचे गये ग्रन्थोंकी संख्या ४४ ज्ञात हो गयी है। सम्भव है कि पुराने भण्डारोंकी छानवीन करनेपर और भी आपकी रचनाएँ उपलब्ध होवें। प्रारम्भमें दिये गये २० ग्रन्थोंके श्लोकोंका प्रमाण ४४३६२ है। तत्पश्चात् उल्लिखित २४ ग्रन्थोंका परिमाण यदि ३० हजार श्लोक प्रमाण भी मान लिया जाये, तो आपके द्वारा रचित सर्व श्लोक संख्या ७५ हजारके लगभग पहुँचती है।

उक्त ग्रन्थोंको देखते हुए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी और आपने चारों अनुयोगोंपर ग्रन्थ-रचना की है।

सकलकीर्तिने अपने किसी भी ग्रन्थमें अपना कोई विस्तृत परिचय नहीं दिया है, न गुरु आदिका ही उल्लेख किया है, केवल अपने नामका ही निर्देश किया है। किन्तु आपके शिष्य ब्र. जिनदासने अपने द्वारा रचित जम्बूस्वामीचरित्रमें आपका कुछ परिचय इस प्रकार दिया है—

श्रीकुन्दकुन्दान्वयमौलिरत्नं श्रीपद्मनन्दिर्विदितः पृथिव्याम्।
सरस्वतीगच्छविभूषणं च बभूव भव्यालिसरोजहंसः ॥२३॥
तत्राभवत्तस्य जगत्प्रसिद्धे पट्टे मनोज्ञे सकलादिकीर्तिः।
महाकविः शुद्धचरित्रधारी निर्ग्रंथराजा जगति प्रसिद्धः ॥२४॥

अर्थात्—श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके अन्वयमें सरस्वतीगच्छके आभूपण भव्यालिसरोजहंस, जगत्प्रसिद्ध श्रीपद्मनन्दि हुए। उनके जगत्प्रसिद्ध पट्टपर सकलकीर्ति विराजमान हुए, जो कि महाकवि, शुद्धचारित्रके धारक और जगत्में प्रसिद्ध निर्ग्रन्थराज थे।

अपने ग्रन्थको समाप्त करते हुए ब्र. जिनदासने लिखा है—

"इत्यार्षे श्रीजम्बूस्वामिचरित्रे भट्टारकश्रीसकलकीर्तितत्शिष्यब्रह्मचारिश्रीजिनदासविरचिते विद्युच्चर-महामुनिसर्वार्थसिद्धिगमनो नामैकादशः सर्गः ॥

उपसंहार

इस प्रकार उक्त प्रशस्ति, 'सकलकीर्तिरास' और जैनसिद्धान्तभास्करके भाग १३वें के पृ. ११३ पर प्रकाशित ऐतिहासिक पत्रसे आपके जीवन और समय आदिका परिचय प्राप्त हो जाता है। सकलकीर्तिकी दो-तीन रचनाओंके सिवाय शेष सभी रचनाएँ अप्रकाशित हैं। उनके प्रकाशनका प्रयत्न किया जाना चाहिए।

८. प्रस्तुत वर्धमानचरित्रकी तुलना और विशेषता—

भगवान् महावीरके चरित्र-चित्रण करनेवालोंमें गुणभद्राचार्यका प्रथम स्थान है, यह प्रारम्भमें लिखा जा चुका है। उनके द्वारा वर्णित चरित्रको ही असग कविने एक महाकाव्यके रूपमें रचा है। यही कारण है कि उसमें चरित्र-चित्रणकी अपेक्षा घटनाचक्रोंके वर्णनका आधिक्य दृष्टिगोचर होता है। असगने भ. महावीरके पूर्व भवके त्रिपृष्ठका वर्णन पूरे पाँच सर्गोंमें किया है। असगने समग्र चरितके १०० पत्रोंमें-से केवल त्रिपृष्ठके वर्णनमें ४० पत्र लिखे हैं।

असगने भ. महावीरके पाँचों कल्याणकोंका वर्णन यद्यपि बहुत ही संक्षेपमें दिगम्बर-परम्पराके अनुसार ही किया है, तथापि दो-एक घटनाओंके वर्णनपर श्वेताम्बर-परम्पराका भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। यथा—

(१) जन्मकल्याणकके लिए आया हुआ सौधर्मेन्द्र माताके प्रसूतिगृहमें जाकर उन्हें मायामयी निद्रासे सुलाकर और मायामयी शिशुको रखकर भगवान्को बाहर लाता है और इन्द्राणीको सौंपता है :

मायार्भकं प्रथमकल्पपतिर्विधाय मातुः पुरोऽथ जननानिपवक्रियार्थं।
बालं जहार जिनमात्मरुचा स्फुरन्तं कायान्तिरान्नु दुधोऽपि करोत्यकार्यम् ॥

शच्या धृतं करयुगे नतमव्जभासा निन्ये सुरैरनुगतो नभसा सुरेन्द्रः ।
स्कन्धे निधाय शरदभ्रसमानमूर्तेरैरावतस्य मदगन्धहृतालिपङ्क्तेः ॥

(सर्ग १७, श्लोक ७२-७३)

(२) जन्माभिषेकके समय श्वे. परम्परानुसार सुमेरुपर्वतके कम्पित होनेका उल्लेख असगने किया है। यथा—

तस्मिंस्तदा क्षुवति कल्पितशैलराजे
घोणाप्रविष्टसलिलात्पृथुकेऽप्यजस्रम् ।
इन्द्रा जरत्तृणमिवैकपदे निपेतु-
र्वीर्यं निसर्गजमनन्तमहो जिनानाम् ॥ (सर्ग १७, श्लो. ८२)

दि. परम्परामें पद्मचरितमें भी सुमेरुके कम्पित होनेका उल्लेख है, जो कि श्वे. विमलसूरिकृत प्राकृत 'पउमचरिउ'का अनुकरण प्रतीत होता है। पीछे अपभ्रंश चरितकारोंने भी इनका अनुसरण किया है।

दि. परम्पराके अनुसार भ. महावीर अविवाहित ही रहे हैं, फिर भी रयधु कविने अपने 'महावीर-चरिउ' में माता-पिताके द्वारा विवाहका प्रस्ताव भ. महावीरके सम्मुख उपस्थित कराया है और भगवान्‌के द्वारा बहुत उत्तम ढंगसे उसे अस्वीकार कराया है, जो कि बिलकुल स्वाभाविक है। अपने पुत्रको सर्वप्रकारसे सुयोग्य और वयस्क देखकर प्रत्येक माता-पिताको उसके विवाहकी चिन्ता होती है। परन्तु सकलकीर्तिने इस अंशपर कुछ भी नहीं लिखा है।

भ. महावीर जब दीक्षार्थ वनको जा रहे थे, तब उनके वियोगसे विह्वल हुई त्रिशला माताका पीछे-पीछे जाते हुए जो उसके करुण विलापका चित्र खींचा है, वह एक बार पाठकके आँखोंमें भी आँसू लाये बिना नहीं रहेगा। विलाप करती हुई माता वनके भयानक कष्टोंका वर्णन कर महावीरको लौटानेके लिए जाती है, मगर, महत्तरजन उसे ही समझा-बुझाकर वापस राजभवनमें भेज देते हैं।

श्रीधरने अपभ्रंश भाषामें रचित अपने 'वड्ढमाणचरिउ' भ. महावीरका चरित दि. परम्परानुसार ही लिखा है, तो भी कुछ घटनाओंका उन्होंने विशिष्ट वर्णन किया है। जैसे—

त्रिपृष्टनारायणके भवमें सिंहके उपद्रवसे पीड़ित प्रजा जब उनके पितासे जाकर कहती है, तब वे उसे मारनेको जानेके लिए उद्यत होते हैं। तब कुमार त्रिपृष्ट उन्हें रोकते हुए कहते हैं—

जइ मइ संतेवि असि वरु लेवि पसुणिग्गहु कएण ।
अट्ठिउ करि कोउ वइरि विलोउ ता किं मइतणएण ॥

अर्थात्—यदि मेरे होते सन्ते भी आप खड्ग लेकर एक पशुका निग्रह करने जाते हैं तो फिर मुझ पुत्रसे क्या लाभ ?

ऐसा कहकर त्रिपृष्टकुमार सिंहको मारनेके लिए स्वयं जंगलमें जाता है और विकराल सिंहको दहाड़ते हुए सम्मुख आता देखकर उसके खुले हुए मुखमें अपना वाम हाथ देकर दाहिने हाथसे उसके मुखको फाड़ देता है और सिंहका काम तमाम कर देता है। इस घटनाका वर्णन कविने इस प्रकार किया है—

हरिणा करेण णियमिवि थिरेण, णिद्दमणेण पुणु तक्खणेण ।
दिट्ठु इयरु हत्थु संगरे समत्थु, वयणंतराले पेसिवि विकराले ॥
पीडियउ सीहु लोलंत जीहु, लोयणजुएण लोहियजुएण ।
दावग्गिजाल अविरलविशाल, थुवमंत भाइ कोवेण णाइ ॥
पवियारुओण-हरि मारिऊण, तहो लोयहिएहिं तणु णिसामएहिं ॥

(व्यावर भवन, प्रतिपत्र ३५ B)

सिंहके मारनेकी इस घटनाका वर्णन श्वे. ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है।

जयमित्त हल्लने भी अपभ्रंश भाषामें 'वड्ढमाणचरिउ' रचा है, जो कवित्वकी दृष्टिसे बहुत उत्तम है। इसमें जन्माभिषेकके समय मेरु-कम्पनकी घटनाका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

लइवि करि कलसु सोहम्म तियसाहिणा,
पेक्खि जिनदेहु संदेहु किउ णियमणा।
हिमगिरिंदत्थ सरसरिसु गंभीरओ।
गंगमुह पमुह सुपवाह बहुणीरओ॥
खिवमि किम कुंभु गयदंतु कहि लब्भई,
सूर विंबुव्व आवरिउ णह अब्भई।
सक्कु संकंतु तयणाणि संकप्पिओ,
कणयगिरि सिहरु चरणंगुलीचप्पिओ॥
टलिउ गिरिराउ खरहडिय सिलसंचया,
पडिय अमरिंद थरहरिय सपवंचया।
रडिय दक्करिण गुंजरिय पंचाणणा,
तसिय किडि कुम्मं उव्वसिय तरुकाणणा॥
भरिय सरि विवर झलहलिय जलणिहि सरा,
हुवउ जग खोहु बहु मोक्खु मोहियधरा।
ताम तिय सिंदु णिछंतु अप्पउ घणं,
वीर जय वीर जंपंतु कयवंदणं॥
घत्ता—जय जय जय वीर वीरिय णाण अणंतसुहा।
महु खमहि भडारा तिहुअणसारा कवणु परमाणु तुहा॥१८

भावार्थ—जैसे ही सौधर्मेन्द्र कलशोंको हाथोंमें लेकरके अभिषेक करनेके लिए उद्यत हुआ, त्योंही उसके मनमें यह शंका उत्पन्न हुई कि भगवान् तो बिलकुल बालक हैं फिर इतने विशाल कलशोंके जलप्रवाहको मस्तक पर कैसे सह सकेंगे? तभी तीन ज्ञानधारी भगवान्ने इन्द्रकी शंकाके समाधानार्थ अपने चरणकी एक अंगुलीसे सुमेरुको दबा दिया। उसे दबाते ही शिलाएँ गिरने लगीं, वनोंमें निर्द्वन्द्व बैठे गज चिंघाड़ उठे, सिंह गर्जना करने लगे और सारे देवगण भयसे व्याकुल होकर इधर-उधर देखने लगे। सारा जगत् क्षोभित हो गया। तब इन्द्रको अपनी भूल ज्ञात हुई और अपनी निन्दा करता हुआ तथा भगवान्की जय-जयकार करता हुआ क्षमा माँगने लगा—हे अनन्त ज्ञान, सुख और वीर्यके भण्डार, मुझे क्षमा करो, तुम्हारे बलका प्रमाण कौन जान सकता है?

जयमित्तहल्लने एक और भी नवीन बात कही है कि भगवान् केवलज्ञानके उत्पन्न होनेके पश्चात् इन्द्रभूति गौतमके समागम नहीं होने तक ६६ दिन दिव्यध्वनि नहीं खिरने पर भी भूतलपर विहार करते रहे। यथा—

णिग्गंथाइय समेउ भरंतह, केवलि किरणहो घर विरहंतह।
गय छासट्ठि दिणंतर जामहि, अमराहिउ मणि चिंतइ तामहि॥
इम सामग्गि सयल जिणणाहहो, पंचमणाणुग्गम गयदाहहो।
किं कारणु ण उ वाणि पयासइ, जीवाइय तच्चाइ ण भासइ॥

(ब्यावर भवन, प्रति पत्र ८३ B)

भावार्थ—केवलज्ञान रूपी सूर्यकी किरणोंके धारण कर लेने पर निर्ग्रन्थ मुनि आदिके साथ भारतवर्षमें विहार करते हुए छ्यासठ दिन बीत जानेपर भी जब भगवान्की दिव्य वाणी प्रकट नहीं हुई, तब अमरेश्वर इन्द्रके मनमें चिन्ता हुई कि सकल सामग्रीके होनेपर भी क्या कारण है कि भगवान् अपनी वाणीसे जीवादि तत्त्वोंको नहीं कह रहे हैं?

भ. कुमुदचन्द्रने अपने महावीर रासकी रचना राजस्थानी हिन्दीमें की है और कथानक-वर्णनमें प्रायः सकलकीर्तिके वर्धमानचरित्रका ही अनुसरण किया है। इसकी रचना सं. १६०९ मगसिर मासकी पंचमी रविवारको पूर्ण हुई है।

कवि नवलशाहने अपने वर्धमानपुराणकी रचना हिन्दी भाषामें की है और कथानक-वर्णनमें भी सकलकीर्तिका अनुसरण किया है, फिर भी कुछ स्थलोंपर कविने तात्त्विक विवेचनमें तत्त्वार्थसूत्र आदिका आश्रय लिया है। कविने इसकी रचना वि. सं. १८२५ के चैतसुदी १५ को पूर्ण की है। यह पुराण सूरत से मुद्रित हो चुका है।

सकलकीर्तिने इस प्रस्तुत चरित्रमें परम्परागत चरित्र-चित्रणके साथ मिथ्यात्वकी निन्दा, सम्यक्त्व की महिमा, पुण्य-पापके फल, जीवादि तत्त्वोंका विवेचन, बारह तप, बारह भावना आदिका यथास्थान विस्तारके साथ वर्णन किया है। आ. जिनसेनने भ. ऋषभदेवके जन्म समय जिस प्रकार विस्तारसे ताण्डव-नृत्यका वर्णन किया है, ठीक उसी प्रकारसे और प्रायः उन्हीं शब्दोंमें भ. महावीरके जन्म-समय भी किया है।

भ. महावीरके ज्ञानकल्याणकको मनानेके लिए जाते समय इन्द्रके आदेशसे बलाहक देवने जम्बूद्वीप प्रमाण एक लाख योजन विस्तारवाला विमान बनाया। (देखो-अधिकार १४, श्लोक १३-१४) इस प्रकारके पालक विमानके बनाने और उसपर बैठकर आनेका वर्णन श्वे. हेमचन्द्र रचित त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरितके पर्व १, सर्ग २ श्लो. ३५३-३५६ में पाया जाता है।

श्वे. शास्त्रके अनुसार सौधर्मेन्द्र उस विमानमें अपनी सभी सभाओंके देव-देवियों और परिजनोंके साथ बैठकर आता है। किन्तु सकलकीर्तिने इसका कुछ उल्लेख नहीं किया है। प्रत्युत कौन-सा इन्द्र किस वाहनपर बैठकर आता है, इसका विस्तृत वर्णन चौदहवें अधिकारमें किया है। इस स्थलपर जन्मकल्याणके समान ही ऐरावत हाथीका विस्तृत वर्णन किया गया है, और उसीपर बैठकर सौधर्मेन्द्र समवसरण में आता है।

सकलकीर्तिने भ. महावीरकी ६६ दिन तक दिव्यध्वनि प्रकट नहीं होनेका कोई उल्लेख नहीं किया है। प्रत्युत लिखा है कि केवलज्ञान प्राप्तिके पश्चात् समवशरणमें सभी लोगोंके यथास्थान बैठे रहनेपर और दिनके तीन पहर बीत जानेपर भी भगवान्‌की दिव्यध्वनि प्रकट नहीं हुई, तब इन्द्र चिन्तित हुआ और अवधिज्ञानसे गणधरके अभावको जानकर तथा वृद्ध ब्राह्मणका रूप बनाकर गौतमको लानेके लिए गया।

(देखो, अधिकार १५, श्लो. ७ आदि)

अन्य चरित्रकारोंने तो यह लिखा है कि मानस्तम्भके देखते ही गौतमका मानभंग हो गया और उन्होंने भगवान्‌के पास पहुँचते ही दीक्षा ले ली और भगवान्‌की दिव्यध्वनि प्रकट होने लगी। किन्तु इस स्थलपर सकलकीर्तिने लिखा है कि इन्द्रके द्वारा पूछे गये जिस काव्यका अर्थ गौतमको प्रतिभासित नहीं हुआ था, उसमें वर्णित तीन काल, छह द्रव्य आदिके विषयमें उन्होंने भगवान्‌से पूछा और भगवान्‌ने एक-एक प्रश्नका विस्तारसे उत्तर दिया, जिनसे सन्तुष्ट होकर गौतमने भगवान्‌की स्तुति कर अपने दोनों भाइयोंके साथ जिन दीक्षा धारण की। (देखो, अधिकार १८, श्लो. १४४-१५० आदि।

गौतम-समागमका उल्लेख प्रस्तुत चरित्रके १५वें अधिकारमें है और उनके दीक्षाका उल्लेख १८वें अधिकारके अन्तमें है। इस प्रकार १६,१७ और १८ इन तीन अधिकारोंमें गौतमके प्रश्नोंका ही उत्तर भगवान्‌के द्वारा विस्तारसे दिये जानेका वर्णन सकलकीर्तिने दिया है। उनका यह वर्णन बहुत कुछ स्वाभाविक प्रतीत होता है, क्योंकि जब इन्द्रोक्त पद्यमें वर्णन किये गये सभी तत्त्वोंका उन्हें बोध हो गया, तभी उनका अज्ञान और मिथ्यात्व दूर हुआ और तभी उन्होंने सम्यक्त्व और संयमको ग्रहण किया। सकलकीर्तिने इस स्थलपर बहुत स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है—

अद्याहमेव धन्योऽहो सफलं जन्म मेऽखिलम्।
यतो मयातिपुण्येन प्राप्तो देवो जगद्गुरुः॥१४४॥
अनर्घ्यस्तत्प्रणीतोऽयं मार्गो धर्मः सुखाकरः।
नाशितं दृष्टिमोहान्धतमश्चास्य वचोंऽशुभिः॥१४५॥

इत्यादिचिन्तनात्प्राप्य परमानन्दमुल्वणम् ।
धर्मे धर्मफलादौ च स वैदग्ध्यपुरःसरम् ॥१४६॥
मिथ्यात्वारातिसंतानं हन्तुं मोहादिशत्रुभिः ।
सार्धं विप्राग्रणीर्मुक्त्यै दीक्षामादातुमुद्ययौ ॥१४७॥
ततस्त्यक्त्वान्तरे सङ्गाद् दश बाह्ये चतुर्दश ।
त्रिशुद्धया परया भक्त्यार्हतीं मुद्रां जगन्नुताम् ॥१४८॥
भ्रातृभ्यां सह जग्राह तत्क्षणं च द्विजोत्तमः ।
शतपञ्चप्रमैश्छात्रैः प्रबुद्धस्तत्त्वमञ्जसा ॥१४९॥

इन श्लोकोंका भाव ऊपर दिया जा चुका है। श्वे. शास्त्रोंमें भी इसी प्रकारका वर्णन है कि गौतम और उनके भाइयोंका तथा अन्य साथियोंका जब जीवादि तत्त्व-विषयक अज्ञान भगवान्‌के सयुक्तिक वचनोंसे दूर हो गया, तभी उन्होंने जिनदीक्षा धारणकर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया।

किन्तु तिलोयपण्णत्ती जैसे प्राचीन ग्रन्थमें कहा है कि इस अवसर्पिणीके चतुर्थ कालके अन्तिम भागमें तैंतीस वर्ष, आठ मास और पन्द्रह दिन शेष रहनेपर वर्षके प्रथम मास श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके दिन अभिजित् नक्षत्रके समय धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई। यथा—

एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि ।
तेत्तीस वास अडमासपण्णरसदिवससेसम्मि ॥
वासस्स पढममासे सावणणामम्मि बहुलपडिवाए ।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्म तित्थस्स ॥
सावण बहुले पाडिवरुद्दमुहुत्ते सुहोदये रविणो ।
अभिजिस्स पढमजोए जुगस्स आदी इमस्स पुढं ।

(अधिकार १, गा. ६८–७०)

इसी बातको कुछ पाठभेदके साथ श्री वीरसेनाचार्यने कसायपाहुडसुत्तकी जयधवला टीकामें इस प्रकार कहा है—

एदस्स भरहखेत्तस्स ओसप्पिणीए चउत्थे दुस्समसुसमकाले णवहि दिवसेहि छह मासेहि य अहिय तैंतीसवासावसेसे तित्थुप्पत्ती जादा। (जयधवला, भा. १, पृ. ७४)

अर्थात्—इस भरत क्षेत्रमें अवसर्पिणीकालके चौथे दुःषमा-सुषमा कालमें नौ दिन और छह माससे अधिक तेतीस वर्ष अवशेष रहनेपर धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई।

वीरसेनाचार्यने अपने कथनकी पुष्टिमें धवला टीकामें तीन प्राचीन गाथाएँ भी उद्धृत की हैं। जो इस प्रकार हैं—

इम्मिस्सेवसप्पिणीए चउत्थसमयस्स पच्छिमे भाए ।
चोत्तीसवाससेसे किंचि विसेसूणए संते ॥१॥
वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले ।
पाडिवद पुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती हु अभिजिम्हि ॥२॥
सावणबहुलपडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो ।
अभिजिस्स पढमजोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वा ॥३॥

पाठक देखेंगे कि ये तीन गाथाएँ वे ही हैं, जो कुछ शब्द व्यत्ययसे तिलोयपण्णत्तीकी ऊपर दी गयी हैं।

अपने उक्त कथनको और भी स्पष्ट करते हुए वीरसेन आगे शंका उठाकर उसका समाधान करते हुए लिखते हैं—

'छासट्ठि दिवसावणयणं केवलकालम्मि किमट्ठं कीरदे ? केवलणाणे समुप्पण्णे वि तत्थ तित्थाणुप्पत्तीदो। दिव्वज्झुणीए किमट्ठं तत्थापउत्ती ? गणिंदाभावादो। सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो ? ण,

काललद्धीए विणा असहेज्जस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो। सगपादमूलम्मि पडिवण्णमहव्वयं मोत्तूण अण्णमुद्दिसिय दिव्वज्झुणी किण्ण पयट्टदे ? साहावियादो। ण च सहावो परपज्जणियोगारुहो, अव्ववत्थापत्तीदो।

शंका—केवलिकालमें-से छ्यासठ दिन किसलिए कम किये गये हैं ?

समाधान—भ. महावीरको केवलज्ञानकी उत्पत्ति हो जानेपर भी छ्यासठ दिन तक धर्मतीर्थकी उत्पत्ति नहीं हुई थी, इसलिए केवलिकालमें-से छ्यासठ दिन कम किये गये हैं।

शंका—केवलज्ञानकी उत्पत्तिके अनन्तर छ्यासठ दिन तक दिव्यध्वनिकी प्रवृत्ति क्यों नहीं हुई ?

समाधान—गणधर न होनेसे ?

शंका—सौधर्मेन्द्रने तत्क्षण ही गणधरको क्यों नहीं ढूंढ़ा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि काललब्धिके विना असहाय सौधर्म इन्द्र भी गणधरको ढूंढ़नेमें असमर्थ रहा।

शंका—अपने पादमूलमें महाव्रत स्वीकार करनेवाले पुरुषको छोड़कर अन्यके निमित्तसे दिव्यध्वनि क्यों नहीं प्रकट होती है ?

समाधान—ऐसा ही स्वभाव है और स्वभाव दूसरोंके द्वारा प्रश्न करनेके योग्य नहीं होता। यदि वस्तु-स्वभावमें ही प्रश्न होने लगे तो फिर किसी भी वस्तुकी कोई व्यवस्था ही नहीं वन सकेगी।

अतएव कुछ कम चौंतीस वर्ष प्रमाण कालके शेष रहनेपर भ. महावीरके द्वारा धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई।

हरिवंशपुराणकार आ. जिनसेनने भी श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके प्रातःकाल अभिजित् नक्षत्रके समय भ. महावीरकी दिव्यध्वनि प्रकट होनेका उल्लेख किया है। यथा—

स दिव्यध्वनिना विश्वसंशयच्छेदिना जिनः।
दुन्दुभिध्वनिधीरेण योजनान्तरयायिना॥
श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः।
प्रतिपद्यह्नि पूर्वाह्णे शासनार्यमुदाहरत्॥ (हरिवंशपुराण, सर्ग २, श्लो. ९०-९१)

इस प्रकार तिलोयपण्णत्ती, धवला-जयधवला टीका और हरिवंशपुराणमें श्रावणकृष्णा प्रतिपदाके प्रातःकाल अर्थात् केवलज्ञानकी वैशाखशुक्ला दशमीको उत्पत्ति हो जानेके ६६ दिन पश्चात् भगवान् महावीरके द्वारा धर्म-देशनाका स्पष्ट उल्लेख होनेपर भी सकलकीर्तिने इसका उल्लेख क्यों नहीं किया, यह बात विचारणीय है।

सकलकीर्तिने प्रत्येक कल्याणकके समय भगवान्‌की भरपूर स्तुति की है, इसके अतिरिक्त संगमकदेव और स्थाणु रुद्रके द्वारा उपसर्ग करनेपर भी भगवान्‌के निर्भय और अटल रहनेपर उनके द्वारा भी उत्तम शब्दोंमें स्तुति करायी है। इन्द्रभूति गौतमकी सभी पृच्छाओंका उत्तर दिये जानेपर उन्होंने जो गम्भीर और मार्मिक शब्दोंके द्वारा ४२ श्लोकोंमें स्तुति की है, वह भी अत्यन्त भावपूर्ण है। दीक्षा लेते समय सकलकीर्तिने इन्द्र-द्वारा जो वीर जिनेश्वरकी व्याज-स्तुति करायी है वह अनुपम एवं पठनीय है। (देखो अधिकार १२, श्लो. १०८-१३४) इस प्रकार प्रस्तुत चरितमें सब मिलाकर लगभग २०० श्लोक स्तुति-परक हैं। प्रत्येक अधिकारके प्रारम्भमें तो वीरनाथको वन्दन किया ही है, किन्तु सभी अधिकारोंके अन्तमें सभी विभक्तियोंके द्वारा भगवान् महावीरकी स्तुतिवाले श्लोक भी उनकी अनुपम भक्तिके द्योतक हैं।

प्रस्तुत चरितके पाँचवें, छठे और तेरहवें अधिकारमें बारह तपोंका वर्णन भी १३३ श्लोकोंमें द्रष्टव्य है। वैराग्यका वर्णन यद्यपि स्थान-स्थानपर किया है, पर जब भगवान् महावीर संसारसे विरक्त हुए, तब उनके मनोगत वैराग्य-उद्भूतिका चित्रण भी सकलकीर्तिने दशवें अधिकारमें बहुत सुन्दर किया है। भगवान्‌ने जिस प्रकार बारह भावनाओंका चिन्तवन किया, उसके लिए तो सकलकीर्तिने पूरा एक बारहवाँ अधिकार रचा है। इसके अतिरिक्त छठे अधिकारमें षोडश कारण भावनाओंका भी सुन्दर वर्णन किया है। तीसरे और चौथे अधिकारमें नरकके दुःखोंका वर्णन भी पठनीय है। पाँचवें अधिकारमें चक्रवर्तीके विशाल वैभवका वर्णन किया गया है।

भगवान् महावीरके दीक्षार्थ वन-गमनके समय उनके पिताका शोक और माता त्रिशलाका करुण विलाप तो पाठकके नेत्रोंमें भी आँसू लाये विना न रहेगा। सकलकीर्तिके इस वर्णनसे सिद्ध होता है कि भगवान्‌के

दीक्षा लेनेके समय उनके माता-पिता जीवित थे। किन्तु श्वेताम्बर शास्त्रोंके अनुसार दोनोंके स्वर्गवास होनेके दो वर्ष पश्चात् भगवान् महावीरने दीक्षा ली है।

सकलकीर्तिने प्रत्येक अधिकारके अन्तमें जो पुष्पिका दी है उसके अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थका नाम 'वीरवर्धमानचरित' है।

९. भगवान् महावीरके पूर्वभव—दिगम्बर परम्परामें पुरूरवा भीलसे लेकर महावीर होने तक भगवान्‌के गणनीय ३३ भवोंका उल्लेख है जब कि श्वेताम्बर परम्परामें २७ ही भव मिलते हैं। उनमें प्रारम्भके २२ भव कुछ नाम-परिवर्तनादिके साथ वे ही हैं, जो कि दि. परम्परामें बतलाये गये हैं। शेष भवोंमें-से कुछको नहीं माना है। उनकी स्पष्ट जानकारीके लिए यहाँ पर दोनों परम्पराओंके अनुसार भगवान् महावीरके पूर्वभव दिये जाते हैं—

दिगम्बर मान्यतानुसार	श्वेताम्बर मान्यतानुसार
१. पुरूरवा भील	१. नयसार भिल्लराज
२. सौधर्म देव	२. सौधर्म देव
३. मरीचिकुमार	३. मरीचिकुमार
४. ब्रह्मस्वर्गका देव	४. ब्रह्मस्वर्गका देव
५. जटिल ब्राह्मण	५. कौशिक ब्राह्मण
६. सौधर्म स्वर्गका देव	६. ईशान स्वर्गका देव
७. पुष्यमित्र ब्राह्मण	७. पुष्यमित्र ब्राह्मण
८. सौधर्म देव	८. सौधर्म देव
९. अग्निसह ब्राह्मण	९. अग्न्युद्योत ब्राह्मण
१०. सनत्कुमार देव	१०. ईशान देव
११. अग्निमित्र ब्राह्मण	११. अग्निभूति ब्राह्मण
१२. माहेन्द्र देव	१२. सनत्कुमार देव
१३. भारद्वाज ब्राह्मण	१३. भारद्वाज ब्राह्मण
१४. माहेन्द्र देव	१४. माहेन्द्र देव
त्रस-स्थावर योनिके असंख्यात भव	अन्य अनेक भव
१५. स्थावर ब्राह्मण	१५. स्थावर ब्राह्मण
१६. माहेन्द्र देव	१६. ब्रह्म स्वर्गका देव
१७. विश्वनन्दी (मुनिपदमें निदान)	१७. विश्वभूति (मुनिपदमें निदान)
१८. महाशुक्र स्वर्गका देव	१८. महाशुक्र स्वर्गका देव
१९. त्रिपृष्ठ नारायण	१९. त्रिपृष्ठ नारायण
२०. सातवें नरकका नारकी	२०. सातवें नरकका नारकी
२१. सिंह	२१. सिंह
२२. प्रथम नरकका नारकी	२२. प्रथम नरकका नारकी
२३. सिंह (मृग-भक्षणके समय चारणमुनि द्वारा सम्बोधन)	×
२४. सौधर्म स्वर्गका देव	×
२५. कनकोज्ज्वल राजा	×
२६. लान्तव स्वर्गका देव	×
२७. हरिषेण राजा	×

२८. महाशुक्र स्वर्गका देव	×
२९. प्रियमित्र चक्रवर्ती	२३. पोट्टिल या प्रियमित्र चक्रवर्ती
३०. सहस्रार स्वर्गका देव	२४. महाशुक्र स्वर्गका देव
३१. नन्दराज (तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध)	२५. नन्दन राजा (तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध)
३२. अच्युत स्वर्गका इन्द्र	२६. प्राणत स्वर्गका इन्द्र
३३. भगवान् महावीर	२७. भगवान् महावीर

दोनों परम्पराओंके अनुसार भगवान् महावीरके पूर्वभवोंमें उक्त छह भवोंका अन्तर कैसे पड़ा? यह प्रश्न विद्वज्जनोंके लिए विचारणीय है।

१०. गणधर-परिचय—सकलकीर्तिने प्रस्तुत चरित्रमें भगवान् महावीरके ११ गणधरोंके केवल नामोंका ही उल्लेख किया है, उनका परिचय कुछ भी नहीं दिया है। उन्होंने गणधरोंके जो नाम दिये हैं, वे यद्यपि उत्तरपुराणमें दिये गये नामोंसे बहुत कुछ मिलते हैं, फिर भी कुछ नाम श्वेताम्बर शास्त्रोंमें पाये जानेवालेसे मेल नहीं खाते हैं। उक्त तीनोंके अनुसार गणधरोंके नाम इस प्रकार हैं—

उत्तरपुराणके अनुसार	प्रस्तुत चरित्रके अनुसार	श्वे. परम्पराके अनुसार
१. इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति
२. अग्निभूति	अग्निभूति	अग्निभूति
३. वायुभूति	वायुभूति	वायुभूति
४. सुधर्म	सुधर्म	सुधर्मा
५. मौर्य	मौर्य	मौर्यपुत्र
६. मौन्द्रय	मौण्डय	मण्डित
७. पुत्र	पुत्र	आर्यव्यक्त
८. मैत्रेय	मैत्रेय	मेतार्य
९. अकम्पन	अकम्पन	अकम्पित
१०. अन्धवेल	अन्धवेल	अचलभ्राता
११. प्रभास[1]	प्रभास[2]	प्रभास[3]

उक्त तीनों शास्त्रोंमें प्रारम्भके चार और अन्तिम ये पाँच नाम तो समान ही हैं। मौर्य और मौर्य-पुत्रको एक माना जा सकता है। दि. परम्पराके मैत्रेयके स्थानपर श्वे. परम्परामें मेतार्य हैं, अकम्पनके स्थान पर अकम्पित है और मौन्द्रय या मौण्डयके स्थानपर मण्डित है, जो कुछ भिन्नता रखते हुए भी सदृशताको ही सूचित करते हैं। दि. परम्पराके अन्धवेलके स्थानपर श्वे. परम्परामें अचलभ्राता नाम है जो समानता नहीं रखता है। इसी प्रकार दि. परम्परामें आर्यव्यक्त नामका नहीं होना और उसके स्थानपर केवल 'पुत्र' नामका पाया जाना भी खटकता है। इन विचारणीय नामोंके निर्णयार्थ यहाँपर उत्तरपुराण और प्रस्तुत महावीर चरित्रके गणधर नाम-प्रतिपादक श्लोक दिये जाते हैं—

ततः परं जिनेन्द्रस्य वायुभूत्यग्निभूतिकौ।
सुधर्ममौर्यौ मौन्द्राख्यः पुत्रमैत्रेयसंज्ञकौ ॥३७३॥
अकम्पनोऽन्धवेलाख्यः प्रभासश्च मया सह।
एकादशेन्द्रसंपूज्याः संमतेर्गणनायकाः ॥३७४॥ —उत्तरपु०, पर्व ७४।

---

१. उत्तर पु. ७४, श्लो. ३७३,३७४।
२. प्रस्तुत चरित्र, अधि० १९, श्लो. २०६-२०७।
३. समवायांग, समवाय ११।

अथेन्द्रभूतिरेवाद्यो वायुभूत्याग्निभूतिको ।
सुधर्ममौर्यमौण्डाख्यपुत्रमैत्रेयसंज्ञकाः ॥२०६॥
अकम्पनोऽन्धवेलाख्यः प्रभासोऽमी सुरार्चिताः ।
एकादश चतुर्ज्ञानाः संमतेः स्युर्गणाधिपाः ॥२०७॥
(प्रस्तुत चरित्र, अधि. १९)

पाठक यदि दोनों पाठोंको ध्यानसे देखेंगे तो उन्हें यह बात स्पष्ट ज्ञात होगी कि सकलकीर्तिके सम्मुख उत्तरपुराणके उक्त श्लोक उपस्थित थे और उन्होंने गणधरोंके नाम साधारण-सा परिवर्तन कर ज्योंके त्यों रख दिये हैं। भारतीय ज्ञानपीठसे मुद्रित उत्तरपुराणमें 'अकम्पनोऽन्धवेलाख्यः' पीठपर टिप्पणी नम्बर देकर 'अकम्पनोऽन्धचेलाख्यः इति क्वचित्' के रूपमें पाठान्तर दिया गया है। यदि इस पाठके स्थानपर 'अकम्पनोऽचलभ्राता' इस पाठकी कल्पना कर ली जाये तो अन्धवेलके स्थानपर अचलभ्राता नाम सहजमें प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार 'मोण्डाख्यपुत्र' पाठके स्थानपर 'मौण्डार्यव्यक्त' पाठकी कल्पना कर ली जाये, तो 'पुत्र' इस असंगत-से नामके स्थानपर श्वेताम्बर-परम्परागत 'आर्यव्यक्त' यह नाम भी सहजमें उपलब्ध हो जाता है। और उक्त कल्पनाके करनेमें कोई असंगति भी नहीं है, प्रत्युत श्वेताम्बर परम्पराके साथ संगति ठीक बैठ जाती है। श्वेताम्बर परम्परामें उक्त ग्यारहों ही गणधरोंका विस्तृत परिचय-विवरण उपलब्ध है, जबकि दिगम्बर परम्परामें केवल उक्त नामोल्लेखके अतिरिक्त कुछ भी परिचय प्राप्त नहीं है।

यहाँपर श्वेताम्बर शास्त्रोंके आधारपर सर्व गणधरोंका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है, जिससे कि पाठकोंको उनके विषयमें कुछ जानकारी मिल सकेगी।

१. इन्द्रभूति—गौतमगोत्री ब्राह्मण थे। ये मगध देशके अन्तर्गत 'गोवर' ग्रामके निवासी थे। इनकी माताका नाम पृथ्वी और पिताका नाम वसुभूति था। ये वेद-वेदांगके पाठी और अपने समयके सबसे बड़े वैदिक विद्वान् थे। इनको 'द्रष्टव्यो रेऽयमात्मा' इत्यादि वेदमन्त्रमें आये 'आत्मा' के विषयमें ही सन्देह था। इन्द्रके द्वारा पूछे गये काव्यार्थको जब ये न बता सके, तब ये उसके साथ भगवान् महावीरके पास पहुँचे और जीव-विषयक अपनी शंकाका समुचित समाधान पाकर अपने ५०० शिष्योंके साथ उनके शिष्य बन गये। दीक्षाके समय इनकी अवस्था ५० वर्षकी थी। ये ३० वर्ष तक भगवान्के प्रधान गणधर रहे। जिस दिन भगवान् मोक्ष पधारे, उसी दिन इनको केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई। १२ वर्ष तक केवली पर्यायमें रहकर इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

२. अग्निभूति—ये इन्द्रभूतिके सगे मझले भाई थे। इनको कर्मके विषयमें शंका थी। ये भी इन्द्रभूतिके साथ गये थे और भगवान्के द्वारा अपनी शंकाका सयुक्तिक समाधान पाकर अपने ५०० शिष्योंके साथ दीक्षित हो गये। उस समय इनकी अवस्था ४६ वर्षकी थी। १२ वर्ष तक गणधरके पदपर रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया। १६ वर्ष तक केवलीपर्यायमें रहकर ये भगवान्के जीवन-कालमें ही मोक्ष पधारे।

३. वायुभूति—ये इन्द्रभूतिके सबसे छोटे सगे भाई थे। इनको जीव और शरीरके विषयमें शंका थी। ये भी इन्द्रभूतिके साथ भगवान्के पास गये थे और भगवान्से अपनी शंकाका समाधान पाकर ५०० शिष्योंके साथ दीक्षित होकर गणधर बने। दीक्षाके समय इनकी अवस्था ४२ वर्षकी थी। १० वर्ष तक गणधरके पदपर रहकर इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और १८ वर्ष तक केवलीपर्यायमें रहकर भगवान् महावीरके निर्वाणसे दो वर्ष पूर्व ही इन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

४. आर्यव्यक्त—ये कोल्लागसन्निवेशके भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माताका नाम वारुणी और पिताका नाम धनमित्र था। ये पृथ्वी आदि पाँच भूतोंसे जीवकी उत्पत्ति मानते थे। इन्हें जीवकी स्वतन्त्र सत्तामें शंका थी। भगवान् महावीरसे अपनी शंकाका समाधान पाकर इन्होंने अपने ५०० शिष्योंके साथ दीक्षा ले ली। उस समय इनकी अवस्था ५० वर्षकी थी। १२ वर्ष तक गणधर पदपर रहकर केवलज्ञान प्राप्त किया और १८ वर्ष तक केवलीपर्यायमें रहकर भगवान्के जीवनकालमें ही मोक्ष पधारे।

इन्द्रभूति गौतमकी प्रव्रज्याकी बात पवनवेगसे नगरमें पहुँची। जब उनके छोटे भाई अग्निभूति और वायुभूतिने यह सुना तो उन्हें विश्वास ही न हुआ और यथार्थ बातके निर्णयार्थ वे दोनों भी अपने-अपने पाँच-पाँच सौ शिष्योंके साथ भगवान्के समीप पहुँचे। भगवान्ने उन्हें भी सम्बोधित करते हुए उनके मनकी शंकाओंको कहा और उन्हें भी सुयुक्तियोंसे दूर किया। वे लोग भी अपने शिष्योंके साथ दीक्षित हो गये।

उक्त तीनों भाइयोंके द्वारा शिष्यत्व स्वीकार करनेके समाचार पाकर यज्ञस्थलपर उपस्थित सुधर्मा आदि शेष विद्वान् भी अपने शिष्योंके साथ भगवान्के समीप आये। भगवान्ने सबके नामोंके साथ सम्बोधित करते हुए उनकी मनोगत शंकाओंको कहा और प्रबल युक्तियोंसे उनका समाधान किया। जिससे प्रभावित होकर उन सभी विद्वानोंने शिष्यत्व स्वीकार कर अपने शिष्योंके साथ जिनदीक्षा ग्रहण की और भगवान्ने उनको अपने-अपने शिष्य-मुनियों का गणधर बनाया।

११. विचारणीय स्थल

सकलकीर्तिने प्रस्तुत चरित्रमें 'गुणस्थान' शब्दको पुल्लिगमें प्रयोग किया है, (देखो, अधि. १६, श्लो. ६०) जबकि सर्वत्र अन्य आचार्योंने इसका प्रयोग नपुंसक लिंगमें ही किया है। इसी प्रकार 'तत्त्व' शब्दका भी पुल्लिगमें प्रयोग किया है। (देखो, अधि. १७, श्लोक २) इसी प्रकार कारण आदि शब्दोंका भी प्रयोग पुल्लिगमें किया है। कहीं-कहींपर सन्धि-नियमको भी नहीं अपनाया गया है। यथा—'अभ्यर्णे अन्तर्वली'। (अधि. ८, श्लो. १४) आदि। प्रथम अधिकारके श्लोक ४१ में 'जम्बूस्वामिरन्तिमः', तथा उसी अधिकारके ५४वें श्लोकमें 'पूजामहानये' आदि वाक्य भी दृष्टिगोचर होते हैं। मेरे सम्मुख उपस्थित प्रतियोंमें ये पाठ इसी प्रकारसे हैं। सम्भव है कि किन्हीं प्राचीन प्रतियोंमें इनके स्थानपर अन्य प्रकारके पाठ हों।

कितने ही स्थलोंपर भूतकालके स्थानपर विधिलकारका प्रयोग सकलकीर्तिने किया है। (देखो, अधिकार ६, श्लो. ८०–९६)

१२. उपसंहार

सकलकीर्तिने प्रायः अपने सभी ग्रन्थोंमें उसका परिमाण दिया है। तदनुसार प्रस्तुत चरित्र ३०३५ श्लोक प्रमाण है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ग्रन्थोंका परिमाण ३२ अक्षरवाले अनुष्टुप् श्लोकसे गिना जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थकी रचना जैसी सुगम और हृदयस्पर्शिनी है, वैसी ही उनके सभी ग्रन्थोंकी है। वे अपने पाठकोंको मानो सरल-सुबोध रचनाके द्वारा जैन सिद्धान्तोंके गूढ़ एवं गहन रहस्योंसे अवगत करा देना चाहते थे। सकलकीर्तिके पश्चात् इतने अधिक ग्रन्थोंका निर्माता अन्य कोई आचार्य, भट्टारक या विद्वान् नहीं हुआ है। ग्रन्थ-रचनाओंके द्वारा उन्होंने स्वोपकारके साथ पाठकोंका भी असीम उपकार किया है। प्रायः सभी ग्रन्थोंके अन्तमें उन्होंने यह कामना की है कि जबतक यहाँ भरतक्षेत्रमें आर्य जन रहें तबतक ग्रन्थका पठन-पाठन होता रहे। मैं भी उनके इन्हीं शब्दोंको दुहराता हुआ मंगल-कामना करता हूँ कि जबतक संसारमें सूर्य-चन्द्र प्रकाश कर रहे हैं, तबतक उनके सभी ग्रन्थोंका पठन-पाठन कर भव्य जीव स्व-पर कल्याण करते रहें।

—हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री

विषय-सूची

श्री-सकलकीर्ति-विरचितं

श्री-वीरवर्धमानचरितम्

प्रथमोऽधिकारः

जिनेशे विश्वनाथाय ह्यनन्तगुणसिन्धवे । धर्मचक्रभृते मूर्ध्ना श्रीवीरस्वामिने नमः ॥१॥
यस्यावतारतः पूर्वं पित्रोः सौधे धनाधिपः । मासान् षण्णवसंपूर्णांश्चक्रे रत्नादिवर्षणम् ॥२॥
यद्रूपातिशयं वीक्ष्य मेरौ जन्ममहोत्सवे । तृप्तिमप्राप्य शक्रोऽभूत्सहस्राक्षः सविस्मयः ॥३॥
वर्धमानश्रिया वर्धमानकीर्त्या जगत्त्रये । वर्धमानेन यो वर्धमानं नामाप वासवैः ॥४॥
यो बाल्येऽपि जगत्सारां श्रियं जीर्णतृणादिवत् । त्यक्त्वा हत्वाक्षकामारींस्तपसेऽयात्तपोवनम् ॥५॥
यस्यान्नदानमाहात्म्याच्चन्दनाख्या नृपात्मजा । आसीज्जगत्त्रये ख्याता पञ्चाश्चर्यैर्विबन्धना ॥६॥
जित्वा रुद्रकृतान् घोरानुपसर्गाननेकशः । यो महातिमहावीरनामाप तत्कृतं परम् ॥७॥
यो निहत्य महावीर्यैः शुक्लध्यानासिनाचिरात् । घातिकर्मरिपूंश्चापत्केवलं नृसुरार्चनम् ॥८॥
येन प्रकाशितो धर्मः स्वर्मुक्तिश्रीसुखप्रदः । द्विधा प्रवर्ततेऽद्यापि स्थास्यत्यग्रे युगावधौ ॥९॥
इत्याद्यन्तातिगैर्विश्वैर्गुणैश्चातिशयैः परैः । संपूर्णो यो मुदा स्तौमि तं वीरं तद्गुणाप्तये ॥१०॥

[हिन्दी अनुवाद]

समस्त विश्वके नाथ, अनन्त गुणोंके सागर और धर्मचक्रके धारक ऐसे जिनराज श्री वीरस्वामीके लिए मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ ॥१॥ जिस प्रभुके अवतार लेनेके पूर्व ही माता-पिताके महलमें छह और नौ अर्थात् गर्भ में आने के पहले छह मास और गर्भकालके नौ मास इस प्रकार पन्द्रह मास तक कुबेरने रत्न आदिकी वर्षा की ॥२॥ जन्म-महोत्सवके समय सुमेरुपर्वतपर जिनके अतिशय सुन्दर रूपको देखकर विस्मित हुए इन्द्रने तृप्तिको नहीं पाकर अपने एक हजार नेत्र बनाये ॥३॥ जिन्होंने निरन्तर वर्धमान लक्ष्मीसे, तीन जगत्‌में वर्धमान कीर्तिसे और अपने वर्धमान गुणोंसे 'वर्धमान' यह सार्थक नाम इन्द्रोंसे प्राप्त किया। जो बाल-कालमें ही संसारकी सारभूत राज्यलक्ष्मीको जीर्ण तृणादिके समान छोड़कर और इन्द्रिय तथा कामरूपी शत्रुओंका विनाश कर तपश्चरणके लिए तपोवनको चले गये। जिनको अन्नदान देनेके माहात्म्यसे चन्दना नामकी राजपुत्री बन्धनरहित होकर और पंचाश्चर्य प्राप्त कर तीन लोकमें प्रसिद्ध हुई। जिन्होंने रुद्रकृत अनेक घोर उपसर्गोंको जीतकर उसीके द्वारा 'महति-महावीर' नामको प्राप्त किया। जिस महावीर्यशालीने ज्ञानावरणादि चार घातिकर्मोंको शुक्लध्यानरूपी खड्गसे बहुत शीघ्र जीतकर मनुष्य और देवोंसे पूजित केवल-ज्ञान प्राप्त किया। जिन्होंने स्वर्ग और मुक्ति लक्ष्मीके सुखोंको देनेवाला धर्म प्रकाशित किया, जो आज भी श्रावक और मुनिधर्मके रूपमें दो प्रकारका प्रवर्त रहा है और आगे भी युगके अन्त तक स्थिर रहेगा। कर्मोंके जीतनेसे जिन्होंने 'वीर' नाम प्राप्त किया, उपसर्गों को जीतनेसे जिन्होंने 'महावीर' नाम पाया और धर्मोपदेश देनेसे जिन्होंने 'सन्मति' नाम प्राप्त किया। इनको आदि लेकर परम अतिशयशाली समस्त अनन्त गुणोंसे जो परिपूर्ण हैं, ऐसे श्री वीरप्रभुकी मैं उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए अति प्रमोदसे स्तुति करता हूँ ॥४-१०॥

वृषभं वृषचक्राङ्कं वृषतीर्थप्रवर्तकम् । वृषाय वृषदं वन्दे वृषभं वृषमात्मनाम् ॥ ११॥
योऽजितो मोहकामाक्षारातिजालैः परीषहैः । एकाकी मिलितैः सर्वैरजितं तं स्तुवे मुदा ॥१२॥
शंभवं भवहन्तारं त्रिजगद्भव्यदेहिनाम् । कर्तारं विश्वसौख्यानामीडे तद्गतयेऽनिशम् ॥१३॥
चिदानन्दमयं दिव्यवाण्यानन्दकरं सताम् । अभिनन्दनमात्मोत्थानन्दाप्त्यै संस्तुवे सदा ॥१४॥
नमामि सुमतिं देवदेवं सन्मतिदायिनम् । भव्यानां सन्मतिं मूर्ध्ना स्वच्छसन्मतिसिद्धये ॥१५॥
पद्मप्रभमहं नौमि द्विधा पद्माद्यलंकृतम् । तत्पद्माप्त्यै सुजन्तूनां पद्मादं पद्मकान्तिकम् ॥१६॥
नमः सुपार्श्वनाथाय सुधियां पार्श्वदायिने । अनन्तशर्मणेऽनन्तगुणायातीतकर्मणे ॥१७॥
करोति जगदानन्दं यो धर्मामृतबिन्दुभिः । हत्वाज्ञानतमः स्तुत्यः सोऽस्तु मे चित्सुखाप्तये ॥१८॥
सुविधिं विधिहन्तारं भव्यानां विधिदेशिनम् । स्वर्गमुक्तिसुखाद्याप्त्यै मुदेडे विधिहानये ॥१९॥
शीतलं भव्यजीवानां पापातापविनाशिनम् । दिव्यध्वनिसुधापूरैर्नौम्यघातापविच्छिदे[1] ॥२०॥
नमोऽस्तु श्रेयसे श्रेयोदायिने त्रिजगत्सताम् । विश्वश्रेयोमयायैव श्रेयसेऽरिजितात्मने ॥२१॥
पूजितस्त्रिजगन्नाथैर्यो मुदं नैति जातुचित् । निन्दितो न मनाग् द्वेषं वासुपूज्यं तमाश्रये ॥२२॥
अनादिकर्मजल्लादीन् यद्वचो हन्ति योगिनाम् । विमलो विमलात्मा स हन्तु मेऽघमलं स्तुतः ॥२३॥

धर्मचक्रसे अंकित, धर्मतीर्थके प्रवर्तक, वृषभ (बैल) चिह्नवाले और धर्मात्माजनोंको धर्मके दातार ऐसे श्री वृषभस्वामीको धर्मकी प्राप्तिके लिए मैं वन्दना करता हूँ ॥११॥ जो अकेले होनेपर भी मोह, काम और इन्द्रिय आदि शत्रु-समुदायसे और अनेकों परीषहोंसे सम्मिलित होनेपर भी नहीं जीते जा सके, ऐसे श्री अजितनाथकी मैं हर्षसे स्तुति करता हूँ ॥१२॥ जो तीन जगत् के भव्य जीवोंके संसारके हरण करनेवाले हैं और सर्वसुखोंके करनेवाले हैं, ऐसे सम्भवनाथकी मैं उन जैसी गतिकी प्राप्तिके लिए निरन्तर पूजा करता हूँ ॥१३॥ जो ज्ञानानन्दमय हैं, अपनी दिव्य वाणीसे सज्जनोंको आनन्द करनेवाले हैं, ऐसे अभिनन्दन प्रभुकी मैं आत्मोत्पन्न आनन्दकी प्राप्तिके लिए सदा स्तुति करता हूँ ॥१४॥ जो भव्य जीवोंको सन्मतिके देनेवाले हैं और देवोंके भी देव हैं, ऐसे सुमति देवको मैं निर्मल सन्मतिकी सिद्धिके लिए मस्तकसे नमस्कार करता हूँ ॥१५॥ जो अनन्तचतुष्टयरूप अन्तरंगलक्ष्मी और प्रातिहार्यादिरूप बहिरंगलक्ष्मी से अलंकृत हैं, जगत्के प्राणियोंको सर्व प्रकारकी लक्ष्मीके देनेवाले हैं और पद्मके समान कान्तिके धारक हैं, ऐसे पद्मप्रभ स्वामीको मैं उनकी लक्ष्मीके पानेके लिए नमस्कार करता हूँ ॥१६॥ जो सुबुद्धिके धारकजनोंको अपना सामीप्य देनेवाले हैं, सर्वकर्म रहित हैं, अनन्त सुखी और अनन्त गुणशाली हैं, ऐसे सुपार्श्वनाथके लिए नमस्कार है ॥१७॥ जो धर्मरूप अमृत-बिन्दुओंसे जगत्को आनन्दित करते हैं और अपनी ज्ञान-किरणोंसे जगत्के अज्ञानान्धकारको दूर करते हैं, ऐसे चन्द्रप्रभ स्वामीका मैं आत्मिक सुखकी प्राप्तिके लिए स्तवन करता हूँ ॥१८॥ जो कर्मों के हन्ता हैं और भव्य जीवोंको मोक्षमार्गकी विधिके उपदेष्टा हैं, ऐसे सुविधिनाथकी मैं स्वर्ग-मुक्तिके सुख आदिकी प्राप्तिके लिए तथा कर्मों के विनाशके लिए सहर्ष पूजा करता हूँ ॥१९॥ जो अपनी दिव्यध्वनिरूप अमृतपूरके द्वारा भव्य जीवोंके पाप-आतापके विनाशक हैं, ऐसे शीतलनाथको मैं अपने पाप-सन्तापके दूर करनेके लिए नमस्कार करता हूँ ॥२०॥ जो तीन जगत्के सज्जनवृन्दको कल्याणके दाता हैं, कर्म-शत्रुओंके विजेता हैं और समस्त श्रेयोंसे संयुक्त हैं, ऐसे श्रेयान्स जिनको मेरा श्रेयःप्राप्तिके लिए नमस्कार हो ॥२१॥ जो तीन जगत्के नाथ इन्द्रादिकोंके द्वारा पूजित होनेपर भी कभी हर्षित नहीं होते और निन्दा किये जानेपर भी कभी जरा-सा भी द्वेष मनमें नहीं लाते हैं ऐसे वासुपूज्य स्वामीका मैं आश्रय लेता हूँ ॥२२॥ जिनके निर्मल वचन योगियोंके अनादिकालीन कर्म-मलका नाश करते हैं वे निर्मलात्मा

१. ब वर्षणैर्नौम्यघातपच्छिदे ।

यस्यानन्तगुणा लोकं प्रपूर्य संचरन्त्यहो । सुरेशां हृदयेऽनन्तो वन्द्यो दद्याद् गुणान् स नः ॥२४॥
येन प्ररूपितो धर्मो द्विधा स्वर्मुक्तिशर्मणे । सुधियां धर्मचक्रेट् स धर्मो धर्माप्तयेऽस्तु मे ॥२५॥
दुःकर्मशत्रवोऽसंख्याः कषायाक्षाद्युपद्रवाः । शाम्यन्ति यद्गिरा पुंसां तं शान्तिं शान्तये स्तुवे ॥२६॥
यद्दिव्यध्वनिनात्रासीद्रक्षा कुन्थ्वादिदेहिनाम् । कुन्थ्वादौ सदयं कुन्थुं वन्दे कुन्थुकृपायतम् ॥२७॥
यद्वचःशस्त्रघातेन दुर्धराः कर्मशात्रवाः । नश्यन्ति स्वेन्द्रियैः सार्धं सोऽरो मेऽस्त्वरिहानये ॥२८॥
कर्ममल्लविजेतारं त्रातारं शरणार्थिनाम् । भेत्तारं मोहशत्रूणां मल्लिं तच्छक्तये स्तुवे ॥२९॥
मुन्यादिभ्यो व्रतादीनि यो ददाति निरन्तरम् । सद्-व्रताप्त्यै तमानौमि व्रताढ्यं मुनिसुव्रतम् ॥३०॥
नमीशं नमितारातिं त्रिजगन्नाथवन्दितम् । हतकर्मारिसंतानं तद्गुणाय स्तवीम्यहम् ॥३१॥
मोहकर्माक्षशत्रूणां मुखं भङ्क्त्वाशु योऽद्भुतः । नेमिर्बाल्येऽपि जग्राह दीक्षां स्तौमि यमाय तम् ॥३२॥
यस्माल्लब्ध्वा महामन्त्रं नागो नागी च तत्फलात् । नागेन्द्रस्तत्प्रियात्राभूत्तं पार्श्वं संस्तुवेऽनिशम् ॥३३॥
वीरं कर्मजये वीरं सन्मतिं धर्मदेशने । उपसर्गाग्निसंपाते महावीरं नमामि च ॥३४॥
एते तीर्थकराः ख्याताश्चतुर्विंशतिरत्र हि । शास्त्रादौ संस्तुताः सन्तु विश्वसत्कार्यसिद्धये ॥३५॥
अतीता येऽपरेऽनन्तास्तीर्थनाथाश्च संप्रति । सार्धद्वीपद्वये सन्ति श्रीसीमंधरमुख्यकाः ॥३६॥
त्रिजगद्देवसंघार्च्या धर्मसाम्राज्यनायकाः । स्तुत्या वन्द्या मयास्यादौ सन्तु मे विघ्नहानये ॥३७॥

विमलनाथ मेरे द्वारा स्तुत होकर मेरे पापमलका नाश करें ॥२३॥ जिसके अनन्त गुण समस्त लोकको पूरकर अहो देवेन्द्रोंके हृदयोंमें संचरित हो रहे हैं ऐसे वन्द्य अनन्त देव हमें अपने गुणोंको देवें ॥२४॥ जिनके द्वारा प्ररूपित मुनि-श्रावकरूप दोनों प्रकारका धर्म सुज्ञानी जनोंको स्वर्ग-मुक्तिके सुखका देनेवाला है, वे धर्मचक्रके स्वामी धर्मनाथ मेरे धर्मकी प्राप्तिके लिए हों ॥२५॥ जिनकी वाणीसे जीवोंके असंख्य दुष्कर्मरूप शत्रु और कषाय-इन्द्रियादिरूप उपद्रव शान्त हो जाते हैं, ऐसे शान्तिनाथकी मैं शान्ति-प्राप्तिके लिए स्तुति करता हूँ ॥२६॥ जिनकी दिव्य ध्वनिके द्वारा इस लोकमें कुन्थु आदि छोटे-छोटे जन्तुओंकी भी रक्षा सम्भव हुई, जो उन क्षुद्र प्राणियोंपर सदा सदय हैं, ऐसे कुन्थुकृपापरायण कुन्थुनाथकी मैं वन्दना करता हूँ ॥२७॥ जिनके वचनरूप शस्त्राघातसे दुर्धरकर्मरूप शत्रु अपनी इन्द्रियरूपी सेनाके साथ नष्ट हो जाते हैं, ऐसे अरनाथ मेरे अरियोंके नाशके लिए सहायक हों ॥२८॥ कर्मरूप मल्लोंके विजेता, शरणार्थियोंके त्राता और मोहशत्रुके भेत्ता मल्लिनाथकी मैं उनकी शक्ति-प्राप्तिके लिए स्तुति करता हूँ ॥२९॥ जो मुनि आदि चतुर्विध संघके लिए निरन्तर व्रत आदि देते हैं, उन व्रत-परिपूर्ण मुनि सुव्रतनाथको मैं सद्व्रतोंकी प्राप्तिके लिए नमस्कार करता हूँ ॥३०॥ जिन्होंने शत्रुओंको नमाया है, जो तीन जगत्के नाथोंसे वन्दित हैं और कर्मशत्रुओंकी सन्तानके विनाशक हैं ऐसे नमीश्वरकी मैं उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिए स्तुति करता हूँ ॥३१॥ जिन्होंने मोहकर्म और इन्द्रिय-शत्रुओंके मुखका शीघ्र भंजन कर बाल्-कालमें ही दीक्षा ग्रहण की, ऐसे अद्भुत नेमिनाथकी मैं संयमकी प्राप्तिके लिए स्तुति करता हूँ ॥३२॥ जिनसे महामन्त्र पाकर नाग और नागिनी उसके फलसे धरणेन्द्र और पद्मावती हुए, उन पार्श्वनाथकी मैं अहर्निश स्तुति करता हूँ ॥३३॥ जो कर्मोंके जीतनेमें वीर हैं, धर्मका उपदेश देनेमें सन्मति-वाले हैं और उपसर्गरूप अग्नि-पातमें भी महावीर हैं, ऐसे श्री वर्धमान स्वामीको नमस्कार करता हूँ ॥३४॥ इस भरत क्षेत्रमें ये चौबीस तीर्थंकर तीर्थ-प्रवर्तनसे प्रख्यात हैं, अतः शास्त्रा-रम्भमें सम्यक् प्रकारसे मेरे द्वारा स्तुति किये गये ये सभी तीर्थंकर मेरे समस्त सत्कार्यकी सिद्धिके लिए सहायक होवें ॥३५॥

अतीत कालमें जितने अनन्त तीर्थंकर हो गये हैं और वर्तमान कालमें सीमन्धर स्वामीको आदि लेकर अढ़ाई द्वीपमें जितने तीर्थंकर विद्यमान हैं, जो तीन जगत्के देवसमूहसे

त्रैलोक्यशिखरावासान् कर्मकायातिगान् परान् । सद्गुणाष्टमयान् सर्वाननन्तान् ज्ञानकायिकान् ॥३८॥
अमूर्तान् मनसा ध्येयान् मुमुक्षुभिरनारतम् । स्मरामि सिद्धये सिद्धांस्तद्गुणाप्त्यै सुखाकरान् ॥३९॥
कृत्स्नान् वृषभसेनादींश्चतुर्ज्ञानधरान् परान् । सप्तर्द्धिभूषितान् वन्दे कवीन्द्रांश्च गणाधिपान् ॥४०॥
श्रीगौतमः सुधर्माख्यः श्रीजम्बूस्वामिरन्तिमः । मोक्षं गते महावीरे त्रयः केवलिनोऽप्यमी ॥४१॥
मध्ये द्वाषष्टिवर्षाणां जाता ये धर्मवर्तिनः । शरणं तत्क्रमाब्जानां तद्गुणार्थी व्रजाम्यहम् ॥४२॥
नन्दी हि नन्दिमित्राख्योऽपराजितमुनीश्वरः । गोवर्धनस्ततो भद्रबाहुस्वामीति पञ्च ये ॥४३॥
सर्वपूर्वाङ्गवेत्तारोऽत्रोत्पन्नास्त्रिजगद्धिताः । अन्तरे शतवर्षाणां तेषामङ्घ्रींश्चिदे स्तुवे ॥४४॥
विशाखः प्रोष्ठिलाचार्यः क्षत्रियो जयसंज्ञकः । नागः सिद्धार्थनामा जिनसेनो विजयस्ततः ॥४५॥
बुद्धिलो गङ्गसंज्ञोऽथ सुधर्ममुनिपुङ्गवः । दशपूर्वधरा एवं जाता एकादशात्र ये ॥४६॥
त्र्यशीतिशतवर्षाणां मध्ये धर्मप्रकाशकाः । दृक्-चिद्-वृत्तात्मनां तेषां चरणाब्जान् नमाम्यहम् ॥४७॥
नक्षत्रो जयपालाख्यः पाण्डुश्च द्रुमसेनवाक् । कंस इत्यत्र जाता ये ह्येकादशाङ्गवेदिनः ॥४८॥
द्विशताधिकविंशत्यब्दानां मध्ये मुनीश्वराः । धर्मप्रवर्तिनस्तेषां स्तुवे पादसरोरुहान् ॥४९॥
सुभद्राख्यो यशोभद्रो जयबाहुस्तपोधनः । लोहाचार्य इतीहोत्पन्ना ये ह्याचाराङ्गधारिणः ॥५०॥
विनयादिधरः श्रीदत्ताख्योऽथ शिवदत्तवाक् । अर्हद्दत्त इहोत्पन्ना इत्यमी येऽङ्गपूर्वयोः ॥५१॥
मध्ये देशधरा अष्टादशाधिकशतात्मनाम् । वर्षाणामन्तरे स्तौमि तान्मुनीन् ग्रन्थवर्जितान् ॥५२॥

पूजित हैं और धर्म-साम्राज्यके नायक हैं, उन सबकी मैं इस ग्रन्थके आदिमें स्तुति और वन्दना करता हूँ। वे मेरे विघ्नोंके दूर करनेवाले होवें ॥३६–३७॥ जो तीन लोकके शिखरपर निवास करते हैं, कर्मरूप शरीरसे रहित हैं, ज्ञानरूप शरीरके धारक हैं, उत्तम अष्ट सद्‍गुणोंसे संयुक्त हैं, अमूर्त हैं, मुमुक्षुजनोंके द्वारा निरन्तर मनसे ध्यान किये जाते हैं और सुखके भण्डार हैं, ऐसे उन समस्त अनन्त सिद्ध भगवन्तोंको उनके गुणोंकी प्राप्तिके लिए और सिद्धिके लिए मैं स्मरण करता हूँ ॥३८–३९॥

चार ज्ञानके धारक, सात ऋद्धियोंसे विभूषित, परम कवीन्द्र वृषभसेन आदि समस्त गणधरोंकी मैं वन्दना करता हूँ ॥४०॥ भगवान् महावीर स्वामीके मोक्ष चले जानेपर श्री गौतम, सुधर्मा और अन्तिम जम्बूस्वामी ये तीन केवली यहाँपर बासठ वर्ष तक धर्मका प्रवर्तन करते रहे, अतः उनके गुणोंका इच्छुक मैं उनके चरण-कमलोंकी शरणको प्राप्त होता हूँ ॥४१–४२॥ नन्दी, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु स्वामी ये पाँच मुनीश्वर सर्व अंग और पूर्वोंके वेत्ता एवं तीन जगत्‌के हितकर्ता सौ वर्षोंके अन्तरकालमें हुए, मैं ज्ञान-प्राप्तिके लिए उनके चरणोंकी स्तुति करता हूँ ॥४३–४४॥ इनके पश्चात् विशाख, प्रोष्ठिलाचार्य, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, जिनसेन, विजय, बुद्धिल, गंग और सुधर्म ये ग्यारह मुनिपुंगव एक सौ तेरासी वर्षके भीतर दश पूर्व और ग्यारह अंगके धारक और धर्मके प्रकाशक हुए। मैं उन सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रधारी मुनिराजोंके चरण-कमलोंको नमस्कार करता हूँ ॥४५–४७॥ इनके पश्चात् नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, द्रुमसेन और कंस ये ग्यारह अंगोंके वेत्ता मुनीश्वर दो सौ बीस वर्ष तक धर्मके प्रवर्तक हुए। मैं उनके चरण-कमलोंकी स्तुति करता हूँ ॥४८–४९॥ इनके पश्चात् सुभद्र, यशोभद्र, जयबाहु और लोहाचार्य ये चार तपोधन आद्य आचारांगके धारक यहाँपर उत्पन्न हुए ॥५०॥ तत्पश्चात् विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हद्दत्त ये अंग-पूर्वोंके एकदेशके ज्ञाता आचार्य एक सौ अठारह वर्षके भीतर यहाँ पर उत्पन्न हुए। उन सब निर्ग्रन्थ मुनिराजोंकी मैं स्तुति करता हूँ ॥५०–५२॥

---

१. ब अष्टादशाग्रैकशतात्मनाम् ।

इत्यत्र कालदोषेण हीयमाने श्रुते सति । मुनिर्भूतवली नाम्ना पुष्पदन्तोऽपरो यतिः ॥५३॥
श्रुतनाशभयात्ताभ्यां शेषं संस्थापितं श्रुतम् । पुस्तकेषु समं संघैः कृत्वा पूजामहानये ॥५४॥
ज्येष्ठे धवलपञ्चम्यां ह्यतोऽत्रैतौ मुनीश्वरौ । धर्मवृद्धिकरौ स्तुत्यौ वन्द्यौ मे स्तां श्रुताप्तये ॥५५॥
अन्ये ये बहवो भूताः कुन्दकुन्दादिसूरयः । सुकवीन्द्राश्च निर्ग्रन्थाः सन्ति सर्वे महीतले ॥५६॥
पञ्चाचारादिभूषा ये पाठका जिनवाग्रताः । वन्द्याः स्तुता मया मेऽत्र दद्युः स्वस्वगुणांश्च ते ॥५७॥
त्रिकालयोगयुक्ता ये महातपोविधायिनः । साधवस्ते जगत्पूज्याः सन्तु तत्तपसे मम ॥५८॥
या भारती जगन्मान्या जिनास्याम्बुजसंभवा । कवित्वरचने दक्षां शुद्धां वृत्ते मतिं व्यधात् ॥५९॥
मेऽत्र सैव मया वन्द्या नुता विश्वार्थदर्शिनीम् । करोतु परमां बुद्धिं दृग्ज्ञानारब्धसिद्धये ॥६०॥
इत्थं सद्देवसिद्धान्तगुरून् सद्गुणशालिनः । मदिष्टानिष्टसिद्ध्यर्थं नत्वा च मङ्गलाप्तये ॥६१॥
वक्तृ-श्रोतृकथादीनां लक्षणं वच्मि संप्रति । यैः प्रतिष्ठां परां याति ग्रन्थोऽत्र स्वपरार्थकृत् ॥६२॥
ये सर्वसंगनिर्मुक्ताः ख्यातिपूजापराङ्मुखाः । अनेकान्तमतोपेताः सर्वसिद्धान्तपारगाः ॥६३॥
अकारणजगद्बन्धवो भव्याङ्गिहितोद्यताः । दृक्चिद्वृत्ततपोभूषाः साम्यादिगुणसागराः ॥६४॥
निर्लोभा निरहंकारा गुणिधार्मिकवत्सलाः । जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशनपरायणाः ॥६५॥
महाधियो महाप्राज्ञा ग्रन्थादिरचने क्षमाः । विख्यातकीर्तयो मान्या बुधैः सत्यवचोऽङ्किताः ॥६६॥
इत्याद्यन्यैर्गुणैः सारैर्भूषिताः सूरयोऽत्र ये । ते वक्तारोऽथ शास्त्राणां बुधैर्ज्ञेया महोत्तमाः ॥६७॥

तदनन्तर इस भरतक्षेत्रमें कालके दोषसे श्रुतज्ञानकी हीनता होनेपर भूतवली और पुष्पदन्त नामके दो मुनिराज हुए। उन्होंने श्रुत-विनाशके भयसे अवशिष्ट श्रुतको पुस्तकोंमें लिखकर स्थापित किया और सर्व संघके साथ ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीके दिन उनकी महापूजा की। वे दोनों मुनीश्वर धर्मकी वृद्धि करनेवाले हैं, स्तुत्य हैं और वन्दनीय हैं, वे मुझे श्रुतकी प्राप्ति करें ॥५३–५५॥ इनके पश्चात् कुन्दकुन्द आदि अन्य बहुत-से आचार्य और निर्ग्रन्थ कवीश्वर इस महीतलपर हुए हैं और जो पंच आचार आदिसे भूपित हैं, वे सब आचार्य, तथा जिनवाणीके पठन-पाठनमें निरत पाठक (उपाध्याय) मेरे द्वारा वन्दनीय और संस्तुत हैं, वे सब मुझे अपने-अपने गुणोंको देवें ॥५६–५७॥ जो त्रिकालयोगसे संयुक्त हैं, महातपोंके करनेवाले हैं और जगत्पूज्य हैं, वे सर्व साधुजन मेरे उन-उन तपोंकी प्राप्तिके लिए सहायक होवें ॥५८॥ जो भारती (सरस्वती) जगन्मान्य है और जिनेन्द्रदेवके मुख-कमलसे निकली है, वह कविताके रचनेमें और चारित्रके बढ़ानेमें मेरी बुद्धिको दक्ष और शुद्ध करे ॥५९॥ वह भारती ही मेरे लिए सदा वन्दनीय हैं और मेरे द्वारा नमस्कृत हैं, वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और आरम्भ किये गये इस ग्रन्थकी सिद्धिके लिए मेरी बुद्धिको परम शुद्ध और समस्त अर्थको दिखानेवाली करे ॥६०॥

इस प्रकार सद्-गुणशाली सुदेव, शास्त्र और गुरुको अपने इष्ट कार्यमें आनेवाले अनिष्टोंको दूर करनेके लिए तथा मंगलकी प्राप्तिके लिए नमस्कार करके अब वक्ता, श्रोता और कथा आदिका लक्षण कहता हूँ, जिससे कि स्व-परका उपकारक यह ग्रन्थ इस लोकमें परम प्रतिष्ठाको प्राप्त होवे ॥६१–६२॥

वक्ताका लक्षण—जो सर्व परिग्रहसे रहित हों, ख्याति और पूजासे पराङ्मुख हों, अनेकान्त मतके धारक हों, सर्व सिद्धान्तके पारगामी हों, जगत्के अकारण बन्धु हों, भव्य प्राणियोंके हितमें उद्यत रहते हों, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपसे भूपित हों, साम्य-भाव आदि गुणोंके सागर हों, लोभ-रहित हों, अहंकार-विहीन हों, गुणी और धार्मिकजनोंके साथ वात्सल्यभावके धारक हों, जैनशासनके माहात्म्य-प्रकाशनमें सदा तत्पर रहते हों, महाबुद्धिशाली हों, महान् विद्वान् हों, ग्रन्थ आदिके रचनेमें समर्थ हों, प्रख्यात कीर्तिवाले

अमीषां वचसां दक्षा धर्मं गृह्णन्ति वा तपः। तदाचरणसुप्रमाण्यान्नान्यशिथिलात्मनाम् ॥६८॥
यद्ययं वेत्ति सद्धर्मं कथं नाचरति स्वयम्। इत्युक्त्वा शिथिलोक्तं न धर्मं स्वीकुरुते जनः ॥६९॥
ज्ञानहीनो वदत्यत्र यो धर्मं चिल्लवोद्धतः। मोः किं वेत्त्ययमित्युक्त्वोपहसति तमेव हि ॥७०॥
अतोऽत्र शास्त्रकर्तॄणां वक्तॄणां धर्मदेशिनाम्। द्वौ गुणौ परमौ ज्ञेयौ ज्ञानवृत्तात्मकौ भुवि ॥७१॥
दृक्चिच्छीलव्रतोपेताः सिद्धान्तश्रवणोत्सुकाः। श्रुतावधारणे शक्ता जिनेन्द्रसमये रताः ॥७२॥
अर्हद्-भक्ताः सदाचारा निर्ग्रन्थगुरुसेवकाः। विचारचतुरा दक्षाः निकषग्रावसंनिभाः ॥७३॥
आचार्योक्तं श्रुतं सम्यक् सारासारं विचार्य ये। असारं प्राग्गृहीतं वा त्यक्त्वा गृह्णन्ति सूनृतम् ॥७४॥
हसन्ति स्खलितं सूरेर्न मनाग् ये विवेकिनः। शुकमृद्धंसनीरादिगुणाढ्या दोषदूरगाः ॥७५॥
इत्याद्यपरसच्छ्रोतृगुणैर्युक्ता विदोऽत्र ये। श्रोतारः परमा ज्ञेयास्ते शास्त्राणां शुभाशयाः ॥७६॥
यस्यां सम्यग् निरुप्यन्ते जीवतत्त्वादयोऽखिलाः। तत्त्वार्था मुख्यसंवेगा भवभोगाङ्गधामसु ॥७७॥
दान-पूजा-तपः-शील-व्रतादीनां फलानि च। बन्धमोक्षादयो व्यक्तास्तेषां च हेतवो घनाः ॥७८॥
मुख्या प्राणिदया यत्र प्रोच्यते धर्ममातृका। सर्वसंगपरित्यागात्स्वर्मोक्षं यान्ति धीधनाः ॥७९॥

हों, ज्ञानियोंके द्वारा मान्य हों, सत्यवचनोंसे अलंकृत हों, तथा इसी प्रकारके अन्य अनेक सारभूत गुणोंसे जो विभूपित हों, ऐसे जो आचार्य हैं, वे ही विद्वानोंके द्वारा महान् उत्तम शास्त्रोंके वक्ता माने गये जानना चाहिए। कारण ऐसे ही वक्ताओंके वचनोंसे दक्ष पुरुप धर्मको और तपको ग्रहण करते हैं क्योंकि उनके आचरणकी प्रमाणतासे वचनोंमें प्रमाणता मानी जाती है। अन्य शिथिलाचारी पुरुषोंके वचन कोई नहीं मानता है। क्योंकि उनके विषयमें लोग ऐसा कहते हैं कि यदि यह सत्य धर्मको जानता है, तो फिर स्वयं उसका आचरण क्यों नहीं करता है। ऐसा कहकर लोग शिथिलाचारीके कहे हुए धर्मको स्वीकार नहीं करते हैं। जो ज्ञानहीन वक्ता यहाँपर ज्ञानका लवमात्र पाकर उद्धत हुआ धर्मका प्रतिपादन करता है, उसके लिए लोग 'अरे, यह क्या जानता है', ऐसा कहकर उसकी हँसी उड़ाते हैं ॥६३-७०॥ अतएव यहाँपर शास्त्रकर्ताओं और धर्मोपदेश करनेवाले वक्ताओंके ज्ञान और चारित्रात्मक दो परम गुण जानना चाहिए ॥७१॥

श्रोताका लक्षण—जो सम्यग्दर्शन, शील और व्रतसे संयुक्त हों, सिद्धान्तके सुननेके लिए उत्सुक हों, सुनकर उसके अवधारण करनेमें समर्थ हों, जिनदेवके शासनमें निरत हों, अर्हन्तदेवके भक्त हों, सदाचारी हों, निर्ग्रन्थ गुरुओंके सेवक हों, विचार करनेमें चतुर हों, तत्त्वके स्वरूप-निर्णयमें कसौटीके पाषाणके सदृश चतुर परीक्षक हों, और जो आचार्यके द्वारा कहे गये श्रुतका सम्यक् प्रकारसे सार-असार विचार करके असारको तथा पहलेसे ग्रहण किये गये अतत्त्वको छोड़कर सारभूत सत्यको ग्रहण करनेवाले हों, और जो विवेकी जन आचार्यके स्खलन (चूक) पर जरा भी नहीं हँसते हों, जो तोता, मिट्टी और हंसके क्षीर-नीर विवेक समान गुणोंसे युक्त हों और सर्व प्रकारके दोपोंसे दूर हों, इनको आदि लेकर अन्य अनेक उत्तम गुणोंसे युक्त जो ज्ञानी श्रोता होते हैं, वे ही शुभाशयवाले शास्त्रोंके परम श्रोता जानना चाहिए ॥७२-७६॥

उत्तम कथाका स्वरूप—जिस कथामें जीव आदि समस्त तत्त्व सम्यक् प्रकारसे निरूपण किये गये हों, जिसमें परमार्थका वर्णन हो, संसार, भोग और शरीर गृहादिमें मुख्य रूपसे संवेग (वैराग्य)का निरूपण हो, जिसमें दान, पूजा, तप, शील और व्रतादिकोंका स्वरूप तथा उनके फलोंका वर्णन हो, जिसमें बन्ध और मोक्ष आदिका तथा उनके कारणोंका व्यक्त एवं विस्तृत वर्णन हो, जिस कथामें धर्मकी मातास्वरूप प्राणिदया मुख्य रूपसे कही गयी हो, सर्व प्रकारके परिग्रहके परित्यागसे स्वर्ग और मोक्षको जानेवाले बुद्धिमान् पुरुप

त्रिषष्टिपुरुषादीनां महतां च महर्धयः । यत्रोच्यन्ते पुराणानि भवान्तराणि संपदः ॥८०॥
अन्यानि शुभपाकानि कथ्यन्ते यत्र कोविदैः । सा सर्वा सूनृता धर्मकथा सारा शुभप्रदा ॥८१॥
पूर्वापराविरुद्धा च श्रोतव्या जिनसूत्रजा । शृङ्गारादिभवा नान्या जातुचित्पापकारिणी ॥८२॥
इत्थं सद्वक्तृ-सच्छ्रोतृ-कथानां लक्षणं पृथक् । सम्यङ् निरुप्य वक्ष्येऽहं चरित्रं पावनं परम् ॥८३॥
श्रीवीरस्वामिनो रम्यं महापुण्यनिबन्धनम् । वक्तृ-श्रोतृजनादीनां हितमुद्दिश्य पापहृत् ॥८४॥
येन श्रुतेन सभ्यानां पुण्यं संचयिते तराम् । पूर्वपापं[1] क्षयं याति संवेगो वर्धते महान् ॥८५॥
इति सकलसुयुक्त्या स्वेष्टदेवान् प्रणम्य परमगुणयुतान् वक्त्रादिसर्वान्निरूप्य ।
जिनवरमुखजातां सत्कथां धर्मखानिं चरमजिनपतेर्वच्मीह कर्मारिशान्त्यै ॥८६॥
वीरो वीरनराग्रणीर्गुणनिधिर्वीरा हि वीरं श्रिता वीरेणेह भवेत्सुवीरविभवं वीराय नित्यं नमः ।
वीराद् वीरगुणा भवन्ति सुधियां वीरस्य वीराश्चरा वीरे भक्तिसुकुर्वतो मम गुणान् हे वीर देह्यद्भुतान् ॥८७॥

इति भट्टारकश्रीसकलकीर्तिदेवविरचिते श्रीवीरवर्धमानचरिते इष्टदेवनमस्कार-वक्त्रादिलक्षणप्ररूपको नाम प्रथमोऽधिकारः ॥१॥

जिसमें वर्णित हों, जिसमें तिरेसठ शलाका महापुरुषोंकी महाऋद्धि, उनके चरित, भवान्तर और सम्पदाका वर्णन किया गया हो, जिसमें विद्वानोंके द्वारा अन्य अनेक पुण्य-विपाक कहे गये हों, ऐसी सभी सारभूत पुण्यदायिनी सच्ची धर्मकथाएँ जाननी चाहिए ॥७७-८१॥ जो पूर्वापर विरोधसे रहित है, ऐसी जिनसूत्रसे उत्पन्न हुई सत्कथाएँ ही श्रोताओंको सुननी चाहिए। किन्तु श्रृंगार आदिका वर्णन करनेवाली पापकारिणी अन्य कोई भी कथा कभी नहीं सुननी चाहिए ॥८२॥

इस प्रकार उत्तम वक्ता, श्रोता और कथाका लक्षण पृथक्-पृथक् सम्यक् प्रकारसे निरूपण करके अब मैं श्री वीरस्वामीका परम पावन, रमणीक और महापुण्यका कारणभूत पापका नाशक चरित्र वक्ता और श्रोता आदि जनोंके हितका उद्देश्य करके कहूँगा। जिसके सुनने से सभ्यजनोंके अत्यन्त पुण्यका संचय होता है और पूर्वभवके पाप क्षयको प्राप्त होते हैं तथा महान् संवेग बढ़ता है ॥८३-८५॥

इस प्रकार सकल सुयुक्तियोंसे परम गुणयुक्त अपने इष्ट देवोंको प्रणाम करके और वक्ता आदि सभीका स्वरूप कहके, जिनेन्द्रदेवके मुखकमलसे उत्पन्न हुई, धर्मकी खानि-स्वरूप अन्तिम जिनपति महावीर स्वामीकी सत्कथाको अपने कर्म-शत्रुओंके शान्त करनेके लिए कहता हूँ ॥८६॥

वीरजिनेन्द्र वीर मनुष्योंमें अग्रणी हैं, गुणोंके निधान हैं, वीर पुरुष ही वीर जिनके आश्रयको प्राप्त हुए हैं, वीरके द्वारा ही इस लोकमें उत्तम वीर-वैभव प्राप्त होता है, ऐसे श्री वीरस्वामीको मेरा नमस्कार हो। वीरसे सुबुद्धिशालियोंके वीर-गुण प्राप्त होते हैं, वीर जिनेन्द्रके अनुचर भी वीर ही होते हैं, ऐसे वीरजिनेन्द्रमें भक्तिको करनेवाले मेरे हे वीर, तू मुझे अपने अद्भुत गुणोंको दे ॥८७॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्तिविरचित श्रीवीर-वर्धमान-चरितमें इष्टदेवको नमस्कार और वक्ता आदिके लक्षणोंका वर्णन करनेवाला प्रथम अधिकार समाप्त हुआ ॥१॥

---

१. ब सर्वपापं ।

द्वितीयोऽधिकारः

वीरं वीराग्रिमं वीरं कर्ममल्लनिपातने । परीषहोपसर्गादिजये धैर्याय नौमि च ॥१॥
अथ-जम्बूद्रुमोपेतो जम्बूद्वीपो विराजते । मध्ये द्वीपाब्धि सर्वेषां चक्रवर्तीव भूभुजाम् ॥२॥
तन्मध्ये मेरुराभाति सुदर्शनो महोन्नतः । मध्ये विश्वाचलानां च देवानामिव तीर्थकृत् ॥३॥
तस्मात्पूर्वदिशो भागे भ्राजते क्षेत्रमुत्तमम् । रम्यं पूर्वविदेहाख्यं धार्मिकैः श्रीजिनादिभिः ॥४॥
यतोऽत्र तपसानन्ता विदेहा मुनयश्चिदा । भवन्त्यत इदं क्षेत्रं विधत्ते सार्थनाम हि ॥५॥
तन्मध्यस्थितसीताया नद्या उत्तरदिक्तटे । विषयः पुष्कलावत्यभिधो भाति महान् श्रिया ॥६॥
शोभन्ते यत्र तीर्थेशप्रासादास्तुङ्गकेतुभिः । पुर-ग्राम-वनादौ सर्वत्र नान्यसुरालयाः ॥७॥
विहरन्ति गणेशाद्याश्चतुःसंघविभूषिताः । धर्मप्रवृत्तये यत्र नैव पाखण्डिलिङ्गिनः ॥८॥
अहिंसालक्षणो धर्मो वर्ततेऽर्हन्मुखोद्गतः । यतिभिः श्रावकैर्नित्यो नापरः सत्त्वबाधकः ॥९॥
पठन्ति चाङ्गपूर्वाणि यत्रत्या सुविदः सदा । ज्ञानायाज्ञाननाशाय न कुशास्त्राणि जातुचित् ॥१०॥
प्रजा वर्णत्रयोपेता यत्र सन्ति सुखान्विताः । शश्वद्धर्मरता दक्षा बहुश्र्याढ्या न च द्विजाः ॥११॥
जायन्ते गणनातीतास्तीर्थनाथा गणाधिपाः । चक्रिणो वासुदेवाद्या यत्र मर्त्यसुरार्चिताः ॥१२॥
शतपञ्चधनुस्तुङ्गं विद्यते यत्र सद्वपुः । पूर्वकोटिप्रमाणायुः कालश्चतुर्थ एव च ॥१३॥

कर्मरूपी मल्लको गिरानेमें वीराग्रणी और परीषह—उपसर्गोंके जीतनेवाले श्री वीरप्रभुको मैं धैर्य-प्राप्तिके लिए नमस्कार करता हूँ ॥१॥ असंख्यात द्वीप-समुद्रोंवाले इस मध्यलोकके मध्यमें राजाओंमें चक्रवर्तीके समान जम्बूवृक्षसे संयुक्त जम्बूद्वीप शोभित है ॥२॥ उस जम्बूद्वीपके मध्यमें महान् उन्नत सुदर्शन नामका मेरुपर्वत देवोंके मध्यमें तीर्थंकरके समान सर्व पर्वतोंमें शिरोमणि रूपसे शोभित है ॥३॥ उस मेरुपर्वतके पूर्व दिशा-भागमें पूर्व विदेह नामका एक उत्तम क्षेत्र श्री जिनेन्द्रदेवोंसे और धार्मिकजनोंसे रमणीय शोभित है ॥४॥ यतः उस क्षेत्रसे अनन्त मुनिगण तप करके देह-रहित हो गये हैं, अतः वह क्षेत्र 'विदेह' इस सार्थक नामको धारण करता है ॥५॥ उस पूर्वविदेह क्षेत्रके मध्यमें स्थित सीता नदीके उत्तर दिशावर्ती तटपर लक्ष्मीसे शोभायमान एक पुष्कलावती नामका देश है ॥६॥ उस देशमें पुर, ग्राम और वनादिमें सर्वत्र उन्नत ध्वजाओंसे युक्त तीर्थंकरोंके मन्दिर शोभायमान हैं, वैसे सुन्दर देवोंके भवन भी नहीं हैं ॥७॥ उस देशमें सर्वत्र चतुर्विध संघसे विभूषित तीर्थंकर और गणधर देवादिक धर्म-प्रवर्तनके लिए विहार करते रहते हैं। उस देशमें कोई भी पाखण्डी वेपधारी नहीं है ॥८॥ उस देशमें अर्हन्त भगवन्तके मुखारविन्दसे प्रकट हुआ अहिंसा लक्षण धर्म ही मुनि और श्रावकजनोंके द्वारा नित्य प्रवर्तमान रहता है। इसके अतिरिक्त जीवोंको बाधा पहुँचानेवाला और कोई धर्म वहाँ नहीं है ॥९॥ जहाँ के ज्ञानीजन नित्य ही ज्ञानकी प्राप्ति और अज्ञानके नाशके लिए अंग और पूर्वगत शास्त्रोंको पढ़ते हैं। वहाँपर कुशास्त्रोंको कभी भी कोई व्यक्ति नहीं पढ़ता है ॥१०॥ वहाँकी सर्व प्रजा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णवाली ही है। सारी प्रजा सुख-संयुक्त, निरन्तर धर्म-पालनमें निरत और बहुत लक्ष्मीसे सम्पन्न है। वहाँपर ब्राह्मण वर्ण नहीं है ॥११॥ उस देशमें मनुष्य और देवोंसे पूजित असंख्य तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती और वासुदेव आदि महापुरुष उत्पन्न होते हैं ॥१२॥ जिस विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंके शरीर पाँच सौ धनुष उन्नत हैं,

यत्रोत्पन्नैर्महद्भिश्च तपसा साध्यते यदि । स्वर्गो मोक्षोऽहमिन्द्रत्वं तत्र का वर्णना परा ॥१४॥
द्विषड्योजनायामा नवयोजनविस्तृता । चतुःपथसहस्राढ्या सहस्रद्वारभूषिता ॥१५॥
शतपञ्चलघुद्वारा द्विषट्सहस्रसत्पथा । सद्धार्मिकजनैः पूर्णा महापुण्यनिवन्धना ॥१६॥
तन्मध्ये नाभिवद् भाति नगरी पुण्डरीकिणी । आह्वयन्तीव नाकेशं चैत्यगेहस्थकेतुभिः ॥१७॥
तस्या वाह्ये भवेद्रम्यं मधुकाख्यं वनं महत् । शीतलं सफलं द्वेधा ध्यानस्थमुनिभूषितम् ॥१८॥
वसेद् व्याधाधिपस्तत्र पुरूरवाभिधानकः । भद्रो मद्रा प्रिया तस्य कालिकाख्याभवच्छुभा ॥१९॥
कदाचित्कानने तस्मिन् वन्दनार्थं जिनेशिनः । मुनिः सागरसेनाख्य आयातः सत्पथे व्रजन् ॥२०॥
सार्थवाहेन धर्मस्य स्वामिना सह सोऽशुभात् । सार्थो मिल्लैर्गृहीतोऽखिलोऽशुभात् किं न जायते ॥२१॥
अतस्तत्र मुनीन्द्रं तमीर्यापथविलोचनम् । दिङ्मोहाद्धर्मसंलीनं पर्यटन्तमितस्ततः ॥२२॥
दूराद्वीक्ष्य मृगं मत्वा हन्तुकामः पुरूरवाः । निषिद्धो द्रुतमित्युक्त्वा शुभात्तत्कान्तया गिरा ॥२३॥
वनदेवाश्चरन्तीमे विश्वानुग्रहकारिणः । न कर्तव्यमिदं नाथ त्वया कर्माघकारणम् ॥२४॥
तद्वचःश्रवणात्काललब्ध्या भूत्वा प्रसन्नधीः । उपैत्यासौ मुनीशं तं ननाम शिरसा मुदा ॥२५॥
यतिः स्वकृपयेत्याह तं भव्यं प्रति धर्मधीः । भद्रेदं मद्वचःसारं शृणु सद्धर्मसूचकम् ॥२६॥
लभ्यते येन धर्मेण लक्ष्मीर्लोकत्रयोद्भवा । राज्यं क्षीणारिचक्रं च सुखमिन्द्रादिगोचरम् ॥२७॥

उनकी आयु एक पूर्वकोटी वर्ष प्रमाण है और वहाँपर सदा चौथा काल ही रहता है ॥१३॥ जहाँपर उत्पन्न हुए महामनुष्य तपके द्वारा स्वर्ग, मोक्ष और अहमिन्द्रपना ही सिद्ध करते हैं, वहाँका और क्या अधिक वर्णन किया जा सकता है ॥१४॥ उस पुष्कलावती देशमें एक पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है, जो कि बारह योजन लम्बी है, नौ योजन चौड़ी है, एक हजार चतुःपथों (चौराहों)से संयुक्त है, एक हजार द्वारोंसे विभूषित है, पाँच सौ छोटे द्वारोंवाली है, बारह हजार राजमार्गोंसे युक्त है, धार्मिक जनोंसे परिपूर्ण है और महापुण्यकी कारणभूत है ॥१५-१६॥ यह पुण्डरीकिणी नगरी उस देशके मध्यमें इस प्रकारसे शोभित है, जैसे कि शरीरके मध्यमें नाभि शोभती है। वह नगरी चैत्यालयोंके ऊपर उड़नेवाली ध्वजाओंसे मानो स्वर्गलोकको बुलाती हुई-सी जान पड़ती है ॥१७॥

उस नगरीके बाहर मधुक नामका एक रमणीक महावन है, जो शीतल छायावाले और फले-फूले हुए वृक्षोंसे युक्त तथा ध्यानस्थ मुनियोंसे भूषित है ॥१८॥ उस वनमें पुरूरवा नामका भद्र प्रकृतिका एक भीलोंका स्वामी रहता था। उसकी कालिका नामकी एक भद्र और कल्याणकारिणी प्रिया थी ॥१९॥ किसी समय जिनदेवकी वन्दनाके लिए जाते हुए सागरसेन नामक एक मुनिराज उस वनमें आये। वे मुनिराज धर्मके स्वामी किसी सार्थवाहके साथ आ रहे थे कि मार्गमें उस सार्थवाहको पापोदयसे भीलोंने पकड़ लिया। अशुभ कर्मके उदयसे क्या नहीं हो जाता है ॥२०-२१॥ सार्थवाहके साथसे बिछुड़कर और दिशा भूल जानेसे ईर्यासमितिसे इधर-उधर घूमते हुए धर्ममें संलग्न उन मुनिराजको पुरूरवा भीलने दूरसे देखा और उन्हें मृग समझकर वाण द्वारा मारनेके लिए उद्यत हुआ। तभी पुण्योदयसे उसकी स्त्रीने शीघ्र ही यह कहकर उसे मारनेसे रोका कि 'अरे, ये तो संसारका अनुग्रह करनेवाले वनदेव विचर रहे हैं। हे नाथ, तुम्हें महापाप कर्मका कारणभूत यह निन्द्य कार्य नहीं करना चाहिए' ॥२२-२४॥ अपनी स्त्रीके ये वचन सुननेसे, और काललब्धिके योगसे प्रसन्नचित्त होकर वह उन मुनिराजके पास गया और अति हर्षके साथ मस्तकसे उन्हें नमस्कार किया ॥२५॥ धर्मबुद्धि उन मुनिराजने अपनी दयालुतासे उस भव्यसे कहा— 'हे भद्र, मेरे उत्तम धर्मके प्रकट करनेवाले सारभूत वचनको सुनो ॥२६॥ जिस धर्मके द्वारा तीनों लोकोंमें उत्पन्न होनेवाली लक्ष्मी प्राप्त होती है, जिसके द्वारा शत्रुचक्रका नाश करने-

भोगोपभोगवस्तूनि मनोऽभीष्टसुसंपदः । धर्मप्राप्त्या किलाप्यन्ते स्वजनाद्याश्च शर्मदाः ॥२८॥
स धर्मो मद्यमांसादिपञ्चोदुम्बरवर्जनैः । सम्यक्त्वेन ह्यहिंसाद्यणुव्रतैः पञ्चभिस्त्वया ॥२९॥
गुणव्रतत्रिकैः सारैः शिक्षाव्रतचतुष्टयैः । साध्यते गृहिभिश्चैकदेशः स्वर्गसुखप्रदः ॥३०॥
इति तद्वचसा त्यक्त्वा मद्यमांसवधादिकान् । नत्वा मुनीन्द्रपादाब्जौ श्रद्धया परया समम् ॥३१॥
जग्राह दृष्टिना सार्धं भिल्लाधिपः शुभाशयः । द्वादशैव व्रतान्याशु श्रावकस्य वृषाप्तये ॥३२॥
निदाघे तृषितो यद्वत्प्राप्य पूर्णं सरोवरम् । संसारदुःखभीरुर्वा सत्यं जैनेश्वरं मतम् ॥३३॥
शास्त्राभ्यसनशीलो वा विद्वद्भृतं गुरोः कुलम् । रोगी वा रोगनिर्नाशं निधानं वा दरिद्रवान् ॥३४॥
लभते परमानन्दं तथा सन्तोषमूर्जितम् । अत्यन्तदुर्लभेनात्र धर्मलाभेन सोऽगमत् ॥३५॥
ततो यतेः स पुण्यात्मा दर्शयित्वा पथोत्तमम् । नमस्कारं मुहुः कृत्वा जगाम स्वाश्रयं मुदा ॥३६॥
आजन्मान्तं प्रपाल्योच्चैः सर्वं व्रतकदम्बकम् । अन्ते समाधिना मृत्वा व्रतजातशुभोदयात् ॥३७॥
सौधर्माख्ये महाकल्पेऽनेकशर्माकरेऽभवत् । महर्द्धिकोऽमरो भिल्ल एकसागरजीवितः ॥३८॥
शिलासंपुटगर्भे स तत्राप्य नवयौवनम् । मुहूर्तेन विलोक्याशु विमानादिश्रियं पराम् ॥३९॥
समस्तं प्राग्भवं ज्ञात्वा व्रतादिजनितं फलम् । तत्क्षणाप्तावधिज्ञानाद्धर्मेऽधात्स्वमतिं दृढाम् ॥४०॥
ततश्चैत्यालयं गत्वा मुदा धर्मादिसिद्धये । चक्रेऽसौ परमां पूजां प्रतिमानां जिनेशिनाम् ॥४१॥

वाला राज्य प्राप्त होता है और इन्द्रादिके सुख प्राप्त होते हैं, मनोवांछित भोगोपभोगकी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं और सभी अभीष्ट सम्पदाएँ मिलती हैं, तथा जिस धर्मकी प्राप्तिसे सुखके देनेवाले स्वजन-परिजन आदि मिलते हैं, वह धर्म मद्य, मांस आदिके तथा पंच उदुम्बर फलोंके भक्षणके त्यागसे प्राप्त होता है। अतः हे भव्य, तू सम्यक्त्वके साथ, तथा अहिंसादि पाँच अणुव्रतों, सारभूत तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतोंके साथ उस धर्मको धारण कर। यह स्वर्गके सुखोंको देनेवाला एकदेशरूप धर्म गृहस्थोंके द्वारा साधा जाता है ॥२७-३०॥ मुनिराजके इन वचनोंसे उस भिल्लराजने मद्य-मांसादिका भक्षण और जीवघात आदिका त्याग कर और परम श्रद्धाके साथ मुनिराजके चरण-कमलोंको नमस्कार कर शुभ हृदयवाला होकर सम्यग्दर्शनके साथ श्रावकके बारह ही व्रतोंको धर्म-प्राप्तिके लिए शीघ्र ग्रहण कर लिया ॥३१-३२॥ जैसे ग्रीष्मऋतुमें प्यासा मनुष्य जलसे परिपूर्ण सरोवरको पाकर अति प्रसन्न होता है, उसी प्रकार वह भील भी संसारके दुःखोंसे डरकर और जिनेश्वरोपदिष्ट सत्य धर्मको प्राप्त कर अतिहर्षित हुआ। जैसे शास्त्राभ्यासका इच्छुक मनुष्य विद्वानोंसे भरे हुए गुरुकुलको पाकर हर्षित होता है, अथवा जैसे रोगी मनुष्य रोग-नाशक औषधिको पाकर प्रमुदित होता है, अथवा जैसे दरिद्री पुरुष निधानको पाकर परमानन्दको प्राप्त होता है, उसी प्रकार अत्यन्त दुर्लभ धर्मके लाभसे वह भिल्लराज भी अत्यन्त सन्तोषको प्राप्त हुआ ॥३३-३५॥ तत्पश्चात् वह पुण्यात्मा भिल्लराज मुनिराजको उत्तम मार्ग दिखलाकर और उन्हें बार-बार नमस्कार करके हर्षित होता हुआ अपने स्थानको चला गया ॥३६॥ उसने अपने जीवन-पर्यन्त उस सब व्रत-समुदायको उत्तम प्रकारसे पालन किया और अन्तमें समाधिके साथ मरण कर व्रत-पालनसे उत्पन्न हुए पुण्यके उदयसे अनेक सुखोंके भण्डार ऐसे सौधर्म नामके महाकल्पमें एक सागरोपमकी आयुका धारक महर्द्धिक देव उत्पन्न हुआ ॥३७-३८॥ उपपादशय्याके शिलासम्पुटगर्भमें अन्तर्मुहूर्तके भीतर ही नवयौवन अवस्थाको प्राप्त कर और तत्काल प्राप्त हुए अवधिज्ञानसे पूर्वभवमें किये गये व्रतादिका फल जानकर और स्वर्ग-विमानादिकी उत्कृष्ट लक्ष्मीको देखकर उसने धर्ममें अपनी मतिको और भी दृढ़ किया ॥३९-४०॥

तदनन्तर धर्म आदिकी सिद्धिके लिए हर्षित होकर उसने अपने परिवारके साथ

सार्धं स्वपरिवारेण चाष्टभेदैर्महार्चनैः । जलादिफलपर्यन्तैर्गीतनृत्यस्तवादिभिः ॥४२॥
पुनः प्रपूज्य तीर्थेशमूर्तीश्चैत्यद्रुमे स्थिताः । मेरुनन्दीश्वरादौ च गत्वारूढः स्ववाहनम् ॥४३॥
जिनेन्द्रकेवलज्ञानिगणेशादिमहात्मनाम् । महामहं विधायोच्चैर्भक्त्या मूर्ध्ना ननाम सः ॥४४॥
तेभ्यः श्रुत्वा द्विधा धर्मं विश्वतत्त्वादिगर्भितम् । उपार्ज्य बहुधा पुण्यं सोऽगमत्स्वालयं ततः ॥४५॥
इत्यसौ विविधं पुण्यं कुर्वाणः शुभचेष्टया । क्रीडां कुर्वन् स्वदेवीभिः सौधमेरुवनादिषु ॥४६॥
शृण्वन् मनोहरं गीतं क्वचित्पश्यंश्च नर्तनम् । शृङ्गारं रूपसौन्दर्यं विलासं दिव्ययोषिताम् ॥४७॥
इत्यादिपरमान् भोगान् भुञ्जानः प्राक्शुभार्जितान् । सप्तहस्ततनूत्सेधः सप्तधात्वतिगाङ्गभाक् ॥४८॥
त्रिज्ञानाष्टर्द्धिभूषाढ्यो नेत्रस्पन्दादिदूरगः । दिव्यदेहधरस्तत्र तिष्ठेच्छर्माब्धिमध्यगः ॥४९॥
अथेह भारते क्षेत्रे देशोऽस्ति कोशलाभिधः । आर्यखण्डस्य मध्यस्थ आर्याणां मुक्तिकारणः ॥५०॥
यत्रोत्पन्नाश्च भव्यार्या वृत्तेन यान्ति निर्वृतिम् । केचिद् ग्रैवेयकादिं च केचित्स्वर्गं नरान्तिमम् ॥५१॥
केचिच्छ्रावकधर्मेण गच्छन्ति जिनभाक्तिकाः । सौधर्माद्यच्युतान्तं वा लभन्ते शक्रसत्पदम् ॥५२॥
अन्ये सुपात्रदानेन भोगभूमिं व्रजन्ति च । केचित्पूर्वविदेहादौ प्राप्नुवन्ति नृपश्रियम् ॥५३॥
ऋषिकेवलियत्याद्या यत्र धर्मादिहेतवे । विहरन्ति जगत्पूज्याः सार्धं संघैश्चतुर्विधैः ॥५४॥
ग्रामपत्तनपुर्याद्या भान्ति तुङ्गजिनालयैः । वनानि सफलान्यत्र ध्यानारूढैश्च योगिभिः ॥५५॥

चैत्यालयमें जाकर जिनेन्द्र देवोंकी प्रतिमाओंकी जलको आदि लेकर फल पर्यन्त आठ भेदरूप-उत्तम द्रव्योंसे गीत, नृत्य, स्तवन आदिके साथ महापूजा की। पुनः चैत्यद्रुमोंमें स्थित तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंका पूजन करके वह अपने वाहनपर आरूढ़ होकर मेरुपर्वत और नन्दीश्वर आदिमें गया और वहाँकी प्रतिमाओंका पूजन करके तथा विदेहादि क्षेत्रोंमें स्थित जिनेन्द्रदेव, केवलज्ञानी और गणधरादि महात्माओंका उच्च भक्तिके साथ महापूजन करके उसने उन सबको मस्तकसे नमस्कार किया। तथा उनसे समस्त तत्त्व आदिसे गर्भित मुनि और श्रावकोंके धर्मको सुनकर और बहुत-सा पुण्य उपार्जन करके वह अपने देवालयको चला गया ॥४१-४५॥

इस प्रकार वह अनेक प्रकारसे पुण्यको उपार्जन करता हुआ और अपनी शुभ चेष्टासे अपनी देवियोंके साथ देव-भवनोंमें तथा मेरुगिरिके वनों आदिमें क्रीड़ा करता हुआ, उनके मनोहर गीत सुनता हुआ और दिव्य नारियोंके नृत्य-शृंगार, रूप-सौन्दर्य और विलासको देखता हुआ तथा पूर्व पुण्योपार्जित नाना प्रकारके परम भोगोंको भोगता हुआ वह स्वर्गीय सुख भोगने लगा। उसका शरीर सात हाथ उन्नत था, सप्त धातुओंसे रहित और नेत्र-स्पन्दन आदिसे रहित था। वह तीन ज्ञानका धारक, और अणिमादि आठ ऋद्धियोंसे विभूषित था। दिव्य देहका धारक था। इस प्रकार वह सुख-सागरमें निमग्न रहता हुआ अपना काल विताने लगा ॥४६-४९॥

इस भरतक्षेत्रके आर्यखण्डके मध्यमें कोशल नामका एक देश है, जो आर्यपुरुषोंकी मुक्तिका कारण है ॥५०॥ जहाँपर उत्पन्न हुए कितने ही भव्य आर्य पुरुष सकल चारित्रके द्वारा मोक्षको जाते हैं, कितने ही ग्रैवेयक आदि विमानोंमें और स्वर्गों में उत्पन्न होते हैं और कितने ही जिनभक्त लोग श्रावक धर्मके द्वारा सौधर्मको आदि लेकर अच्युत स्वर्ग तक उत्पन्न होते हैं और इन्द्र-सम्पदाको प्राप्त करते हैं ॥५१-५२॥ कितने ही लोग सुपात्रदानके द्वारा भोगभूमिको जाते हैं और कितने ही पूर्व-विदेहादिमें उत्पन्न होकर राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करते हैं ॥५३॥ जिस आर्य क्षेत्रमें केवली, ऋषि और मुनिजनादिक जगत्पूज्य पुरुष चतुर्विध संघके साथ धर्म आदिकी प्रवृत्तिके लिए सदा विहार करते रहते हैं ॥५४॥ जहाँपर ग्राम, पत्तन और पुरी आदिक उत्तुंग जिनालयोंसे शोभायमान हैं और जहाँके वन फल-संयुक्त हैं

इत्यादिवर्णनोपेतस्यास्य देशस्य मध्यगा। विनीतास्ति पुरी रम्या विनीतजनसंभृता ॥५६॥
आदितीर्थंकरोत्पत्तौ निर्मिता यात्र नाकिभिः। हेमरत्नमयेनामा तुङ्गचैत्यालयेन च ॥५७॥
तन्मध्यस्थेन दिव्येन तुङ्गशालादिगोपुरैः। दीर्घखातिकयालङ्घ्या शत्रुभिर्धामपङ्क्तिभिः ॥५८॥
योजनानां नव व्यासायामा द्वादशयोजनैः। प्रीतिंकरा सुरादीनां तरां किं वर्ण्यते हि सा ॥५९॥
दानिनो मार्दवा दक्षा धर्मशीलाः शुभाशयाः। आर्जवादिगुणोपेता रूपलावण्यभूषिताः ॥६०॥
धार्मिका उत्तमाचाराः सुखिनो जिनभाक्तिकाः। प्रागर्जितमहापुण्या अतीव धनिनः शुभाः ॥६१॥
वसन्ति तुङ्गसौधेषु विमानेषु सुरा इव। तादृग्गुणशताक्रान्ता देव्याभा यत्र योषितः ॥६२॥
इच्छन्ति नाकिनो यस्यामवतारं शिवाप्तये। तस्याः स्वर्मुक्तिसन्मातुर्वर्णनं क्रियतेऽत्र किम् ॥६३॥
बभूवास्याः पतिः श्रीमान् प्रथमश्चक्रवर्तिनाम्। आदिसृष्टिविधातुस्तुग्ज्येष्ठो हि भरताभिधः ॥६४॥
अकम्पनादयो भूपा नमिमुख्याः खगेश्वराः। मागधाद्याः सुरा यस्य नमन्ति चरणाम्बुजौ ॥६५॥
षट्खण्डस्वामिनस्तस्य चरमाङ्गस्य धर्मिणः। निधिरत्नमहादेव्यादिसच्छ्र्यलंकृतात्मनः ॥६६॥
त्रिज्ञानसुकलाविद्याविवेकादिगुणाम्बुधेः। कोऽत्र वर्णयितुं शक्तो रूपादिगुणसंपदः ॥६७॥
तस्य पुण्यवतो देवी पुण्यादासीत्सुखाकरा। पुण्याढ्या धारिणीसंज्ञा दिव्यलक्षणलक्षिता ॥६८॥
तयोः स स्वर्गतश्च्युत्वा पुरूरवाचरोऽमरः। सूनुर्मरीचिनामाभूद् रूपादिगुणमण्डितः ॥६९॥
स क्रमाद् वृद्धिमासाद्य स्वयोग्यान्नादिभूषणैः। पठित्वानेकशास्त्राणि प्राप्य स्वयोग्यसंपदः ॥७०॥

और ध्यानारूढ योगिजनोंसे शोभित हैं ॥५५॥ इत्यादि वर्णनसे युक्त उस कोशल देशके मध्यमें विनीता नामकी एक रमणीक पुरी है, जो विनीत जनोंसे परिपूर्ण है ॥५६॥ जिस पुरीको आदि तीर्थंकर ऋषभदेवकी उत्पत्तिके समय देवोंने बनाया था। और जो उसके मध्यमें स्थित दिव्य, स्वर्ण-रत्नमयी उत्तुंग चैत्यालयसे शोभित है। तथा ऊँचे शाल आदिसे, गोपुरसे और शत्रुओंके द्वारा अलंघ्य लम्बी खाई एवं भवनोंकी पंक्तियोंसे शोभित है ॥५७-५८॥ वह पुरी नौ योजन चौड़ी है, और बारह योजन लम्बी है। अधिक क्या वर्णन करें, वह नगरी देवादिकों को भी अत्यन्त आनन्द करनेवाली है ॥५९॥ वहाँके निवासी लोग दानी, मृदुस्वभावी, दक्ष, पुण्यशील, शुभाशयी, आर्जव आदि गुण-सम्पन्न, रूप-लावण्यसे भूपित, धार्मिक, उत्तम आचारवान्, सुखी, जिनभक्त, पूर्वोपार्जित महापुण्यशाली, अत्यधिक धनी और शुभ परिणामोंके धारक हैं, वे वहाँके ऊँचे-ऊँचे भवनोंमें इस प्रकार आनन्दसे रहते हैं, जिस प्रकार कि देव लोग अपने विमानोंमें रहते हैं। वहाँकी स्त्रियाँ भी पुरुषोंके समान ही सैकड़ों गुणोंसे युक्त और देवियोंके समान आभाकी धारक हैं ॥६०-६२॥ मोक्षकी प्राप्तिके लिए देव लोग भी जिस नगरीमें अवतार लेनेकी इच्छा करते हैं, उस स्वर्ग और मुक्तिकी जननीस्वरूपा नगरीका और अधिक क्या वर्णन किया जावे ॥६३॥

उस विनीता नगरीका अधिपति श्रीमान् भरत नरेश हुआ, जो चक्रवर्तियोंमें प्रथम था और आदि सृष्टि-विधाता वृषभदेवका ज्येष्ठ पुत्र था ॥६४॥ जिस भरत चक्रवर्तीके चरण-कमलोंको अकम्पन आदि राजा लोग, नमि आदिक विद्याधर और मागध आदि देवगण नमस्कार करते हैं ॥६५॥ षट्खण्डके स्वामी, चरमशरीरी, धर्मात्मा, नवनिधि, चौदह रत्न और महादेवी आदि उत्तम लक्ष्मी से अलंकृत, तीन ज्ञान, बहत्तर कला, सर्व विद्याओं और विवेक आदि गुणोंके सागर तथा रूपादि गुणसम्पदावाले उस भरत चक्रवर्तीके गुणोंका वर्णन करनेके लिए कौन पुरुष समर्थ है ॥६६-६७॥ उस पुण्यात्मा भरतके पुण्योदयसे सुखकी खानि, पुण्य-विभूषित और दिव्य लक्षणोंवाली धारिणी नामकी रानी थी ॥६८॥ उन दोनोंके वह पुरूरवा भीलका जीव देव स्वर्गसे चयकर रूपादि गुणोंसे मण्डित मरीचि नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥६९॥ वह क्रमसे अपने योग्य अन्न-पानादिसे और भूषणोंसे वृद्धिको प्राप्त होकर, अनेक

सार्धं पितामहेनैव स्वस्य पूर्वशुभार्जितान् । अन्वभूद् विविधान् भोगान् वन[1]क्रीडादिभिः सह[2] ॥७१॥
कदाचिद् वृषभः स्वामी देवीनर्तनदर्शनात् । विश्वभोगाङ्गराज्यादौ लब्ध्वा संवेगमूर्जितम् ॥७२॥
आरुह्य शिविकां गत्वा वनं शक्रादिभिः समम् । जग्राह संयमं त्यक्त्वा द्विधा संगान् स्वमुक्तये ॥७३॥
तदा कच्छादिभूपालैः स्वामिभक्तिपरायणैः । चतुःसहस्रसंख्यानैः केवलं स्वामिभक्तये ॥७४॥
समं मरीचिरप्याशु द्रव्यसंयममाददे । नग्नवेषं विधायाङ्गे स्वामिवन्मुग्धधीस्ततः ॥७५॥
त्यक्त्वा देहममत्वादीन् भूत्वा मेरुसमोऽचलः । हन्तुं कर्मारिसंतानं कर्मारातिनिकन्दनम् ॥७६॥
दधे योगं परं मुक्त्यै षण्मासावधिमात्मवान् । प्रलम्बितभुजादण्डो ध्यानपूर्वं जगद्गुरुः ॥७७॥
ततस्ते क्षुत्पिपासादीन् सर्वान् घोरपरीषहान् । तेन सार्धं चिरं सोढ्वा पश्चात्सोढुं किलाक्षमाः ॥७८॥
तपःक्लेशभराक्रान्ता दीनास्या धृतिदूरगाः । जजल्पुरित्थमन्योन्यं सुष्ठु दीनतया गिरा ॥७९॥
अहो एष जगद्भर्ता वज्रकायः स्थिराशयः । न ज्ञायते कियत्कालमेवं स्थास्यति विश्वराट् ॥८०॥
अस्माकं प्राणसंदेहो वर्ततेऽस्मत्समानकैः । यतोऽनेन समं स्पर्धां कृत्वा मर्तव्यमेव किम् ॥८१॥
इत्युक्त्वा लिङ्गिनः सर्वे ते नत्वा तत्क्रमाम्बुजौ । भरतेशभयाद् गन्तुमशक्ताः स्वालयं ततः ॥८२॥
तत्रैव कानने पापात्स्वेच्छया फलभक्षणम् । कर्तुं पातुं जलं दीनाः स्वयं प्रारेभिरे शठाः ॥८३॥

शास्त्रोंको पढ़कर और अपने योग्य सम्पदाको प्राप्त करके पूर्वोपार्जित पुण्यकर्मके उदयसे अपने पितामहके साथ ही वनक्रीडा आदिके द्वारा नाना प्रकारके भोगोंको भोगता रहा ॥७०-७१॥ किसी समय नीलांजना देवीके नृत्य देखनेसे वृषभदेव स्वामीने समस्त भोगोंमें, देहमें और राज्य आदिमें उत्कृष्ट वैराग्यको प्राप्त होकर और पालकीपर बैठकर इन्द्रादिके साथ वनमें जाकर और अन्तरंग-बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहको अपनी मुक्तिके लिए छोड़कर संयमको ग्रहण कर लिया ॥७२-७३॥

उस समय केवल स्वामि-भक्तिके लिए स्वामिभक्ति-परायण कच्छ आदि चार हजार राजाओंके साथ मरीचिने भी शीघ्र द्रव्य संयमको ग्रहण कर लिया और नग्नवेष धारण करके वह मुग्ध बुद्धि शरीरमें वृषभ स्वामीके समान हो गया। (किन्तु अन्तरंगमें इस दीक्षाका कुछ भी रहस्य नहीं जानता था।) ॥७४-७५॥ भगवान् वृषभदेवने देहसे ममता आदि छोड़कर और मेरुके समान अचल होकर कर्मशत्रुओंकी सन्तानका नाश करनेके लिए कर्मवैरीका घातक छह मासकी अवधिवाला प्रतिमायोग मुक्तिप्राप्तिके लिए धारण कर लिया और आत्मसामर्थ्यवान् वे जगद्गुरु अपने भुजादण्डोंको लम्बा करके ध्यानमें अवस्थित हो गये ॥७६-७७॥ भगवान् वृषभदेवके साथ जो चार हजार राजा लोग दीक्षित हुए थे, वे कुछ दिन तक तो भगवान् के समान ही कायोत्सर्गसे खड़े रहे और भूख-प्यास आदि सभी घोर परीषहोंको सहन करते रहे। किन्तु आगे दीर्घकाल तक भगवान्‌के साथ उन्हें सहनेमें असमर्थ हो गये ॥७८॥ वे सब तपके क्लेशभारसे आक्रान्त हो गये, उनके मुख दीनतासे परिपूर्ण हो गये, उनका धैर्य चला गया, तब वे अत्यन्त दीन वाणीसे परस्परमें इस प्रकार वार्तालाप करने लगे—'अहो, यह जगद्-भर्ता वज्रकाय और स्थिर चित्तवाला है, हम नहीं जानते हैं कि यह विश्वका स्वामी कितने समय तक इसी प्रकारसे खड़ा रहेगा? अब तो हमारे प्राणोंके रहनेमें सन्देह है? अपने समान लोगोंको इस प्रभुके साथ स्पर्धा करके क्या मरना है?' इस प्रकार कहकर वे सब वेषधारी साधु भगवान्‌के चरण-कमलोंको नमस्कार करके वहाँसे चले। किन्तु भरतेशके भयसे अपने घर जानेमें असमर्थ होकर वहीं वनमें ही पापसे स्वेच्छाचारी होकर वे दीन शठ फलोंका भक्षण करने लगे और नदी आदिका जल

---

१. अ वनाय। २. ब परैः।

मरीचिरपि तैः सार्धं पीडितोऽतिपरीषहैः । तत्समानक्रियां कर्तुं प्रवृत्तोऽघविपाकतः ॥८४॥
तन्निन्द्यकर्मकर्तॄंस्तान् विलोक्य वनदेवता । इत्याह रे शठा यूयं शृणुतास्मद्वचः शुभम् ॥८५॥
वेषेणानेन ये मूढाः कर्मेदं कुर्वतेऽशुभम् । निन्द्यं सत्त्वक्षयं कर्तृश्वभ्राब्धौ ते पतन्त्यघात् ॥८६॥
गृहिलिङ्गकृतं पापमर्हल्लिङ्गेन मुच्यते । अर्हल्लिङ्गकृतं पापं वज्रलेपोऽत्र जायते ॥८७॥
अतोऽत्रेदं जगत्पूज्यं वेषं मुक्त्वा जिनेशिनाम् । गृह्णीध्वमपरं नो चेद्वः करिष्यामि निग्रहम् ॥८८॥
इति तद्वचसा भीता मुक्त्वा वेषं बुधार्चितम् । जटादिधारणैर्नानावेषं ते जगृहुस्तदा ॥८९॥
मरीचिरपि तीव्रात्तमिथ्यात्वोदयतः स्वयम् । परिव्राजकदीक्षां स हत्वा वेषं निजं व्यधात् ॥९०॥
तच्छास्त्ररचनेऽस्याशु दीर्घसंसारिणः स्वयम् । शक्तिरासीदहो यस्य यद्भावि तत्किमन्यथा ॥९१॥
अथासौ त्रिजगत्स्वामी ह्येकाकी सिंहवन्महीम् । विहृत्याब्दसहस्रान्तं मौनेन प्राक्तने वने ॥९२॥
हत्वा घातिरिपून् शुक्लध्यानखड्गेन तीर्थराट् । केवलज्ञानसाम्राज्यं स्वीचकार जगद्धितम् ॥९३॥
तत्क्षणं यक्षराडस्य दिव्यमास्थानमण्डलम् । स्फुरद्रत्नसुवर्णाद्यैश्चक्रे विश्वाङ्गिपूरितम् ॥९४॥
इन्द्राद्याः परया भूत्या सकलत्राः सवाहनाः । चक्रिरेऽष्टविधां पूजां भक्त्या दिव्यार्चनैर्विभोः ॥९५॥
कच्छाद्याः प्राक्तनास्तेऽस्मादाकर्ण्य बन्धमोक्षयोः । स्वरूपं परमार्थेन निर्ग्रन्था बहवोऽभवन् ॥९६॥
मरीचिस्त्रिजगद्भर्तुः श्रुत्वापि सत्पथं परम् । मुक्तेर्न स्वमतं दुर्धीश्चात्यजद् भवकारणम् ॥९७॥

पीना उन्होंने प्रारम्भ कर दिया ॥७९-८३॥ पापके उदयसे अति घोर परीषहोंके द्वारा पीड़ित हुआ मरीचि भी उन लोगोंके साथ उनके समान ही क्रियाएँ करनेके लिए प्रवृत्त हो गया ॥८४॥ इन भ्रष्ट साधुओंको निन्द्य कर्म करते हुए देखकर वनदेवताने कहा—'अरे मूर्खो, तुम लोग हमारे शुभ वचन सुनो ॥८५॥ इन नग्नवेषको धारण कर जो मूढ़जन ऐसा निन्द्य अशुभ और जीव-घातक कार्य करते हैं, वे उस पापके फलसे घोर नरक-सागरमें पड़ते हैं ॥८६॥ अरे वेषधारियो, गृहस्थ वेषमें किया गया पाप तो जिनलिंगके धारण करनेसे छूट जाता है। किन्तु इस जिनलिंगमें किया गया पाप वज्रलेप हो जाता है। (उसका छूटना बहुत कठिन है) ॥८७॥ अतः जिनेश्वरदेवके इस जगत्पूज्य वेषको छोड़कर तुम लोग कोई अन्य वेष धारण करो। अन्यथा मैं तुम लोगोंका निग्रह करूँगा' ॥८८॥ इस प्रकार वनदेवताके वचनसे भयभीत होकर विद्वत्पूज्य जिनवेषको छोड़कर तब उन लोगोंने जटा आदिको धारण करके नाना प्रकारके वेष ग्रहण कर लिये ॥८९॥ मरीचिने भी तीव्र मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जिन-वेषको छोड़कर स्वयं ही परिव्राजक दीक्षाको धारण कर लिया ॥९०॥ दीर्घ संसारी इस मरीचिके उस परिव्राजक दीक्षाके अनुरूप शास्त्रकी रचना करनेमें शीघ्र ही शक्ति प्रकट हो गयी। अहो, जिसका जैसा भवितव्य होता है, वह क्या अन्यथा हो सकता है ॥९१॥

अथानन्तर वे त्रिजगत्स्वामी ऋषभदेव (छह मासके योग पूर्ण होनेके पश्चात्) एक हजार वर्ष तक मौनसे सिंहके समान पृथ्वीपर विहार करके जिसमें दीक्षा ली थी, उसी पूर्व वनमें आये और वहाँपर उन्होंने शुक्लध्यानरूप खड्गसे घातिकर्म रूप शत्रुओंका घात करके जगत्का हितकारक केवलज्ञानरूप साम्राज्य प्राप्त किया और तीर्थराट् बन गये ॥९२-९३॥ उसी समय यक्षराजने स्फुरायमान रत्न-सुवर्णादिसे उनके दिव्य आस्थानमण्डल (समव-सरण-सभा) की रचना की; जिसमें सर्व प्राणी यथास्थान बैठ सकें ॥९४॥ इन्द्रादिक भी उत्कृष्ट विभूति, अपनी देवांगनाओं और वाहनोंके साथ आये और दिव्य पूजन-सामग्रीसे उन्होंने प्रभुकी भक्तिके साथ आठ प्रकारकी पूजा की ॥९५॥ भगवान्के मुखसे बन्ध और मोक्षका स्वरूप सुनकर उन पुरातन कच्छादिक भ्रष्ट साधुओंमेंसे बहुत-से साधु पुनः परमार्थ रूपसे निर्ग्रन्थ बन गये ॥९६॥ दुर्बुद्धि मरीचिने त्रिजगत्प्रभुसे मुक्तिका परम सन्मार्ग रूप

यथैष तीर्थनाथोऽत्रात्मना संगादिवर्जनात् । त्रिजगज्जनसंक्षोभकारि सामर्थ्यमाप्तवान् ॥९८॥
मदुपज्ञं तथा लोके व्यवस्थाप्य मतान्तरम् । तन्निमित्तोरुसामर्थ्याज्जगत्त्रयगुरोरहम् ॥९९॥
प्रतीक्षां प्राप्तुमिच्छामि तन्मेऽवश्यं भविष्यति । इति मानोदयाद्दुष्टो न व्यरंसीत्स्वदुर्मतात् ॥१००॥
त्रिदण्डसंयुतं वेषं तमेवादाय पापधीः । कायक्लेशपरो मूर्खः कमण्डलुकराङ्कितः ॥१०१॥
प्रातः शीतजलस्नानात्कन्दमूलादिभक्षणात् । बाह्योपधिपरित्यागात् कुर्वन् विख्यातिमात्मनः ॥१०२॥
कपिलादिस्वशिष्याणां स्वकल्पितमतान्तरम् । इन्द्रजालनिभं निन्द्यं यथार्थं प्रतिपादयन् ॥१०३॥
मुदा भ्रान्त्वा चिरं भूमौ मिथ्यामार्गाग्रणीः खलः । कालेन मरणं प्राप तनूजो भरतेशिनः ॥१०४॥
अज्ञानतपसाथासौ ब्रह्मकल्पेऽमरोऽजनि । दशसागरजीवी स्वयोग्यसंपत्सुखान्वितः ॥१०५॥
अहो ईदृक् तपःकर्तायं यद्याप सुरालयम् । अतो ये सुतपः कुर्युस्तेषां किं कथ्यते फलम् ॥१०६॥
अथेह भारते पुर्यां साकेतायां द्विजो वसेत् । कपिलाख्यः प्रिया तस्य कालीनाम्ना बभूव हि ॥१०७॥
तयोः स निर्जरः स्वर्गादित्याभूज्जटिलाभिधः । सुतो दुर्मतसंलीनो वेदस्मृत्यादिशास्त्रवित् ॥१०८॥
पूर्वसंस्कारयोगेन परिव्राजक एव सः । भूत्वा मूढजनैर्वन्द्यः स्वकुमार्गं प्रकाशयन् ॥१०९॥
पूर्ववत्सुचिरं लोके मृत्वा स्वस्यायुषः क्षये । तत्कष्टादमरो जज्ञे कल्पे सौधर्मनामनि ॥११०॥
द्विसागरोपमायुष्कः स्वल्पर्धिसुखसंयुतः । अहो न निःफलं जातु कुधियां कुतपो भुवि ॥१११॥

उपदेश सुन करके भी संसारके कारणभूत अपने खोटे मतको नहीं छोड़ा ॥९७। प्रत्युत मनमें सोचने लगा कि जैसे इन पूज्य तीर्थनाथ ऋषभदेवने परिग्रहादिको त्यागनेसे तीन जगत्के जीवोंको क्षोभित करनेवाली सामर्थ्य प्राप्त की है, उसी प्रकार मैं भी अपने द्वारा प्ररूपित इस अन्य मतको लोकमें व्यवस्थित करके उसके निमित्तसे महान् सामर्थ्यवाला होकर त्रिजगत्का गुरु हो सकता हूँ। मैं उस अवसरको पानेके लिए प्रतीक्षा करता हूँ। वह सामर्थ्य मुझे अवश्य प्राप्त होगी। इस प्रकारके मानकषायके उदयसे वह दुष्ट अपने खोटे मतसे विरक्त नहीं हुआ ॥९८-१००॥ वह पापबुद्धि मूर्ख उसी तीन दण्डयुक्त वेषको धारण कर और हाथमें कमण्डलु लेकर कायक्लेश सहनेमें तत्पर रहने लगा ॥१०१॥ वह प्रातःकाल शीतल जलसे स्नान करके कन्दमूलादि फलोंको खा करके और बाहरी परिग्रहके त्यागसे अपनी प्रख्याति करने लगा, तथा कपिल आदि अपने शिष्योंको इन्द्रजालके समान अपने कल्पित निन्द्य मतान्तरको यथार्थ प्रतिपादन करता हुआ मिथ्या मार्गके प्रवर्तनका अग्रणी बनकर चिरकाल तक भारतभूमिमें परिभ्रमण करता रहा। अन्तमें भरतेशका वह पुत्र मरीचि यथाकाल मरणको प्राप्त होकर अज्ञान तपके प्रभावसे ब्रह्मकल्पमें दश सागरोपमकी आयुका धारक और अपने पुण्यके योग्य सुख-सम्पत्तिसे युक्त देव हुआ ॥१०२-१०५॥ अहो, इस प्रकार-के कुतपको करनेवाला व्यक्ति यदि स्वर्गलोकको प्राप्त हुआ, तो जो लोग सुतपको करेंगे, उनके तपका क्या फल कहा जावे? अर्थात् वे तो और भी अधिक उत्तम फलको प्राप्त करेंगे ॥१०६॥

अथानन्तर इस भारतवर्षमें साकेतापुरीके भीतर कपिल नामका एक ब्राह्मण रहता था। उसकी काली नामकी स्त्री थी ॥१०७॥ उन दोनोंके वह देव स्वर्गसे च्यवकर जटिल नामका पुत्र हुआ। वह कुमतमें संलीन रहता था और वेद, स्मृति आदि शास्त्रोंका विद्वान् था ॥१०८॥ पूर्व संस्कारके योगसे वह पुनः परिव्राजक होकर कुमार्गका प्रकाशन करता हुआ मूढ़जनोंसे वन्दनीय हुआ ॥१०९॥ पूर्वभवके समान इस भवमें भी वह चिरकाल तक अपने मतका प्रचार करता और उसे पालन करता हुआ आयुके क्षय हो जानेपर मरकर उस अज्ञान तपके कष्ट-सहनके प्रभावसे पुनः सौधर्म नामक कल्पमें देव उत्पन्न हुआ ॥११०॥ वहाँ वह दो सागरोपमकी आयुका धारक और अल्प ऋद्धिसे संयुक्त हुआ। अहो, कुबुद्धियोंका कुतप भी संसारमें कभी निष्फल नहीं होता है ॥१११॥

अथैवात्र पुरे रम्ये स्थूणागारसमाह्वये । भारद्वाजद्विजोऽप्यासीत्पुष्पदन्तां च वल्लभा ॥११२॥
तयोः स कल्पतश्च्युत्वा पुष्पमित्राह्वयोऽभवत् । तनूजो दुर्मतोत्पन्नकुशास्त्राभ्यासतत्परः ॥११३॥
पुनर्मिथ्यावपाकेन मिथ्यामतविमोहितः । स्वीकृत्य प्राक्तनं वेषं प्रकृत्यादिप्ररूपितान् ॥११४॥
पञ्चविंशतिदुस्तत्त्वान् दुर्धियामभिमानयन् । बद्ध्वा मन्दकषायेण देवायुः सोऽभवद् व्यसुः ॥११५॥
तेन सौधर्मकल्पेऽभूदेकसागरजीवितः । स देवः स्वतपोयोग्यसुखलक्ष्म्यादिमण्डितः ॥११६॥
अथेह भारते क्षेत्रे श्वेतिकाख्ये पुरे शुभे । ब्राह्मणोऽस्त्यग्निभूत्याख्यो ब्राह्मणी (तस्य) गौतमी ॥११७॥
स्वर्गाच्च्युत्वा तयोरासीत्सोऽमरः कर्मपाकतः । पुत्रोऽग्निसहनामा निजैकान्तमतशास्त्रवित् ॥११८॥
पुनः प्राक्कर्मणा भूत्वा परिव्राजकदीक्षितः । कालं स पूर्ववन्नीत्वा स्वायुषोऽन्ते मृतिं व्यगात् ॥११९॥
तदज्ञानतपक्लेशाद् बभूवासौ सुरो दिवि । सनत्कुमारसंज्ञे सप्ताब्ध्यायुष्कः सुखान्वितः ॥१२०॥
अथास्मिन् भारते रम्ये मन्दिराख्येपुरे वरे । विप्रो गौतमनामास्य कौशिकी ब्राह्मणी प्रिया ॥१२१॥
तयोर्देवो दिवश्च्युत्वा सोऽग्निमित्राभिधोऽजनि । तनूद्भवो महामिथ्यादृष्टिर्दुःश्रुतिपारगः ॥१२२॥
पुनः पूर्वभवाभ्यासान्नीत्वा दीक्षां पुरातनीम् । विधाय वपुषः क्लेशं मृतः स स्वायुषः क्षये ॥१२३॥
तेनाज्ञतपसा जज्ञे कल्पे माहेन्द्रसंज्ञके । गीर्वाणः स्वतपोजातायुःश्रीदेव्यादिमण्डितः ॥१२४॥
अथेह प्राक्तने रम्ये पुरे मन्दिरनामके । सालंकायनविप्रोऽस्ति मन्दिरा तस्य वल्लभा ॥१२५॥
तयोर्द्विजचरो देवश्च्युत्वा माहेन्द्रतः स तुक् । भारद्वाजाह्वयो जातः कुशास्त्राभ्यासतत्परः ॥१२६॥

इसके पश्चात् इसी भारतवर्षके स्थूणागार नामके रमणीक नगरमें एक भारद्वाज नामका द्विज रहता था। उसकी पुष्पदन्ता नामकी स्त्री थी ॥११२॥ स्वर्गसे चयकर वह देव उन दोनोंके पुष्पमित्र नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। वह कुमतसे उत्पन्न कुशास्त्रोंके अभ्यासमें तत्पर रहता था ॥११३॥ मिथ्यात्व कर्मके विपाकसे वह पुनः मिथ्यामतसे विमोहित होकर और उसी पुराने परिव्राजक वेषको स्वीकार करके प्रकृति आदि पूर्व प्ररूपित पचीस कुतत्त्वोंको कुबुद्धिजनोंके लिए स्वीकार कराता हुआ मन्द कषायके योगसे देवायुको बाँधकर मरा और सौधर्म कल्पमें एक सागरोपमकी आयुका धारक एवं अपने तपके योग्य सुख और लक्ष्मी आदिसे मण्डित देव उत्पन्न हुआ ॥११४-११६॥

अनन्तर इसी भारत क्षेत्रमें श्वेतिका नामके उत्तम नगरमें अग्निभूति नामका ब्राह्मण रहता था। उसकी ब्राह्मणीका नाम गौतमी था ॥११७॥ स्वर्गसे चयकर वह देव उन दोनोंके अग्निसह नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पूर्वकृत मिथ्यात्व कर्मके उदयसे अपने ही पूर्व प्रचारित एकान्त मतके शास्त्रोंका ज्ञाता हुआ और पुनः पुरातन कर्मसे परिव्राजक दीक्षासे दीक्षित होकर और पूर्वके समान ही काल विताकर और अपनी आयुके अन्तमें मरकर उस अज्ञान तपःक्लेशके प्रभावसे सनत्कुमार नामके स्वर्गमें सात सागरोपम आयुका धारक सुख-सम्पन्न देव हुआ ॥११८-१२०॥

तत्पश्चात् इसी भारतवर्षमें रमणीक मन्दिर नामके उत्तम पुरमें गौतम नामका एक विप्र रहता था। उसकी कौशिकी नामकी ब्राह्मणी प्रिया थी ॥१२१॥ उन दोनोंके स्वर्गसे च्युत होकर वह देव अग्निमित्र नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। वह महा मिथ्यादृष्टि और कुशास्त्रोंका पारगामी था। वह पुनः पूर्व भवके अभ्याससे पूर्व भववाली परिव्राजक दीक्षाको लेकर और शारीरिक क्लेशों को सहनकर अपनी आयुके क्षय होनेपर मरा और उस अज्ञान तपसे माहेन्द्र नामके स्वर्गमें अपने तपके अनुसार आयु, लक्ष्मी और देवी आदिसे मण्डित देव उत्पन्न हुआ ॥१२२-१२४॥

तदनन्तर इसी भारतवर्षके उसी पुरातन मन्दिर नामके रमणीक नगरमें सालंकायन नामका एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्रीका नाम मन्दिरा था। उन दोनोंके वह देव माहेन्द्र

तत्कुज्ञानजसंवेगाद्दीक्षां त्रिदण्डमण्डिताम् । गृहीत्वा तपसा बद्ध्वा देवायुः स मृतिं ययौ ॥१२७॥

तत्फलेन बभूवासौ दिवि माहेन्द्रनामनि । धृत्वा सप्ताब्धिमानायुः स्वतपोऽर्जितशर्मभाक् ॥१२८॥

ततः प्रच्युत्य दुर्मार्गप्रकटीकृतजैनसः । महापापविपाकेन निन्द्याः सर्वा अधोगतीः ॥१२९॥

प्रविश्यासंख्यवर्षाणि चिरं भ्रान्त्वा सुखातिगः । दुःकर्मशृङ्खलाबद्धत्रसस्थावरयोनिषु ॥१३०॥

सर्वदुःखनिधानेषु नानादुःखातिपीडितः । वचोऽतिगं महादुःखं मिथ्यात्वफलतोऽन्वभूत् ॥१३१॥

वरं हुताशने पातो वरं हालाहलाशनम् । अब्धौ वा मज्जनं श्रेष्ठं मिथ्यात्वान्न च जीवितम् ॥१३२॥

वरं व्याघ्रारिचौराहिवृश्चिकादिखलात्मनाम् । प्राणापहारिणां संगो न च मिथ्यादृशां क्वचित् ॥१३३॥

एकतः सकलं पापं मिथ्यात्वमेकतस्तयोः । वदन्त्यत्रान्तरं दक्षा मेरुसर्षपयोरिव ॥१३४॥

इति मत्वा न कर्तव्यं प्राणान्तेऽपि कदाचन । विश्वदुःखाकरीभूतं मिथ्यात्वं दुःखभीरुभिः ॥१३५॥

इति कुपथविपाकाच्छर्मबिन्द्वाभमाप्य
जलनिधिसमदुःखं चान्वभूत् स त्रिदण्डी ।
त्रिजगति सुखकामा हीति मत्वा त्रिशुद्ध्या
त्यजत निखिलमिथ्यामार्गमादाय दृष्टिम् ॥१३६॥

स्वर्गसे चयकर भारद्वाज नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। वह सदा कुशास्त्रोंके अभ्यासमें तत्पर रहता था। पुनः उस कुज्ञानसे उत्पन्न संवेगसे उसने तीन दण्डोंसे मण्डित त्रिदण्डी दीक्षा ग्रहण कर और तपसे देवायुको बाँधकर मरा और उसके फलसे माहेन्द्र नामके स्वर्गमें सात सागरोपम आयुका धारक और अपने तपसे उपार्जित पुण्यके अनुसार सुखको भोगनेवाला देव उत्पन्न हुआ ॥१२५-१२८॥

तत्पश्चात् वहाँसे च्युत होकर और कुमार्गके प्रकट करनेसे उपार्जित महा पापकर्मके विपाकसे निन्द्य सभी अधोगतियोंमें प्रवेश करके असंख्यात वर्ष प्रमाण चिरकालतक सुखोंसे दूर और दुःखोंसे भरपूर होकर परिभ्रमण करता हुआ दुष्कर्मोंकी शृंखलासे वह सर्वदुःखोंके निधानभूत त्रस-स्थावरयोनियोंमें वचनोंके अगोचर नाना दुःखोंसे पीड़ित हो मिथ्यात्वके फलसे महादुःखको भोगता रहा ॥१२९-१३१॥

आचार्य कहते हैं कि अग्निमें गिरना उत्तम है, हालाहल विषका पीना अच्छा है और समुद्रमें डूबना श्रेष्ठ है, किन्तु मिथ्यात्वसे युक्त जीवन अच्छा नहीं है ॥१३२॥ व्याघ्र, शत्रु, चोर, सर्प और विच्छू आदि प्राणापहारी दुष्ट प्राणियोंका संगम उत्तम है, किन्तु मिथ्यादृष्टियोंका संग कभी भी अच्छा नहीं है ॥१३३॥

यदि एक ओर सर्वपाप एकत्रित किये जावें और दूसरी ओर अकेला मिथ्यात्व रखा जाये, तो ज्ञानीजन उनका अन्तर मेरु और सरसोंके दाने-जैसा कहते हैं। अर्थात् अकेला मिथ्यात्व पाप सुमेरुके समान भारी है और सर्व पाप सरसोंके समान तुच्छ हैं ॥१३४॥ इसलिए दुःखोंसे डरनेवाले मनुष्योंको समस्त दुःखोंके खानिस्वरूप मिथ्यात्वका सेवन प्राणान्त होनेपर भी कभी नहीं करना चाहिए ॥१३५॥

इस प्रकार मरीचिका जीव वह त्रिदण्डी कुपथ-(मिथ्यामार्ग-) प्रचारके विपाकसे बिन्दुके समान अत्यल्प सुखको पाकर समुद्रके समान महान् दुःखोंको असंख्यकाल तक कुयोनियोंमें भोगता रहा। ऐसा समझकर जो जीव तीन लोकमें सुखके इच्छुक हैं, उन्हें मन, वचन, कायकी त्रियोग शुद्धिपूर्वक सम्यग्दर्शन को ग्रहण करके समस्त मिथ्यामार्गको छोड़ देना चाहिए ॥१३६॥

वीरोऽनन्तसुखप्रदोऽसुखहरो वीरं श्रिता धीधना
वीरेणाशु विनाश्यते भवभयं वीराय भक्त्या नमः ।
वीरान्मुक्तिवधूर्भवेद् बुधसतां वीरस्य नित्या गुणा
वीरे मे दधतो मनोऽरिविजये हे वीर शक्तिं कुरु ॥१३७॥

इति भट्टारक-श्रीसकलकीर्तिविरचिते श्रीवीर-वर्धमानचरिते पुरूरवादि-बहुभववर्णनो नाम द्वितीयोऽधिकारः ॥२॥

वीर भगवान् अनन्त सुखके देनेवाले हैं और दुःखोंको हरण करते हैं, अतः ज्ञानीजन वीर प्रभुका आश्रय लेते हैं। वीर प्रभुके द्वारा भवभय शीघ्र विनष्ट हो जाता है, इसलिए भक्तिके साथ वीरनाथको नमस्कार हो। वीर भगवान् के प्रसादसे ज्ञानी सन्तजनोंको मुक्ति-वधू प्राप्त होती है, वीरनाथके गुण अक्षय हैं, अतः मैं वीरप्रभुमें अपने मनको धारण करता हूँ। हे वीरनाथ, कर्म-शत्रुओंको जीतनेके लिए मुझे शक्ति दो ॥१३७॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति-विरचित इस वीर वर्धमान चरित्रमें पुरूरवा आदि अनेक भवोंका वर्णन करनेवाला यह दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥२॥

तृतीयोऽधिकारः

यस्यानन्तगुणा व्याप्य त्रैलोक्यं हि निरर्गलाः । चरन्ति हृदि देवेशां गुणाप्त्यै स स्तुतोऽस्तु मे ॥१॥
अथेह मागधे देशे पुरे राजगृहाभिधे । ब्राह्मणः शाण्डिलिर्नाम्ना तस्य पाराशरी प्रिया ॥२॥
भवभ्रमणतः श्रान्तः सोऽतिदुःखी ततस्तयोः । स्थावराख्यः सुतो जातो वेदवेदाङ्गपारगः ॥३॥
तत्रापि प्राक् स्वमिथ्यात्वसंस्कारेण मुदाददे । परिव्राजकदीक्षां स कायक्लेशपरायणः ॥४॥
तेनाङ्गक्लेशपाकेन मृत्वासीदमरो दिवि । माहेन्द्रे सप्तवार्ध्यायुः सोऽल्पश्रीसुखभोगभाक् ॥५॥
अथास्मिन् मागधे देशे पुरे राजगृहाह्वये । विश्वभूतिर्महीपोऽभूज्जैनी नाम्नास्य वल्लभा ॥६॥
तयोः स्वर्गात्स आगत्य विश्वनन्दी सुतोऽजनि । विख्यातपौरुषो दक्षः पुण्यलक्षणभूषितः ॥७॥
विश्वभूतिमहीभर्तुः सस्नेहोऽस्यानुजो महान् । विशाखभूतिनामास्य लक्ष्मणाख्या प्रियाभवत् ॥८॥
तयोः पुत्रः कुधीर्जातो विशाखनन्दसंज्ञकः । ते सर्वे पूर्वपुण्येन तिष्ठन्ति शर्मणा मुदा ॥९॥
अन्येद्युः शरदभ्रस्य विनाशं वीक्ष्य शुभ्रधीः । विश्वभूतिनृपो भूत्वा निर्विण्णो हीत्यचिन्तयत् ॥१०॥
अहो यथेदमभ्रं हि विनाशमगमत्क्षणात् । तथायुर्यौवनादीनि मे यास्यन्ति न संशयः ॥११॥
अतो न क्षीयते यावत्सामग्री मुक्तिसाधने । यौवनायुर्बलाक्षाद्या तावत्कार्यं तपोऽनघम् ॥१२॥

जिस प्रभुके अनन्त गुण विना किसी रुकावटके तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर देवेन्द्रोंके हृदयमें विचर रहे हैं, वे मेरे द्वारा स्तुति किये गये वीतरागदेव मेरे गुणोंकी प्राप्तिके लिए हों ॥१॥

अथानन्तर इस भारतवर्षके मगधदेशमें राजगृह नामके नगरमें शाण्डिलि नामका एक ब्राह्मण रहता था। उसकी प्रियाका नाम पाराशरी था। उन दोनोंके संसार-परिभ्रमणसे थका हुआ वह मरीचिका अतिदुःखी जीव स्थावर नामका पुत्र हुआ। बड़े होनेपर वह वेद-वेदाङ्गका पारगामी हो गया ॥२-३॥ वहाँ पर भी अपने पूर्व मिथ्यात्वके संस्कारसे उसने सहर्ष परिव्राजक दीक्षा ग्रहण कर ली और कायक्लेशमें परायण होकर नाना प्रकारके खोटे तप करने लगा। उस कायक्लेशके परिपाकसे आयुके अन्तमें मरकर वह माहेन्द्र स्वर्गमें सात सागरोपम आयुका धारक और अल्प लक्ष्मीके सुखका भोगनेवाला देव हुआ ॥४-५॥

तत्पश्चात् इसी मगध देशमें और इसी राजगृहनगरमें विश्वभूति नामका राजा राज्य करता था। उसकी जैनी नामकी वल्लभा रानी थी। उन दोनोंके वह देवस्वर्गसे आकर विश्वनन्दी नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। वह प्रसिद्ध पुरुपार्थवाला, दक्ष एवं पवित्र लक्षणोंसे भूषित था ॥६-७॥ विश्वभूति महीपतिके अतिप्यारा विशाखभूति नामका छोटा भाई था। उसकी लक्ष्मणा नामकी प्रिया थी ॥८॥ उन दोनोंके कुबुद्धिवाला विशाखनन्द नामका एक पुत्र हुआ। ये सब पूर्व पुण्यके उदयसे सुखपूर्वक रहते थे ॥९॥ किसी अन्य दिन शरद्-ऋतुके मेघका विनाश देखकर वह निर्मल बुद्धिवाला विश्वभूति राजा संसार, देह और भोगोंसे विरक्त होकर इस प्रकार विचारने लगा—अहो, जैसे यह मेघ एक क्षणमें देखते-देखते विनष्ट हो गया, उसी प्रकार मेरे यह यौवन, और आयु आदिक भी विनाशको प्राप्त हो जायँगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥१०-११॥ अतः जबतक यह यौवन, आयु, बल और इन्द्रियादिक सामग्री क्षीण नहीं होती है, तबतक मुक्तिके साधनमें निर्मल तपश्चरण करना चाहिए ॥१२॥

इत्यादिचिन्तनादाप्य संवेगं द्विगुणं नृपः । भवभोगाङ्गलक्ष्म्यादौ दीक्षां गृहीतुमुद्ययौ ॥१३॥
तत्क्षणं विधिना राज्यं स्वानुजाय ददौ पुनः । यौवराज्यं स्वपुत्राय स्नेहाच्च नृपसत्तमः ॥१४॥
ततो गत्वा जगद्वन्द्यं श्रीधराख्यं मुनीश्वरम् । प्रणम्य शिरसा त्यक्त्वा बाह्यान्तरपरिग्रहान् ॥१५॥
त्रिशुद्ध्या संयमं भूपो जग्राह देवदुर्लभम् । मुक्तये भूमिपैः सार्धं त्रिशतै रागदूरगैः ॥१६॥
ततो हत्वाक्षमोहादीन् ध्यानखड्गेन संयमी । उग्रोग्रं स तपः कर्तुमुद्ययौ कर्मघातकम् ॥१७॥
अथान्यदा निजोद्याने विश्वनन्दी मनोहरे । क्रीडां कुर्वन् स्वदेवीभिः समं स्वलीलया स्थितः ॥१८॥
तं रम्यं च तदुद्यानं दृष्ट्वा तन्मोहमोहितः । विशाखनन्द आसाद्येत्यवादीत् पितरं निजम् ॥१९॥
विश्वनन्दिन उद्यानं तात मह्यं प्रदीयताम् । अन्यथाहं करिष्यामि विदेशगमनं ध्रुवम् ॥२०॥
तदाकर्ण्य नृपो मोहादित्याह सुत तेऽचिरात् । उपायेन वनं तस्य दास्यामि तिष्ठ साम्प्रतम् ॥२१॥
प्रपञ्चेनान्यदा भूप आहूय विश्वनन्दिनम् । इत्याख्यद् राज्यभारोऽयं त्वया भद्राद्य गृह्यताम् ॥२२॥
अहं चोपरि गच्छामि प्रत्यन्तवासिभूभृतः । तज्जातक्षोभशान्त्यर्थं स्वदेशस्य सुखाप्तये ॥२३॥
तच्छ्रुत्वा कुमारोऽवोचत् पूज्य त्वं तिष्ठ शर्मणा । अहं गत्वा भवत्प्रेष्यं करोमीत्थं त्वदाज्ञया ॥२४॥
इति प्रार्थ्य तदादेशं स्वसैन्येन समं रिपून् । विजेतुं निर्ययौ तस्माद्-विश्वनन्दी महाबली ॥२५॥
गते तस्मिंस्तदुद्यानं ददौ राजा स्वसूनवे । अहो धिगस्तु मोहोऽयं यदर्थं क्रियतेऽशुभम् ॥२६॥
ज्ञात्वा तद्वञ्चनं तद्वनपालप्रेपिताच्चरात् । विश्वनन्दी महाधीरो हृदि स्वस्येत्यचिन्तयत् ॥२७॥

इत्यादि चिन्तवनसे राजा संसार, शरीर, भोग और लक्ष्मी आदिके विषयमें दुगुने संवेगको प्राप्त होकर दीक्षा ग्रहण करनेके लिए उद्यत हो गया ॥१३॥ उस उत्तम राजाने उसी समय अपने छोटे भाईको अतिस्नेहसे विधिपूर्वक राज्य दिया और अपने पुत्रको युवराज पद दिया ॥१४॥ पुनः जगद्-वन्द्य श्री श्रीधर नामके मुनिराजके समीप जाकर और उन्हें मस्तकसे नमस्कार कर राजाने बाहरी और भीतरी सर्व परिग्रहको छोड़कर मन-वचन-कायकी शुद्धिपूर्वक देव-दुर्लभ संयम, मुक्तिके लिए रागको दूर करनेवाले तीनसौ राजाओंके साथ, धारण कर लिया ॥१४-१६॥ तत्पश्चात् वह संयमी ध्यानरूपी खड्गसे मोह, इन्द्रिय आदि शत्रुओंका विनाश कर कर्म-घातक उग्र-महाउग्र तपश्चरण करनेके लिए उद्यत हुआ ॥१७॥

इधर किसी समय विश्वनन्दी अपने मनोहर उद्यानमें अपनी स्त्रियोंके साथ लीलापूर्वक क्रीड़ा करता हुआ स्थित था ॥१८॥ उसे और उसके रमणीक उद्यानको देखकर उस उद्यानके मोहसे मोहित होकर विशाखनन्दने अपने पिताके पास जाकर यह कहा—हे तात, विश्वनन्दी का उद्यान मुझे दो। अन्यथा मैं निश्चयसे विदेश-गमन कर जाऊँगा ॥१९-२०॥ उसकी यह बात सुनकर राजा विशाखभूतिने मोहसे प्रेरित होकर कहा—हे पुत्र, मैं शीघ्र ही किसी उपायसे यह उद्यान तुझे दूँगा। अभी तू ठहर जा ॥२१॥ इसके पश्चात् किसी दूसरे दिन राजाने किसी छल-प्रपंचसे विश्वनन्दीको बुलाकर कहा—हे भद्र, तुम यह राज्यभार ग्रहण करो, मैं सीमा-वर्ती राजाके ऊपर उससे उत्पन्न हुए क्षोभकी शान्तिके लिए तथा अपने देशकी सुख-प्राप्तिके लिए जाता हूँ ॥२२-२३॥ अपने काकाकी यह बात सुनकर विश्वनन्दी कुमारने कहा—हे पूज्य, आप सुखसे रहिए। मैं आपकी आज्ञासे जाकर उस शत्रुको आपका दास बनाता हूँ ॥२४॥ इस प्रकारसे प्रार्थना कर और उसकी आज्ञा लेकर अपनी सेनाके साथ शत्रुको जीतनेके लिए महाबली विश्वनन्दी वहाँसे चला गया ॥२५॥ उसके चले जानेपर राजा विशाखभूतिने वह उद्यान अपने विशाखनन्द पुत्रके लिए दे दिया। आचार्य कहते हैं कि ऐसे मोहको धिक्कार है कि जिससे प्रेरित होकर मनुष्य ऐसे पाप कार्यको करता है ॥२६॥

तत्पश्चात् वनपालके द्वारा भेजे गये गुप्तचरसे राजाकी यह प्रवंचना जानकर महावीर विश्वनन्दी अपने हृदयमें इस प्रकार सोचने लगा—अहो, देखो इस मेरे काकाने मुझे शत्रुओं-

अहो पश्य पितृव्योऽयं मां प्रहित्य रिपून् प्रति । कौटिल्यमीदृशं चक्रे स्नेहराज्याङ्गनाशकृत् ॥२८॥
अथवा मोहिनां तत्किं यदकृत्यं जगत्त्रये । यतः कुर्वन्ति मोहान्धा कर्मात्रामुत्र नाशदम् ॥२९॥
वितर्क्येति प्रसाध्यारीन् हन्तुं स्ववनहारिणम् । शीघ्रं रुषात्कुमारोऽतिवली स्ववनमाययौ ॥३०॥
तद्भयात्सोऽतिभीतात्मा सुकपित्थमहीरुहम् । स्फीतं वृत्या समावेष्ट्य तन्मध्यभागमाश्रितः ॥३१॥
महीरुहं तमुन्मूल्य कुमारोऽद्भुतविक्रमः । तेन हन्तुं निजं शत्रुमधावत्तद्भयप्रदः ॥३२॥
ततोऽसावस्त्याशु शिलास्तम्भस्य कातरः । अन्तर्धानं गतः क्वाहो जयोऽत्रान्यायकारिणाम् ॥३३॥
वली मुष्टिप्रहारेण स्तम्भमाहत्य तत्क्षणम् । शतखण्डं व्यधाद् भोः किमशक्यं सवलात्मनाम् ॥३४॥
तस्मात्पलायमानं तं दीनास्यं स्वापकारिणम् । निरीक्ष्य करुणाक्रान्तमना भूत्वेति सोऽस्मरत् ॥३५॥
अहो धिगस्तु मोहोऽयं यदर्थं कातराङ्गिनाम् । बन्धूनां क्रियते दण्डो वधबन्धादिगोचरः ॥३६॥
भुक्तैर्यैर्विविधैर्भोगैर्दुःखजैर्दुःखहेतुभिः । एति तृप्तिं न जात्वात्मा तैः किं साध्यं खलैः सताम् ॥३७॥
स्त्र्यङ्गमथनोद्भूता ये भोगा माननाशिनः । विश्वाशर्माकरीभूतान् किं तानिच्छन्ति मानिनः ॥३८॥
विचिन्त्येति समाहूय तस्मै दत्वाशु तद्वनम् । त्यक्त्वा राज्यश्रियं सोऽगात्संभूतगुरुपंनिधिम् ॥३९॥
मूर्ध्ना नत्वा यतीन्द्रांह्री हित्वा सर्वपरिग्रहान् । सर्वत्राप्तसुसंवेगो विश्वनन्दी तपोऽग्रहीत् ॥४०॥
अपकारोऽप्यहो लोके क्वचिन्नीचैः कृतो महान् । जायते प्रोपकाराय सतां शस्त्रात्तवैद्यवत् ॥४१॥

के प्रति भेजकर स्नेह, राज्य और शरीरकी नाश करनेवाली ऐसी कुटिलता मेरे साथ की है ॥२७-२८॥ अथवा मोही जनोंके लिए तीन लोकमें ऐसा कौनसा अकृत्य है जिसे वे न करें। मोहान्ध होकर मनुष्य इस लोक और परलोकमें विनाशकारी कर्मको करता है ॥२९॥ ऐसा विचार कर और शत्रुओंको जीतकर अपने वनका अपहरण करनेवालेको मारनेके लिए वह अतिवली विश्वनन्दी कुमार रोषसे शीघ्र ही अपने वनमें आया ॥३०॥ उसके भयसे डरकर वह विशाखनन्द एक विशाल कपित्थ (कैंथ) के वृक्षको काँटोंकी वारीसे घेरकर उसके मध्य भागमें जाकर अवस्थित हो गया ॥३१॥ तब अद्भुत पराक्रमी उस विश्वनन्दी कुमारने उस वृक्षको जड़मूलसे उखाड़कर उससे अपने शत्रुको मारनेके लिए उसे भयभीत करता हुआ उसके पीछे दौड़ा ॥३२॥ तब वह कायर विशाखनन्द शीघ्र वहाँसे भागकर एक शिलास्तम्भकी आड़में जाकर छिप गया। अहो, इस संसारमें अन्यायकारियोंकी जीत कहाँ सम्भव है ॥३३॥ तब उस वली विश्वनन्दीने अपने मुष्टि-प्रहारसे उस स्तम्भको तत्क्षण शतखण्ड कर दिया। अरे, वलवान् आत्माओंके लिए क्या अशक्य है ॥३४॥ तब वहाँसे भागते हुए दीनमुख अपने अपकारीको देखकर और करुणा-पूरित चित्त होकर वह विश्वनन्दी इस प्रकारसे विचारने लगा—अहो, इस मोहको धिक्कार हो, जिससे प्रेरित होकर यह जीव कायरताको प्राप्त अपने ही वन्धुओंको वध-वन्धनादिरूप दण्ड देता है ॥३५-३६॥ दुःखोंसे उत्पन्न होनेवाले और आगामी भवमें दुःखोंके कारणभूत इन भोगे गये नाना प्रकारके भोगोंसे यह आत्मा कभी भी तृप्तिको नहीं प्राप्त होता है। अतः ऐसे इन दुष्ट भोगोंसे सन्त जनोंका क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ॥३७॥ स्त्रीके शरीर-मन्थनसे उत्पन्न हुए ये भोग मनस्वीजनोंके मानका नाश करने-वाले हैं और संसारके समस्त दुःखोंके निधानभूत हैं, इनकी क्या मानी जन इच्छा करते हैं ॥३८॥ ऐसा विचार कर और उसे बुलाकर वह उद्यान उसे ही देकर और सब राज्यलक्ष्मी छोड़कर वह शीघ्र ही सम्भूतगुरुके समीप गया और मुनिराजके चरणोंको मस्तकसे नमस्कार कर तथा सर्व परिग्रहोंको छोड़कर एवं देह, भोग, संसार आदि सभीसे वैराग्यको प्राप्त होकर विश्वनन्दीने तपको ग्रहण कर लिया ॥३९-४०॥ ग्रन्थकार कहते हैं कि अहो, लोकमें नीच पुरुषोंके द्वारा किया गया महान् अपकार भी कभी सज्जनोंके भारी उपकारके लिए हो जाता है। जैसे कि वैद्यके द्वारा शस्त्रचिकित्सासे रोगीका उपकार होता है ॥४१॥

विशाखभूतिरप्याप्य पश्चात्तापं दुरुत्तरम् । विनिन्द्य बहुधात्मानं लब्ध्वा संवेगमञ्जसा ॥४२॥
भवलक्ष्म्यङ्गभोगादौ तमभ्येत्य मुनीश्वरम् । त्यक्त्वा संगांस्त्रिधा दीक्षां प्रायश्चित्तमिवाददौ ॥४३॥
ततस्तपोऽतिनिःपापं कृत्वा घोरतरं चिरम् । स्वशक्त्या विधिना कृत्वा मृत्यौ संन्यासमूर्जितम् ॥४४॥
तत्फलेनाभवत्कल्पे महाशुक्राभिधेऽमरः । महर्द्धिकोऽतिधर्मात्मा विशाखभूतिसंयमी ॥४५॥
विश्वनन्दी भ्रमन्नानादेशग्रामवनादिकान् । तपसातिकृशोभूतः पक्षमासादिनाबलः ॥४६॥
क्वचित्स्वतनुसंस्थित्यै स्वीर्यापथात्तलोचनः । शुष्कौष्ठवदनाङ्गोऽसौ प्राविशन्मथुरां पुरीम् ॥४७॥
तदा दुर्व्यसनान्निन्द्याद् भ्रष्टराज्यो महीपतेः । कस्यचिद्दूतभावेनागत्य तां स पुरीं शठः ॥४८॥
विशाखनन्द एवाधीर्वेश्यासौधाग्रसंस्थितः । सद्यःप्रसूतगोश्रृङ्गघातात्तं दुर्बलं मुनिम् ॥४९॥
प्रस्खलन्तं समीक्ष्यातिक्षीणदेहपराक्रमम् । इत्यवादीत् प्रहासेन दुर्वचः स्वस्य घातकम् ॥५०॥
मुने पराक्रमस्तेऽद्य शिलास्तम्भादिभङ्गकृत् । क्व गतः प्राक्तनो दर्पः शौर्यं क्व च ममादिश ॥५१॥
यतस्त्वं दृश्यतेऽतीव दुर्बलः शक्तिदूरगः । जल्लात्ताङ्गोऽतिशीताद्यैर्दग्धकायः शवादिवत् ॥५२॥
इति तद्दुर्वचः श्रुत्वा क्रोधमानोदयाद्यतिः । भूत्वा कोपेन रक्ताक्ष इत्यन्तर्गतमाह सः ॥५३॥
रे दुष्ट मत्तपोमाहात्म्यात्प्रहासफलं महत् । प्राप्स्यसि त्वं न संदेहः कटुकं मूलनाशकृत् ॥५४॥
ईदृशं स तदुच्छित्त्यै निदानं बुधनिन्दितम् । कृत्वा स्वतपसा प्रान्ते संन्यासेनाभवद्व्यसुः ॥५५॥
ततस्तपःफलेनासौ तत्रैवाभूत्सुरो दिवि । यत्रास्ति सुखसंलीनो विशाखभूतिसन्मुनिः ॥५६॥

इस घटनाके पश्चात् विशाखभूतिने भी भारी प्रश्चात्तापको प्राप्त होकर, अपनी अनेक प्रकारसे निन्दा करके शीघ्र संसार, राज्यलक्ष्मी, और शरीर-भोग आदिमें वैराग्यको प्राप्त होकर उक्त मुनीश्वरके समीप जाकर मन-वचन-कायसे सर्व परिग्रहोंको छोड़कर प्रायश्चित्तके समान दीक्षाको ग्रहण कर लिया ॥४२-४३॥

इसके पश्चात् चिरकाल तक अपनी शक्तिके अनुसार अतिनिर्मल घोरतर तप कर और मरण-समय विधिपूर्वक उत्कृष्ट संन्यासको धारण करके उसके फलसे वह अति धर्मात्मा विशाखभूति संयमी महाशुक्र नामके कल्पमें महर्द्धिक देव उत्पन्न हुआ ॥४४-४५॥

इधर विश्वनन्दी मुनि भी पक्ष-मास आदिके तपोंके करनेसे अतिकृश शरीर एवं निर्बल होकर नानादेश, ग्राम, वनादिकमें विहार करते ओठ, मुख और शरीरके सूख जानेपर भी ईर्यापथपर दृष्टि रखे हुए अपने शरीरकी स्थितिके लिए मथुरापुरीमें प्रविष्ट हुए। उस समय निन्द्य दुर्व्यसनोंके सेवनसे राज्यभ्रष्ट हुआ और किसी अन्य राजाका दूत बनकर मथुरापुरीमें आकर किसी वेश्याके भवनके अग्रभागपर बैठा हुआ वह कुबुद्धि विशाखनन्द सद्यःप्रसूता गायके सींगके आघातसे अतिकृशदेह और क्षीणपराक्रम दुर्बल उन विश्वनन्दी मुनिको गिरता हुआ देखकर हास्यपूर्वक अपना घात करनेवाले दुर्वचन इस प्रकार बोला ॥४६-५०॥

हे मुने, शिलास्तम्भ आदिको भग्न करनेवाला तुम्हारा वह पराक्रम कहाँ गया? तुम्हारा वह पहलेवाला दर्प और शौर्य कहाँ गया? सो मुझे बताओ। आज तो तुम शक्तिसे अतिदूर और अत्यन्त दुर्बल दिखते हो? तुम्हारा यह शरीर मलसे व्याप्त और अतिशीतसे दग्ध मुर्दे आदिके समान दिखाई दे रहा है ॥५१-५२॥

इस प्रकारके उसके दुर्वचन सुनकर क्रोध और मान कषायके उदयसे वह मुनि कोपसे रक्तनेत्र होकर मनमें बोला—अरे दुष्ट, मेरे तपके माहात्म्यसे तू इस प्रहास्यका स्वमूल-नाशक महान् कटुक फल पायेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इस प्रकार ज्ञानियों द्वारा निन्दित निदान उसके विनाशके लिए वह मुनि करके अपने तपसे अन्तमें संन्यासके साथ मरा और उस तपके फलसे वह उसी स्वर्गमें देव उत्पन्न हुआ, जहाँपर

तत्र षोडश वाराशिप्रमायुष्कौ सुरोत्तमौ । दिव्यदेहधरौ दीप्तौ सप्तधातुविवर्जितौ ॥५७॥
विमानमेरुनन्दीश्वरादिषु श्रीजिनेशिनाम् । अर्चार्चनपरौ पञ्चकल्याणकरणोद्यतौ ॥५८॥
सहजाम्बरभूपास्रग्विक्रियर्द्ध्यादिभूषितौ । सर्वासातातिगौ कान्तौ स्वतपश्चरणार्जितान् ॥५९॥
भुञ्जानौ विविधान् भोगान् स्वदेवीभिः समं मुदा । शर्माब्धिमध्यगौ पुण्यपाकात्तौ तिष्ठतः सदा ॥६०॥
अथास्मिन्नादिमे द्वीपे सुरम्यविषये शुभे । पोदनाख्ये पुरे भूपः प्रजापतिरभूच्छुभात् ॥६१॥
देवी जयावती तस्य तयोश्च्युत्वा दिवोऽजनि । विशाखभूतिराजाचरोऽमरो विजयाख्यतुक् ॥६२॥
विश्वनन्दिचरो देवः स्वर्गादेत्याभवत्सुतः । तस्य राज्ञो मृगावत्यां त्रिपृष्ठाख्यो महाबली ॥६३॥
चन्द्रेन्द्रनीलवर्णाङ्गौ दीप्तिकान्तिकलाङ्कितौ । न्यायमार्गरतौ दक्षौ सप्रतापौ श्रुतान्वितौ ॥६४॥
खभूचरसुराधीशैः सेव्यमानपदाम्बुजौ । महाविभवसंपन्नौ दिव्याभरणमण्डितौ ॥६५॥
क्रमात्सद्यौवनं प्राप्य लक्ष्मीक्रीडागृहोपमौ । प्राङ्महापुण्यपाकेन संप्राप्तपरमोदयौ ॥६६॥
दिव्यभोगोपभोगाढ्यौ दानादिगुणशालिनौ । इन्द्वादित्याविवाभातस्तावाद्यौ रामकेशवौ ॥६७॥
अथेह विजयार्धोत्तरश्रेण्यामलकापुरे । मयूरग्रीवराजाभूद् राज्ञी नीलाञ्जनास्य च ॥६८॥
तयोर्विशाखनन्दः स चिरं भ्रान्त्वा भवार्णवे । स्वर्गादेत्य सुतो जातः क्वचित्पुण्यविपाकतः ॥६९॥
अश्वग्रीवाभिधो धीमांस्त्रिखण्डश्रीविमण्डितः । अर्धचक्री सुरैः सेव्यः प्रतापी भोगतत्परः ॥७०॥

कि विशाखभूति सन्मुनिराजका जीव सुखमें मग्न देव था ॥५३-५६॥ वहाँपर उन उत्तम दोनों देवोंकी आयु सोलह सागर प्रमाण थी, दोनों सप्तधातु-रहित दीप्त दिव्य देहके धारक थे और दोनों ही सदा विमानस्थ तथा मेरुपर्वत, नन्दीश्वरद्वीप आदिमें स्थित श्रीजिनेन्द्र देवोंकी प्रतिमाओंके पूजनमें तत्पर एवं तीर्थंकरोंके पंचकल्याणकोंके करनेमें उद्यत रहते थे। वे सहजात दिव्य वस्त्र, आभूषण, माला और विक्रिया ऋद्धि आदिसे भूषित, सर्व प्रकारकी असातासे रहित और सौन्दर्ययुक्त थे। तथा अपने पूर्वभवके तपश्चरणसे उपार्जित नाना प्रकारके भोगोंको आनन्दपूर्वक अपनी देवियोंके साथ भोगते हुए पुण्यकर्मके विपाकसे सदा सुख-सागरमें मग्न रहने लगे ॥५७-६०॥

अथानन्तर इस आदिम जम्बूद्वीपमें शुभ सुरम्य देशके पोदनपुर नामके नगरमें प्रजापति नामका राजा राज्य करता था। पुण्योदयसे उसकी जयावती नामकी एक सुन्दर रानी थी। उनके विशाखभूति राजाका जीव वह देव स्वर्गसे चय कर विजय नामका पुत्र हुआ ॥६१-६२॥ उसी राजाकी दूसरी रानी मृगावतीके विश्वनन्दीका जीव वह देव चय कर त्रिपृष्ठ नामका महाबली पुत्र उत्पन्न हुआ ॥६३॥ इनमें-से विजयका शरीर चन्द्रवर्ण और त्रिपृष्ठका शरीर नीलवर्णका था। दोनों दीप्ति, कान्ति और कलासे संयुक्त थे। दोनों न्यायमार्गमें निरत, दक्ष, प्रतापयुक्त, शास्त्रज्ञानवाले थे। खेचर, भूचर और देवोंके स्वामियों द्वारा उनके चरण-कमलोंकी सेवा की जाती थी। दोनों महाविभवसे सम्पन्न, दिव्य आभरणोंसे मण्डित क्रमसे यौवन अवस्थाको प्राप्त होकर लक्ष्मीके क्रीडागृहकी उपमाको धारण करते थे। पूर्वोपार्जित महापुण्यके परिपाकसे परम उदयको प्राप्त, दिव्य भोगोपभोगोंसे युक्त, दानादिगुणशाली वे दोनों भाई चन्द्रमा और सूर्यके समान मालूम पड़ते थे। वे दोनों इस अवसर्पिणीकालके आद्य बलभद्र और वासुदेव थे। अर्थात् विजय प्रथम बलभद्र और त्रिपृष्ठ प्रथम नारायण थे ॥६४-६७॥

अथानन्तर इस भारतवर्षके विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें अलकापुर नामके नगरमें मयूरग्रीव नामका राजा राज्य करता था। उसकी रानी नीलांजना थी। वह विशाखनन्द चिरकाल तक संसार-सागरमें परिभ्रमण कर पुण्यके विपाकसे स्वर्गमें गया और फिर वहाँसे चय कर उक्त राजा-रानीके अश्वग्रीव नामका बुद्धिमान्, त्रिखण्डकी लक्ष्मीसे मण्डित, देवोंसे

अथ तस्मिन् खगाद्रावुत्तरश्रेण्यां प्रविद्यते । रथनूपुरशब्दादिचक्रवालपुरी परा ॥७१॥
ज्वलनादिजटी तस्याः पतिरासीच्छुभोदयात् । चरमाङ्गोऽतिपुण्यात्मानेकविद्याविभूषितः ॥७२॥
तत्रैवाद्रौ महारम्ये पुरे द्युतिलकाभिधे । चन्द्राभाख्यः खगेशोऽभूत्सुभद्रास्य प्रियाजनिः ॥७३॥
वायुवेगा तयोर्जाता पुत्री रूपादिशालिनी । यौवने परिणीता ज्वलनादिजटिनापि सा ॥७४॥
अर्ककीर्तिस्तयोः सूनुर्बभूवार्कनिभो गुणैः । सुता स्वयंप्रभाख्या च दिव्यरूपा शुभाशया ॥७५॥
खगाधीशोऽन्यदा वीक्ष्य पुत्रीं सर्वाङ्गयौवनाम् । ददतीं जिनगन्धोदकमालां धर्मतत्पराम् ॥७६॥
नैमित्तिकं समाहूय संभिन्नश्रोतृसंज्ञकम् । अस्याः को भविता भर्ता पप्रच्छेतिस पुण्यवान् ॥७७॥
तत्प्रश्नात्स उवाचेदं राजन्नाद्यार्धचक्रिणः । त्रिपृष्ठस्य महादेवी त्वत्सुतेयं भविष्यति ॥७८॥
खगाद्रेरुभयश्रेण्योस्तद्दत्तां चक्रवर्तिताम् । त्वमाप्स्यसि खगेशानां नान्यथैतच्छ्रुतोदितम् ॥७९॥
इति तेनोक्तसद्-वाक्ये विधाय निश्चयं नृपः । अमात्यमिन्द्रनामानं भाक्तिकं सुश्रुताङ्कितम् ॥८०॥
सलेखं प्राभृतेनामा प्राहिणोत्पोदनं प्रति । व्योम्नास्मादाशु स प्राप वनं पुष्पकरण्डकम् ॥८१॥
त्रिपृष्ठः प्राक् परिज्ञाय नैमित्तिकमुखात्स्वयम् । तदागमनमेवाशु गत्वा तत्सन्मुखं मुदा ॥८२॥
बहुमानेन दूतं तं नृपास्थानं समानयत् । परार्घ्यमणिनिर्माणमनेकनृपवेष्टितम् ॥८३॥
पोदनाधिपतिं सोऽपि मूर्ध्ना नत्वा सपत्रकम् । प्रदाय प्राभृतं तस्मै यथास्थानमुपाविशत् ॥८४॥
वीक्ष्य मुद्रां समुद्भिद्य तदन्तःस्थितपत्रकम् । प्रसार्य वाचयामास स हीत्यसौ कार्यसूचकम् ॥८५॥

सेव्य, प्रतापी, भोगमें तत्पर अर्धचक्री (प्रतिनारायण) पुत्र उत्पन्न हुआ ॥६८–७०॥ उसी विजयार्ध पर्वतकी उत्तर श्रेणीमें रथनूपुरचक्रवाल नामकी उत्तम नगरी थी। उसका स्वामी पुण्योदयसे ज्वलनजटी नामका अनेक विद्याओंसे विभूपित, अति पुण्यात्मा और चरमशरीरी विद्याधर था ॥७१-७२॥ उसी ही विजयार्धपर्वतपर द्युतिलक नामके महारमणीकपुरमें चन्द्राभ नामका एक विद्याधरोंका स्वामी रहता था। उसकी सुभद्रा नामकी प्रिया थी। उनके वायुवेगा नामकी रूप-कान्तिशालिनी पुत्री हुई। यौवनको प्राप्त होनेपर ज्वलनजटीने उसके साथ विवाह किया। उनके गुणोंसे सूर्यके समान अर्ककीर्ति नामका पुत्र उत्पन्न हुआ और स्वयंप्रभा नामकी दिव्यरूपवाली शुभलक्षणा पुत्री भी उत्पन्न हुई ॥७३-७५॥ एक बार धर्ममें तत्पर वह स्वयंप्रभा जब अपने पिताको गन्धोदक और पुष्पमाला दे रही थी, तब सर्वाङ्गयौवनवती अपनी पुत्रीको देख कर उस विद्याधरोंके स्वामी ज्वलनजटीने संभिन्नश्रोता नामवाले ज्योतिषीको बुलाकर पूछा कि कौन पुण्यवान् मेरी इस पुत्रीका स्वामी होगा? उसके प्रश्नके उत्तरमें उसने कहा—हे राजन्, आपकी पुत्री प्रथम अर्धचक्री त्रिपृष्ठ नारायणकी यह महादेवी (पट्टरानी) होगी और उसके द्वारा दिये गये इस विजयार्ध पर्वतकी दोनों श्रेणियोंके विद्याधरोंके चक्रवर्तीपनेको तुम प्राप्त करोगे। मेरी यह शास्त्रोक्त बात अन्यथा नहीं हो सकती है ॥७६-७९॥ इस प्रकार उस ज्योतिषीके द्वारा कहे गये वाक्यपर निश्चय करके ज्वलनजटी राजाने उत्तम शास्त्रज्ञानसे युक्त भक्ति-तत्पर इन्द्र नामके मन्त्रीको बुलाकर पत्र-सहित भेंटके साथ उसे पोदनपुर भेजा। वह आकाशमार्गसे शीघ्र ही वहाँके पुष्पकरण्डक वनमें पहुँचा ॥८०-८१॥ त्रिपृष्ठ ज्योतिषीके मुखसे पहले ही उसके आगमनको जानकर स्वयं ही हर्षसे उसके सम्मुख जाकर बहुत सम्मानके साथ उस दूतको राजसभामें लिवा लाया। वह दूत भी श्रेष्ठ बहुमूल्य मणिनिर्मित, अनेक नृपवेष्टित सिंहासन पर बैठे हुए पोदनाधिपतिको मस्तकसे नमस्कार करके और पत्र-सहित भेंट उन्हें देकर यथास्थान बैठ गया ॥८२-८४॥ पोदनेश्वरने लिफाफेके ऊपर की मोहरको खोलकर उसके भीतर रखे हुए पत्रको पसारकर बाँचा, जिसमें कि इस प्रकार कार्यकी सूचना थी ॥८५॥

श्रीमानितः खगाधीशः पुण्यधीर्विनयाङ्कितः । न्यायमार्गरतो दक्षो नगराद् रथनूपुरात् ॥८६॥
ज्वलनादिजटी ख्यातो नमिवंशनभोंऽशुमान् । पौदनाख्यपुराधीशं प्रजापतिमहीपतिम् ॥८७॥
आदितीर्थकरोत्पन्नबाहुबल्यन्वयोद्भवम् । शिरसा स्नेहतो नत्वा कुशलप्रश्नपूर्वकम् ॥८८॥
सप्रश्रयं प्रजानाथमित्थं विज्ञापयत्यसौ । वैवाहिकः सुसंबन्धो विधेयो नाधुना मया ॥८९॥
त्वया वास्त्यावयोः किंतु पारम्पर्यागतोऽत्र सः । विशुद्धवंशयोरद्य नैव कार्यं परीक्षणम् ॥९०॥
मद्भागिनेयपूज्यस्य त्रिपृष्ठस्य स्वयम्प्रभा । मत्सुता श्रीरिवान्याहो आतनोतु रतिं पराम् ॥९१॥
तद्बन्धुभाषितं श्रुत्वा प्रजापतिनृपो मुदा । तस्येष्टं यन्ममेष्टं तदित्यमात्यमतोषयत् ॥९२॥
सोऽपि सन्मानदानादीन् प्राप्तो राज्ञा विसर्जितः । सद्यः स्वस्वामिनं प्राप्य कार्यसिद्धिं न्यवेदयत् ॥९३॥
ततो द्रुतं मुदानीय सार्ककीर्तिः खगाधिपः । स्वयंप्रभां महाभूत्या विवाहविधिना स्वयम् ॥९४॥
त्रिपृष्ठाय ददौ प्रीत्या भाविनीमिव सच्छ्रियम् । अहो पुण्योदयात्पुंसां दुर्लभं किं न जायते ॥९५॥
जामात्रेऽदात्पुनः सिंहवाहिनीं खगनायकः । यथोक्तविधिना चान्यां विद्यां गरुडवाहिनीम् ॥९६॥
तयोः संपद्विवाहादिवार्ताश्रवणवह्नितः । चरास्याच्च ज्वलिताशु सोऽश्वग्रीवो नराधिपः ॥९७॥
बहुभिः खगपैः सैन्येनावृतः सङ्गराय च । रथावर्ताचलं प्राप चक्ररत्नाद्यलंकृतः ॥९८॥
तदागमनमाकर्ण्य चतुरङ्गबलान्वितः । प्रागेवागत्य तत्रास्थात्त्रिपृष्ठः सह बन्धुना ॥९९॥
ततोऽद्भुतरणे तत्र निर्जितो भाविचक्रिणा । [1]मायेतरादिसंग्रामैर्हयग्रीवोऽतिविक्रमात् ॥१००॥

यहाँ रथनूपुर नामक नगरसे विद्याधरोंका स्वामी, पुण्यबुद्धि, विनयावनत, न्यायमार्गरत, दक्ष, नमिवंशरूप गगनका सूर्य श्रीमान् ज्वलनजटी नामका राजा आदि तीर्थंकर ऋषभदेवसे उत्पन्न बाहुबलीके वंशमें पैदा हुए पोदनापुरके स्वामी श्री प्रजापति महीपालको स्नेहसे मस्तक द्वारा नमस्कार कर वह प्रजानाथसे इस प्रकार सविनय निवेदन करता है कि हम लोगों का वैवाहिक सम्बन्ध (आपका हमारे साथ) अथवा हमारा आपके साथ अभी तक नहीं हुआ है, किन्तु हमारा आपका परम्परागत सम्बन्ध है। हम दोनोंका वंश विशुद्ध है, अतः इस विषयमें कोई परीक्षण नहीं करना चाहिए। मेरी पुत्री स्वयंप्रभा जो मानो साक्षात् दूसरी लक्ष्मीके समान है, वह मेरे पूज्य भागिनेय (भानेज) त्रिपृष्ठकी परम रतिको विस्तारित करे। अर्थात् मेरी पुत्री आपके पुत्रकी प्रिया होवे ॥८६-९१॥

प्रजापति राजा अपने उस बन्धुकी इस कही गयी बातको सुनकर हर्षसे बोला—'जो बात उन्हें इष्ट है, वह मुझे भी इष्ट है।' ऐसा कहकर उस समागत मन्त्रीको सन्तुष्ट किया ॥९२॥ तथा सम्मान-दानादिके द्वारा राजासे विदा पाकर वह मन्त्री (दूत) शीघ्र ही अपने स्वामीके पास पहुँचा और कार्यकी सिद्धिको निवेदन किया ॥९३॥ तत्पश्चात् अर्ककीर्ति पुत्रके साथ विद्याधरोंके स्वामी ज्वलनजटीने शीघ्र ही स्वयम्प्रभा पुत्रीको लाकर हर्षसे विवाहविधिके साथ स्वयं ही प्रीतिपूर्वक त्रिपृष्ठके लिए दी। वह कन्या मानो आगे होनेवाली उत्तम राज्य-लक्ष्मीके ही समान थी। अहो, पुण्यके उदयसे मनुष्योंको कौन-सी दुर्लभ वस्तु नहीं प्राप्त होती है ॥९४-९५॥ पुनः विद्याधरेश ज्वलनजटीने अपने जामाताके लिए सिंहवाहिनी और गरुड-वाहिनी ये दो विद्याएँ यथोक्त विधिसे दीं ॥९६॥ गुप्तचरके मुखसे उन दोनोंके सम्पन्न हुए विवाह आदिकी बातके श्रवणरूप अग्निसे प्रज्वलित हुआ वह नरपति अश्वग्रीव शीघ्र ही विद्याधरोंसे और सेनासे संयुक्त होकर तथा चक्ररत्न आदिसे अलंकृत होकर युद्धके लिए रथनूपुरके पर्वतपर आया ॥९७-९८॥ उसके आगमनको सुनकर चतुरंगिणी सेनासे युक्त हो अपने भाई विजयके साथ त्रिपृष्ठ पहलेसे ही वहाँपर आकर ठहर गया ॥९९॥ तत्पश्चात् उस

१. ब मोघेतरादि० ।

चक्ररत्नं क्रुधादायासन्नमृत्युर्व्यघोदयात् । परीत्य प्रेषयामास त्रिपृष्ठं प्रति निष्ठुरम् ॥१०१॥
तत्तं प्रदक्षिणीकृत्य तस्थौ तद्दक्षिणे भुजे । तस्य पुण्यविपाकेन त्रिखण्डश्रीवशीकरम् ॥१०२॥
त्रिपृष्ठो द्रुतमादाय चक्रं शत्रुभयंकरम् । उद्दिश्य स्वरिपुं कोपादक्षिपन्निष्ठुराशयः ॥१०३॥
अश्वग्रीवोऽपि तेनाप्य मृतिं रौद्राशयोऽशुभात् । बह्वारम्भधनाद्यैः प्राग्वद्धश्वभ्रायुरेव च ॥१०४॥
कृत्स्नदुःखाकरीभूतं शर्मदूरं घृणास्पदम् । महापापोदयेनागात्सप्तमं नरकं कुधीः ॥१०५॥
त्रिपृष्ठोऽथ जगत्ख्यातिं लब्ध्वा तन्निर्जयाद्यशः । प्रसाध्य चक्ररत्नेन त्रिखण्डस्थान्नराधिपान् ॥१०६॥
खगेशान्मागधादींश्च व्यन्तराधिपतीन् बलात् । तेभ्य आदाय सारार्थान् कन्यारत्नादिगोचरान् ॥१०७॥
श्रेणीद्वयाधिपत्येन रथनूपुरभूपतिम् । नियोज्य परया भूत्या षडङ्गबलवेष्टितः ॥१०८॥
सिद्धदिग्विजयः श्रीमान् साग्रजो बहुपुण्यवान् । लीलया प्राविशद्दिव्यं स्वपुरं श्र्यादिमण्डितम् ॥१०९॥
प्रागर्जितायपाकेन सप्तरत्नाद्यलंकृतः । अमरैः खेचरैः षोडशसहस्रनृपैर्नुतः ॥११०॥
सहस्रद्वयष्टसंख्याभिः भूपपुत्रीभिरन्वहम् । केवलं विविधान् भोगानन्वभूदादिकेशवः ॥१११॥
मृत्युपर्यन्तमेवातिगृद्धया वृत्तांशदूरगः । धर्मदानार्चनादीनां नाममात्रं विहाय च ॥११२॥
ततः श्वभ्रायुरेवासौ बह्वारम्भपरिग्रहैः । अतीवविषयासक्त्या बध्वा दुर्ध्यानलेश्यया ॥११३॥
रौद्रध्यानेन मुक्त्वासून् पापभारेण पापधीः । धर्माद्विते पपातान्ते सप्तमे नरकार्णवे ॥११४॥
तत्रोपपाददेशे स बीभत्सेऽतिघृणास्पदे । अधोमुखो हि पूर्णाङ्गं संप्राप्य घटिकाद्वयात् ॥११५॥

अद्भुत युद्धमें भावी चक्रवर्ती त्रिपृष्ठने विद्योपनत मायावी एवं अन्य शस्त्रास्त्रोंके द्वारा अति-पराक्रमसे अश्वग्रीव को जीत लिया। तब आसन्नमृत्यु उस अश्वग्रीवने पापके उदयसे क्रोधित हो चक्ररत्नको निष्ठुरतापूर्वक त्रिपृष्ठके ऊपर चलाया। वह चक्ररत्न त्रिपृष्ठ की प्रदक्षिणा देकर उसके पुण्योदयसे उसकी दाहिनी भुजापर आकर विराजमान हो गया। तब त्रिपृष्ठने तीनखण्डकी लक्ष्मीको वशमें करनेवाले और शत्रुओंके लिए भयंकर उस चक्रको शीघ्र लेकर निष्ठुर हृदय होके क्रोधसे अपने शत्रुको लक्ष्य करके फेंका। रौद्रपरिणामी कुबुद्धि अश्वग्रीव भी उस चक्रके द्वारा मरणको प्राप्त होकर तथा बहुत आरम्भ-परिग्रहादिके द्वारा पूर्वमें नरकायुके बाँधनेके महा अशुभ पापोदयसे समस्त दुःखोंकी खानिभूत, सुखसे दूर, घृणास्पद, सातवें नरकको प्राप्त हुआ ॥१००–१०५॥

इसके पश्चात् उस अश्वग्रीवके जीतनेसे जगद्-व्याप्त यश और ख्यातिको प्राप्त कर चक्ररत्नके द्वारा तीनखण्डोंमें रहनेवाले सर्व राजाओंको, विद्याधरेशोंको और व्यन्तरोंके अधिपति मागध आदि देवोंको अपने बलसे वशमें करके और उनसे कन्यारत्न आदि विषयक सार पदार्थोंको लेकर, तथा विजयार्ध पर्वतकी दोनों श्रेणियोंके आधिपत्यपर रथनूपुरके नरेशको नियुक्त कर, षडङ्गसेनासे वेष्टित, बड़े भाई विजयके साथ दिग्विजय सिद्ध करके वह बहुपुण्यशाली श्रीमान् त्रिपृष्ठनारायण लीलापूर्वक लक्ष्मी-शोभा आदिसे मण्डित अपने दिव्य-पुरमें प्रविष्ट हुआ ॥१०६–१०९॥ पूर्वोपार्जित पुण्यके परिपाकसे सुदर्शनचक्र आदि सप्त रत्नोंसे अलंकृत, देव, विद्याधर और सोलह हजार राजाओंसे नमस्कृत, और सोलह हजार राज-पुत्रियोंके साथ निरन्तर एकमात्र नाना प्रकारके भोगोंको वह आदि वासुदेव त्रिपृष्ठ भोगने लगा ॥११०–१११॥ मरण-पर्यन्त वह अतिगृद्धिसे भोगोंको भोगता हुआ, चारित्रके अंशसे भी दूर रहता हुआ, और धर्म, दान, पूजनादिके नाममात्रको भी छोड़कर विषयोंमें अति आसक्त रहा। इस कारण और बहुत आरम्भ परिग्रहसे, तथा खोटी लेश्यासे नरकायुको बाँधकर वह पापबुद्धि रौद्रध्यानसे प्राणोंको छोड़कर धर्मके विना पापके भारसे सातवें नरक-सागरमें गया ॥११२–११४॥ वहाँ अति बीभत्स, अति घृणास्पद उत्पत्तिस्थानमें अधोमुख हुए उसका जन्म हुआ। दो घड़ीमें ही पूर्ण शरीरको प्राप्त कर एक हजार बिच्छुओंके काटनेसे भी अधिक

वृश्चिकैकसहस्राधिकवेदनविधायिनि । रावं परं प्रकुर्वाणो न्यपतच्छ्वभ्रभूतले ॥११६॥
उत्पत्याशु पुनस्तस्माद् गव्यूतिशतविंशतिम् । वज्रकण्टकसंकीर्णे महापीठे पपात सः ॥११७॥
ततो वीक्ष्य स दीनात्मा नारकान् मारणोद्धतान् । कृत्स्नासाताकरीभूतं तत्क्षेत्रमित्यचिन्तयत् ॥११८॥
अहो केयं धरा निन्द्या सर्वदुःखनिबन्धना । केऽत्रामी नारका रौद्रा वेदनादानपण्डिताः ॥११९॥
कोऽहं कस्मादिहायात एकाकी सुखदूरगः । केन दुःकर्मणा वाहमानीतोऽत्र भयास्पदे ॥१२०॥
इत्यादिचिन्तनादाप्य विभङ्गावधिमाश्वतः । श्वभ्रे स्वपतितं ज्ञात्वा विलापमिति सोऽकरोत् ॥१२१॥
अहो मया पुरा जीवराशयोऽनेकशो हताः । असत्यकटुकादीनि भाषितानि वचांसि च ॥१२२॥
परश्रीस्त्र्यादिवस्तूनि सेवितानि हठान्मया । मेलितानि धनादीनि लोभग्रस्तेन पापिना १२३॥
खादितान्यखाद्यानि चासेव्यसेवितानि वै । अपेयान्यपि पीतानि पञ्चेन्द्रियवशात्मना ॥१२४॥
किमत्र बहुनोक्तेन मया सर्वं खलात्मना । पापमेकं कृतं घोरं प्राग्भवे स्वस्य घातकम् ॥१२५॥
न कृतः परमो धर्मः स्वर्गमुक्तिनिबन्धनः । न मनाक् पालितान्येव व्रतानि शुभदानि च ॥१२६॥
नानुष्ठितं तपः किंचित्पात्रदानं न जातुचित् । पूजनं वा जिनादीनां शुभकर्म न चापरम् ॥१२७॥
अत्र तेषां समस्तानां महाघाचरणात्मनाम् । विपाकेन महातीव्रा वेदना मे पुरःस्थिताः ॥१२८॥
अतोऽहं च क गच्छामि कं पृच्छामि वदामि कम् । कस्य वा शरणं यामि कस्त्राता मे भविष्यति ॥१२९॥
इत्यादिचिन्तनोत्पन्नैः पश्चात्तापैर्दुरुत्तरैः । दह्यमानमना यावद्वर्तते सोऽतिदुःखभाक् ॥१३०॥
तावत्ते प्राक्तनाः पापा नारका एत्य तत्क्षणम् । मुद्गरादिप्रहारैस्तं घ्नन्ति नूतननारकम् ॥१३१॥

वेदना देनेवाली नरक-भूमिपर दारुण शब्द करता हुआ गिरा। पुनः वहाँ से एक सौ बीस कोश ऊपर उछलकर वज्रमय कंटकोंसे व्याप्त नरककी महा दुःखदायी भूमिपर वह गिरा ॥११५-११७॥ तब वहाँ वह दीनात्मा त्रिपृष्ठका जीव मारनेके लिए उद्धत नारकियोंको तथा समस्त असाताकी खानिरूप उस क्षेत्रको देखकर इस प्रकार चिन्तवन करने लगा ॥११८॥

अहो, सर्वदुःखोंकी कारणभूत यह कौन-सी निन्द्य भूमि है? यहाँपर वेदना देनेमें अतिकुशल महाभयानक ये रौद्रस्वभावी नारकी कौन हैं? मैं कौन हूँ? सुखसे दूर, अकेला मैं यहाँ कहाँसे आ गया हूँ? अथवा किस दुष्कर्मसे मैं इस अतिभयावने स्थानपर लाया गया हूँ? इत्यादि चिन्तवन करनेसे शीघ्र प्राप्त हुए विभंगावधिज्ञानसे अपनेको नरकमें पतित हुआ जानकर वह इस प्रकारसे विलाप करने लगा ॥११९-१२१॥ अहो, मैंने पूर्वभवमें अनेक वार जीवराशियोंका संहार किया, असत्य और कटुक-निन्द्य आदि वचन बोले, परायी लक्ष्मी, स्त्री और अन्य वस्तुओंको मैंने बलात्कारसे सेवन किया, लोभग्रस्त होकर मुझ पापीने धनादिका संग्रह किया, अखाद्य वस्तुओंको खाया, असेवनीय पदार्थोंका सेवन किया और निश्चयसे पाँचों इन्द्रियोंके वश होकर मैंने अपेय मदिरा आदिका पान किया ॥१२२-१२४॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या, मुझ पापात्माने पूर्व भवमें अपना ही घात करनेवाले सर्व पापोंको किया। किन्तु स्वर्ग और मुक्तिको देनेवाला परम धर्म नहीं किया और न सुखदायी व्रतोंको ही रंचमात्र पालन किया। न तपका अनुष्ठान ही किया और न कभी पात्रोंको दान ही दिया। न जिनदेवादिकी पूजा ही की और न कोई दूसरा शुभ काम ही किया। इसलिए यहाँपर उन महा पापाचरणवाले समस्त कार्योंके विपाकसे यह महातीव्र वेदना मेरे सामने उपस्थित हुई है ॥१२५-१२८॥ अतएव अव मैं कहाँ जाऊँ, किसे पूछूँ और किससे कहूँ? मैं किसकी शरण जाऊँ? यहाँपर कौन मेरा रक्षक होगा? इत्यादि विचारसे उत्पन्न हुए दुरुत्तर पश्चात्तापोंसे जिसका हृदय जल रहा है ऐसा वह त्रिपृष्ठका जीव अति दुःख भोगता हुआ अवस्थित था, तभी पूर्वमें उत्पन्न हुए पापी नारकी लोग उसके समीप तत्क्षण आकर इस नवीन नारकीको मुद्गर आदिके प्रहारोंसे मारने लगे ॥१२९-१३१॥

उत्पाटयन्ति केचिच्च तस्य नेत्रे परे खलाः । विदारयन्ति सर्वाङ्गं त्रोटयन्त्यन्त्रमालिकाम् ॥१३२॥
निर्घृणाः क्वाथयन्त्यन्ये कृत्वास्याङ्गं तिलोपमम् । केचिच्छस्त्रेण कृन्तन्त्यङ्गोपाङ्गान्यखिलानि च ॥१३३॥
आगत्योत्क्षिप्य तं केचित्तप्ततैलकटाहके । प्रपूत्कारं प्रकुर्वाणं न्यक्षिपन् दाहहेतवे ॥१३४॥
तेन सर्वाङ्गदग्धोऽस्मात्सोऽतीवदाहपीडितः । वैतरण्या जले गत्वा न्यमज्जत्तत्प्रशान्तये ॥१३५॥
तत्रातिक्षारदुर्गन्धतोयोर्म्याद्यैः कदर्थितः । असिपत्रवनं सोऽगाद्विश्रामायातिदुःकरम् ॥१३६॥
तस्य वायुवशात्तीक्ष्णैरसिपत्रैर्मद्रुच्युतैः । छिन्नभिन्नमभूत्तस्य बीभत्सं गात्रमञ्जसा ॥१३७॥
ततोऽतिखण्डिताङ्गोऽसौ दीनः कृत्स्नासुखाब्धिगः । तद्दुःखशान्तये गत्वा प्राविशत्पर्वतान्तरम् ॥१३८॥
तत्रापि पापिभिः क्रूरैर्नारकैर्विक्रियाबलात् । व्याघ्रसिंहादिरूपाद्यैः प्रारब्धः खादितुं च सः ॥१३९॥
इत्यादिविविधं घोरं कविवाचामगोचरम् । भुङ्क्ते त्यक्तोपमं दुःखं पापपाकेन सोऽन्वहम् ॥१४०॥
सर्वाब्धिसलिलासाध्यातृपाभिस्तृषितोऽपि सः । बिन्दुमात्रं जलं पातुं लभते न कदाचन ॥१४१॥
विश्वान्नभक्षणाशाम्या क्षुधया स बुभुक्षितः । तिलमात्रसमाहारं प्राप्नोति नाशितुं क्वचित् ॥१४२॥
लक्षयोजनमानोऽयःपिण्डः क्षिप्तोऽत्र केनचित् । द्रुतं शीततुषारेण शतखण्डं प्रयात्यहो ॥१४३॥
इत्याद्यन्यन्महादुःखं कायवाङ्मानसोद्भवम् । परं परस्परोदीरितं क्षेत्रोत्पन्नमञ्जसा ॥१४४॥
भुङ्क्ते सोऽन्वहमत्यन्तं पापपाकेन रौद्रधीः । त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायुः कृष्णलेश्यः सुखातिगः ॥१४५॥

कितने ही दुष्ट नारकी उसके नेत्र उखाड़ने लगे, कितने ही उसके सर्व अंगका विदारण करने लगे और कितने ही उसकी आँतों की आवलीको बाहर निकालने लगे। कितने ही निर्दयी नारकी उसका क्वाथ (काढ़ा) बनाने लगे, कितने ही शस्त्रोंके द्वारा उसके शरीरको तिल समान खण्ड-खण्ड करने लगे। कितने ही नारकी उसके सर्व अंग और उपांगोंको काटने लगे। कितनोंने आकर चिल्लाते हुए उसे उठाकर तप्त तेलके कड़ाहमें पकानेके लिए डाल दिया। इससे उसका सर्वांग जल गया और वह अत्यन्त दाहसे पीड़ित होकर वहाँसे निकल कर शान्ति पानेके लिए वैतरणीके जलमें जाकर डूबा। उसके अत्यन्त खारे, दुर्गन्धित पानी की लहरों आदि से पीड़ित होकर विश्राम पानेके लिए वह अतिदुष्कर असिपत्रवनमें गया ॥१३२-१३६॥ वायुके वेगसे गिरे हुए उस वनके वृक्षोंके तलवारकी धारके समान तीक्ष्ण पत्तोंसे उसका शरीर छिन्न-भिन्न होकर निश्चयतः अति भयानक हो गया ॥१३७॥ तब अति खण्डित शरीरवाला वह दीन नारकी सर्व दुःखोंके समुद्रमें डुबकी लगाता हुआ उस दुःखकी शान्तिके लिए पर्वतके मध्यभाग-में प्रविष्ट हुआ। वहाँपर भी पापी क्रूर नारकी विक्रियाके बलसे व्याघ्र, सिंह, रीछ आदिके रूप बनाकर उसे खाने लगे। इनको आदि लेकरके अनेक प्रकारके कविके वचन-अगोचर, उपमा-रहित दुःखोंको वह नारकी पापके विपाकसे निरन्तर भोगने लगा ॥१३८-१४०॥ सभी समुद्रोंके जल-पानसे भी नहीं शान्त होनेवाली प्याससे पीड़ित रहते हुए भी उसे कभी एक बिन्दु जल पीनेके लिए नहीं मिला। संसारके समस्त अन्नके भक्षणसे भी नहीं शान्त होनेवाली भूखसे पीड़ित होनेपर भी कभी तिल-प्रमाण भी आहार खानेके लिए नहीं मिला ॥१४१-१४२॥

उन नरकोंमें शीत वेदना इतनी अधिक है कि यदि एक लाख योजनके प्रमाणवाला लोहेका गोला किसीके द्वारा वहाँ डाल दिया जाये तो वह वहाँके अति शीत तुषारसे अहो शीघ्र ही शतधा खण्ड-खण्ड हो जाये ॥१४३॥ इन दुःखोंको आदि लेकर उन नारकियोंके परस्परमें दिये गये शारीरिक, वाचनिक और मानसिक दुःखोंको तथा क्षेत्र-जनित असह्य महादुःखोंको वह रौद्रबुद्धि नारकी पापकर्मके विपाकसे निरन्तर भोगने लगा। वहाँपर त्रिपृष्ठ-के जीव उस नारकी की आयु तेंतीस सागरोपम थी, कृष्ण लेश्या थी और वह सदा दुःखोंसे सन्तप्त रहता था ॥१४४-१४५॥

अथैतस्य वियोगेन बलभद्रोऽतिपुण्यधीः । विश्वाङ्गभोगराज्यादौ विरक्तिं प्राप्य सोऽञ्जसा ॥१४६॥
कृत्वा घोरतरं द्वेधा तपो ध्यानासिना ततः । कृत्स्नकर्मरिपून् हत्वा लब्ध्वानन्तचतुष्टयम् ॥१४७॥
देवार्चनीयं निर्वाणमनन्तसुखसागरम् । निरौपम्यं निराबाधं जगाम विश्ववन्दितम् ॥१४८॥
इति सुचरणयोगाद् भुक्तभोगोऽपि चैकोऽगमदिह जगदग्र्यं सत्पदं बन्धुरन्यः ।
कुचरणविधिपाकादन्त्यपातालरन्ध्रं चरत चरणसारं भो विदित्वेति दक्षाः ॥१४९॥
एतद्दुःखनिवारकं शिवकरं कर्मारिविध्वंसकं ह्यन्तातीतगुणार्णवं भवहरं स्वर्मुक्तिशर्माकरम् ।
विश्वेशं शरणं जगत्त्रयसतां वन्द्यं च पूज्यं वरं वन्दे तद्गुणसिद्धयेऽन्तिमजिनं श्रीधर्मतीर्थङ्करम् ॥१५०॥

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्त्तिविरचिते वीरवर्धमानचरिते
स्थूलभवचतुष्टयवर्णनो नाम तृतीयोऽधिकारः ॥३॥

त्रिपृष्ठ नारायणके वियोगसे समस्त देह, भोग और राज्यादिसे विरक्त होकर उस पुण्यबुद्धि विजय बलभद्रने मुनिदीक्षा लेे ली और अतिघोर बहिरंग-अन्तरंग दोनों प्रकारका तप करके पुनः ध्यानरूपी खड्गसे समस्त कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट कर और अनन्तचतुष्टयको प्राप्त कर तथा देवोंके द्वारा पूजाको पाकर अनन्तसुखके सागर, निरुपम, निराबाध एवं विश्व-वन्दित निर्वाणको प्राप्त हुआ ॥१४६-१४८॥

इस प्रकार उत्तम चारित्रके भोगसे एक भाई सर्वसांसारिक सुखोंको भोगकर जगत्के अग्रभागपर स्थित मोक्षरूप सत्पदको प्राप्त हुआ। और दूसरा भाई खोटे आचरणसे उपार्जित पापके विपाकसे अन्तिम पातालके छिद्र स्वरूप सप्तम नरकको प्राप्त हुआ। ऐसा जानकर हे चतुर मनुष्यो, सारभूत चारित्रका आचरण करो ॥१४९॥

यह धर्मरूपी तीर्थ सर्वदुःखोंका निवारक है, शिव-कारक है, कर्मरूप शत्रुओंका विध्वंसक है, अनन्त गुणोंका सागर है, संसारका संहारक है, स्वर्ग-मुक्तिके सुखका भण्डार है। ऐसे धर्मरूप तीर्थके प्रवर्तक जगत्के ईश, तीन लोकको शरण देनेवाले सन्त जनोंसे वन्दनीय, उत्तम और पूज्य अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान जिनको मैं उनके गुणोंकी सिद्धिके लिए वन्दना करता हूँ ॥१५०॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति-विरचित इस वीर वर्धमानचरितमें उनके स्थूल
चार भवोंका वर्णन करनेवाला तीसरा अधिकार समाप्त हुआ ॥३॥

चतुर्थोऽधिकारः

श्रीमते मुक्तिनाथाय स्वानन्तगुणशालिने । महावीराय तीर्थेशे त्रिजगत्स्वामिने नमः ॥१॥
अथैष नारकः श्वभ्रान्निर्गत्य स्वायुषः क्षये । वनिसिंहगिरौ सिंहो बभूवाशुभपाकतः ॥२॥
तत्राप्येन उपार्ज्योच्चैर्हिंसादिक्रूरकर्मभिः । तस्योदयेन स प्राप निन्द्यां रत्नप्रभावनिम् ॥३॥
अनुभूय महादुःखमेकाब्ध्यन्तं ततो हि सः । च्युत्वा दुःकर्मबद्धात्मा द्वीपेऽस्मिन्नादिमे शुभे ॥४॥
भारते सिद्धकूटस्य प्राग्भागे हिमवद्गिरेः । सानावभून्मृगाधीशस्तीक्ष्णदंष्ट्रो मृगान्तकः ॥५॥
कदाचित्तं मृगैकस्य भक्षयन्तं ददर्श खे । गच्छन् भव्यहितोद्युक्तो यमी नाम्नाजितंजयः ॥६॥
चारणर्द्धिपरिप्राप्तो ह्यनेकगुणसागरः । सहामितगुणाख्येन मुनिना व्योमगामिना ॥७॥
स्मृत्वा तीर्थंकरोक्तं सोऽवतीर्य नभसो महीम् । उपविश्य शिलापीठे कृपया चारणाग्रणीः ॥८॥
मृगाधिपं समासाद्य तद्धितायेत्युवाच वै । भो भो भव्य मृगाधीश शृणु पथ्यं मयोदितम् ॥९॥
त्रिपृष्ठेशभवे पूर्वं त्वया भुक्ताः शुभोदयात् । भोगा मनोहराः सर्वेन्द्रियतृप्तिकराः पराः ॥१०॥
दिव्यस्त्रीभिः समं प्राप्य त्रिखण्डस्वामिजां श्रियम् । अतीवविषयासक्त्या मृत्यन्तं सद्-वृषाद्विना ॥११॥
तेभ्यो जातमहापापपाकेन विषयान्धधीः । मृत्वा त्वं सप्तमं श्वभ्रं गतो दुःकर्मचेष्टितः ॥१२॥
तत्र वैतरणीं भीमां क्षारपूत्यपकुकर्दमाम् । प्रवेशितोऽतिपापिष्ठैस्त्वं प्राग्मज्जनजाघतः ॥१३॥
तप्तायःपिण्डनिर्वर्तितैश्चूर्णितो नारकैर्बलात् । संतप्तलोहनारीभिः प्रासश्चालिङ्गनं मुहुः ॥१४॥

मुक्तिके नाथ, आत्मीय, अनन्तगुणशाली, त्रिजगत्स्वामी, तीर्थेश श्रीमान् महावीर भगवान्‌को नमस्कार हो ॥१॥

अथानन्तर वह त्रिपृष्ठ नारायणका नारकी जीव आयुके क्षय होनेपर वहाँसे निकलकर वनिसिंह नामक पर्वतपर पापके उदयसे सिंह हुआ ॥२॥ वहाँपर भी हिंसादि महाक्रूर कर्मोंसे पापका उपार्जन कर उनके उदयसे वह निन्दनीय रत्नप्रभा नामकी प्रथम नरकभूमिको प्राप्त हुआ ॥३॥ वहाँपर एक सागरोपम काल तक महादुःखोंको भोगकर खोटे कर्मोंसे बँधा हुआ वह नारकी वहाँसे निकलकर इसी प्रथम शुभ जम्बूद्वीपमें भरत क्षेत्रके सिद्धकूटके पूर्व-भागमें शिखरपर तीक्ष्ण दाढ़ोंवाला, मृगोंका यमरूप मृगाधीश सिंह हुआ ॥४-५॥ किसी समय भव्योंके हितमें तत्पर, अनेक गुणोंके सागर, चारणऋद्धिके धारक अमितगुण नामक आकाशगामी मुनिके साथ आकाशमें जाते हुए अजितंजय नामके मुनिराजने उसे एक मृगको खाते हुए देखा ॥६-७॥ तीर्थंकरदेवभाषित वचनका स्मरण कर वे चारण-ऋद्धिधारियोंमें अग्रणी मुनिराज दयासे प्रेरित होकर पृथ्वीपर उतरकर और एक शिलापीठपर उस सिंहके समीप बैठकर उसके हितार्थ इस प्रकार बोले—भो भो भव्य मृगराज, मेरे हितकारी वचन सुन ॥८-९॥ तूने पहले त्रिपृष्ठ नारायणके भवमें पुण्यके उदयसे सर्व इन्द्रियोंको तृप्त करने-वाले, तीन खण्डकी साम्राज्यलक्ष्मीको पाकर दिव्य स्त्रियोंके साथ धर्मके विना परम मनोहर भोगोंको विषयान्ध बुद्धि होकर भोगा है ॥१०-११॥ उन भोगोंके सेवनसे उत्पन्न हुए महापापके परिपाकसे मरकर तू सातवें नरकमें गया। वहाँपर दुष्कर्मकी चेष्टावाले तुझे पापी नारकियोंने पूर्व जन्ममें स्नान करनेसे उत्पन्न हुए पापके फल स्वरूप खारे, पीव और कीचड़मय जलसे भरी हुई भयानक वैतरणीमें प्रवेश कराया ॥१२-१३॥ उसी भवमें किये गये परस्त्रीसंगके पापसे

परस्त्रीसंगपापेन वद्धो नानातिबन्धनैः । कर्णौष्ठनासिकादीनां छेदनैस्त्वं कदर्थितः ॥१५॥
जीवहिंसोद्भवाघेन सूक्ष्मखण्डैस्तिलोपमैः । खण्डितोऽतीवदीनात्मा शूलीमारोपितो भवान् ॥१६॥
इत्याद्यैर्विविधैर्घोरैः कदर्थनादिकोटिभिः । पीडितः शरणं नित्यं प्रार्थयंस्त्वं न चाप्तवान् ॥१७॥
निर्गत्य नरकादायुःक्षये कर्मारिभिर्वृतः । जातः सिंहः पराधीनस्त्वमिहैवातिपापधीः ॥१८॥
क्षुत्पिपासातपातीवशीतवर्षादिभिर्भवान् । बाध्यमानः पुनः कृत्वा क्रूरकर्माशुभाकरम् ॥१९॥
प्राणिहिंसादिना तस्य विपाकेनातिदुःखभाक् । प्रथमां पृथिवीं प्राप्तो विश्वाशर्मखनीं खलः ॥२०॥
एत्य तस्मादिहोत्पन्नस्त्वमद्यापि समुद्वहन् । क्रूरतां परमां किं ते विस्मृता श्वभ्रवेदना ॥२१॥
अतो दुर्गतिनाशाय त्यक्त्वा क्रौर्यं त्वमञ्जसा । गृहाणानशनं सारं व्रतपूर्वं शुभार्णवम् ॥२२॥
तदुक्तमिति स श्रुत्वा लब्ध्वा जातिस्मृतिं तदा । घोरसंसारदुःखौघभयात्सर्वाङ्गकम्पितः ॥२३॥
गलद्बाष्पजलोऽतीवशान्तचित्तोऽभवत्तराम् । अश्रुपातं शुचा कुर्वन् पश्चात्तापभवेन च ॥२४॥
पुनर्मुनिर्हरिं वीक्ष्य स्वस्मिन् बद्धनिरीक्षणम् । शान्तान्तरङ्गमभ्येत्य कृपयैवमभाषत ॥२५॥
पुरा पुरूरवा भिल्लो भूत्वा त्वं धर्मलेशतः । सौधर्मे निर्जरो जातस्तस्माच्च्युत्वा शुभोदयात् ॥२६॥
अभूर्मरीचिनामेह भरतेशसुतो महान् । वृषभस्य स्वामिना सार्धं कृतदीक्षापरिग्रहः ॥२७॥
परीषहभयात्त्यक्त्वा सन्मार्गं पापपाकतः । गृहीत्वा दुर्गतेर्हेतुं वेषं पाखण्डिनां भवान् ॥२८॥
सन्मार्गदूषणं कृत्वा कुमार्गमभिवर्धयन् । पितामहस्य सद्वाक्यमनादृत्यादिदुष्टधीः ॥२९॥
तन्मिथ्योद्भवपापेन जन्ममृत्यादिपीडितः । भवारण्ये भ्रमन् प्राप्तो दुःखं दुःकर्मसंभवम् ॥३०॥

उन नारकियोंने अति सन्तप्त लोहेकी पुतलियोंसे बलात् बार-बार आलिंगन कराया, और तपे हुए लोहेके पिण्डोंसे मार-मारकर तेरा चूर्ण कर दिया। उस भवमें की गयी जीव-हिंसाके पापसे उन नारकियोंने नाना प्रकारके बन्धनोंसे बाँधकर, कान, ओठ और नाक आदि अंगों को छेदन कर और शस्त्रोंसे तिल-तिल समान सूक्ष्म खण्ड कर-करके तुझे खूब दुःख दिये हैं और अतिदीन बने हुए तुझे शूलीपर चढ़ाया है ॥१४–१६॥ इनको आदि लेकर नाना प्रकारकी घोर कोटि-कोटि यातनाओंसे तुझे नित्य खूब पीड़ित किया है और तेरे प्रार्थना करनेपर भी तुझे किसी ने शरण नहीं दी ॥१७॥ आयुके क्षय होनेपर नरकसे निकलकर कर्म वैरियोंसे घिरा पराधीन हुआ तू यहाँ पर सिंह हुआ। तब भी तुझ पापबुद्धिने जीवोंकी हिंसा कर-करके महापापोंका उपार्जन किया, तथा भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी और वर्षा आदिके महादुःखोंसे पीड़ित हो अति दुःख भोगता हुआ वहाँपर उपार्जित पाप कर्मके विपाकसे दुष्ट तू समस्त दुःखोंकी खानिरूप प्रथम पृथ्वीको प्राप्त हुआ ॥१८–२०॥ वहाँ से निकलकर तू पुनः यहाँपर सिंह हुआ है और आज भी परम क्रूरताको धारण कर इस दीन हरिणको खा रहा है? क्या तुझे नरककी वे सब वेदनाएँ विस्मृत हो गयी हैं ॥२१॥ अतः अब तू शीघ्र ही दुर्गतिके नाशके लिए क्रूरताको छोड़कर व्रतपूर्वक पुण्यके सागरस्वरूप अनशनको ग्रहण कर ॥२२॥ मुनिराजके इस प्रकारके वचन सुनकर और जातिस्मरण ज्ञानको प्राप्त कर उसी समय घोर संसारके दुःख-समुदायके भयसे सर्वांगमें कम्पित होकर आँखोंसे आँसुओंको बहाता हुआ वह सिंह अत्यन्त शान्तचित्त हो गया। पश्चात्तापसे उत्पन्न हुए शोकसे अश्रुपात करते हुए और अपनी ओर एकटक दृष्टिसे देखते हुए उस सिंहको देखकर और उसे अन्तरंगमें शान्तचित्त हुआ जानकर मुनिने दयासे प्रेरित होकर इस प्रकार कहा ॥२३–२५॥

हे मृगराज, आजसे कितने ही भव पूर्व तू पुरूरवा भील था। वहाँ धर्मका लेश पाकर उसके फलसे सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। वहाँसे च्युत होकर पुण्यके उदयसे तू भरतनरेशका महान् पुत्र मरीचि हुआ। तब तूने यहाँपर ऋषभदेव स्वामीके साथ दीक्षा धारण कर ली ॥२६-२७॥ पुनः परीषहोंके भयसे सन्मार्गको छोड़कर पापके उदयसे दुर्गतिके कारणभूत

वियोगैरिष्टवस्तूनां संयोगैश्च खलात्मनाम् । स्वानिष्टकारिणां रोगक्लेशाद्यैः प्रचुरैः परैः ॥३१॥
अपरं च महद्दुःखं बृहत्पापोदयार्पितम् । भ्रमता सुचिरं कालं त्रसस्थावरयोनिषु ॥३२॥
सकलासातपूर्णासु पराधीनतया त्वया । लब्धं घोरतरं निन्द्यमसंख्यातसमावधि ॥३३॥
केनापि हेतुनावाप्य विश्वनन्दित्वमाप्तवान् । संयमं तन्निदानेन त्रिपृष्ठोऽभूद्भवान्नृपः ॥३४॥
इतोऽस्मिन् भारते क्षेत्रे दशमे भाविजन्मनि । तीर्थकृदन्तिमो नूनं भविष्यसि जगद्धितः ॥३५॥
जम्बूद्वीपस्थपूर्वाख्यविदेहे श्रीधराह्वयः । तीर्थकर्तेति संपृष्टः केनचित्सदसि स्थितः ॥३६॥
भगवन्नादिमे द्वीपे भरते यो भविष्यति । चरमस्तीर्थकृत्तस्य जीवः क्वाद्य प्रवर्तते ॥३७॥
इति तत्प्रश्नतोऽवादीज्जिनेन्द्रः स्वगणान् प्रति । त्रिकालगोचरां सर्वां त्वदीयां सुकथामिमाम् ॥३८॥
जिनेशश्रीमुखादेतच्छ्रुत्वा दिव्यं कथानकम् । भूतं भावि मया कृत्स्नं ते हिताय निरूपितम् ॥३९॥
इदानीं त्वं चिरायातं मिथ्यात्वं भवकारणम् । हालाहलमिवोज्झित्वा सम्यक्त्वं शुद्धिकारणम् ॥४०॥
धर्मकल्पतरोर्मूलं शङ्कादिदोषवर्जितम् । सोपानं प्रथमं मुक्तिसौधस्य स्वीकुरु द्रुतम् ॥४१॥
तेन ते जायते नूनं विश्वाभ्युदयमञ्जसा । जगत्त्रयभवं सौख्यं चार्हच्चक्र्यादिसत्पदम् ॥४२॥
यतो न दर्शनेनैव समो धर्मो जगत्त्रये । न भूतो न भविता नास्ति सर्वाभ्युदयसाधकः ॥४३॥
मिथ्यात्वेन समं पापं न भूतं न भविष्यति । न विद्यते त्रिलोकेऽपि विश्वानर्थनिबन्धनम् ॥४४॥
श्रद्धानं सप्त तत्त्वानां चार्हदागमयोगिनाम् । निःसंदेहं जिनः प्राहुर्दर्शनं ज्ञानवृत्तदम् ॥४५॥

पाखण्डियोंका वेष ग्रहण कर, सन्मार्गमें दूषण लगाकर और कुमार्गको बढ़ाते हुए अपने पितामह ऋषभदेवके उत्तम वचनोंका अनादर करके अत्यन्त दुष्टबुद्धि होकर मिथ्यात्वका उपार्जन किया। पुनः उस मिथ्यात्व कर्मसे उत्पन्न हुए पापसे जन्म-मरणादि से पीड़ित होते हुए तुम इस संसार-काननमें परिभ्रमण करते हुए दुष्कर्मसे उत्पन्न महादुःखोंको प्राप्त हुए हो ॥२८–३०॥ इष्ट-वस्तुओंके वियोगसे, दुर्जन मनुष्योंके और अपने अनिष्टकारी वस्तुओंके संयोग से और भारी रोग-क्लेशादिके दुःखोंसे तुम पीडित रहे हो। इसके पश्चात् भारी पापके उदयसे अति दीर्घकालतक तुमने सर्वप्रकारकी असाताओंसे परिपूर्ण त्रस-स्थावर योनियोंमें पराधीन होकर घूमते हुए महानिन्द्य, अतिघोर दुःखोंको असंख्यात कालतक भोगा ॥३१–३३॥ पुनः किसी पुण्यके निमित्तसे तुम विश्वनन्दीके भवको प्राप्त हुए और वहाँपर संयमका पालन कर तथा निदानका बन्ध कर उसके फलसे तुम त्रिपृष्ठ राजा हुए ॥३४॥ अब इससे आगे दसवें भवमें तुम इसी भारतवर्षमें जगत्का हित करनेवाले अन्तिम तीर्थंकर नियमसे होओगे ॥३४-३५॥ जम्बूद्वीपस्थ पूर्वविदेह नामके क्षेत्रमें श्रीधर नामक तीर्थंकर समवशरणमें विराजमान हैं। उनसे किसीने पूछा—हे भगवन्, इस जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें जो अन्तिम तीर्थंकर होगा, वह आज कहाँपर है। इस प्रकारके प्रश्न करनेपर जिनेन्द्रदेवने अपने गणोंके प्रति तुम्हारी यह त्रिकाल विषयक शुभ कथा कही ॥३६–३८॥ जिनेन्द्रदेवके श्रीमुखसे सुनकर मैंने तेरे हितके लिए यह भूत और भावी सर्व दिव्य कथानक तुझे कहा है ॥३९॥ अब तू चिरकालसे आये हुए, संसारके कारणभूत इस मिथ्यात्वको हालाहल विषके समान समझके छोड़ और पवित्रता-का कारणभूत, धर्मरूप कल्पवृक्षका मूल, मुक्तिरूप प्रासादका प्रथम सोपान यह सम्यक्त्व शंकादि दोषोंसे रहित होकर के शीघ्र स्वीकार कर ॥४०-४१॥ इस सम्यक्त्वके प्रभावसे तेरे निश्चयसे शीघ्र विश्वके समस्त अभ्युदय, तीन जगत्के सुख और तीर्थंकरादिके उत्तम पद प्राप्त होंगे। क्योंकि तीन जगत्में सम्यग्दर्शनके समान सर्वअभ्युदयोंका साधक धर्म न हुआ न है और न होगा ॥४२-४३॥ तथा समस्त अनर्थोंका कारण मिथ्यात्व-जैसा पाप तीन लोकमें न हुआ, न है और न होगा ॥४४॥ जिनेन्द्रदेवने सात तत्त्वोंके, और सत्यार्थ देव-शास्त्र-गुरुओंके सन्देह-रहित श्रद्धानको ज्ञान-चारित्रका देनेवाला सम्यग्दर्शन कहा है ॥४५॥

संन्यासेन समं चेदं गृहाण त्वं वृषाप्तये । त्यक्त्वा मांसाङ्गिघातादीन् स्वर्मुक्त्यादिसुखावहम् ॥४६॥
उत्कृष्टश्रावकाणां सद्व्रतैः सर्वैर्जगद्धितैः । त्यक्तदोषैः सहातीव शुद्धिदैः श्रीजिनोदितैः ॥४७॥
अद्य प्रभृति तेनास्ति संसारभ्रमणाद् भयम् । रुचिं विधेहि सन्मार्गे दुर्मार्गे विरमाञ्जसा ॥४८॥
इत्थं योगिमुखेन्दूद्भवं सद्धर्मसुधारसम् । पीत्वा मिथ्याविषं घोरं वमित्वाशु चिरागतम् ॥४९॥
मुहुः प्रदक्षिणीकृत्य मुनियुग्मं सुरार्चितम् । प्रणम्य शिरसाधाय श्रद्धानं हृदये परम् ॥५०॥
तत्त्वार्थश्रीजिनादीनां सम्यक्त्वं सकलैर्व्रतैः । संन्यासेन समं सिंहः स्वीचक्रे काललब्धितः ॥५१॥
निराहारं विना जातु व्रतमस्य न जायते । यतः क्वचिन्मृगारीणामाहारो न पलात्परः ॥५२॥
अतोऽस्य परमं धैर्यं व्रताचरणमूर्जितम् । अथवा काललब्ध्यात्र किं न जायेत दुर्घटम् ॥५३॥
तदा प्रभृति सिंहोऽभूत् संयमी च प्रशान्तधीः । चित्रस्थ इव शान्ताङ्गः सर्वसावद्यवर्जितः ॥५४॥
दुःस्थितिं संसृतेर्नित्यं मनसा भावयन् मुहुः । क्षुत्तृषादिभवां सर्वां सहन् बाधां वनोद्भवाम् ॥५५॥
धैर्यत्वेन दयां कुर्वन् विश्वसत्त्वेष्वनारतम् । अप्रशस्तं द्विधा ध्यानं हत्वा स्वैकाग्रचेतसा ॥५६॥
धर्मध्यानदृगादीनि चिन्तयन् सोऽघहानये । निश्चलाङ्गं विधायोच्चैः संयमीव स्थिरोऽभवत् ॥५७॥
यावज्जीवं प्रपाल्योच्चैरित्थं व्रतकदम्बकम् । संन्याससहितं प्रान्ते त्यक्त्वा प्राणान् समाधिना ॥५८॥
व्रतादिजफलेनाभूत्कल्पे सौधर्मनामनि । सिंहो महर्द्धिकः सिंहकेतुनामामरो महान् ॥५९॥
संपूर्णं वपुरासाद्य नवयौवनमण्डितम् । उपपादशिलागर्भे घटिकाद्वयमध्यतः ॥६०॥
विज्ञायावधिबोधेन प्राग्भवं व्रतजं फलम् । प्रशस्यधर्ममाहात्म्यं सोऽधाद्धर्मे मतिं दृढाम् ॥६१॥

इसलिए तू धर्मकी प्राप्तिके लिए मांस-भक्षण एवं प्राणिघात आदिको छोड़कर स्वर्ग-मुक्ति आदिके सुख देनेवाले इस सम्यग्दर्शनको तथा श्री जिनदेव-कथित, जगत्-हितकारी अतीव शुद्धि-प्रदाता सभी निर्दोष सद्व्रतोंको संन्यासके साथ ग्रहण कर ॥४६-४७॥ यदि तुझे संसारके परिभ्रमणसे दुःख है, तो आजसे ही सन्मार्गमें रुचिको धारण कर और दुर्मार्गसे शीघ्र विराम ले ॥४८॥

इस प्रकार योगिराजके मुखचन्द्रसे प्रकट हुए उत्तम धर्मरूपी अमृत रसको पीकर और चिरकालसे आये हुए घोर मिथ्यात्वको शीघ्र वमन कर, देव-पूजित मुनि-युगलकी वार-वार प्रदक्षिणा और मस्तकसे नमस्कार करके काललब्धिके वलसे उस सिंहने श्रावकके सर्वव्रतोंके और संन्यासके साथ तत्त्वार्थका एवं देव-शास्त्र-गुरुका परम श्रद्धान हृदयमें धारण करके सम्यग्दर्शनको स्वीकार किया ॥४९-५१॥ निराहार रहनेके विना सिंहके व्रत कभी सम्भव नहीं है, क्योंकि मृगारि-सिंहोंका मांसके सिवाय कहीं भी और कोई दूसरा आहार नहीं है ॥५२॥ अतः उस सिंहका यह परम धैर्य है कि उसने इस प्रकारका उत्तम व्रतका आचरण करना स्वीकार किया। अथवा काललब्धिसे इस संसारमें क्या दुर्घट वात सुघट नहीं हो जाती है ॥५३॥ इसके पश्चात् वह संयमी सिंह एकदम शान्त बुद्धिवाला हो गया। वह चित्रमें लिखित सिंहके समान शान्त शरीर और सर्व सावद्यसे रहित होकर संसारकी खोटी स्थितिका मन-से नित्य वार-वार भावना करता हुआ, भूख-प्यास आदिसे उत्पन्न तथा वन-जनित सभी वाधाओंका धैर्यके साथ सहन करता हुआ, सर्व प्राणियोंपर निरन्तर दया धारण करता हुआ, आर्त-रौद्र इन दोनों प्रकारके अप्रशस्त ध्यानोंको दूर कर अपने एकाग्रचित्तसे पापोंकी हानिके लिए धर्मध्यान और सम्यग्दर्शनादिका चिन्तवन करता हुआ निश्चल अंग करके उच्च संयमी मुनिके समान स्थिर हो गया ॥५४-५७॥ यावज्जीवन इस प्रकार उत्कृष्ट रीतिसे सभी व्रत समूहका संन्याससहित पालन कर और अन्तमें समाधिके साथ प्राणोंका त्याग कर वह सिंह व्रतादि पालन करनेसे उत्पन्न हुए पुण्यके फलसे सौधर्म नामके कल्पमें सिंहकेतु नामका महा-ऋद्धिवाला महान् देव हुआ ॥५८-५९॥ उपपाद शिलाके भीतर दो घड़ी कालमें ही नवयौवन

ततश्चैत्यालये गत्वा दिव्याष्टविधपूजनैः । सोऽर्हतां मणिमूर्तीनां भक्त्या चक्रे महामहम् ॥६२॥
पुनः श्रीप्रतिमानां नृलोकनन्दीश्वरादिषु । सर्वाभ्युदयसिद्ध्यर्थं कृत्वा पूजां जिनेशिनाम् ॥६३॥
गणेशादिमुनीन्द्राणां प्रणामं च मुदामरः । श्रुत्वा तेभ्यः सुतत्त्वादीनुपार्ज्य बहुधावृषम् ॥६४॥
आसाद्यानु निजं स्थानं स्वपुण्यजनितां श्रियम् । स्वीचकार महादेवी विमानादिकगोचराम् ॥६५॥
इत्यादिविविधं पुण्यं सदार्जयन् सुचेष्टया । सप्तहस्तोरुदिव्याङ्गो नेत्रोन्मेषादिवर्जितः ॥६६॥
आद्य क्ष्मान्तावधिज्ञानविक्रियर्द्धिबलान्वितः । अतीतैर्द्विसहस्राब्दैः सुधाहारं हृदाहरन् ॥६७॥
त्रिंशद्दिनैरतिक्रान्तैर्मनागुच्छ्वासमामजन् । पश्यन् रूपं विलासं च नर्तनं दिव्ययोषिताम् ॥६८॥
कुर्वन् क्रीडां स्वदेवीभिः सौधोद्यानाचलादिषु । स्वेच्छया विहरन् भूत्यासंख्यद्वीपाद्रिषु स्वयम् ॥६९॥
सर्वदुःखातिगो विश्वशर्मामृताब्धिमध्यगः । द्विसागरोपमायुष्कः स्वेदधातुमलातिगः ॥७०॥
भुञ्जानो विविधान् भोगान् पुरा सुचरणार्जितान् । न जानानो गतं कालं मुदास्ते तत्र सोऽमरः ॥७१॥
अथ प्राग्धातकीखण्डे विदेहे पूर्वसंज्ञके । देशोऽस्ति मङ्गलावत्याख्येयमाङ्गल्यकारकः ॥७२॥
तन्मध्ये विजयार्धाद्रिर्गव्यूत्येकशतोन्नतः । भाति कूटजिनागारवनश्रेणिपुरादिषु ॥७३॥
तस्याद्रेरुत्तरश्रेण्यां नगरं कनकप्रभम् । राजते कनकप्राकारप्रतोलीजिनालयैः ॥७४॥
पतिः कनकपुङ्खाख्यस्तस्यासीत् खेचराधिपः । प्रिया कनकमालाख्यास्याभवत् कनकोज्ज्वला ॥७५॥
तयोश्च्युत्वा स सौधर्मात् सिंहकेतुसुरः शुभात् । कनकोज्ज्वलनामाभूत् सूनुः कनककान्तिमान् ॥७६॥

मण्डित सम्पूर्ण शरीरको प्राप्त कर और अवधिज्ञानसे पूर्व भवमें पालन किये गये व्रत-जनित फलको और प्रशंसनीय धर्मके माहात्म्यको जानकर उस देवने धर्ममें अपनी बुद्धिको और भी दृढ़ किया ॥६०-६१॥

तत्पश्चात् चैत्यालयमें जाकर उसने अर्हन्तोंकी मणिमयी मूर्तियोंकी दिव्य अष्टविध द्रव्योंसे भक्तिके साथ महापूजन किया ॥६२॥ पुनः सर्व अभ्युदयकी सिद्धिके लिए उसने मनुष्य लोक और नन्दीश्वर आदि द्वीपोंमें स्थित श्री प्रतिमाओंका और श्री जिनेन्द्रों तथा गणधरादि मुनीन्द्रोंका पूजन करके, प्रणाम करके और हर्षके साथ उनसे जीवादि सुतत्त्वोंका उपदेश सुनकर और अनेक प्रकारसे पुण्यका उपार्जन कर वापस अपने स्थानपर आकर अपने पुण्यसे उत्पन्न हुई महादेवियोंकी और विमान आदि सम्बन्धी सर्व लक्ष्मीको उसने स्वीकार किया ॥६३-६५॥ इस प्रकार वह देव अपनी उत्तम चेष्टासे जिनप्रतिमापूजन, धर्मश्रवण आदिके द्वारा नाना प्रकारके पुण्यका उपार्जन करता हुआ स्वर्गमें समय बिताने लगा। उसका दिव्य शरीर सात हाथ उन्नत था, उसके नेत्र निमेष-उन्मेष आदिसे रहित थे, पहली रत्नप्रभा पृथिवीके अन्ततकके अवधिज्ञान और तत्प्रमाण विक्रिया करनेकी शक्तिसे युक्त था, दो हजार वर्ष बीतनेपर मन से अमृत-आहार करता था, तीस दिन बीतनेपर कुछ थोड़ी-सी श्वास लेता था और दिव्याङ्गनाओंके रूप, विलास और नृत्यको देखता हुआ, देव-भवन, उद्यान और पर्वतादिपर अपनी देवियोंके साथ क्रीडा करता, असंख्य द्वीपों और पर्वतोंपर स्वयं अपनी इच्छानुसार विभूतिके साथ विहार करता रहता था। वह सर्व दुःखोंसे रहित और प्रस्वेद, रक्त-मांसादि सर्व धातुओंसे रहित शरीरवाला था, समस्त सुखरूप अमृत-सागरमें निमग्न रहता था, और वह दो सागरोपमकी आयुका धारक था। इस प्रकार पूर्व आचरित चारित्रसे उपार्जित नाना प्रकारके भोगोंको भोगता हुआ वह देव बीतते हुए कालको नहीं जानता हुआ आनन्दसे स्वर्गमें रहने लगा ॥६६-७१॥

अथानन्तर पूर्वधातकीखण्डमें पूर्व विदेहमें मंगलावती नामका मंगलकारक देश है, उसके मध्यमें एक सौ कोश ऊँचा विजयार्धपर्वत है, वह कूट, जिनालय, वनश्रेणी और नगर आदिसे शोभायमान है। उस पर्वतकी उत्तरश्रेणीमें कनकप्रभ नामका एक नगर है, जो

पितास्यादौ जिनागारे कृत्वा कल्याणवर्धकान् । महाभिषेकपूजादीन् पञ्चकल्याणभागिनाम् ॥७७॥
तर्पयित्वा सुदानाद्यैर्बन्धुदीनादिवन्दिनः । गीतनर्तनवाद्याद्यैश्चक्रे जातमहोत्सवम् ॥७८॥
बालचन्द्र इवासाद्य क्रमाद् वृद्धिं स सुन्दरः । पयःपानान्ननेपथ्यैः स्वयोग्यैः सकलप्रियः ॥७९॥
पठित्वानेकशास्त्राणि ह्यभ्यस्य निखिलाः कलाः । रूपलावण्यकान्त्यादिगुणैर्नाकीव राजते ॥८०॥
ततोऽस्मै यौवने तातो विवाहविधिना मुदा । कन्यां कनकवत्याख्यां ददौ गृहिवृषाप्तये ॥८१॥
अन्येद्युर्भार्यया सार्धं कुमारः क्रीडितुं ययौ । महामेरुं जिनार्चादीन् वन्दितुं च शुभाय सः ॥८२॥
तत्र वीक्ष्यावधिज्ञानवीक्षणं मुनिपुङ्गवम् । नभोगाम्याद्यनेकर्द्धिभूषितं त्रिःपरीत्य सः ॥८३॥
प्रणम्य शिरसाप्राक्षीद्धर्मार्थीति तदाप्तये । भगवन्मेऽनघं धर्मं ब्रूहि येनाप्यते शिवम् ॥८४॥
आकर्ण्य तद्वचो योगी जगावित्थं तदीप्सितम् । दक्ष त्वमेकचित्तेन शृणु धर्मं दिशाम्यहम् ॥८५॥
भवाब्धौ पतनाद् भव्यान् य उद्धृत्य शिवालये । धत्ते वा त्रिजगद्राज्ये तं धर्मं विद्धि तत्त्वतः ॥८६॥
येनात्राभ्युदयः पुंसां मनोरथशतागमः । विलीयन्तेऽघदुःखाद्या भ्रमेत् कीर्तिर्जगत्त्रये ॥८७॥
अमुत्र येन जायन्ते देवराजादिभूतयः । सर्वार्थसिद्धितीर्थेशबलचक्रिपदानि च ॥८८॥
तं धर्मं केवलिप्रोक्तं जानीहि त्वं सुखाकरम् । अहिंसालक्षणं सारं निःपापं नापरं क्वचित् ॥८९॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्म संगविवर्जनम् । ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गसंज्ञकाः ॥९०॥

सुवर्णमय प्राकार, प्रतोली और जिनालयोंसे शोभित है। उसका स्वामी कनकपुंख नामका एक विद्याधरेश था। उसकी सुवर्णके समान उज्ज्वल देहकान्तिको धारण करनेवाली कनकमाला नामकी प्रिया थी। उन दोनोंके वह सिंहकेतुदेव सौधर्म स्वर्गसे च्युत होकर पुण्यसे स्वर्णकान्तिका धारक कनकोज्ज्वल नामका पुत्र हुआ ॥७२–७६॥ उसके जन्म होनेपर उसके पिताने सर्व-प्रथम जिनालयमें पंचकल्याणकोंके भोक्ता तीर्थंकरदेवोंका कल्याण-वर्धक महाभिषेकपूर्वक महापूजन करके, उत्तम दान-मानादिसे बन्धुओं, दीनजनों और वन्दीगणोंको तृप्त कर गीत, नृत्य, वादित्रादिसे उसका जन्म-महोत्सव किया ॥७७–७८॥ सकल जनोंको प्रिय वह सुन्दर बालक अपने योग्य दुग्ध-पान, अन्नाहार और वस्त्राभूषणादिको प्राप्त कर बालचन्द्रके समान क्रमसे वृद्धिको प्राप्त होकर, अनेक शास्त्रोंको पढ़कर, और समस्त कलाएँ सीखकर रूप, लावण्य और कान्ति आदि गुणोंके द्वारा देवके समान शोभाको प्राप्त हुआ ॥७९–८०॥ तदनन्तर यौवन अवस्थामें उसके पिताने गृहस्थ धर्मकी प्राप्तिके लिए हर्षसे विधिपर्वक कनकवती नामकी कन्याके साथ उसका विवाह कर दिया ॥८१॥ किसी एक दिन वह अपनी भार्याके साथ क्रीडा करने और जिनप्रतिमाओंका पूजन-वन्दन करनेके लिए महामेरु पर्वतपर गया ॥८२॥ वहाँ पर अवधिज्ञानरूप नेत्रके धारक, आकाशगामी आदि अनेक ऋद्धियोंसे भूपित उत्तम मुनिराजको देखकर उसने तीन प्रदक्षिणाएँ देकर और मस्तकसे नमस्कार करके धर्म-प्राप्तिके लिए धर्म के इच्छुक उसने धर्मका स्वरूप पूछा—हे भगवन्, मुझे धर्मका स्वरूप कहिए, जिससे कि शिवपदकी प्राप्ति होती है ॥८३–८४॥ उसके वचन सुनकर योगीश्वरने उसको अभीष्ट वचन इस प्रकार कहे—हे चतुर, मैं धर्मका स्वरूप कहता हूँ, तू एकाग्र चित्तसे सुन ॥८५॥ जो संसार-समुद्रमें पतनसे भव्योंका उद्धार कर तीन जगत्के राज्य स्वरूप शिवालयमें रखता है, उसे परमार्थसे धर्म जानो ॥८६॥ जिसके द्वारा इस लोकमें प्राणियोंके सैकड़ों मनोरथोंका आगमनरूप अभ्युदय प्राप्त होता है, पाप-जनित दुःख आदि विलीन हो जाते हैं और तीन लोकमें कीर्ति फैलती है, तथा परलोकमें जिसके द्वारा देवेन्द्र आदिकी विभूतियाँ, सर्वार्थसिद्धि-कारक तीर्थंकर, चक्रवर्ती और बलदेव आदि पद प्राप्त होते हैं, उसे तुम सर्व सुखोंका भण्डार केवलि-भाषित धर्म जानो। वह धर्म अहिंसा लक्षणवाला है, सार है और निष्पाप है। इसके अतिरिक्त और कोई धर्म सत्य नहीं है ॥८७–८९॥ वह

मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः कायगुप्तिर्बुधैरिमैः । त्रयोदशप्रकारैः स साध्यते रागदूरगैः ॥९१॥
तथा मूलगुणैः सर्वैः क्षमादिदशलक्षणैः । अर्ज्यते परमो धर्मो जितमोहाक्षतस्करैः ॥९२॥
धीमंस्त्वयाप्यनुष्ठेयो धर्मोऽयं यतिगोचरः । बाल्येऽपि भोः प्रहत्याशु स्मराद्यारींस्तपोऽसिना ॥९३॥
धर्मं विधेहि चित्ते त्वं धर्मेणालंकुरु स्वयम् । धर्माय त्यज गेहादीन् धर्मान्नान्यं त्वमाचर ॥९४॥
धर्मस्य शरणं याहि तिष्ठ धर्मे निरन्तरम् । तं कृत्वा सर्वथा धर्मं पाहि मामिति चार्थय ॥९५॥
किमत्र बहुनोक्तेन हत्वा मोहमहाभटम् । सर्वयत्नेन सद्धर्मं मुक्तये स्वीकुरु द्रुतम् ॥९६॥
इति तद्वाक्यमाकर्ण्य तथ्यं सद्धर्मसूचकम् । आसाद्याङ्गभवस्त्र्यादौ निर्वेदमिति चिन्तयन् ॥९७॥
अहो परहितार्थ्येष वक्ति मे हितकारणम् । अतोऽहं त्वरितं सारं तपो गृह्णामि मुक्तये ॥९८॥
यतो न ज्ञायते नृणां कदा मृत्युर्भविष्यति । गर्भस्थानद्यजातान् वा मारयेदन्तकोऽर्भकान् ॥९९॥
अहमिन्द्रसुरेशादीन् कालेन पातयेद् यमः । यदि तर्ह्यस्मदादीनां कात्राशा जीवितादिषु ॥१००॥
कार्यो धर्मोऽत्र वृद्धत्वे मत्वेति तं न कुर्वते । ये शठास्ते क्षणाद् यान्ति यमस्य ग्रासतामघात् ॥१०१॥
अतो विचक्षणैः कार्यः सर्वावस्थासु सोऽनिशम् । आशङ्क्य मरणं स्वस्य न कार्यं काललङ्घनम् ॥१०२॥
विचिन्त्येति हृदा धीमांस्त्यक्त्वा बाह्याभ्यन्तरोपधीन् । पिशाचीमिव तां कान्तां चाराध्य यतिसत्क्रमौ ॥
मनोवाक्कायसंशुद्ध्या प्रव्रज्यां त्रिजगन्नुताम् । जग्राह मुक्तये सारां स्वर्मुक्तिसुखमातरम् ॥१०४॥

धर्म अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहत्यागरूप है, ईर्या, भाषा, एषणा, आदान, निक्षेपण और उत्सर्गसमितिरूप है, तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिस्वरूप है। ज्ञानी जन रागसे दूर रहते हुए इन तेरह प्रकारोंसे उस धर्मकी साधना करते हैं। तथा सर्व मूल-गुणोंसे क्षमादिदश लक्षणोंसे मोह और इन्द्रिय-चोरोंको जीतकर वह परम धर्म अर्जित किया जाता है ॥९०-९२॥ हे धीमन्, तुम्हें इस मुनि-विषयक धर्मका अनुष्ठान करना चाहिए। हे भव्य, बाल्यकाल होनेपर भी तुम काम आदि शत्रुओंको तपरूपी खड्गसे शीघ्र नाश कर अपने चित्तमें उक्त धर्मको धारण करो और अपनेको धर्मसे अलंकृत करो। धर्मके लिए तुम घर आदिको छोड़ो, धर्मके सिवाय तुम अन्य कुछ भी आचरण मत करो, धर्मकी शरण जाओ, धर्म में ही निरन्तर संलग्न रहो और यह करके सदा यही प्रार्थना करो कि हे धर्म, तू मेरी रक्षा कर ॥९३-९५॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या है, तू मोहमहाभटको मारकर सर्व प्रयत्नसे मुक्ति प्राप्तिके लिए शीघ्र उत्तम धर्मको स्वीकार कर ॥९६॥

इस प्रकार उन मुनिराजके तथ्यपूर्ण, सद्-धर्मसूचक वाक्य सुनकर संसार, शरीर और स्त्री आदिमें वैराग्यको प्राप्त होकर वह इस प्रकार सोचने लगा—अहो, पर-हितके इच्छुक ये मुनिराज, मेरे हितके कारणभूत इन वचनोंको कह रहे हैं, अतः मैं मुक्तिके लिए शीघ्र ही सारभूत तपको ग्रहण करता हूँ ॥९७-९८॥ क्योंकि यह ज्ञात नहीं होता है कि मनुष्यों-की कब मृत्यु होगी? यह यमराज गर्भस्थोंको और आज ही उत्पन्न हुए बच्चोंको मार डालता है ॥९९॥ जब यह यम अहमिन्द्र और देवेन्द्र आदिको भी कालसे—समय आने पर—मार गिराता है, तब हमारे-जैसे दीन पुरुषों की तो इस जीवन आदिमें क्या आशा की जा सकती है ॥१००॥ 'हम धर्म बुढ़ापा आनेपर करेंगे।' ऐसा मानकर जो शठ पुरुष यथासमय धर्म नहीं करते हैं, वे पापोदयसे क्षणभरमें यमके ग्रासपनेको प्राप्त होते हैं ॥१०१॥ इसलिए चतुरजनोंको अपने मरणकी प्रतिसमय आशंका करके सभी अवस्थाओंमें निरन्तर धर्म करना चाहिए और कालका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। अर्थात् धर्म-सेवनमें प्रमाद नहीं करना चाहिए ॥१०२॥ ऐसा हृदयमें विचारकर और अपनी कान्ताको पिशाची समझकर उस बुद्धिमान् कनकोज्ज्वल विद्याधरने बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहको छोड़कर एवं साधुके चरणोंकी आराधना कर मन, वचन, कायकी शुद्धिपूर्वक तीन लोकसे पूजनीय स्वर्ग

ततोऽसावार्तरौद्रध्यानदुर्लेश्या विहाय च । प्रयत्नेन शुभा धर्मशुक्ललेश्या भजन् सदा ॥१०५॥
विकथालापवार्तादींस्त्यक्त्वा धर्मकथाः पराः । सिद्धान्तपठनं कुर्वन् सतां धर्मोपदेशनम् ॥१०६
सरागस्थानलोकादीनुत्सृज्य ध्यानसिद्धये । गुहावनश्मशानाद्रिनिर्जनेषु वसन् सुधीः ॥१०७॥
अटवीग्रामदेशादीन् विहरन्निर्ममाशयः । द्विषड्भेदं तपोऽत्यर्थमाचरन् कर्महानये ॥१०८॥
इत्याद्यन्यत्प्रशस्तं च सर्वान् मूलगुणान् परान् । यत्याचारोक्तमार्गेण प्रतिपाल्य च संयमम् ॥१०९॥
अनघं मृत्युपर्यन्तं चान्ते संन्यासमाददौ । हित्वा चतुर्विधाहारान् स्वाङ्गादौ ममतां मुनिः ॥११०॥
ततो जित्वातिधैर्येण क्षुत्तृषादिपरीषहान् । स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य मुक्तिश्रीसाधनोद्यतः ॥१११॥
आराध्याराधनाः सर्वाः प्रयत्नेन समाधिना । धर्मध्यानेन मुक्त्वासून् निर्विकल्पमना यतिः ॥११२॥
तपोव्रतार्जिता येन स्वर्गे लान्तवनामनि । महर्द्धिकोऽमरो जातोऽनेककल्याणभूतिभाक् ॥११३॥
तत्स्वावधिना ज्ञात्वा प्राग्भवं तपसा फलम् । भूत्वा दृढमना धर्मे पुनः श्रीधर्मसिद्धये ॥११४॥
त्रिलोकस्था जिनेन्द्रार्चा अर्हतो गणिनो मुनीन् । चार्चयन् प्रणमन्नित्यं स्वर्जयन् पुण्यमूर्जितम् ॥११५॥
त्रयोदशसमुद्रायुः पञ्चहस्तोच्छ्रिताङ्गधृत् । त्रयोदशसहस्राब्दैः सुधाहारं हृदा भजन् ॥११६॥
निःक्रान्तैः सार्धषण्मासैः सुगन्धिवपुरुच्छ्वसन् । तृतीयाधोधराव्याप्तावधिचिद्विक्रियान्वितः ॥११७॥
सप्तधातुमलस्वेदातिगदिव्यशरीरभाक् । सम्यग्दृष्टिः शुभध्यानजिनपूजारतो महान् ॥११८॥
नर्तनैर्गीतवाद्याद्यैर्मधुरैः शर्मकारकैः । भुञ्जानो महतो भोगान् दिव्यदेवीभिरन्वहम् ॥११९॥
भावनां भावयन् वृत्ते दृष्टिचिद्रत्नमण्डितः । मुदास्ते सोऽमरैः सेव्यो मज्जन् शर्मामृताम्बुधौ ॥१२०॥

और मुक्तिके सुखोंकी जननी ऐसी सारभूत जिनदीक्षाको मुक्तिके लिए ग्रहण कर लिये ॥१०३-१०४॥

तत्पश्चात् वे सुज्ञानी कनकोज्ज्वल मुनि आर्त-रौद्रध्यान और दुर्लेश्याको छोड़कर, प्रयत्नके साथ शुभ धर्मध्यान और शुक्ललेश्या सदा धारण करते हुए, विकथालाप और निरर्थक वातचीतको छोड़कर उत्तम धर्मकथा करते, सिद्धान्तशास्त्रोंको पढ़ते, सज्जनोंको धर्मका उपदेश देते, सराग स्थान और सरागी पुरुषोंका संगम छोड़ते, ध्यानकी सिद्धिके लिए गुफा, वन, श्मशान, पर्वत आदि निर्जन स्थानोंमें वसते, अटवी, ग्राम, देशादिकमें ममत्व-रहित चित्त होकर विहार करते हुए कर्मोंका नाश करनेके लिए अत्यन्त उग्र वारह प्रकारका तपश्चरण करने लगे ॥१०५-१०८॥ इनको आदि लेकर अन्य प्रशस्त कर्तव्योंको तथा सभी उत्तम मूलगुणोंको यति-आचारोक्त मार्गसे पालकर, और मरण-पर्यन्त निर्दोष संयमको पालकर जीवनके अन्तमें उन्होंने संन्यासको धारण कर लिया। चारों प्रकारके आहारोंका और अपने शरीर आदिमें ममताका त्याग कर उन मुनिराज ने अतिधैर्यके साथ भूख, प्यास आदि परीषहोंको जीतकर एवं मुक्ति लक्ष्मीके साधनमें उद्यत हो अपने वीर्यको प्रकट कर सभी आराधनाओंकी प्रयत्नसे समाधिद्वारा आराधना कर, निर्विकल्पमन हो उन यतिराजने धर्म-ध्यानसे प्राणोंको छोड़ा और तपश्चरण एवं व्रत-पालनसे उपार्जित पुण्यके द्वारा वह लान्तव नामके स्वर्गमें अनेक कल्याणयुक्त विभूतिका धारक महर्द्धिक देव हुआ ॥१०९-११३॥ वहाँ पर तत्काल उत्पन्न हुए अपने अवधिज्ञानसे पूर्व भवमें किये गये तपका फल जानकर वह देव धर्ममें दृढ़चित्त हो और भी श्रीधर्मकी सिद्धिके लिए तीन लोकमें स्थित जिनेन्द्रोंकी प्रतिमाओंकी तथा अर्हन्तों, गणधरों और मुनिजनोंका नित्य पूजन-नमन करते हुए उत्कृष्ट पुण्यका उपार्जन करने लगा ॥११४-११५॥ वहाँ पर उसकी तेरह सागरोपम आयु थी, पाँच हाथ उन्नत शरीर था, तेरह हजार वर्षोंसे हृदय द्वारा अमृत-आहारको सेवन करता था, साढ़े छह मास वीतनेपर श्वासोच्छ्वास लेता था, सुगन्धित शरीर था, नीचे तीसरी पृथिवीतक व्याप्त अवधिज्ञान और इतनी ही विक्रिया करनेकी शक्तिसे सम्पन्न था, सप्तधातु, मल-मूत्र,

अथ जम्बूमति द्वीपे विषये कोशलाह्वये । अयोध्या नगरी रम्या विद्यते सज्जनैर्भृता ॥१२१॥
वज्रसेनो नृपस्तस्याः पतिरासीच्छुभोदयात् । शीलवत्याह्वया तस्य कान्ताभूच्छीलशालिनी ॥१२२॥
सोऽमरो नाकतश्च्युत्वा हरिषेणाभिधः सुतः । दिव्यलक्षणपूर्णाङ्गस्तयोः पुण्यादजायत ॥१२३॥
सबन्धुभिः कृतं भूत्या कृत्स्नं जातमहोत्सवम् । प्राप्य भोगोपभोगैश्च कौमारत्वं धियान्वितम् ॥१२४॥
अधीत्य जैनसिद्धान्तसारार्थानस्त्रविद्यया । समं धर्मादिनिष्पत्त्यै जनतानन्दकारकः ॥१२५॥
रूपलावण्यतेजोऽङ्गकान्तिदीप्त्यादिसद्गुणैः । दिव्यांशुकादिनेपथ्यैर्भूषितोऽमरवद् बभौ ॥१२६॥
ततोऽसौ यौवने वाप्य बह्वी राजसुताः शुभात् । पितुः पदं श्रियामाप्य भुनक्ति सुखमुल्वणम् ॥१२७॥
सार्धं सद्दृग्विशुद्ध्या सद्व्रतानि गृहमेधिनाम् । गार्हस्थ्यधर्मसिद्ध्यर्थं निःप्रमादेन पालयन् ॥१२८॥
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां त्यक्त्वा सावद्यमञ्जसा । भूत्वा मुनिसमो धीमान् मुक्त्यै प्रोषधमाचरन् ॥१२९॥
उत्थाय शयनात्प्रातः सामायिकस्तवादिकान् । प्रयत्नेन विधत्ते स आदौ धर्मप्रवृद्धये ॥१३०॥
पश्चाद्देवार्चनं भूत्या स्वगृहे जिनधामनि । धौताम्बरधरो भक्त्या त्रिवर्गसिद्धिदं भजन् ॥१३१॥
योग्यकाले सुपात्राय दत्ते दानं यथाविधि । प्रासुकं मधुरं दक्षः साक्षाद्भावनया यथा ॥१३२॥
अपराह्णे स्वयोग्यानि सत्कर्माणि शुभाप्तये । सामायिकादिसर्वाणि करोति जितमानसः ॥१३३॥

प्रस्वेदादिसे रहित दिव्य शरीरका धारक था, महान् सम्यग्दृष्टि, शुभध्यान और जिनपूजनमें निरत रहता था। सुखकारक नृत्य, गीत और मधुर वादित्रोंके द्वारा दिव्य देवियोंके साथ निरन्तर महान् भोगोंको भोगता हुआ, चारित्रमें भावना करता हुआ, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप रत्नसे मण्डित तथा देवोंसे सेव्य, वह देवराज सुखरूप अमृतसागरमें मग्न रहता हुआ आनन्दसे रहने लगा ॥११६–१२०॥

अथानन्तर इसी जम्बूद्वीपके कोशल नामक देशमें अयोध्या नामकी रमणीक नगरी है, जो सज्जनों से भरी हुई है। पुण्योदयसे उस नगरीका स्वामी वज्रसेन राजा था और शीलको धारण करनेवाली शीलवती नामकी उसकी रानी थी ॥१२१-१२२॥ उन दोनोंके स्वर्गसे च्युत होकर वह देव पुण्यसे दिव्य लक्षण-परिपूर्ण देहवाला हरिषेण नामका पुत्र उत्पन्न हुआ ॥१२३॥ राजाने अपने बन्धुजनोंके साथ बड़ी विभूतिसे उसका जन्ममहोत्सव एवं अन्य सभी मांगलिक विधि-विधान किये। क्रमशः भोगोपभोगोंके द्वारा बुद्धिमत्तासे युक्त उसने कुमारावस्थाको प्राप्त कर धर्मादि पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिए शस्त्रविद्याके साथ जैन सिद्धान्तके सारभूत तत्त्वार्थको पढ़कर, रूप, लावण्य, तेज, शरीर कान्ति और दीप्ति आदि सद्-गुणोंके द्वारा जनताको आनन्दित करता हुआ वह दिव्य वस्त्राभरण आदि वेष-भूषासे देवके समान शोभाको प्राप्त हुआ ॥१२४–१२६॥

तत्पश्चात् यौवनावस्थामें पुण्योदयसे बहुत-सी राजकुमारियोंको प्राप्त कर और पिताकी राज्यलक्ष्मीके पदको पाकर वह उत्तम सुखको भोगने लगा ॥१२७॥ पुनः सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके साथ गृहस्थोंके धर्मकी सिद्धिके लिए श्रावकोंके सद्-व्रतोंको प्रमादरहित होकर पालन करता, अष्टमी और चतुर्दशीको सर्व पापभोगोंका त्याग करके मुनि समान होकर वह बुद्धिमान् मुक्ति-प्राप्तिके लिए प्रोषधोपवासको पालता और प्रातःकाल शयनसे उठकर सर्वप्रथम सामायिक, तीर्थंकरस्तवन आदि आवश्यकोंको प्रयत्नके साथ करता था। पश्चात् धर्मकी वृद्धिके लिए स्नान करके धुले हुए वस्त्र पहनकर भक्तिके साथ अपने घरके जिनालयमें जाकर विभूतिके साथ देव-पूजन करके योग्यकालमें योग्य सुपात्रके लिए त्रिवर्गकी सिद्धि करनेवाले प्रासुक मधुर दानको वह चतुर यथाविधि नवधा भक्तिके साथ साक्षात् स्वयं दान देता था ॥१२८–१३२॥ अपराह्णकालमें स्वयोग्य कार्योंको करके पुनः मनको जीतनेवाला वह हरिषेण राजा पुण्यकी प्राप्तिके लिए सायंकालके समय सामायिक आदि सर्व धर्म-कार्योंको

यात्रां व्रजति सोऽर्हत्केवलियोगीन्द्रयोगिनाम् । संघेन महता साकं धर्मतीर्थप्रवृत्तये ॥१३४॥
तेभ्यः शृणोति सद्धर्मं तत्त्वाचारादिमिश्रितम् । रागहान्यै विदे भूपस्त्रिशुद्धया शर्मवारिधिम् ॥१३५॥
वात्सल्यं कुरुते धर्मी धर्माय धर्मशालिनाम् । यद्योग्यदानसन्मानैः प्रीत्या तद्गुणरञ्जितः ॥१३६॥
जिनचैत्यालयोद्धारैः प्रतिष्ठार्चादिकोटिभिः । जैनशासनमाहात्म्यं व्यनक्त्येष सदा सुधीः ॥१३७॥
यच्छक्नोति स पुण्यात्मा सर्वशक्त्या सदाचरन् । यन्न शक्नोत्यनुष्ठातुं विधत्ते तस्य भावनाम् ॥१३८॥
इत्यादिविविधाचारैः कुर्वन् धर्मं गिरा हृदा । वपुषा कारयंश्चान्यैर्भव्यैः सदुपदेशनैः ॥१३९॥
त्रिवर्गवृद्धिकृद्राज्यं पालयन् न्यायवर्त्मना । सोऽन्वभूत्परमान् भोगान् स्वपुण्योदयजान् सुधीः ॥१४०॥
इति सुकृतविपाकात् प्राप्य सद्राज्यलक्ष्मीं निरुपमसुखसारान् सोऽत्र भुङ्क्ते नरेशः ।
जगति विदितकीर्तिश्चेति मत्वा शिवाय भजत परमयत्नाच्छर्मकामाः सुधर्मम् ॥१४१॥
धर्मः प्राचरितो मया सुविधिना धर्मं भजे प्रत्यहं धर्मेणानुचरामि वृत्तममलं धर्माय नित्यं नमः ।
धर्मान्नापरमाश्रयामि शरणं धर्मस्य गच्छाम्यघाद् धर्मे लीनमना अहं भवभयान्मां पाहि धर्माघतः ॥१४२॥

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते श्रीवीर-वर्धमानचरिते सिंहादिभवसप्त-
धर्मप्राप्तिवर्णनो नाम चतुर्थोऽधिकारः ॥४॥

करता था ॥१३३॥ धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिके लिए वह बड़े भारी संघके साथ अर्हन्त, केवली, योगीन्द्र और साधुओंके दर्शन-वन्दनके लिए यात्राएँ करता था, उनसे तत्त्व और आचारादि-से मिश्रित अर्थात् द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग आदि सर्व अनुयोगयुक्त सुखके सागर उत्तमधर्म-को रागकी हानि और ज्ञानकी वृद्धिके लिए त्रियोगशुद्धिपूर्वक सुनता था ॥१३४-१३५॥ यात्राओंसे लौटकर वह हरिषेण राजा धर्मके लिए धर्म-शालियोंका उनके गुणोंसे अनुरंजित होकर प्रीतिसे यथायोग्य दान-सम्मानके द्वारा साधर्मी-वात्सल्य करता था। अर्थात् प्रीतिभोज देकर वस्त्राभूषणादिसे साधर्मी जनोंका यथोचित सम्मान करता था ॥१३६॥ वह बुद्धिमान् राजा प्राचीन जिन चैत्यालयोंका उद्धार करके तथा नाना प्रकारकी प्रतिष्ठा, पूजनादिके द्वारा सदा ही जैनशासनके माहात्म्यको जगत्में व्यक्त करता रहता था ॥१३७॥ वह पुण्यात्मा जिस कार्यको कर सकता था, उस धर्मकार्यको सर्वशक्तिसे सदा आचरण करता और जिसे करनेके लिए समर्थ नहीं होता, उस करने की भावना करता रहता था ॥१३८॥ इत्यादि अनेक प्रकारके आचरणोंसे वह स्वयं धर्म करता, तथा मन, वचन और कायसे सदुपदेशोंके द्वारा अन्य भव्य जीवोंसे कराता हुआ त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) की वृद्धि करनेवाले राज्यको न्यायमार्गसे पालन करता हुआ वह बुद्धिमान् राजा अपने पुण्योदयसे प्राप्त परम भोगोंको भोगने लगा ॥१३९-१४०॥

इस प्रकार पुण्यके परिपाकसे उत्तम राज्य-लक्ष्मीको पाकर संसारमें सर्व ओर जिसकी कीर्ति फैल रही है, ऐसा वह हरिषेण नरेश वहाँ पर सारभूत अनुपम सुखोंको भोगता हुआ समय व्यतीत करने लगा। ऐसा जानकर सुखके इच्छुक पुरुषोंको शिवपदकी प्राप्तिके लिए परम यत्नसे उत्तम धर्मका सेवन करना चाहिए ॥१४१॥

मैंने उत्तम विधिके साथ पहले धर्म आचरण किया है। मैं अब भी प्रतिदिन धर्मको सेवन करता हूँ, धर्मके द्वारा निर्मल चारित्रको पालता हूँ, ऐसे धर्मको मेरा नित्य नमस्कार है। धर्मसे अन्य किसी का मैं आश्रय नहीं लेता हूँ, किन्तु पापसे दूर रहकर धर्मकी शरण जाता हूँ। भव-भयसे डरकर मैं धर्ममें मनको संलग्न करता हूँ। हे धर्म, मुझे पाप से बचाओ ॥१४२॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति-विरचित श्री वीर-वर्धमानचरितमें सिंह आदि सात भवोंका और उनमें धर्मकी प्राप्तिका वर्णन करनेवाला चतुर्थ अधिकार समाप्त हुआ ॥४॥

पञ्चमोऽधिकारः

मंगलाचरण कर्मारातिविजेतारं वीरं वीरगणाग्रिमम् । वन्दे रुद्रकृतानेकपरीषहमरक्षमम् ॥१॥
अथान्येद्युः स कालाप्त्या हरिषेणमहीपतिः । मिथो वितर्कयेदेवं विवेकाज्ज्वलमानसे ॥२॥
किंलक्षणोऽहमेवात्मा कीदृशा वपुरादयः । अमी कीदृग्विधं चैतत्कुटुम्बं वन्धकारणम् ॥३॥
कुतो मे शाश्वतं शर्म कथमाशा विनश्यति । किं हितं चाहितं लोके किं कृत्यं किं किलेतरम् ॥४॥
अहो दृग्ज्ञानवृत्तादिगुणरूपोऽहमात्मवान् । एतेऽत्राचेतनाः पूतिगन्धयोऽङ्गादिपुद्‌गलाः ॥५॥
यथात्र मिलितं पक्षिवर्गं तुङ्गे तरौ निशि । कुले तथा कुटुम्बं च स्वस्वकार्यपरायणम् ॥६॥
निर्वाणान्नापरं किंचिच्छाश्वतं शर्म दृश्यते । विना संगपरित्यागाज्जात्वाशा न प्रणश्यति ॥७॥
तपो रत्नत्रयेभ्योऽन्यद्धितं जातु न विद्यते । मोहाक्षविषयेभ्योऽन्यन्नाहितं चाशुभाकरम् ॥८॥
अतो वैषयिकं सौख्यं विषवद्धेयमञ्जसा । तपो रत्नत्रयं सारमादेयं हितकांक्षिणा ॥९॥
तत्कृत्यं धीमतां येन हीहामुत्र सुखं यशः । तदकृत्यं तरां येन निन्दा दुःखं पराभवम् ॥१०॥
इत्यादिचिन्तनादाप्य संवेगं कर्मनाशकृत् । जगद्भोगशरीरादौ हितायाधात्स उद्यमम् ॥११॥
ततो निक्षिप्य राज्यस्य दुर्भारं लोष्टवत्तुजि । आदातुं स तपोभारं सुगमं निर्ययौ गृहात् ॥१२॥

कर्म शत्रुओंके विजेता, वीर पुरुषोंमें अग्रणी और रुद्रकृत अनेक उपसर्गों एवं परीषहोंके सहन करने में समर्थ श्री वीर जिनेन्द्रकी मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर किसी समय वह हरिषेण राजा काललब्धिकी प्राप्तिसे अपने विवेकसे निर्मल चित्तमें इस प्रकार विचारने लगा कि मेरा यह आत्मा किस स्वरूपवाला है और ये शरीर आदि किस प्रकारके स्वरूपवाले हैं ? बन्धका कारण यह कुटुम्ब किस प्रकारका है ? नित्य सुखकी प्राप्ति मुझे कैसे होगी और कैसे मेरी यह आशा विनष्ट होगी ? लोकमें मेरा हित और अहित क्या है ? यहाँ मेरा क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है ॥२–४॥ अहो, मैं दर्शन ज्ञान चारित्ररूप आत्मावाला हूँ और ये शरीरादिके पुद्‌गल अपवित्र, दुर्गन्धि और अचेतन हैं ॥५॥ जैसे यहाँ पर रात्रिके समय ऊँचे वृक्षपर पक्षियोंका समूह मिल जाता है उसी प्रकार मनुष्यकुलमें भी ये स्त्री-पुत्रादिका कुटुम्ब मिल रहा है, किन्तु सब अपने-अपने कार्यमें परायण हैं ॥६॥

यहाँ पर मोक्षके सिवाय और कहींपर भी नित्य सुख नहीं दिखता है और परिग्रहके त्यागके विना कभी भी यह आशा-तृष्णा नहीं नष्ट हो सकती है ॥७॥ यहाँपर तप और रत्नत्रयके सिवाय अन्य कोई वस्तु हित करनेवाली नहीं है । तथा मोह और इन्द्रिय-विषयोंके सिवाय अन्य कोई अहित और अशुभ करनेवाला नहीं है ॥८॥ यह इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न हुआ सुख विषके समान निश्चयसे हेय है । अतः हितके चाहनेवाले पुरुषको सारभूत तप और रत्नत्रय ग्रहण करना चाहिए ॥९॥ बुद्धिमानोंको वही कार्य करना योग्य है, जिससे इस लोक और परलोकमें सुख और यश हो । और वही कार्य अकृत्य है जिससे निन्दा, दुःख और पराभव हो ॥१०॥ इस प्रकारके चिन्तवनसे संसार, शरीर और भोग आदिमें कर्मोंका नाश करनेवाले संवेगको प्राप्त कर उसने अपने हितके लिए उद्यम किया ॥११॥ तदनन्तर लोष्टके समान राज्यके दुर्भारको पुत्रपर डालकर और सुगम तपोभारको ग्रहण करनेके लिए

श्रुतसागरनामानं योगीन्द्रं श्रुतपारगम् । आसाद्य शिरसा नत्वा त्रिःपरीत्य जगन्नुतम् ॥१३॥
बाह्यान्तःस्थाखिलान् संगांस्त्रिशुद्धया प्रविहाय सः । मुमुक्षुर्मुक्तये जैनीं दीक्षां भूपो मुदाददौ ॥१४॥
ततः कर्माद्रिघाताय तपोवज्रायुधं दधे । दुष्टाक्षारिमनोरोधि प्रशस्तं ध्यानमाचरत् ॥१५॥
एकाकी सिंहवन्नित्यं धर्मशुक्लप्रसिद्धये । कन्दराद्रिगुहारण्यश्मशानादिषु संवसेत् ॥१६॥
अटवीग्रामखेटादीन् विहरन् यत्र चांशुमान् । अस्तं याति स तत्रैव तिष्ठेद् रात्रौ दयार्द्रधीः ॥१७॥
सर्पादिसंकुले झंझावातवृष्टयादिदुःकरे । प्रावृट्काले द्रुमूले स विधत्ते योगमूर्जितम् ॥१८॥
हेमन्ते चत्वरे वासौ नदीतीरे हिमाकुले । ध्यानोष्मणा हताशेषशीतबाधाः स्थितिं भजेत् ॥१९॥
ग्रीष्मे सूर्यांशुसंतप्ते पर्वताग्रे शिलातले । कुर्याद् व्युत्सर्गमाहत्योष्णबाधां ज्ञानपानतः ॥२०॥
इत्याद्यन्यतरं घोरं कायक्लेशं सदा भजन् । बाह्यं सोऽभ्यन्तरे दक्षो ध्यानाध्ययनहेतवे ॥२१॥
गुणान् मूलोत्तरान् सर्वान् प्रतिपाल्य सुसंयमम् । आददेऽनशनं चान्ते त्यक्त्वाहारवपूंषि वै ॥२२॥
ततो दृग्ज्ञानचारित्रतपसां मुक्तिदायिनाम् । आराधनां विधायोच्चैः शोषयित्वा निजं वपुः ॥२३॥
तपोऽग्निना परित्यज्य प्राणान् सर्वससाधिना । तत्फलेन महाशुक्रे सोऽभून्महर्द्धिकोऽमरः ॥२४॥
तत्राप्यान्तर्मुहूर्तेन सहजाम्बरभूषणैः । भूषितं यौवनाढ्यं स कायं धातुमलातिगम् ॥२५॥
महतीं स्वःश्रियं वीक्ष्यासाद्यावधिः स तत्क्षणम् । ज्ञात्वा प्राग्वृत्तकं तेन सर्वं धर्मपरोऽजनि ॥२६॥

वह हरिषेण राजा घरसे निकला ॥१२॥ और श्रुत-पारगामी श्रुतसागर नामके योगीन्द्रके पास जाकर जगत्से नमस्कृत उन्हें शिरसे नमस्कार कर और तीन प्रदक्षिणा देकर, बाह्य और आभ्यन्तर समस्त परिग्रहोंको त्रिकरण-शुद्धिसे त्याग कर उस मुमुक्षु राजाने मुक्तिकी प्राप्तिके लिए हर्षके साथ दीक्षा ग्रहण कर ली ॥१३–१४॥

तत्पश्चात् कर्मरूपी पर्वतके विघातके लिए तपरूप वज्रायुधको उसने धारण किया। और दुष्ट इन्द्रिय और मनरूप शत्रुओंको रोकनेवाले उत्तम ध्यानको धारण किया ॥१५॥ वह धर्म और शुक्लध्यानकी सिद्धिके लिए पर्वतोंकी कन्दराओं, गुफाओंमें तथा वन-श्मशान आदिमें नित्य एकाकी सिंहके समान निर्भय होकर वसने लगा ॥१६॥ अटवी, ग्राम, खेट आदिमें विहार करते हुए जहाँपर सूर्य अस्त हो जाता, वहींपर वह दयार्द्र चित्त रात्रिमें ठहर जाता। वह वर्षाकालमें सर्प आदिसे व्याप्त, झंझावात और वर्षा आदिसे भयंकर वृक्षके मूलमें उत्कृष्ट योगको धारण करता, हेमन्त ऋतुमें हिमसे व्याप्त चतुष्पथपर अथवा नदीके किनारे ध्यानकी गरमीसे सर्व प्रकारकी शीतबाधाको दूर करता हुआ रहने लगा ॥१७–१९॥ ग्रीष्मकालमें सूर्यकी किरणोंसे सन्तप्त पर्वतके ऊपर शिलातलपर ज्ञानामृतके पानसे उष्ण-बाधाको दूर करता हुआ कायोत्सर्ग करता था ॥२०॥ इनको आदि लेकर अन्य अनेक बाह्य तपरूप कायक्लेशको वह चतुर मुनि आभ्यन्तर ध्यान और स्वाध्यायरूप तपोंकी सिद्धि-के लिए सदा सहने लगा ॥२१॥ इस प्रकार जीवन-भर सभी मूलगुणों, उत्तरगुणों और संयमको पालन कर अन्तमें आहार और शरीरको छोड़कर हरिषेणमुनि अनशनको ग्रहण कर लिया ॥२२॥

तत्पश्चात् मुक्तिकी देनेवाली दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों आराधनाओंकी भली भाँतिसे आराधना कर और तपरूपी अग्निसे अपने शरीरको सुखा करके सर्व प्रकारकी समाधिके साथ हरिषेण मुनिने प्राणोंको छोड़कर उसके फलसे महाशुक्र नामके स्वर्गमें महर्धिक देवपद पाया ॥२३–२४॥

वहाँपर अन्तर्मुहूर्त मात्रसे ही सर्व धातुओंसे रहित, यौवन अवस्थासे युक्त और सहज वस्त्राभूषणोंसे भूषित दिव्य देह पाकर, तथा स्वर्गकी महती विभूतिको देखकर, तत्क्षण उत्पन्न हुए अवधिज्ञानसे पूर्व भव-सम्बन्धी सर्व वृत्तान्तको जानकर वह देव धर्ममें तत्पर हो

ततः सद्धर्मसिद्ध्यर्थं गत्वा श्रीजिनमन्दिरे । चकार परमां पूजां विश्वाभ्युदयकारिणीम् ॥२७॥
जलाद्यष्टविधैर्द्रव्यैस्तत्रोत्पन्नैरच्युतोपमैः । समं तूर्यत्रिकैर्भक्त्या स्तुतिस्तवनमस्कृतैः ॥२८॥
पुनस्तिर्यङ्नृलोके च जिनमूर्तीर्जिनेशिनः । नत्वा प्रपूज्य तद्वाणीं श्रुत्वा सत्पुण्यमार्जयत् ॥२९॥
इति धर्मात्तचित्तोऽसौ चतुःकरोन्नताङ्गभाक् । षोडशाब्धिप्रमायुष्कः शुभलेश्याः शुभाशयः ॥३०॥
चतुर्थावनिपर्यन्तं मूर्तिवस्तुचराचरम् । जानन् स्वावधिना युक्तो विक्रियर्द्धि च तत्समाम् ॥३१॥
गतैर्गृह्णन् सुधाहारं सहस्रवर्षषोडशैः । भजन् सुगन्धिमुच्छ्वासं पक्षैः षोडशभिर्गतैः ॥३२॥
प्राक्तपश्चरणोत्पन्नान् दिव्यान् भोगाननारतम् । स्वदेवीभिर्महाभूत्या भुञ्जानोऽनल्पशर्मदान् ॥३३॥
निरौपम्यान् नृलोकेऽस्मिन् धर्मध्यानपरायणः । मुदास्ते निर्जरस्तत्र निमग्नः सुखसागरे ॥३४॥
अथ सद्धातकीखण्डे द्वीपे पूर्वाभिधानके । विदेहे पूर्वसंज्ञेऽस्ति विषयः पुष्कलावती ॥३५॥
प्रागुक्तवर्णना तत्र नगरी पुण्डरीकिणी । महती शाश्वता दिव्या चक्रिभोग्या हि विद्यते ॥३६॥
पतिस्तस्याः सुमित्राख्यो नरेशोऽभूत् सुपुण्यवान् । राज्ञी तस्याभवद्रम्या सुव्रताख्या व्रताङ्किता ॥३७॥
महाशुक्रात्स आगत्य देवोऽतिदिव्यलक्षणः । प्रियमित्राभिधो जातस्तयोः पुत्रो जगत्प्रियः ॥३८॥
तत्पितास्य विभूत्यादौ कृत्वार्हतां जिनालये । महाभिषेकसत्पूजां विश्वाभ्युदयशर्मदाम् ॥३९॥
दत्त्वा दानानि बन्धुभ्योऽनाथबन्दिभ्य एव च । सुतूर्यत्रिककेत्वाद्यैर्व्यधाज्जातमहोत्सवम् ॥४०॥
द्वितीयाचन्द्रवद्विश्वजनतानन्दवर्धकः । सुरूपातिशयैर्योग्यैः पयःपानान्नवस्तुभिः ॥४१॥

गया ॥२५-२६॥ तत्पश्चात् उत्तम धर्मकी सिद्धिके लिए श्री जिनमन्दिरमें जाकर समस्त लौकिक सुखोंकी सिद्ध करनेवाली परमपूजा, स्वर्गमें उत्पन्न हुए अनुपम जलादि अष्टविध द्रव्योंसे भक्ति-द्वारा तीनों प्रकार के बाजों के साथ, स्तुति, स्तवन और नमस्कार पूर्वक की ॥२७-२८॥ पुनः तिर्यग्लोक और मनुष्यलोकमें जिनेन्द्रोंकी जिनप्रतिमाओंकी पूजा करके नमस्कार कर और जिनराजोंकी वाणीको सुनकर ब्रह्मदेवने उत्तम पुण्यको उपार्जन किया ॥२९॥ इस प्रकार वह देव सदा धर्ममें चित्त लगाकर अपना समय व्यतीत करने लगा। उसका शरीर चार हाथ उन्नत था, सोलह सागरोपम आयु थी, शुभलेश्या और शुभमनोवृत्ति थी ॥३०॥ चौथी पृथिवीतक अपने अवधिज्ञानसे सभी मूर्तिके चराचर वस्तुओंको जानता हुआ वहाँ तककी विक्रिया ऋद्धिकी शक्तिसे युक्त था। सोलह हजार वर्ष बीतने पर वह अमृत-आहारको ग्रहण करता था, और सोलहपक्ष बीतनेपर सुगन्धित उच्छ्वास लेता था ॥३१-३२॥ पूर्वभवमें किये गये तपश्चरणसे उत्पन्न हुए, भारी सुख देनेवाले दिव्य भोगोंको महाविभूतिसे अपनी देवियोंके साथ निरन्तर भोगने लगा। वहाँके अनुपम भोगोंकी इस मनुष्य लोकमें कोई उपमा नहीं है। इस प्रकार वह देव आनन्दसे सुख-सागरमें निमग्न रहने लगा ॥३३-३४॥

अथानन्तर उत्तम धातकीखण्ड द्वीपके पूर्वभागवर्ती पूर्व विदेहमें पुष्कलावती नामका देश है। वहाँ पर पूर्वोक्त वर्णनवाली पुण्डरीकिणी नगरी है जो विशाल, शाश्वती, दिव्य और चक्रवर्ती द्वारा भोग्य है ॥३५-३६॥ उस नगरीका स्वामी सुमित्र नामका अतिपुण्यवान् राजा था। उसकी व्रत-भूषित सुव्रता नामकी सुन्दरी रानी थी। उन दोनोंके महाशुक्र विमानसे आकर वह देव दिव्यलक्षणवाला, जगत्प्रिय, प्रियमित्र नामका पुत्र हुआ। जन्म होनेपर उसके पिताने भारी विभूतिके साथ सर्वप्रथम जिनालयमें जाकर समस्त अभ्युदय सुखोंको देनेवाली महाभिषेक पूर्वक उत्तम पूजा की ॥३७-३९॥ पुनः बन्धुजनोंको, अनाथों और बन्दी लोगोंको दान देकर तीन प्रकारके बाजोंके साथ ध्वजा आदि फहराकर पुत्रका जन्ममहोत्सव मनाया ॥४०॥ वह बालक समस्त जनताके आनन्दको बढ़ाता हुआ, अतिशय सुन्दर रूपसे, योग्य दुग्ध-पान, अन्नाहार आदि वस्तुओंसे, कीर्ति, कान्ति और शरीरके भूषणोंसे द्वितीयाके चन्द्रमाके समान वृद्धिको प्राप्त होकर दिक्कुमार या देवकुमारके समान अत्यन्त शोभाको

क्रमतो वृद्धिमासाद्य कीर्तिकान्त्यङ्गभूषणैः । महान् भाति कुमारोऽसौ [1]दिक्कुमार इवोर्जितः ॥४२॥
ततः सोऽध्यापकं जैनं प्राप्य धर्मार्थसिद्धये । पपाठ सुधिया सारां विद्यां धर्मार्थसूचिनीम् ॥४३॥
यौवने तु महामण्डलेश्वरश्रीसमन्वितम् । पितुः पदं समाप्यैष भुनक्ति सुखमुल्वणम् ॥४४॥
तदास्याद्भुतपुण्येन प्रादुरासन् स्वयं क्रमात् । चक्रादिसर्वरत्नानि निधयो नव चोर्जिताः ॥४५॥
ततोऽसौ परया भूत्या षडङ्गबलवेष्टितः । भ्रान्त्वा षट्खण्डभूभागं नरखेचरनायकान् ॥४६॥
आक्रम्य मागधादींश्च व्यन्तरेशान् सुहेलया । महिम्नैव वशे स्वस्य चक्रे चक्रादिसाधनैः ॥४७॥
तेभ्यः कन्यादिरत्नानि सारवस्तूनि चक्रभृत् । आदाय परया लक्ष्म्यालंकृतः सुरराजवत् ॥४८॥
निवृत्य लीलया स्वस्य पुरीं सुरपुरीमिव । प्राविशत् खगमर्त्येन्द्रैर्व्यन्तरेशैः समं मुदा ॥४९॥
अस्यासन् परपुण्येन खभूचरनृपात्मजा । षण्णवति-सहस्राणि रूपलावण्यखानयः ॥५०॥
राजानो मौलिबद्धा द्वात्रिंशत्सहस्रसंख्यकाः । नमन्त्यस्य पदद्वन्द्वं स्वमूर्ध्नाज्ञाविधायिनः ॥५१॥
चतुरशीतिलक्षाः स्युर्गजास्तुङ्गमनोहराः । तावन्तश्च रथा अष्टादशकोटितुरङ्गमाः ॥५२॥
चतुरशीतिकोट्यश्च शीघ्रगामिपदातयः । गणबद्धामरास्तस्य सहस्रषोडशप्रमाः ॥५३॥
अष्टादशसहस्रप्रमाम्लेच्छवसुधाभुजः । सेवन्ते तस्य पादाब्जौ नृविद्येशामरार्चितौ ॥५४॥
सेनापतिः स्थपत्याख्यः स्त्री हर्म्यपतिरेव हि । पुरोहितो गजोऽश्वो दण्डश्चक्रं चर्म काकिणी ॥५५॥
मणिश्छत्रमसिश्चेति रत्नानि स्युश्चतुर्दश । राज्यभोगाङ्गकर्तॄणि रक्षितान्यमरैः प्रभोः ॥५६॥
पद्मः कालो महाकालः सर्वरत्नो हि पाण्डुकः । नैसर्पो माणवः शङ्खः पिङ्गलोऽमी शुभोदयात् ॥५७॥
निधयो नव संरक्ष्या देवैश्चक्रभृतो गृहे । भोगोपभोगवस्तूनि पूरयन्ति क्षयोज्झिताः ॥५८॥

प्राप्त हुआ ॥४१-४२॥ पुनः जैन अध्यापकको प्राप्त होकर उसने धर्म और अर्थकी सिद्धिके लिए धर्म और अर्थको प्रकट करनेवाली सारभूत विद्याको उत्तम बुद्धि से पढ़ा ॥४३॥ यौवन अवस्थामें महामण्डलेश्वरकी राज्यलक्ष्मीसे युक्त पिताके पदको पाकर यह उत्तम सुखको भोगने लगा ॥४४॥ तत्पश्चात् उसके अद्भुत पुण्यसे स्वयं ही चक्र आदि सभी चौदह रत्न और उत्कृष्ट नवों निधियाँ क्रमसे प्रकट हुईं ॥४५॥ पुनः षडंग सेनासे वेष्टित उसने भारी विभूतिके साथ पट्खण्ड भूभागपर परिभ्रमण करके मनुष्य और विद्याधरोंके स्वामियोंपर आक्रमण कर चक्र आदि साधनोंके द्वारा उन्हें जीता। तथा मागधादिक व्यन्तर देवोंको अपनी महिमासे ही क्रीडापूर्वक अपने वशमें कर लिया ॥४६-४७॥ इस प्रकार उस चक्रवर्तीने उन राजा लोगोंसे कन्या आदि रत्नोंको और अन्य सारभूत वस्तुओंको लेकर उत्कृष्ट लक्ष्मीसे अलंकृत हो देवेन्द्रके समान लौटकर लीलासे स्वर्गपुरीके तुल्य अपनी पुरीमें विद्याधरेन्द्रों और व्यन्तरेन्द्रोंके साथ प्रवेश किया ॥४८-४९॥ इस प्रियमित्र चक्रवर्तीके परम पुण्यसे विद्याधर और भूमिगोचरी राजाओंसे उत्पन्न हुई, रूप और लावण्यकी खानि ऐसी छियानवे हजार रानियाँ थीं। बत्तीस हजार आज्ञाकारी मुकुटबद्ध राजा लोग अपने मस्तकोंसे इसके दोनों चरणोंको नमस्कार करते थे ॥५०-५१॥ उन्नत एवं मनोहर चौरासी लाख हाथी थे, चौरासी लाख ही रथ थे और अठारह करोड़ घोड़े थे ॥५२॥ चौरासी करोड़ शीघ्रगामी पैदल चलनेवाले सैनिक थे। सोलह हजार गणबद्ध देव, तथा अठारह हजार म्लेच्छ राजा लोग मनुष्य, विद्याधर और देवोंसे पूजित उसके चरणोंकी सेवा करते थे ॥५३-५४॥ उस चक्रवर्ती सेनापति, स्थपति, गृहपति, पट्टरानी, पुरोहित, गज, अश्व, दण्ड, चक्र, चर्म, काकिणी, मणि, छत्र और खड्ग ये चौदह रत्न थे जो कि राज्य-सुख और भोगके करनेवाले थे, तथा देवोंसे रक्षित थे ॥५५-५६॥ पुण्यके उदयसे उस चक्रवर्तीके घरमें देवोंके द्वारा

---

१. अ कुमारो सुरकुमार० ।

कोटीषण्णवतिः ग्रामा देशखेटपुरादयः । सौधायुधाङ्गभोगाद्याश्चक्रियोग्या विभूतयः ॥५९॥
निःशेषा अस्य विज्ञेया आगमोक्ताः सुखाकराः । जाता पुण्यप्रभावेण षट्खण्डप्रभवाः पराः ॥६०॥
इमामन्यां परां लक्ष्मीं चासाद्य नृसुरार्चितः । दशाङ्गभोगवस्तूनि भुङ्क्तेऽसौ सुखमुल्बणम् ॥६१॥
धर्मात्सर्वार्थसंसिद्धिरर्थात्कामसुखं महत् । तत्त्यागात्परधर्मेण मुक्तिश्च जायते सताम् ॥६२॥
मत्वेत्येष सुधीर्नित्यं मनोवाक्कायकर्मभिः । कृताद्यैः प्रेरणैश्चैकं विधत्ते धर्ममुत्तमम् ॥६३॥
ततोऽतिदृग्विशुद्धिं स निःशङ्कादिगुणोत्करैः । पालयेन्निरतिचाराणि व्रतानि ह्यगारिणाम् ॥६४॥
चतुःपर्वसु पापघ्नान् कुरुते प्रोषधान् सदा । निरारम्भः शुभध्यानपरो मुक्त्यै यमीव सः ॥६५॥
कारयित्वा बहून् तुङ्गान् हेमरत्नैर्जिनालयान् । बह्वीर्जिनेन्द्रमूर्तीः प्रतिष्ठां तासां च भक्तितः ॥६६॥
स्वालये चैत्यगेहेषु सामग्र्या परयान्वहम् । अर्चयेदर्हतां दिव्याः प्रतिमास्तद्गुणाय सः ॥६७॥
ददाति मुनये दानं प्रासुकं विधिपूर्वकम् । कीर्तिपुण्यमहाभोगप्रदं भक्त्या हिताप्तये ॥६८॥
निर्वाणभूमितीर्थेशतद्बिम्बगणियोगिनाम् । वन्दनार्चनभक्त्यर्थं व्रजेद्यात्रां स धर्मधीः ॥६९॥
शृणोति स्वजनैः सार्धं चाङ्गपूर्वाणि धीधनः । वैराग्याय द्विधा धर्मं जिनेशगणभृद्ध्वनेः ॥७०॥
स सामायिकमापन्नो ह्यहोरात्रकृताशुभम् । विवेकी क्षपयेन्नित्यं स्वनिन्दागर्हणादिकैः ॥७१॥
इत्याद्यैः स शुभाचारैः कुर्याद्धर्मं स्वयं सदा । कारयेदुपदेशेन भृत्यस्वजनभूभृताम् ॥७२॥

संरक्षित पद्म, काल, महाकाल, सर्वरत्न, पाण्डुक, नैसर्प, माणव, शंख और पिंगल ये नौ निधियाँ थीं, जो कि सदा अक्षयरूप से भोग–उपभोगकी वस्तुओंको पूरती रहती थीं ॥५७-५८॥ उस चक्रवर्तीके छियानवे करोड़ ग्राम, देश, खेट और नगर आदि थे। तथा चक्रवर्तीके योग्य ही राजप्रासाद, आयुध और शरीरके भोग आदि विभूतियाँ थीं ॥५९॥ इस प्रकार पुण्यके प्रभावसे षट्खण्डोंमें उत्पन्न हुई, सुखोंकी खानिरूप सभी आगमोक्त उत्कृष्ट विभूति उस चक्रवर्तीकी जानना चाहिए ॥६०॥ इस उपर्युक्त तथा अन्य भी उत्तम लक्ष्मीको पाकर देव और मनुष्योंसे पूजित वह चक्रवर्ती दशांगभोग वस्तुओंको और उत्कृष्ट सुखको भोगता था ॥६१॥

धर्मसे सर्व अर्थकी भले प्रकार सिद्धि होती है, अर्थसे महान् कामसुख प्राप्त होता है और उसके त्यागसे सज्जनोंको मुक्ति प्राप्त होती है। ऐसा समझकर वह बुद्धिमान् चक्रवर्ती मन, वचन, कायसे स्वयं ही नित्य उत्तम धर्म करता था, तथा प्रेरणा करके दूसरोंसे उत्तम धर्मका आचरण कराता था ॥६२-६३॥ इसके पश्चात् वह चक्रवर्ती अपने सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिको निःशंकित आदि गुणोंके समुदायसे बढ़ाने लगा, श्रावकोंके व्रतोंको निरतिचार पालने लगा, मासके चारों पर्वोंमें पापके विनाशक प्रोषधोपवासोंको सदा आरम्भ-रहित और शुभध्यानमें तत्पर होकर मुक्ति-प्राप्तिके लिए साधुके समान करने लगा ॥६४-६५॥ स्वर्ण-रत्नोंसे बहुत-से ऊँचे जिनालयोंको बनवा करके, तथा बहुत-सी जिनमूर्तियोंका निर्माण कराके और भक्तिसे उनकी प्रतिष्ठा कराके अपने घरमें तथा जिनालयोंमें विराजमान करके प्रतिदिन उत्कृष्ट सामग्रीसे उनके गुण प्राप्त करने के लिए वह चक्रवर्ती उन दिव्य प्रतिमाओंका पूजन करता था ॥६६-६७॥ मुनियोंके लिए आत्म-हितार्थ, भक्तिसे विधिपूर्वक कीर्ति, पुण्य और महाभोगप्रद प्रासुक दान देता था ॥६८॥ वह धर्मबुद्धिवाला चक्रवर्ती निर्वाणभूमियों-की, तीर्थंकरोंकी उनके प्रतिबिम्बोंकी, गणधर और योगिजनोंकी वन्दना, पूजन और भक्ति करनेके लिए यात्राको जाता था ॥६९॥ वह बुद्धिमान् तीर्थंकर देव और गणधरोंकी दिव्यध्वनिसे स्वजनोंके साथ अंग और पूर्वोंको तथा वैराग्यके लिए मुनि-श्रावकके धर्मको सुनता था ॥७०॥ वह विवेकी सामायिकको प्राप्त होकर दिन-रातमें किये गये अशुभ कार्योंको अपनी निन्दा-गर्हणा आदि करके नित्य क्षपित करता था ॥७१॥ इत्यादि शुभ आचारोंके

ततोऽसौ धर्ममूर्तिर्वा बभौ विश्वमहीभुजाम् । मध्ये श्रीजिनदेवो वामराणां पुण्यचेष्टितैः ॥७३॥
अथैकदा नरेशोऽसौ क्षेमंकरजिनेश्वरम् । वन्दितुं परिवारेण विभूत्यामा ययौ मुदा ॥७४॥
त्रिःपरीत्य जिनेन्द्रं तं नत्वा मूर्ध्ना प्रपूज्य सः । भक्त्या दिव्यार्चनाद्रव्यैर्नृकोष्ठे स उपाविशत् ॥७५॥
तद्धिताय जिनाधीशोऽसौ दिव्यध्वजिनानघम् । गणान् प्रतीत्यनुप्रेक्षापूर्वकं धर्ममादिशत् ॥७६॥
आयुर्विश्ववपुर्भोगराज्यश्रीखसुखादिकान् । शम्पा इव चलान् ज्ञात्वाराध्यो मोक्षोऽचलो बुधैः ॥७७॥
मृत्युरुक्क्लेशदुःखादेर्न जन्तोः शरणं क्वचित् । धर्मं विनेति मत्वाहो कर्तव्यस्तत्क्षयाय सः ॥७८॥
विश्वदुःखाकरीभूतं घोरं संसारसागरम् । विज्ञायात्र तदन्ताप्त्यै सेव्यं रत्नत्रयं महत् ॥७९॥
एकाकिनं विदित्वा स्वं जन्ममृत्युजरादिषु । ध्येयो ह्येको जिनेन्द्रो वा स्वात्मैकत्वपदाप्तये ॥८०॥
अन्यत्वं स्वात्मनो ज्ञात्वा वपुरादेश्च निश्चयात् । मरणादौ स्वसिद्ध्यर्थं त्यक्त्वाङ्गादीन् हितं चर ॥८१॥
सप्तधातुमयं निन्द्यं पूतिगन्धि कलेवरम् । यमागारं सुधीर्वीक्ष्य कथं न धर्ममाचरेत् ॥८२॥✓
कर्मास्रवेण जीवानां संपातोऽत्र भवार्णवे । मत्वेति सुधिया ग्राह्या दीक्षायास्रवहानये ॥८३॥
संवरेण सतां नूनं मुक्तिश्रीर्जायते तराम् । ज्ञात्वेति स विधेयोऽत्र मुक्त्यै मुक्त्वा गृहाश्रमम् ॥८४॥
यदात्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणां तपसा सताम् । तदैव मुक्तिरामेति ज्ञात्वा कार्यं तपोऽनघम् ॥८५॥
परमार्थेन विज्ञाय दुःखैः पूर्णं जगत्त्रयम् । चानन्तशर्मदं मोक्षं तदाप्त्यै संयमं भज ॥८६॥

द्वारा वह सदा स्वयं धर्म करता था और उपदेश देकरके अपने भृत्यों, स्वजनों एवं राजाओंसे कराता था ॥७२॥ इस प्रकार वह समस्त राजाओंके मध्यमें अपनी पुण्य चेष्टाओंसे धर्ममूर्तिके समान शोभाको प्राप्त हुआ, जैसे कि देवोंके मध्यमें जिनदेव शोभाको प्राप्त होते हैं ॥७३॥

इसके पश्चात् एक दिन वह चक्रवर्ती अपने परिवारके साथ बड़ी विभूतिसे हर्षित होता हुआ क्षेमंकर जिनेश्वरकी वन्दना करनेके लिए गया ॥७४॥ वहाँपर उन जिनेन्द्रदेवको तीन प्रदक्षिणा देकर, मस्तकसे नमस्कार करके और भक्तिसे दिव्य पूजन-द्रव्यों द्वारा पूजा करके मनुष्योंके कोठेमें जा बैठा ॥७५॥ तब जिनेश्वरदेवने उसके हितके लिए दिव्यध्वनि द्वारा सर्वगणोंको लक्ष्य करते हुए प्रतीति (श्रद्धा) और अनुप्रेक्षापूर्वक धर्मका उपदेश दिया ॥७६॥ भगवान्ने कहा—आयु, शरीर, भोग, राज्यलक्ष्मी और इन्द्रियोंके सुख आदिक सभी संसारकी वस्तुओंको बिजलीके समान चंचल अनित्य जानकर ज्ञानियोंको अचल मोक्षकी आराधना करनी चाहिए ॥७७॥ मृत्यु, रोग, क्लेश और दुःखादिसे प्राणीको शरण देनेवाला धर्मके बिना कहीं पर भी और कोई नहीं है, अतः ऐसा समझकर दुःखोंके क्षय करनेके लिए अहो भव्यजीवो, तुम्हें धर्म करना चाहिए ॥७८॥ यह घोर संसार-सागर सर्व दुःखोंका भण्डार है, ऐसा समझकर उसके अन्त करनेके लिए महान् रत्नत्रय धर्मका सेवन करना चाहिए ॥७९॥ जन्म, मरण और जरा आदि अवस्थाओंमें अपनेको अकेला समझकर एकत्वकी प्राप्तिके लिए एकमात्र जिनेन्द्रदेवका अथवा अपनी शुद्ध आत्माका ध्यान करना चाहिए ॥८०॥ अपने आत्माको शरीरादिसे भिन्न जानकर निश्चयसे आत्मसिद्धिके लिए मरणादिके समय शरीरादिको छोड़कर हितका आचरण करना चाहिए ॥८१॥ यह शरीर सप्तधातुमय है, निन्द्य है, पूति गन्धवाला है और यमका घर है, ऐसा देखकर ज्ञानी जन क्यों नहीं धर्मका आचरण करें ॥८२॥ कर्मोंके आस्रवसे जीवोंका संसार-समुद्रमें पतन होता है, ऐसा मानकर आस्रवकी हानिके लिए ज्ञानी जनोंको दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए ॥८३॥ संवरके द्वारा सन्त जनोंको नियमसे मुक्तिश्री शीघ्र प्राप्त होती है, ऐसा जानकर गृहाश्रम छोड़के मुक्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिए ॥८४॥ जब तपके द्वारा सर्व कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है, तभी सज्जनोंको मुक्तिरामा प्राप्त होती है, ऐसा जानकर सबको निर्दोष तप करना चाहिए ॥८५॥ परमार्थसे इस जगत्त्रयको दुःखोंसे भरा हुआ जानकर और

मर्त्यजन्मकुलारोग्यायुर्धीदृक्चिद्यमादिकान् । विबुध्य दुर्लभान् सुष्ठु यतध्वं स्वहिते बुधाः ॥८७॥
धर्मः श्रीकेवलिप्रोक्तस्त्रिजगच्छ्रीसुखाकरः । हन्ता भवाद्यदुःखानां कर्त्तव्यः सर्वयत्नतः ॥८८॥
दृक्चिद्वृत्ततपोयोगैः क्षान्त्याद्यैर्दशलक्षणैः । निहत्य मोहसंतानं मुमुक्षुभिः शिवाप्तये ॥८९॥
सुखिना विधिना धर्मः कार्यः स्वसुखवृद्धये । दुःखिना दुःखघाताय सर्वथा चेतरैर्जनैः ॥९०॥
स एव पण्डितो धीमान् स एव सुखभाग्भवेत् । स एव जगतां पूज्यः स एव महतां गुरुः ॥९१॥
यो विहायान्यकर्माणि स्वालम्बनशतानि च । करोति निर्मलाचारैर्धर्ममेकं प्रयत्नतः ॥९२॥
मत्वेति सुधिया स्वायुर्भङ्गुरं च जगत्त्रयम् । त्यक्त्वाहिबिलवद् गेहं धर्मः कार्योऽत्र निस्तुषः ॥९३॥
इत्यस्य ध्वनिना चक्री ज्ञात्वानित्यं जगत्त्रयम् । निर्विण्णः स्वाङ्गराज्यादौ मत्वा हृदीत्यचिन्तयत् ॥९४॥
अहो भुक्ता जगत्सारा मया भोगा जडात्मना । तथापि न मनाग् जाता तृप्तिस्तैर्मे खशर्मणि ॥९५॥
अतो ये विषयासक्ता ईहन्ते भोगसेवनैः । तृष्णानाशं च तैलेन तेऽग्निशान्तिं जडाशयाः ॥९६॥
यथा यथा नरान् प्राप्यार्था आयान्ति भोगसंपदः । तथा तथा निरुद्धाशा विसर्पति जगत्त्रयम् ॥९७॥
येन कायेन भुज्यन्ते भोगाः साक्षात् स दृश्यते । पूतिगन्धोऽतिनिःसारो विष्टाकृमिमलालयः ॥९८॥
शरीरं गृह्यते यस्मिन् संसारे स विलोक्यते । कृत्स्नाशर्माकरीभूतः पराधीनो दुराशयः ॥९९॥
राज्यं रजोनिभं नूनं सर्वपापनिबन्धनम् । कामिन्य एनसां खन्यो बन्धवो बन्धनोपमाः ॥१००॥

मोक्षको अनन्त सुखका देनेवाला समझकर उसकी प्राप्तिके लिए हे भव्यो, संयमको धारण करो ॥८६॥ इस संसारमें मनुष्य जन्म, उत्तम कुल, आरोग्य, पूर्ण आयु, उत्तम बुद्धि, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और संयम आदिको उत्तरोत्तर दुर्लभ जानकरके ज्ञानियोंको आत्म-हितमें सम्यक् प्रकार प्रयत्न करना चाहिए ॥८७॥ श्री केवलि प्रणीत धर्म ही जगत्में श्री और सुखका भण्डार है और संसारके दुःखोंका विनाशक है, इसलिए सर्व प्रयत्नसे धर्म करना चाहिए ॥८८॥

वह धर्म सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपके योगसे, तथा क्षमा आदि दश लक्षणोंसे प्राप्त होता है। अतः मुमुक्षु जनोंको शिवप्राप्तिके लिए मोह-सन्तानका नाश कर उस धर्मका सेवन करना चाहिए ॥८९॥ सुखी जनोंको अपने सुखकी वृद्धिके लिए, तथा दुःखी जनोंको अपने दुःखोंके नाशके लिए तथा सर्व साधारण लोगोंको दोनों कार्योंके लिए सर्व प्रकारसे धर्म करना चाहिए ॥९०॥ संसारमें वही पुरुष पण्डित है, वही बुद्धिमान् है, वही जगत्का पूज्य है, वही महापुरुषोंका माननीय है और वही सुखका भागी होता है जो अपने आश्रित सैकड़ों अन्य कार्योंको छोड़कर प्रयत्नपूर्वक निर्मल आचरणोंके द्वारा एकमात्र धर्मको करता है ॥९१-९२॥ ऐसा समझकर अपनी आयु और तीन जगत् को क्षण-भंगुर मानकर तथा शरीरको सर्पके बिल समान छोड़कर निर्द्वन्द्व हो धर्म करना चाहिए ॥९३॥

इस प्रकार क्षेमंकर तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिसे चक्रवर्तीने तीन जगत्को अनित्य जानकर और अपने शरीर, राज्यादिसे विरक्त होकर हृदयमें यह विचारने लगा—अहो, मुझ जड़ात्माने जगत्में सारभूत सभी भोगोंको भोगा है, तथापि उनसे मेरे इन्द्रिय-सुखमें जरा-सी भी तृप्ति नहीं हुई है, अतः जो विषयासक्त जन भोगोंके सेवनसे तृष्णाके नाशकी इच्छा करते हैं, जड़ाशय (मूर्ख) तेलसे अग्निको शान्त करना चाहते हैं ॥९४-९६॥ जैसे-जैसे इच्छित भोग सम्पदाएँ मनुष्योंके समीप आती हैं वैसे-वैसे ही उसकी आशाएँ तीन जगत्में फैलती जाती हैं ॥९७॥ जिस शरीरसे ये भोग भोगे जाते हैं, वह साक्षात् पूति गन्धवाला, निःसार और विष्टा, कृमि एवं मलका घर दिखाई देता है ॥९८॥ जिस संसारमें यह शरीर ग्रहण किया जाता है, वह समस्त दुःखोंकी खानिरूप, पराधीन और दुर्विपाकरूप दिखाई देता है ॥९९॥ यह राज्य निश्चयसे धूलिके समान है और सर्व पापोंका कारण है। ये

वेश्येव श्रीर्बुधैर्निन्द्या सुखं वैषयिकं कटु । हालाहलसमं सर्वं भङ्गुरं विश्वसंभवम् ॥१०१॥
बहुनोक्तेन किं साध्यं विना रत्नत्रयं नृपः । न किंचिद् विद्यते सारं हितं वा त्रिजगत्स्वपि ॥१०२॥
अतोऽहमधुना छित्वा मोहजालं शुभातिगम् । ज्ञानासिना जगत्पूज्यां दीक्षां गृह्णामि मुक्तये ॥१०३॥
इयन्ति मे दिनान्यत्र संयमेन विना वृथा । गतानि विषयासक्तस्यातः किं काललङ्घनम् ॥१०४॥
विचिन्त्येति पदं दत्वा सर्वमित्राख्यसूनवे । निधिरत्नादिभिः सार्धं श्रियं हत्वा तृणादिवत् ॥१०५॥
मिथ्यात्वाद्युपधीन् सर्वानन्तरे च नराधिपः । जग्राहाश्वार्हतीं मुद्रां मुक्तये मुक्तिकारिणीम् ॥१०६॥
दुर्लभां त्रिजगल्लोके देवतिर्यक्कुजन्मिनाम् । सहस्रभूमिपैः साकं संवेगादिगुणान्वितैः ॥१०७॥
ततोऽसौ महतीशक्त्या कुर्वन् घोरं द्विधा तपः । ध्यानाध्ययनसाराणि निःप्रमादश्च सन्मुनिः ॥१०८॥
मूलोत्तरगुणान् सम्यक् पालयन्निर्जिताशयः । त्रिकालयोगमापन्नस्त्रिगुप्त्यात्मा निरास्रवः ॥१०९॥
स्थितिं भजन् जनातीताटवीगिरिगुहादिषु । नानादेशपुरग्रामवनादीन् विहरन् सदा ॥११०॥
पक्षमासोपवासादीनां पारणकवासरे । कृतादिदूरगं गृद्ध्या विनाहारं चिदाहरन् ॥१११॥
तन्वन् प्रभावनां जैने शासने नृसुरार्चिते । तपःसिद्धान्तधर्मोपदेशैः सद्भव्यवत्सलः ॥११२॥
इत्याद्यैः परमाचारैः संयमं दोषदूरगम् । कालान्तं प्रतिपाल्योच्चैः प्रान्ते समाधिसिद्धये ॥११३॥
त्यक्त्वा चतुर्विधाहारान् परमार्थासमानसः । संन्यासमाददे योगी कृत्वा योगस्य निग्रहम् ॥११४॥
ततो व्यक्तं विधायोच्चैः स्ववीर्यं तपसे महत् । सोढ्वा क्षुधापिपासादीन् द्वाविंशतिपरीषहान् ॥११५॥
चतुराराधनाः सम्यगाराध्य मुक्तिमातृकाः । प्राणान् मुक्त्वातियत्नेन जिनध्यानपरायणः ॥११६॥
प्रियमित्रमुनीन्द्रोऽसौ तदर्जितशुभोदयात् । सहस्रारेऽभवद्देवो महासूर्यप्रभाभिधः ॥११७॥

सुन्दर स्त्रियाँ पापोंकी खानि हैं, ये सर्व बन्धुजन बन्धनोंके समान हैं ॥१००॥ यह लक्ष्मी वेश्याके समान ज्ञानियोंके द्वारा निन्द्य है, यह वैषयिक सुख हालाहल विषके समान कटुक है और संसारमें उत्पन्न हुई सभी वस्तुएँ क्षणभंगुर हैं ॥१०१॥ अधिक कहनेसे क्या साध्य है, रत्नत्रयधर्मके बिना तीनों ही जगत्में सार और हितकर कुछ भी नहीं है ॥१०२॥ इसलिए अब मैं दुःखमय इस मोहजालको ज्ञानरूपी खड्गसे काटकर अपनी मुक्तिके लिए जगत्पूज्य जिनदीक्षाको ग्रहण करता हूँ ॥१०३॥ मुझ विषयासक्तके इतने दिन यहाँपर संयमके विना व्यर्थ चले गये हैं। अतः अब समय बितानेसे क्या लाभ है ? ऐसा विचारकर और सर्वमित्र नामके पुत्रके लिए राज्यपद देकर नौ निधि और चौदह रत्नोंके साथ सारी राज्यलक्ष्मीको तृण आदिके समान छोड़कर तथा मिथ्यात्व आदि सभी आन्तरिक परिग्रहोंको भी छोड़कर उस नरेशने मुक्ति-प्राप्तिके लिए मुक्तिकारिणी, तीन लोकमें देव, तिर्यंच एवं कुजन्मवाले नारकियोंको दुर्लभ ऐसी आर्हती जिनमुद्राको संवेग-वैराग्य आदि गुणोंसे युक्त एक हजार राजाओंके साथ उस नराधिप प्रियमित्र चक्रवर्तीने शीघ्र ग्रहण कर लिया ॥१०४–१०७॥

तत्पश्चात् वे प्रियमित्र मुनिराज प्रमादरहित होकर भारी शक्तिसे दोनों प्रकारका घोर तप और सारभूत ध्यान-अध्ययन करते, मूल और उत्तर गुणोंको सम्यक् पालन करते, मनको जीतकर त्रिकाल योगको प्राप्त होकर, तीन गुप्तियोंसे सुगुप्त और निरास्रव होकर निर्जन अटवी गिरि-गुफा आदिमें निवास करते, सदा नाना देश, पुर, ग्राम और वनादिकमें विहार करते पक्ष-मासोपवास आदिको करके उनके पारणाकालमें कृत, उद्दिष्ट आदि दोषोंके विना शुद्ध आहारको संयमकी रक्षाके लिए लेते, देव-मनुष्य-पूजित जैनशासनकी प्रभावना तप, सिद्धान्त और धर्मके उपदेशसे करते हुए वे सद्-भव्यवत्सल मुनिचर्याका पालन करते विचरने लगे ॥१०८–११२॥ इत्यादि परम आचारोंके द्वारा निर्दोष संयमको मरणान्त उत्तम प्रकारसे पालन कर अन्तमें समाधिकी सिद्धिके लिए चारों प्रकारका आहार त्याग कर परमार्थमें मनको लगाकर प्रियमित्र योगिराजने योगका निग्रह करके, तपके लिए अपने

तत्रोपपादशय्यायां प्राप्य यौवनमूर्जितम् । तत्कालजावधिज्ञानेन ज्ञात्वा प्राक्तपःफलम् ॥११८॥
भूत्वा धर्मे रतोऽत्यन्तं साक्षात्तत्फलदर्शनात् । तदाप्त्यै श्रीजिनागारं ययौ रत्नमयं सुरः ॥११९॥
तत्र श्रीजिनबिम्बानां पूजनं परमं मुदा । सार्धं स्वपरिवारेण चक्रेऽनिष्टविनाशनम् ॥१२०॥
संकल्पमात्रसंजातैर्दिव्यैरर्चनवस्तुभिः । सोऽष्टभेदैर्नमःस्तोत्रैस्तूर्यत्रिकमहोत्सवैः ॥१२१॥
पुनश्चैत्यद्रुमाधःस्थाः प्रतिमा अर्हतां शुभाः । अभ्यर्च्य मध्यलोकाद्रिमेरुनन्दीश्वरादिषु ॥१२२॥
गत्वार्चया जिनार्चाश्च समस्ताः कृत्रिमेतराः । भूयो नत्वा जगज्ज्येष्ठांस्तीर्थेशमुनिपुङ्गवान् ॥१२३॥
बहूनि धर्मतत्त्वानि श्रुत्वा तच्छ्रीमुखाम्बुजात् । श्रेयोऽलं समुपार्ज्यासावाययौ निजमाश्रयम् ॥१२४॥
स्वपुण्यजनितां लक्ष्मीमप्सरःस्वर्विमानगाम् । स्वीकृत्येति परान् भोगान् भुनक्त्येषोऽक्षतृप्तिदान् ॥१२५॥
अष्टादशसमुद्रायुश्चक्षुरुन्मेषवर्जितः । सप्तधातुमलातीतसार्धत्रिकरदेहवान् ॥१२६॥
अष्टादशसहस्राब्दैर्गतैः सर्वाङ्गशर्मदम् । अमृताहारमादत्ते मनसा स च्युतोपमम् ॥१२७॥
नवमासैर्व्यतीतैः स उच्छ्वासं लभते मनाक् । चतुर्थक्षितिपर्यन्तं वेत्ति द्रव्यांश्चराचरान् ॥१२८॥
मूर्तान् स्वावधिना यातायातं कर्तुं क्षमोऽमरः । विक्रियर्द्धिप्रभावेण क्षेत्रेऽवधिप्रमेऽनिशम् ॥१२९॥
सौधोद्यानाद्रिदेशेष्वसंख्यद्वीपाद्रिषु स्वयम् । स्वेच्छया विहरन् कुर्यात् क्रीडां देवीभिरन्वहम् ॥१३०॥
क्वचिद्वीणादिवादित्रैः क्वचिद् गीतैर्मनोहरैः । क्वचिद्दिव्याङ्गनानां सच्छृङ्गाररूपदर्शनैः ॥१३१॥
अन्यदा धर्मगोष्ठीभिः क्वचित्केवलिपूजनैः । अन्येद्युरर्हतां पञ्चकल्याणपरमोत्सवैः ॥१३२॥
इत्याद्यन्यायकर्मौघैर्धर्मेण शर्मणामरः । नयन् कालं सुरैः सेव्यस्तस्थौ सौख्याब्धिमध्यगः ॥१३३॥

महान् पराक्रमको उत्तम प्रकारसे व्यक्त कर क्षुधा, पिपासा आदि बाईस परीषहोंको सहन कर और मुक्तिकी मातास्वरूप चारों आराधनाओंकी सम्यक् प्रकारसे आराधना कर जिनध्यानमें तत्पर वे प्रियमित्र नामके मुनीन्द्र अति प्रयत्नके साथ प्राणोंको छोड़कर उस तपश्चरणादिसे उपार्जित पुण्यके उदयसे सहस्रार स्वर्गमें महासूर्यप्रभ नामके देव हुए ॥११३-११७॥

वहाँ उपपादशय्यापर पूर्ण यौवन अवस्थाको प्राप्त कर, तत्काल उत्पन्न हुए अवधिज्ञानसे पूर्वजन्मकृत तपका फल जानकर साक्षात् उसका फल देखनेसे और भी अधिक धर्मकी प्राप्तिके लिए धर्ममें अत्यन्त निरत होकर वह देव अपने विमानके रत्नमय श्री जिनालयमें गया ॥११८-११९॥ वहाँपर हर्षसे अपने परिवारके साथ श्री जिनबिम्बोंका अनिष्ट-विनाशक परम पूजन संकल्पमात्रसे उत्पन्न हुए अष्टभेदरूप दिव्य पूजन-द्रव्योंसे तथा नमस्कार, स्तोत्र, तीन प्रकारके वाद्यों द्वारा महोत्सव-पूर्वक करके, पुनः चैत्य वृक्षोंके नीचे अवस्थित अर्हन्तोंकी शुभ प्रतिमाओंको पूजकर, मध्यलोकमें जाकर वहाँके मेरु पर्वत नन्दीश्वर द्वीप आदिमें स्थित समस्त कृत्रिम-अकृत्रिम जिनप्रतिमाओंका पूजन करके, उन्हें नमस्कार कर पुनः जगत्-शिरोमणि तीर्थंकरों और श्रेष्ठ मुनिजनोंको नमस्कार कर उनके श्री-मुखकमलसे बहुत प्रकारसे धर्म और तत्त्वोंका स्वरूप सुनकर और पुण्यका उपार्जन कर वह देव अपने स्थानको वापस आया ॥१२०-१२४॥ वहाँपर अपने पुण्यसे उत्पन्न अप्सराओं एवं स्वर्ग-विमान-गत अन्य लक्ष्मीको स्वीकार करके इन्द्रियोंको तृप्त करनेवाले परम भोगोंको वह देव भोगने लगा ॥१२५॥ वह अठारह सागरोपम आयुका धारक, नेत्रोंके उन्मेषसे रहित और सप्त धातु-वर्जित साढ़े तीन हाथ प्रमाण शरीरवाला था ॥१२६॥ अठारह हजार वर्ष बीतनेपर सर्वांगको सुखदायी, उपमा-रहित अमृत-आहारको मनसे ग्रहण करता था ॥१२७॥ नौ मास बीतनेपर वह कुछ उच्छ्वास लेता था। चौथी पृथिवीतकके चर-अचर मूर्त द्रव्योंको अपने अवधिज्ञानसे जानता था, और विक्रिया ऋद्धिके प्रभावसे अवधिज्ञान-प्रमाण-क्षेत्रमें निरन्तर गमनागमन करनेमें वह देव समर्थ था ॥१२८-१२९॥ भवन, उद्यान, पर्वत-प्रदेश, असंख्यात द्वीप-समुद्र और पर्वतादिपर स्वयं स्वेच्छासे विहार करते हुए देवियोंके साथ

अथ जम्बाह्वये द्वीपे क्षेत्रे भरतसंज्ञके। छत्राकारपुरं रम्यमस्ति धर्मसुखाकरम् ॥१३४॥
तस्य स्वामी शुभादासीन्नन्दिवर्धनभूपतिः। राज्ञी वीरमती तस्य बभूव पुण्यशालिनी ॥१३५॥
च्युत्वा स निर्जरो नाकात्तयोः सूनुरजायत। नन्दनामा सुरूपाद्यैर्जगदानन्दकारकः ॥१३६॥
स बन्धुविहिताः पुत्रजातोत्सवादिसंपदः। योग्यैः पयोऽन्नभूषाद्यैर्वृद्धिं प्राप्य गुणैः समम् ॥१३७॥
क्रमादधीत्य शास्त्रास्त्रविद्याश्चाध्यापकाद्धिया। कलाविवेकरूपाद्यैर्नाकीवाभाति पुण्यवान् ॥१३८॥
ततोऽसौ यौवने लब्ध्वा राज्यं पितुः श्रिया सह। दिव्यान् भोगान् हि भुञ्जान इति धर्मं मुदाचरेत् ॥१३९॥
निःशङ्कादिगुणोत्कर्षैर्विधत्ते दृग्विशुद्धिताम्। द्वादशव्रतपूर्णानि यत्नेन प्रतिपालयेत् ॥१४०॥
उपवासान्निरारम्भान् कुर्यात्स सर्वपर्वसु। दानं सन्मुनये भक्त्या ददाति विधिनान्वहम् ॥१४१॥
करोति महतीं पूजां जिनेशां स्वजिनालये। यात्रां व्रजेद् गणेन्द्रार्हद्योगिनां धर्मवृद्धये ॥१४२॥
धर्मादिष्टार्थसंप्राप्तिरर्थात् समीहितं सुखम्। सुखत्यागाद्धि निर्वाणस्तत्र शर्म क्षयातिगम् ॥१४३॥
इत्येवं धर्ममूलं स विदित्वा सकलं सुखम्। इहामुत्र तदाप्त्यै सद्धर्ममेकं भजेत् सदा ॥१४४॥
स्वयं शुभशताचारैर्वचोभिः प्रेरकैः सताम्। धर्मानुमतिसंकल्पैः सर्वावस्थासु धर्मधीः ॥१४५॥
तत्फलोत्थमहाभोगान् भुञ्जानो राज्यसंपदः। अनयच्छर्मणा कालं महान्तं सोऽसुखातिगः ॥१४६॥

निरन्तर कहीं क्रीड़ा करते, कहीं वीणा आदि वादित्रोंसे, कहीं मनोहर गीतोंसे, कहींपर देवांगनाओंके सुन्दर शृंगार युक्त रूपोंको देखनेसे, कहींपर धर्म-गोष्ठियोंसे, कहींपर केवलियोंके पूजनसे और कभी तीर्थंकरोंके पंचकल्याणकोंके परम उत्सवोंसे, तथा इसी प्रकारके अन्य पुण्यकार्योंको करते हुए धर्म और सुखके साथ वह देव समयको बिताता हुआ अन्य देवोंसे सेवित होकर सुख-सागरमें निमग्न रहने लगा ॥१३०-१३३॥

अथानन्तर इसी जम्बू नामक द्वीपके भरतनामक क्षेत्रमें छत्रके आकारवाला, धर्म और सुखका भण्डार एक रमणीक छत्रपुर नामका नगर है ॥१३४॥ पुण्योदयसे उसका स्वामी नन्दिवर्धन नामका राजा था। उसकी पुण्यशालिनी वीरमती नामकी रानी थी ॥१३५॥ उन दोनोंके वह देव स्वर्गसे च्युत होकर नन्द नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। वह अपने सुन्दर रूप आदिके द्वारा जगत्को आनन्द करनेवाला था ॥१३६॥ बन्धुजनोंके द्वारा किये गये पुत्र-जन्मोत्सव आदिकी सम्पदाको पाकर, तथा योग्य दुग्ध, अन्न, वेष-भूषा (आदिसे) और गुणोंके साथ वृद्धिको प्राप्त होकर, क्रमशः अपनी बुद्धिके द्वारा अध्यापकसे शास्त्र और शस्त्र विद्याओंको पढ़कर, कला, विवेक और रूप आदिके द्वारा वह पुण्यवान् नन्दकुमार देवके समान शोभित होने लगा ॥१३७-१३८॥ तत्पश्चात् यौवन-अवस्थामें लक्ष्मीके साथ पिताके राज्यको पाकर (और अपनी स्त्रियोंके साथ) दिव्य भोगोंको हर्षसे भोगता हुआ धर्मका आचरण करने लगा ॥१३९॥ वह निःशंकित आदि गुणोंके द्वारा सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करने लगा, यत्नके साथ निरतिचार पूरे श्रावक व्रतोंको पालने लगा ॥१४०॥ सर्वपर्वोंमें आरम्भ-रहित होकर उपवासोंको करने लगा, भक्तिसे विधिपूर्वक प्रतिदिन उत्तम मुनियोंको दान देने लगा ॥१४१॥ अपने जिनालयमें जिनेन्द्रदेवोंकी महापूजाको करने लगा और धर्मकी वृद्धिके लिए तीर्थंकर, गणधर और योगियोंकी यात्राको जाने लगा ॥१४२॥

धर्मसे इष्ट अर्थकी प्राप्ति होती है, अर्थसे मनोवांछित सुख मिलता है और सुखके त्यागसे निर्वाण और वहाँका अक्षय-अनन्त सुख प्राप्त होता है, इस प्रकार सर्वसुखोंका मूल धर्मको समझकर वह नन्द राजा इस लोक और परलोकमें उसकी प्राप्तिके लिए एकमात्र धर्मको सदा सेवन करने लगा ॥१४३-१४४॥ स्वयं सैकड़ों उत्तम आचरणोंसे प्रेरक वचनोंसे और सज्जनोंके धर्म-कार्योंकी अनुमतिरूप संकल्पों से वह सर्व अवस्थाओंमें

इति शुभपरिपाकान्नन्दनामा नरेशो निरुपमसुखसारानाप भोगांश्च दिव्यान् ।
विमलचरणयोगैर्यत्नतोऽत्रेति मत्वा भजत जिनसुधर्मं शर्मकामा शिवाय ॥१४७॥
धर्मैकः क्रियतां ह्यनन्तसुखदं धर्मं कुरुध्वं बुधाः धर्मेण व्रजताद्भुतं गुणगणं धर्माय मूर्ध्ना नुतिः ।
धर्मान्नाश्रयता परं सुगतये धर्मस्य धत्ताश्रयं धर्मे तिष्ठत धर्म एव भवतां कुर्याच्छिवं चाशु मे ॥१४८॥

इति भट्टारकश्रीसकलकीर्त्तिविरचिते श्रीवीरवर्धमानचरिते देवादिशुभ-
भवचतुष्टयप्ररूपको नाम पञ्चमोऽधिकारः ॥५॥

धर्म-बुद्धिवाला राजा धर्मके फलसे उत्पन्न हुए महाभोगोंको और राज्य-सम्पदाको भोगता हुआ दुःखोंसे रहित होकर दीर्घकाल तक सुखसे समय बिताने लगा ॥१४५-१४६॥

इस प्रकार पुण्यके परिपाकसे वह नन्दनामक राजा दिव्य, अनुपम सुखके सारभूत भोगोंको प्राप्त हुआ। ऐसा जानकर सुखके इच्छुक भव्यजन शिव-प्राप्तिके लिए निर्मल आचरण-योगोंसे यत्न पूर्वक उत्तम जिनधर्मको सेवन करें ॥१४७॥

एक मात्र धर्म करना चाहिए, हे ज्ञानी जनो, तुम लोग अनन्त सुखको देनेवाले धर्मको करो, धर्मके द्वारा ही तुम लोग अद्भुत गुण-समूहको प्राप्त होओ, धर्मके लिए मस्तक झुकाकर नमस्कार है, धर्मसे अतिरिक्त अन्य किसीका आश्रय मत लो, सुगतिके लिए धर्मका आश्रय धारण करो और धर्ममें सदा स्थित रहो। धर्म ही आप लोगोंका और मेरा शीघ्र कल्याण करे। हे धर्म, हम सबको शीघ्र शिवपद दो ॥१४८॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्ति-विरचित श्रीवीरवर्धमानचरितमें
देवादि उत्तम चार भवोंका वर्णन करनेवाला यह
पंचम अधिकार समाप्त हुआ ॥५॥

षष्ठोऽधिकारः

हन्ता मोहाक्षशत्रूणां त्राता भव्याङ्गिनां भवात् । कर्ता चिद्धर्मतीर्थानां वीरोऽस्तु तद्गुणाय मे ॥१॥
अथैकदा स धर्मार्थं प्रोष्ठिलं योगिसत्तमम् । वन्दितुं मतिमान् भक्त्या ययौ भव्यगणावृतः ॥२॥
तत्राभ्यर्च्याष्टभिर्द्रव्यैर्दिव्यैर्भक्त्या मुनीश्वरम् । मूर्ध्ना नत्वा स धर्माय तत्पादान्तमुपाविशत् ॥३॥
तद्धिताय परार्थी सोऽनघं धर्मं नृपं प्रति । इत्युक्तुं सुगिरारेभे लक्षणैर्दशभिः परैः ॥४॥
धीमन् धर्मः परः कार्यः क्षमयोत्तमया त्वया । उपद्रवे कृते दुष्टैर्जातु कोपो न धर्महृत् ॥५॥
कर्तव्यं मार्दवं दक्षैर्मनोवाक्कायकोमलैः । धर्मार्थं न च काठिन्यं योगानां धर्मनाशकृत् ॥६॥
धर्माङ्गमार्जवं धार्यमवक्रैर्योगकर्मभिः । न वक्रता विधेयात्र क्वचिद्धर्मविनाशिनी ॥७॥
वक्तव्यं वचनं सत्यं धर्मसंवेगकारणम् । धर्मिभिर्धर्मसिद्ध्यर्थं नासत्यं धर्मनाशकम् ॥८॥
इन्द्रियार्थादिवस्त्वौघे लोलुपं लोभशात्रवम् । हत्वा निर्लोभधर्माङ्गं शौचं कार्यं न नीरकृत् ॥९॥
षडङ्गिनां दयां कृत्वा निग्रहं चाक्षचेतसाम् । संयमो धर्मसिद्ध्यर्थमनुष्ठेयो न चेतरः ॥१०॥
विधेयानि तपांस्येव धर्मसिद्धिकराण्यपि । बुधैर्द्वादशभेदानि स्वशक्त्या धर्मसिद्धये ॥११॥
परिग्रहपरित्यागं दानं श्रुतदयोद्भवम् । धर्महेतोर्विधातव्यं धर्मदं च गुणाकरम् ॥१२॥

मोह और इन्द्रियरूप शत्रुओंके हन्ता, संसारसे भव्य प्राणियोंके त्राता, और ज्ञान एवं धर्मतीर्थके कर्ता श्रीवीर भगवान् इन गुणोंकी प्राप्तिके लिए मेरे सहायक हों ॥१॥

अथानन्तर एक बार भव्यजनोंसे घिरा हुआ वह बुद्धिमान् नन्द राजा धर्म-प्राप्तिके निमित्तसे प्रोष्ठिल नामक योगिराजकी वन्दनाके लिए भक्तिके साथ गया ॥२॥ वहाँ पर दिव्य अष्ट द्रव्योंसे भक्ति पूर्वक मुनीश्वरकी पूजा करके और मस्तकसे नमस्कार करके धर्म-श्रवण करनेके लिए उनके चरणोंके समीप बैठ गया ॥३॥ तब परोपकारी उन मुनिराजने राजाके हितार्थ दश लक्षण रूप उत्तम भेदोंके द्वारा निर्दोष धर्मको उत्तम वाणीसे इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया ॥४॥

हे धीमन् राजन्, दुष्टजनोंके द्वारा उपद्रव करने पर भी धर्मका नाश करनेवाला क्रोध कभी नहीं करना चाहिए और उत्तम क्षमासे युक्त धर्म धारण करना चाहिए ॥५॥ चतुर जनोंको धर्मके लिए मन वचन कायकी कोमलतासे मार्दव भाव रखना चाहिए और धर्मके नाशक भोगोंकी कठोरता नहीं रखना चाहिए ॥६॥ सरल मन वचन कायसे धर्मका अंग आर्जव भाव धारण करना चाहिए और धर्मविनाशिनी कुटिलता यहाँ कभी भी नहीं करनी चाहिए ॥७॥ धर्मीजनोंको धर्मकी सिद्धिके लिए धर्म और वैराग्यके कारणभूत सत्य वचन बोलना चाहिए और धर्मनाशक असत्य नहीं बोलना चाहिए ॥८॥ इन्द्रियोंके विषयादि वस्तु-समुदायमें लोलुपता रूप लोभ-शत्रुको नाश कर निर्लोभरूप धर्मका अंग शौचधर्म धारण करना चाहिए। जलकी शुद्धि शौचधर्म नहीं है ॥९॥ छह कायके जीवोंकी दया करके और इन्द्रिय-मनका निग्रह करके धर्मकी सिद्धिके लिए संयम धारण करना चाहिए और असंयमसे बचना चाहिए ॥१०॥ ज्ञानीजनोंको धर्मकी सिद्धि करनेवाले बारह भेदरूप तप अपनी शक्तिके अनुसार धर्म-सिद्धिके लिए करना चाहिए ॥११॥ परिग्रहका परित्याग कर ज्ञान और संयमको उत्पन्न करनेवाला धर्मप्रद और गुणोंका भण्डार ऐसा पवित्र दान धर्मके

आकिञ्चन्यमनुष्ठेयं योगैर्व्युत्सर्गपूर्वकम् । धर्मबीजं सुधर्माय चिन्तातीतसुखाकरम् ॥१३॥
ब्रह्मचर्यं मुदा सेव्यं परमं धर्मकारणम् । धर्मार्थिभिर्विधाय स्वाम्बासमाः सकलाः स्त्रियः ॥१४॥
अमीभिर्लक्षणैः सारैर्दशभिर्ये मुमुक्षवः । कुर्वते परमं धर्मं मुक्तिदं यतिगोचरम् ॥१५॥
विश्वाभ्युदयशर्माणि ते समाप्य जगत्त्रये । तत्फलेनाचिरान्नूनं भवन्ति मुक्तिवल्लभाः ॥१६॥
साक्षादस्याप्यनुष्ठानं दूरे तिष्ठन्तु धीमताम् । धत्ते तन्नाममात्रं यः सोऽपि न स्यात् सुखातिगः ॥१७॥
इत्येवं धर्ममाहात्म्यं विचार्य क्षणभङ्गुरम् । भवभोगाङ्गवस्तूनां निःसारं च विवेकिभिः ॥१८॥
त्यक्त्वा भोगाङ्गसंसारान् हत्वा मोहाक्षशात्रवान् । त्वरितं सर्वशक्त्यात्र धर्मः साध्यः शिवाप्तये ॥१९॥
इति तस्योक्तमाकर्ण्य निर्वेदं त्रिविधं नृपः । आसाद्य निर्मले चित्ते चिन्तयेदित्थमात्मवान् ॥२०॥
अनन्तदुःखसंतानप्रदोऽहोचान्तवर्जितः । संसारोऽनादिरेवायं कथं स्यात् प्रीतये सताम् ॥२१॥
भवो यदि खलो नास्ति चाखिलाशर्मपूरितः । तर्हि त्यक्तः कथं मुक्त्यै जिनाद्यैः शर्मशालिभिः ॥२२॥
क्षुत्तृड्रुक्कामकोपाद्याः प्रज्वलन्त्यग्नयोऽनिशम् । यत्र कायकुटीरेऽस्मिन् धीमतां तत्र का रतिः ॥२३॥
यत्राक्षतस्कराः सर्वे धर्माद्यर्थापहारिणः । वसन्ति तत्र काये कः सुधीर्वसितुमीहते ॥२४॥
दुःखपूर्वास्तदन्तेऽतिदुःखदाहादिवर्धिनः । पराधीनाश्चला भोगा ये तान् कः सेवते बुधः ॥२५॥
ये भोगा दुःकरा जाता रामास्वाङ्गकदर्थनैः । त्याज्या महद्भिरासेव्याः क्षुद्रैस्ते किं सुखावहाः ॥२६॥
यद्यद् विचार्यते वस्तु भोगाङ्गेषु सुखेषु च । तत्तत्परां घृणां दत्ते साधुबुद्ध्या शुभं न च ॥२७॥

हेतु देना चाहिए ॥१२॥ कायोत्सर्गपूर्वक शरीरसे ममता त्याग कर त्रियोगोंसे अचिन्त्य सुखाकर और धर्मका बीज आकिंचन्य उत्तम धर्मकी प्राप्तिके लिए अनुष्ठान करना चाहिए ॥१३॥ धर्मार्थीजनोंको सर्व स्त्रियाँ अपनी माताके समान समझकर धर्मके कारणभूत परम ब्रह्मचर्य हर्षसे सेवन करना चाहिए ॥१४॥ जो मोक्षाभिलाषी लोग इन सारभूत दश लक्षणोंके द्वारा मुनि-सम्बन्धी और मुक्तिदाता इस परम धर्मको करते हैं, वे इस तीन जगत्में उसके फलसे समस्त अभ्युदय-सुखोंको प्राप्त कर शीघ्र ही नियमतः मुक्तिके वल्लभ होते हैं ॥१५-१६॥

बुद्धिमानोंके इस धर्मका साक्षात् आचरण तो दूर रहे, किन्तु जो धर्मके नाम मात्रको भी धारण करता है, वह भी कभी दुःखी नहीं होता ॥१७॥ इस प्रकारसे धर्मका माहात्म्य विचार कर, तथा संसार, शरीर-भोग आदि वस्तुओंको क्षणभंगुर और निःसार जानकर विवेकियोंको चाहिए कि वे संसार, शरीर और भोगोंको छोड़कर, तथा मोह और इन्द्रियरूप शत्रुओंका नाश कर, शिव-प्राप्तिके लिए पूर्ण शक्तिसे शीघ्र धर्म साधन करें ॥१८-१९॥ इस प्रकार मुनिराज-भाषित धर्मको सुनकर और संसार-शरीर भोगोंसे निर्वेदको प्राप्त होकर वह आत्महितैषी राजा अपने निर्मल चित्तमें इस प्रकार विचारने लगा ॥२०॥ अहो, अनन्त दुःखोंकी सन्तानको देनेवाला यह अनादि अनन्त संसार सज्जन पुरुषोंकी प्रीतिके लिए कैसे हो सकता है ॥२१॥ यदि यह संसार दुष्ट और समस्त दुःखोंसे भरपूर न होता, तो सुखशाली तीर्थंकरादि महापुरुषोंने मुक्ति-प्राप्तिके लिए इसे कैसे छोड़ा ॥२२॥ जिस शरीर रूपी कुटीरमें क्षुधा, तृषा, काम-क्रोध आदि अग्नियाँ निरन्तर प्रज्वलित रहती हैं, उस शरीरमें बुद्धिमानोंकी प्रीति कैसे सम्भव है ॥२३॥ जिस शरीरमें धर्मादिरूप धनको चुरानेवाले सभी इन्द्रियचोर रहते हैं उस शरीरमें कौन बुद्धिमान् रहनेकी इच्छा करता है ॥२४॥ जो भोग दुःखपूर्वक उत्पन्न होते हैं, अन्तमें अतिदुःख एवं दाहको बढ़ाते हैं, पराधीन हैं और चंचल हैं, उन्हें कौन ज्ञानी पुरुष सेवन करता है ॥२५॥ जो भोग स्त्री और अपने शरीरके संघटनसे उत्पन्न होते हैं, दुःखकारक हैं और महापुरुषोंके द्वारा त्याज्य हैं, वे क्या क्षुद्रजनोंके द्वारा सेव्य और सुखकारक हो सकते हैं ? कभी नहीं ॥२६॥ भोगोंके कारणोंमें और उनके सुखोंमें निर्मल बुद्धिसे जिस-जिस वस्तुका विचार करते हैं, वह-वह वस्तु अत्यन्त घृणा पैदा करती है, कोई भी शुभ प्रतीत नहीं होती

इत्यादि चिन्तनादाप्य वैराग्यं द्विगुणं नृपः । तमेव योगिनं कृत्वा हत्वा द्विविधोपधीन् ॥२८॥
अनन्तजन्मसंतानघातकं मुनिसंयमम् । आददे परया शुद्धया सिद्धये सिद्धिकारणम् ॥२९॥
गुरूपदेशपोतेनाश्वेकादशाङ्गवारिधेः । पारं जगाम नन्दोऽसौ निःप्रमादेन सद्धिया ॥३०॥
स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य द्विषड्भेदं तपः परम् । प्रारेभे सर्वशक्त्या संकर्तुं कर्मघ्नमित्यसौ ॥३१॥
पक्षमासादिषण्मासावधि सोऽनशनं तपः । शोषकं सकलाक्षाणां कर्माद्रिवज्रमाचरेत् ॥३२॥
एकग्रासादिनानेकभेदभिन्नं तपो भजेत् । आत्मवानवमोदर्यं क्वचिन्निद्राघहानये ॥३३॥
आशाक्षयकरं वृत्तिपरिसंख्याभिधं तपः । चतुरेकगृहाद्यैश्च सो लाभायान्यदा चरेत् ॥३४॥
तपो रसपरित्यागं भजतेऽसौ जितेन्द्रियः । निर्विकृत्या क्वचित्काञ्जिकान्नेनात्यक्षशर्मणे ॥३५॥
स्त्रीपण्डकादिनिःक्रान्ते गुहागिरिवनादिके । ध्यानाध्ययनकृद् धत्ते विविक्तं शयनासनम् ॥३६॥
झञ्झावातमहावृष्टया व्याप्ते मूले तरोरसौ । प्रावृट्काले स्थितिं कुर्याद् धैर्यकम्बलसंवृतः ॥३७॥
चत्वरे वा सरित्तीरे तुषाराक्तेऽतिदुःसहे । कायोत्सर्गं विधत्ते हेमन्ते दग्धद्रुमोपमः ॥३८॥
भानुरश्म्यौघसंतप्तेऽद्रिमूर्धस्थशिलातले । ग्रीष्मे ध्यानामृतास्वादी स तिष्ठेत् सूर्यसम्मुखः ॥३९॥
इत्याद्यैर्विविधैर्योगैः कायक्लेशाभिधं तपः । कायाक्षशर्महान्यै स धीरधीः कुरुतेऽनिशम् ॥४०॥
एवं बाह्यं स षड्भेदं तपोऽभ्यन्तरवृद्धिदम् । प्रत्यक्षं च नृणां कुर्याद् वृद्धयेऽन्तस्तपश्चिदाम् ॥४१॥
प्रायश्चित्तं तपो वृत्तशुद्धिदं सोऽनिशं चरेत् । दशधालोचनाद्यैश्च निःप्रमादः स्वशुद्धये ॥४२॥

है ॥२७॥ इत्यादि चिन्तवनसे दुगुने वैराग्यको प्राप्त होकर राजा ने उन्हीं योगिराजको गुरु बनाकर, दोनों प्रकारके परिग्रहोंको छोड़कर अनन्त संसार-सन्तानके नाशक सिद्धिका कारण ऐसा मुनियोंका सकल संयम परम शुद्धिसे ग्रहण कर लिया ॥२८–२९॥ गुरुके उपदेश रूप जहाजसे वह नन्द मुनि निःप्रमाद और उत्तम बुद्धिके द्वारा शीघ्र ही ग्यारह अंगरूप श्रुतसागर के पारको प्राप्त हो गया ॥३०॥

पुनः उसने अपने पराक्रमको प्रकट करके कर्मोंका नाशक बारह प्रकारका परम तप अपनी शक्तिके अनुसार करना प्रारम्भ किया ॥३१॥ वे नन्दमुनि सर्व इन्द्रियोंका शोषक, कर्म-पर्वतके भेदनके लिए वज्रतुल्य, ऐसे अनशन तपको पक्ष, मास आदिसे लेकर छह मास तककी मर्यादापूर्वक करने लगे ॥३२॥ कभी निद्राके पापनाश करनेके लिए एक ग्रास आदिसे लेकर अनेक भेदरूप अवमोदर्य तपको वे आत्मलक्षी नन्दमुनि करने लगे ॥३३॥ आशाका क्षय करनेवाले वृत्तिपरिसंख्यान तपको एक, दो, चार आदि घरोंतक जानेका नियम कर आहार-लाभके लिए करने लगे ॥३४॥ वे जितेन्द्रिय मुनिराज अतीन्द्रिय सुखकी प्राप्तिके लिए कभी-कभी निर्विकार वृत्तिसे कांजिक अन्नको लेकर रसपरित्याग तप करते थे ॥३५॥ वे स्त्री-नपुंसक आदिसे रहित, गिरि-गुफा, वन आदिमें ध्यान और स्वाध्यायको करनेवाले विविक्त शयनासन तपको करते थे ॥३६॥ वे वर्षाकालमें झंझावात और महावृष्टिसे व्याप्त वृक्षके मूलमें धैर्य रूप कम्बल ओढ़कर बैठते थे ॥३७॥ तुषारसे व्याप्त, अतिशीतल हेमन्त ऋतुमें वे मुनिराज जले हुए वृक्षके समान होकर चौराहोंपर अथवा नदीके किनारे कायोत्सर्ग करते थे ॥३८॥ ग्रीष्मकालमें सूर्यकी किरणोंके पुंजसे सन्तप्त पर्वतके शिखरपर स्थित शिलातल पर ध्यानामृतरसके आस्वादी वे मुनिराज सूर्यके सम्मुख बैठते थे ॥३९॥ इनको आदि लेकर नाना प्रकारके योगोंके द्वारा वे धीर-वीर मुनिराज काय और इन्द्रिय सुख के नाश करनेके लिए निरन्तर कायक्लेश नामक तपको करते थे ॥४०॥

इस प्रकार यह बाह्य छह भेदरूप तप मनुष्योंके प्रत्यक्ष है और आभ्यन्तर तपकी वृद्धि करनेवाला है। अतः वे मुनिराज अन्तरंगतपोंकी वृद्धिके लिए बाह्य तप और चैतन्य गुणोंकी प्राप्तिके लिए अन्तरंग तप करने लगे ॥४१॥ अन्तरंग तपोंमें प्रथम तप प्रायश्चित्त है, यह

दृक्चिद्वृत्ततपोऽर्च्यानां तद्वतां च सुयोगिनाम् । सर्वार्थसिद्धिदं कुर्यात् त्रिशुद्धया विनयं चिदे ॥४३॥
आचार्यादिमनोज्ञान्तानां पूज्यानां जगद्-बुधैः । सुश्रूषाज्ञादिभिर्वैयावृत्त्यं स दशधा चरेत् ॥४४॥
करोति पञ्चभेदं स्वाध्यायं योगवशीकरम् । निःप्रमादोऽङ्गपूर्वाणां मनोऽक्षदमनाय सः ॥४५॥
त्यक्त्वाङ्गादौ ममत्वं स व्युत्सर्गं भजतेऽन्वहम् । कर्मारण्यानलं धीमान्निर्ममत्वसुखाप्तये ॥४६॥
अनिष्टयोगजं स्वेष्टवियोगजनितं महत् । रोगोत्थं च निदानं ह्यार्तध्यानं चतुर्विधम् ॥४७॥
तिर्यग्गतिकरं निन्द्यं क्लिष्टाशयभवं सुधीः । धर्मशुक्लात्तचितोऽसौ स्वप्नेऽपि नाश्रयत् क्वचित् ॥४८॥
सत्त्वहिंसानृतस्तेयोपधिरक्षाविधायिनाम् । आनन्दप्रभवं निन्द्यं रौद्रध्यानं चतुर्विधम् ॥४९॥
रौद्रकर्माशयोत्पन्नं नरकाध्वफलावहम् । धर्मोज्ज्वले मनाग् नास्य चित्ते धत्ते पदं क्वचित् ॥५०॥
आज्ञापाय-विपाकाख्य-संस्थानविचयान्यपि । धर्मध्यानानि चत्वारि स्वर्गाग्रफलदानि च ॥५१॥
प्रशस्तार्थौघचिन्तादिशुद्धाशयभवानि सः । सर्वावस्थासु सर्वत्र ध्यायेदेकाग्रचेतसा ॥५२॥
पृथक्त्वाभिधमेकत्वावीचाराह्वयमूर्जितम् । सूक्ष्मक्रियाच्यवनाख्यं शेषक्रियनिवर्तकम् ॥५३॥
चतुर्धेति महद्-ध्यानं शुक्लं साक्षाच्छिवप्रदम् । निर्विकल्पहृदा धीमान् ध्यायत्येव वनादिषु ॥५४॥
इति द्वादशभेदानि तपांस्यत्र महान्ति सः । कर्मेन्द्रियादिशत्रूणां घातने वज्रमान्यपि ॥५५॥
विश्वर्धिसुखबीजानि कैवल्योत्पादकानि वै । समीहितार्थकर्तृणि सर्वशक्त्या सदाचरत् ॥५६॥

स्वीकृत व्रतोंकी शुद्धि करता है । अतः निःप्रमाद होकर वे आत्म-शुद्धिके लिए आलोचनादि दश भेदोंके द्वारा प्रायश्चित्त तप निरन्तर करने लगे ॥४२॥ वे मुनिराज दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और इनको धारण करनेवाले पूज्य योगियोंका सर्व अर्थकी सिद्धि करनेवाला विनय आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिके लिए करने लगे ॥४३॥ वे आचार्य, उपाध्यायसे लेकर मनोज्ञ पर्यन्त दश प्रकारके जगत्-पूज्य पुरुषोंकी वैयावृत्य शुश्रूषा करके और आज्ञा-पालनादिके द्वारा करने लगे ॥४४॥ वे मन और इन्द्रिय दमनके लिए योगोंको वशमें करनेवाला अंग-पूर्वोका पाँच भेदरूप स्वाध्याय प्रमाद-रहित होकर के करने लगे ॥४५॥ वे ज्ञानी मुनिराज शरीरादिमें ममत्व त्याग कर कर्मरूप वनको जलानेके लिए अग्नि समान व्युत्सर्ग तप निर्ममत्वरूप सुखकी प्राप्तिके लिए निरन्तर करने लगे ॥४६॥

वे बुद्धिमान् मुनिराज अनिष्टसंयोगज, इष्टवियोगजनित, रोग-जनित और निदानरूप चारों प्रकारके महानिन्द्य तिर्यग्गतिको करनेवाले और संक्लिष्ट चित्तसे उत्पन्न होनेवाले आर्तध्यानको कभी स्वप्नमें भी आश्रय नहीं करते थे, किन्तु धर्म और शुक्लध्यानमें ही अपना चित्त संलग्न रखते थे ॥४७-४८॥ वे जीवहिंसा, अनृत (असत्य), चोरी और परिग्रहके संरक्षण करनेवाले जीवोंको आनन्द उत्पन्न करनेवाला, रौद्रकर्मके अभिप्रायसे उत्पन्न होनेवाला, नरकमार्गके फलको देनेवाला चारों प्रकारका निन्द्य रौद्रध्यान अपने धर्मध्यानसे उज्ज्वल चित्तमें कभी भी रंचमात्र नहीं रखते थे ॥४९-५०॥ वे नन्दमुनिराज उत्तम तत्त्वोंके चिन्तवन आदि शुद्ध अभिप्रायसे उत्पन्न होनेवाले, आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचयरूप चारों प्रकारके धर्मध्यानको जो कि स्वर्गके उत्तम फलोंको देनेवाला है, सभी अवस्थाओंमें सर्वत्र एकाग्रचित्तसे ध्याते थे ॥५१-५२॥ वे बुद्धिमान् मुनिराज पृथक्त्व वितर्कसवीचार, एकत्ववितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और शेषक्रिया निवृत्तिरूप चारों प्रकारके महान् शुक्लध्यानको, जो कि साक्षात् मोक्षका दाता है, वन आदि एकान्त स्थानोंमें ध्याते थे ॥५३-५४॥

इस प्रकार बारह भेदरूप महातपोंको, जो कि कर्म और इन्द्रिय आदि शत्रुओंके घातनेमें वज्रके समान हैं, संसारकी समस्त ऋद्धि और सुखके बीजस्वरूप हैं, केवलज्ञानके उत्पादक हैं और अभीष्ट अर्थके करनेवाले हैं, सदा सर्वशक्तिसे आचरण करते थे ॥५५-५६॥

तपोभिर्दुष्करैरेतैः प्रादुरासन् महर्द्धयः । एतस्यानेकशो दिव्या ज्ञानाद्याः सुखखानयः ॥५७॥
सर्वसत्त्वेषु मैत्रीं स विधत्ते धर्ममातृकाम् । धर्माकरं प्रमोदं च मुनीन्द्रगुणशालिषु ॥५८॥
वृत्तमूलां कृपां कुर्याद् रोगक्लेशाढ्यदेहिषु । मिथ्यादृग्विपरीतेषु माध्यस्थ्यं च सुखार्णवम् ॥५९॥
तल्लीनहृदयस्यास्य चतुर्षु भावनास्वपि । रागद्वेषौ स्थितिं कर्तुं स्वप्नेऽपि न क्षमौ क्वचित् ॥६०॥
त्रिशुद्धया भावयन्नित्यं षोडशेमाः सुभावनाः । तद्गुणार्पितचित्तोऽसौ तीर्थनाथविभूतिदाः ॥६१॥
आदौ दृष्टिविशुद्धयर्थं निःशङ्कादीन् गुणान् परान् । स्वीचक्रेऽष्टौ मलान् हत्वा सद्-दृष्टेः पञ्चविंशतिम् ॥६२॥
सूक्ष्मतत्त्वविचारेषु जिनोक्तधर्मयोगिषु । प्रामाण्यपुरुषाच्छङ्कां त्यक्त्वा निःशङ्कितां व्यधात् ॥६३॥
तपसेह परत्रापि स्वर्भोगश्रीसुखादिषु । श्वभ्रदेषु निहत्याकाङ्क्षां स निःकाङ्क्षितां दधे ॥६४॥
मलजल्लाक्तदेहेषु गुणशालिषु योगिषु । विचिकित्सां त्रिधोज्झित्वा सोऽधान्निर्विचिकित्सताम् ॥६५॥
देवचिद्गुरुधर्मादीन् परीक्ष्य ज्ञानचक्षुषा । मूढत्वं त्रिविधं मुक्त्वामूढत्वगुणमाददौ ॥६६॥
बालाशक्तजनैर्निर्दोषजैनशासनस्य सः । आगतं दोषमाच्छाद्योपगूहनगुणं भजेत् ॥६७॥
चलतो दृक्तपोवृत्ताद्यङ्गीकृतेभ्य एव सः । तद्गुणेषु स्थिरीकृत्य स्थितीकरणमाचरेत् ॥६८॥
निःस्नेहोऽपि स्वकायादौ सद्यःप्रसूतधेनुवत् । सधर्मणि महास्नेहं कृत्वा वात्सल्यमाभजेत् ॥६९॥
मिथ्यातमोऽत्र निर्धूय तपोज्ञानांशुभिर्मुनिः । प्रकाश्य शासनं जैनं कुर्याद् धर्मप्रभावनाम् ॥७०॥

इन दुष्कर तपोंसे उन मुनिराजके सुखकी खानिरूप अनेक प्रकारकी दिव्य शारीरिक महा-ऋद्धियाँ प्रकट हो गयीं और बीज, बुद्धि आदि अनेक ज्ञानऋद्धियाँ भी उन्हें प्राप्त हुईं ॥५७॥ वे मुनिराज सर्व प्राणियों पर धर्मकी मातृस्वरूप मैत्री भावना, गुणशाली मुनीन्द्रोंके ऊपर धर्माकर प्रमोद भाव, रोग-क्लेश-युक्त प्राणियों पर धर्मका मूल कृपाभाव और मिथ्या दृष्टि एवं विपरीत बुद्धिवालोंपर सुखका सागर माध्यस्थ्य भाव रखते थे ॥५८-५९॥ इन चारों भावनाओंमें तल्लीन हृदयवाले उन मुनिराजके स्वप्नमें भी राग-द्वेष भाव स्थिति करनेके लिए कभी समर्थ नहीं हुए ॥६०॥

वे मुनिराज तीर्थंकरकी विभूतिको देनेवाली इन वक्ष्यमाण सोलह उत्तम भावनाओंकी तीर्थंकरोंके गुणोंमें समर्पित चित्त होकर निरन्तर मन वचन कायकी शुद्धिसे भावना करने लगे ॥६१॥ उनमें सबसे पहले सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके लिए उसके पचीस दोषोंको दूर कर निश्शंकित आदि आठ महान् गुणोंको उन्होंने स्वीकार किया ॥६२॥ उन्होंने जिन-भाषित धर्मके करनेवाले सूक्ष्म तत्त्वोंके विचारनेमें 'प्रामाणिक पुरुषके वचन अन्यथा नहीं हो सकते' ऐसा निश्चय करके सर्व प्रकारकी शंकाको छोड़कर निश्शंकित गुणको धारण किया ॥६३॥ उन्होंने तपके द्वारा इस लोकमें तथा परलोकमें स्वर्गोके भोग, लक्ष्मी, सुख आदिमें जो कि अन्तमें नरक-निवासके दाता हैं, आकांक्षाका त्याग कर निःकांक्षित अंगको धारण किया ॥६४॥ मल और शारीरिक मैल आदिसे जिनका शरीर व्याप्त है ऐसे गुणशाली योगियोंमें मन वचन कायसे ग्लानिका त्याग करके निर्विचिकित्सा अंगको धारण किया ॥६५॥ उन मुनिराजने देव, शास्त्र, गुरु और धर्म आदिकी ज्ञाननेत्रसे परीक्षा कर तीनों प्रकारकी मूढ़ताओंका त्याग कर अमूढ़त्व गुणको स्वीकार किया ॥६६॥ निर्दोष जैन शासनमें अज्ञानी और असमर्थ पुरुषोंके द्वारा प्राप्त हुए दोषोंको आच्छादन करके उपगूहन गुणका पालन किया ॥६७॥ सम्यग्दर्शन, तप, चारित्र आदिको अंगीकार करके उससे चलायमान हुए जीवोंको उपदेश आदिके द्वारा उन्हीं गुणोंमें पुनः स्थिर करके स्थितीकरण अंगका आचरण किया ॥६८॥ अपने शरीर आदिमें वे मुनिराज स्नेह-रहित थे, फिर भी सद्यःप्रसूता गौ जैसे अपने बछड़ेपर अत्यन्त स्नेह करती है, उसी प्रकार उन्होंने साधर्मी जनोंमें अति स्नेह करके वात्सल्यगुणका पालन किया ॥६९॥ उन मुनिराजने इस संसारमें फैले हुए मिथ्यात्वरूप अन्धकारको अपने तप और ज्ञानकी

एतैरष्टगुणैः कृत्वा सबलं दर्शनं यमी। तेन कर्मरिपून् हन्याद्यथा राज्याङ्गभृन्नृपः ॥७१॥
देवलोकाप्रशस्तान्यसमयोत्थं त्रिधात्मकम्। पापाकरं स धर्मघ्नं मूढत्वं सर्वथात्यजत् ॥७२॥
सज्जातिसुकुलैश्वर्यरूपज्ञानतपोबलाः। शिल्पित्वं बहुधात्रेति मदा अष्टौ कुमार्गगाः ॥७३॥
जात्याद्यैः सद्-गुणैर्युक्तः सन्नप्येषोऽखिलं जगत्। जानन् नित्यातिगं तेषु नावहज्जातु दुर्मदम् ॥७४॥
मिथ्यादृग्ज्ञानचारित्रास्तद्वन्तः कुध्वगा जडाः। इत्यनायतनं षोढा श्वभ्रदं सोऽत्यजत् त्रिधा ॥७५॥
निःशङ्कादिगुणेभ्यो ये दोषाः शङ्कादयोऽशुभाः। विपरीताहितानष्टौ सर्वथा स निराकरोत् ॥७६॥
एतान् प्रक्षाल्य चिन्नीरात्पञ्चविंशति दृग्मलान्। दर्शनं निर्मलीकृत्य तद्विशुद्धिं चकार सः ॥७७॥
संवेगस्त्रिकनिर्वेदो निन्दा गर्हणमेव हि। सर्वत्रोपशमो भक्तिर्वात्सल्यमनुकम्पिका ॥७८॥
अमीभिरष्टभिः सारैर्गुणैरलङ्कृतो मुनिः। तार्थेशोद्याद्यसोपाने दृग्विशुद्धौ स्थितिं व्यधात् ॥७९॥
ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराणां च तद्वताम्। गुणाधिकमुनीनां स त्रिशुद्धया विनयं भजेत् ॥८०॥
अष्टादशसहस्रप्रमशीलांश्च व्रतात्मनः। यत्नेन पालयेन्नित्यं सोऽतीचारपराङ्मुखैः ॥८१॥
अभीक्ष्णमङ्गपूर्वादिज्ञानमज्ञानघातकम्। पठेच्च पाठयेच्छिष्यान् निःप्रमादोऽघशान्तये ॥८२॥
देहभोगाङ्गवर्गेषु कृत्स्नानर्थकरेषु सः। मोहाक्षारातिहन्तारं संवेगं भावयेत् परम् ॥८३॥

किरणोंसे नाश करके और जैन शासनका प्रकाश करके धर्मकी प्रभावना की ॥७०॥ उन संयमी मुनिराजने इन उपर्युक्त आठ गुणोंके द्वारा अपने सम्यग्दर्शनको सबल करके और उसके द्वारा कर्मरूप शत्रुओंको विनष्ट किया; जैसे कि राजा अपने राज्यके अंगोंको पुष्ट करके शत्रुओंको नष्ट करता है ॥७१॥ उन्होंने देवमूढ़ता, लोकमूढ़ता और अन्य मतोंसे उत्पन्न हुई पाखण्ड-मूढ़ताको जो कि पापकी खानि हैं और धर्मकी घातक हैं, सर्वथा छोड़ दिया था ॥७२॥ उन्होंने सज्जाति, सुकुल, ऐश्वर्य, रूप, ज्ञान, तप, बल और अनेक प्रकार शिल्पकलाचातुर्यरूप आठों मदोंको जो कि कुमार्गमें ले जानेवाले हैं, सर्वथा छोड़ दिया था। यद्यपि वे स्वयं सज्जाति, सुकुल आदि सद्-गुणोंसे युक्त थे, तथापि इस समस्त जगत्को अनित्य जानकर उक्त जाति-कुलादिकका उन्होंने कभी अहंकार नहीं किया ॥७३-७४॥ उन्होंने मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र और इनके धारक कुमार्गगामी जड़ (मूर्ख), सेवक इन छहों प्रकारके नरक ले जाने वाले अनायतनोंको त्रियोगसे त्याग कर दिया था ॥७५॥ निःशंकित आदि गुणोंसे विपरीत-और अहितकारी शंका आदि अशुभ दोष हैं, उनको उन्होंने सर्वथा दूर कर दिया था ॥७६॥ उन मुनिराजने सम्यग्दर्शनके इन पचीस मलोंको ज्ञानरूपी जलसे धोकर और सम्यग्दर्शनको निर्मल करके उसकी परम विशुद्धि की ॥७७॥ संवेग, संसार-शरीर और भोग इन तीनोंसे विरक्तिरूप निर्वेद, निन्दा, गर्हण, सर्वत्र उपशमभाव, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा इन सारभूत आठ गुणोंसे अलंकृत उन मुनिराजने तीर्थंकरपदके प्रथम सोपानस्वरूप दर्शन-विशुद्धिमें अपने-आपको अवस्थित किया ॥७८-७९॥ वे मुनिराज दर्शन ज्ञान चारित्र और उपचार विनय, तथा इनके धारण करनेवाले अधिक गुणशाली मुनियोंकी त्रियोगकी शुद्धिपूर्वक विनय करते थे ॥८०॥

उन्होंने अतीचारोंसे पराङ्मुख रहते हुए अठारह हजार शीलोंको और व्रतोंको यत्नके साथ नित्य पालन किया ॥८१॥ अज्ञानका घात करनेवाले अंग और पूर्वरूपादि रूप श्रुतज्ञानका वे निरन्तर पठन करते थे और पाप-शान्तिके लिए प्रमाद-रहित होकर शिष्यों को पढ़ाते थे ॥८२॥ वे मुनिराज सर्व अनर्थोंके करनेवाले शरीर, भोग और संसारके कारणभूत पदार्थोंमें मोह और इन्द्रियरूप शत्रुओंका नाशक परम संवेगकी भावना करते थे ॥८३॥

१. अ पराङ्मुखान्।

योगिभ्यो ज्ञानदानं सत्त्वेभ्यः सोऽभयं सदा । दद्याद्धर्मोपदेशं च सर्वजीवसुखावहम् ॥८४॥
हन्तृदुष्कर्मखारीणां द्विषड्भेदं तपोऽनघम् । प्रागुक्तवर्णनोपेतं स्वशक्त्या सोऽन्वहं चरेत् ॥८५॥
रुजादिभिः स साधूनामसमाधिवतां सदा । शुश्रूषयोपदेशाद्यैः समाधिं वृत्तदं भजेत् ॥८६॥
आचार्योऽध्यापकः शिष्यस्तपस्वी ग्लान एव हि । गणो गुरुकुलः संघः साधुर्मनोज्ञ इत्यमी ॥८७॥
वैयावृत्त्येऽत्र योग्याः स्युर्दश तेषां महात्मनाम् । स्वान्ययोर्गुणदं कुर्याद् वैयावृत्त्यं स मुक्तये ॥८८॥
मनोवचनकायाद्यैरर्हतां भक्तिमूर्जिताम् । धर्मार्थकाममोक्षाणां....(?) सर्वदाश्रयत् ॥८९॥
आचार्याणां गणार्च्यानां पञ्चाचारपरायिणाम् । षट्त्रिंशद्गुणधातॄणां धत्ते भक्तिं त्रिरत्नदाम् ॥९०॥
बहुश्रुतवतां विश्वोद्योतकानां मुनीशिनाम् । अज्ञानध्वान्तहन्तॄणां भक्तिं ज्ञानखनिं श्रयेत् ॥९१॥
एकान्तान्धतमोहन्तुर्जैनप्रवचनस्य सः । समस्ततत्त्वपूर्णस्य दध्याद् भक्तिं श्रुताम्बिकाम् ॥९२॥
समता स्तुतिरेवानुवन्दना हि त्रिकालजा । सत्प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं व्युत्सर्ग एव हि ॥९३॥
इमान्यावश्यकान्येष सिद्धान्तबीजजान्यपि । नियमेनाघहन्तॄणि काले काले करोति वै ॥९४॥
चिद्विज्ञानतपोयोगैरुत्कृष्टाचरणैः सदा । विधत्तेऽङ्गिहितां सारां जैनमार्गप्रभावनाम् ॥९५॥
सम्यग्ज्ञानवतां पुंसां कृत्वा सन्मानमञ्जसा । कुर्यात् प्रवचनस्यासौ वात्सल्यं विश्वधर्मदम् ॥९६॥
अमूंस्तीर्थेशसद्भूतिकरान् षोडशकारणान् । शुद्धैर्मनोवचःकायैर्भावयित्वा स प्रत्यहम् ॥९७॥
तत्फलेन बबन्धाशु तीर्थकृन्नामकर्म हि । अनन्तमहिमोपेतं त्रिजगत्क्षोभकारणम् ॥९८॥
प्रकम्पन्ते सुरेशां विष्टराणि यत्प्रभावतः । मुक्तिश्रीः स्वयमागत्य दत्ते चालिङ्गनं सताम् ॥९९॥

वे योगियोंके लिए ज्ञानदान, प्राणियोंके लिए अभयदान सबके लिए सुखकारक धर्मका उपदेश सदा देते थे ॥८४॥ जिनका पहले वर्णन किया गया है, जो दुष्कर्म और इन्द्रियरूप शत्रुओंका नाशक है ऐसे बारह प्रकारके निर्दोष तपोंको अपनी शक्तिके अनुसार सदा आचरण करते थे ॥८५॥ वे रोग आदिके द्वारा असमाधिको प्राप्त साधुओंकी सेवा-शुश्रूषा और उपदेश आदिसे चारित्रकी रक्षक साधु समाधिको सदा करते थे ॥८६॥ वे आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, तपस्वी, ग्लान (रोगी) गण, गुरुकुल, संघ और मनोज्ञ इन दश प्रकारके महात्मा पुरुषोंकी मुक्तिप्राप्तिके लिए स्वपर-गुणकारक यथायोग्य वैयावृत्त्य करते थे ॥८७–८८॥ वे मुनिराज धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके देनेवाले अर्हन्तोंकी मन, वचन, कायके द्वारा सदा उत्कृष्ट भक्ति करते थे ॥८९॥

गण द्वारा पूज्य, पंचाचार-परायण और छत्तीस गुण-धारक आचार्योंकी रत्नत्रय-दायिनी भक्तिको वे सदा करते थे ॥९०॥ अज्ञानान्धकारके नाशक, विश्वके प्रकाशक ऐसे बहुश्रुतवन्त मुनिराजोंकी ज्ञानकी खानिरूप भक्ति करते थे ॥९१॥ वे एकान्त अन्धतमके नाशक, समस्त तत्त्वसे परिपूर्ण, जैन प्रवचनकी और जिनवाणी माताकी परम भक्ति करते थे ॥९२॥ वे मुनिराज समता स्तुति त्रिकाल वन्दना सत्प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग ये छह आवश्यक जो कि सिद्धान्तके बीजभूत हैं, और नियमसे पापके नाशक हैं, उन्हें यथाकाल—यथासमय नियमसे करते थे ॥९३-९४॥ वे चिद्-अचित्के भेदविज्ञानसे, तपोयोगसे और उत्कृष्ट आचरणोंसे सदा जीवोंका हित करनेवाली सारभूत जैनमार्गकी प्रभावना करते थे ॥९५॥ वे सम्यग्ज्ञानी पुरुषोंका नियमसे सन्मान करके पूर्णधर्मको देनेवाले प्रवचनका वात्सल्य करते थे ॥९६॥ इस प्रकार तीर्थंकरकी सद्-विभूतिको देनेवाली इन सोलह कारण भावनाओंकी शुद्ध मन वचन कायसे प्रतिदिन भावना करके उसके फल द्वारा तीर्थंकर नामकर्मका शीघ्र बन्ध किया। यह तीर्थंकर नामकर्म अनन्त महिमासे संयुक्त है और तीन लोकमें क्षोभका कारण है ॥९७-९८॥ जिस तीर्थंकर प्रकृतिके प्रभावसे इन्द्रोंके सिंहासन प्रकम्पित होते हैं और मुक्ति लक्ष्मी स्वयं आकरके सन्तोंका आलिंगन करती है ॥९९॥

ततोऽसौ मृत्युपर्यन्तं प्रपाल्यानघसंयमम् । विदित्वा निजमल्पायुस्त्यक्त्वाहारवपुःक्रियाम् ॥१००॥
त्रिजगच्छर्मकर्तारं व्रतसाफल्यकारकम् । संन्यासं परया शुद्ध्यादद मोक्षसमाधये ॥१०१॥
ततो दृग्ज्ञानचारित्रतपसां शुद्धिकारिणीम् । आराध्याराधना यत्नान्मुक्तिस्त्र्यम्बा चतुर्विधा ॥१०२॥
निर्विकल्पं मनः कृत्वा स्थापयित्वा चिदात्मनि । समाधिनात्यजद् धीमान् प्राणान् विश्वाङ्गिरक्षकान् ॥१०३॥
ततस्तद्योगपाकेन सोऽच्युतेन्द्रोऽभवद्यतिः । दिवि षोडशमेऽनेकभूतिवार्धौ सुरार्चितः ॥१०४॥
तत्र सोऽन्तर्मुहूर्तेन संप्राप्य वपुरूर्जितम् । भूषितं सहजैर्दिव्यैः स्रग्भूषाम्बरयौवनैः ॥१०५॥
रत्नोपादशिलान्तःस्थमृदुपल्यङ्कतो मुदा । उत्थाय वीक्ष्य तत्सर्वं रामणीयकमद्भुतम् ॥१०६॥
नाकर्द्धिस्त्रीविमानादि-साश्चर्यहृदयः शनैः । सुप्तोत्थित इवेन्द्रः स्वमनसीत्थमचिन्तयत् ॥१०७॥
अहो कोऽहं सुपुण्यात्मा कोऽयं देशः सुखाकरः । केऽत्रामी वत्सला दक्षा अमरा विनयाङ्किताः ॥१०८॥
का इमा ललिता देव्यो दिव्यश्रीरूपखानयः । केषामेते वियद्रत्नमयाः प्रासादपङ्क्तयः ॥१०९॥
कस्येदं सप्तधानीकं मनोज्ञं सुररक्षितम् । कस्यायं परमस्तुङ्गसभामण्डप ऊर्जितः ॥११०॥
दिव्यरत्नमयं तुङ्गं कस्यैतद्धरिविष्टरम् । इमा अन्या निरौपम्या बह्व्यः कस्य विभूतयः ॥१११॥
केन वा कारणेनायं जनः सर्वोऽतिसुन्दरः । विनीतो वीक्ष्य मामत्र सानन्दो वर्तते तराम् ॥११२॥
अथवाऽहमिहानीतः केनाद्भुतायकर्मणा । पुरार्जितेन देशेऽस्मिन् विश्वर्द्धिकुलमन्दिरे ॥११३॥
इत्यादि-चिन्तमानस्य तदा तस्यामरेशिनः । नायाति निश्चयं यावद् हृदि संदेहनाशकृत् ॥११४॥
तावत्तत्सचिवा दक्षा अवधिज्ञानचक्षुषा । तदाकूतं परिज्ञायाभ्येत्य नत्वाशु तत्क्रमौ ॥११५॥
स्वहस्तौ कुड्मलीकृत्य मूर्ध्ना दिव्यगिरा मुदा । तत्संदेहविनाशाय तं प्रतीत्यवदन् विदः ॥११६॥

इस प्रकार मरण-पर्यन्त निर्दोष संयमका पालन कर और अपनी अल्पायुको जानकर उन्होंने आहार और शारीरिक क्रियाओंको छोड़कर त्रिजगत्‌के सुख देनेवाले और व्रतोंको सफल करनेवाले संन्यासको उन्होंने मोक्ष और समाधिकी प्राप्तिके लिए परम विशुद्धिके साथ धारण कर लिया ॥१००-१०१॥ तत्पश्चात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपकी शुद्धि करनेवाली मुक्तिरमाकी मातृस्वरूपा चारों आराधनाओंका परम यत्नसे आराधन कर, मनको विकल्पोंसे रहित कर, तथा शुद्ध आत्मामें अपनेको स्थापित कर उन बुद्धिमान् नन्दमुनिराज-ने समस्त प्राणियोंकी रक्षा करनेवाले अपने प्राणोंको समाधिपूर्वक छोड़ा ॥१०२-१०३॥

तत्पश्चात् वे मुनिराज उस समाधि-योगके फलसे अनेक प्रकारकी विभूतिके समुद्र ऐसे सोलहवें अच्युतकल्पमें देवोंसे पूजित अच्युतेन्द्र उत्पन्न हुए ॥१०४॥ वहाँपर यह अच्युतेन्द्र अन्तर्मुहूर्तमें सहज उत्पन्न हुए दिव्य माल्य, आभूषण, वस्त्र और यौवनावस्थासे भूषित उत्तम शरीरको पाकर, रत्नमयी उपपाद शिलाके अन्तःस्थित कोमलशय्यासे उठकर तथा वहाँकी सभी रमणीय अद्भुत वस्तुओंको देखकर स्वर्गकी ऋद्धि, देवियाँ और विमान आदिके देखनेसे हृदयमें आश्चर्यमुक्त होकर धीरेसे सोकर उठते हुए राजकुमारके सदृश वह इन्द्र अपने मनमें इस प्रकार चिन्तवन करने लगा ॥१०५-१०७॥ अहो, मैं पुण्यात्मा कौन हूँ, सुखोंका भण्डार यह कौन देश है, ये वत्सल, दक्ष, विनयसे परिपूर्ण देव कौन हैं? दिव्य लक्ष्मी और रूपकी खानि ये सुन्दर देवियाँ कौन हैं? ये आकाशमें अधर रहनेवाली रत्नमय भवनोंकी पंक्तियाँ किनकी हैं? यह देव-रक्षित, मनोज्ञ सात प्रकारकी यह सेना किसकी है? यह परम उन्नत देदीप्यमान सभामण्डप किसका है, यह दिव्य रत्नमय उत्तुंग सिंहासन किसका है? ये दूसरी अनुपम नाना प्रकारकी बहुत-सी विभूतियाँ किसकी हैं? किस कारणसे ये सभी अतिसुन्दर विनीत जन मुझे देखकर अति आनन्दित हो रहे हैं? ॥१०८-११२॥ अथवा पूर्वोपार्जित किस अद्भुत पुण्यकर्मके द्वारा मैं इस समस्त ऋद्धियोंसे परिपूर्ण मन्दिर-वाले देशमें लाया गया हूँ ॥११३॥ इत्यादि प्रकारसे चिन्तवन करनेवाले उस देवेन्द्रके

भो देव कुरु नः स्वामिन् प्रसादं स्वच्छया दृशा । नुतानां शृणु वाक्यं ते पूर्वापरार्थसूचकम् ॥११७॥
अद्य नाथ वयं धन्याः सफलं नोऽद्य जीवितम् । यतस्त्वयाधुना स्वेनोत्पादेनात्र पवित्रिताः ॥११८॥
महानच्युतनामायं कल्पो विश्वर्द्धिसागरः । राजतेऽखिलकल्पानां मूर्ध्नि चूडामणिर्यथा ॥११९॥
अत्र संकल्पिताः कामाः सुखं वाचामगोचरम् । दुर्लभं यत्त्रिलोकेऽपि सुलभं तत्सतामिह ॥१२०॥
गावः कामदुघाः सर्वे पादपाः कल्पशाखिनः । चिन्तामणय एवात्र रत्नान्येव निसर्गतः ॥१२१॥
नात्र जातु प्रवर्तन्ते ऋतवो दुःखहेतवः । किन्त्वेकः साम्यतापन्नः कालः स्याद् विश्वसौख्यदः ॥१२२॥
दिन-रात्रिविभागोऽत्र विद्यते जातुचिन्न हि । रत्नालोकः स्फुरत्येको दिनश्रीसुखकारकः ॥१२३॥
नात्र दीनोऽसुखी रोगी दुर्भगो वा गतप्रभः । अपुण्यो निर्गुणोऽज्ञश्च जातु स्वप्नेऽपि दृश्यते ॥१२४॥
वर्ततेऽत्र सदाप्येका महापूजा जिनेशिनाम् । जिनालयेषु नृत्याद्यैश्चोत्सवोऽनुदिनं महान् ॥१२५॥
असंख्यसंख्यविस्ताराः स्वर्विमाना हि योजनैः । शताग्रैकान्नषष्टिप्रमा एते शर्मवार्धयः ॥१२६॥
तेषां मध्ये त्रयोविंशत्यग्रं शतं प्रकीर्णकाः । श्रेणीबद्धास्ततो ज्ञेया अन्ये दिव्याः सहेन्द्रकाः[1] ॥१२७॥
एते सामानिका देवा सहस्रदशसंख्यकाः । आज्ञां विना महाभोगैस्त्वत्समाना महर्द्धिकाः ॥१२८॥

जबतक हृदयमें सन्देहका नाश करनेवाला निश्चय नहीं हो रहा था, तभी उसके कुशल विद्वान् सचिव अवधिज्ञानरूप नेत्रसे उसके अभिप्रायको जानकर और उसके चरणोंको नमस्कार कर अपने दोनों हाथोंको जोड़कर मस्तकपर रखते हुए हर्षसे दिव्य वाणी द्वारा उसका सन्देह दूर करनेके लिए उससे बोले ॥११४–११६॥

हे देवेन्द्र, हे स्वामिन्, निर्मल दृष्टिसे हम लोगोंपर प्रसन्न होइए, और नमस्कार करते हुए आपके पूर्वापर अर्थ-सम्बन्धके सूचक हमारे वाक्य सुनिए ॥११७॥ हे नाथ, आज हम लोग धन्य हैं, आज हमारा जीवन सफल हो गया, क्योंकि आज आपने अपने जन्मसे यहाँपर हम लोगोंको पवित्र किया है ॥११८॥ यह सर्व ऋद्धियोंवाला सागर अच्युत नामक महान् स्वर्ग है जो कि समस्त कल्पोंके मस्तकपर चूड़ामणि रत्नके समान शोभित हो रहा है ॥११९॥ यहाँपर मनोवांछित भोग और वचनोंके अगोचर सुख प्राप्त हैं। जो वस्तु तीनों लोकोंमें दुर्लभ है, वह सब यहाँ उत्पन्न होनेवालोंको सुलभ है ॥१२०॥ यहाँपर स्वभावसे ही सभी गायें कामधेनु हैं, सभी पेड़ कल्पवृक्ष हैं, और सभी रत्न चिन्तामणि हैं ॥१२१॥ यहाँपर दुःखकी कारणभूत ऋतुएँ कभी नहीं होती हैं। किन्तु सर्वसुखदायक साम्यताको प्राप्त एक-सा ही काल रहता है॥१२२॥ यहाँपर कभी भी दिन-रातका विभाग नहीं होता। किन्तु दिनकी शोभा और सुखका करनेवाला एकमात्र रत्नोंका प्रकाश रहता है ॥१२३॥ यहाँपर दीन, दुःखी, रोगी, अभागी, कान्तिहीन, पापी और गुण-रहित कोई भी जीव स्वप्नमें भी नहीं दिखाई देता है ॥१२४॥ यहाँपर जिनमन्दिरोंमें सदा ही श्री जिनेन्द्रदेवोंकी महापूजा होती रहती है और नृत्य-संगीत आदिसे प्रतिदिन महान् उत्सव होता रहता है ॥१२५॥ यहाँपर असंख्यात और संख्यात योजन विस्तारवाले श्रेणीबद्ध देव-विमान हैं, जिनकी संख्या एक सौ उनसठ हैं और वे सभी सुखके सागर हैं ॥१२६॥ उनके मध्यमें अन्य एकसौ तेईस प्रकीर्णक विमान हैं। ये सब दिव्य हैं। इस अच्युत कल्पमें छह इन्द्रक विमान हैं[2] ॥१२७॥ ये दश हजारकी

---

१. षडिन्द्रका, प्रतिभाति ।

२. श्लोक सं. १२६-१२७ में जो श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णकविमानोंकी संख्या दी गयी है, उसका मिलान तिलोयपण्णत्ती और त्रिलोकसारादिमें दी गयी संख्यासे नहीं होता है। 'सहेन्द्रकाः' पाठके स्थानपर 'षडिन्द्रकाः' पाठ मानकर छह इन्द्रक विमान अर्थ किया है। क्योंकि त्रिलोकसार गा० ४६२ में आनतादि चार कल्पोंमें छह इन्द्रक बतलाये हैं ?—अनुवादक ।

त्रयस्त्रिंशत्प्रमा एते त्रायस्त्रिंशाः सुरोत्तमाः । तव पुत्रसमानाः स्युः स्नेहनिर्भरमानसाः ॥१२९॥
चत्वारिंशत्सहस्राणि ह्यात्मरक्षा इमेऽमराः । तेऽप्यङ्गरक्षकैस्तुल्या विभवायैव संस्थिताः ॥१३०॥
एषान्तःपरिषत्तेऽस्ति सपादा शतसंख्यिका । सार्धद्विशतसंख्या च मध्यमा परिषत्परा ॥१३१॥
शतपञ्चप्रमा बाह्या तवादेशविधायिनी । चत्वारो लोकपाला एते तल्लोकान्तपालकाः ॥१३२॥
अमीषां लोकपालानां प्रत्येकं सुमनोहराः । द्वात्रिंशद् गणना देव्यः सन्ति शर्मादिखानयः ॥१३३॥
अष्टाविमा महादेव्यो रूपसौन्दर्यभूषिताः । तवादेशविधायिन्यस्त्वद्रागरञ्जिताशयाः ॥१३४॥
आसां सन्त्यत्र प्रत्येकं परिवारसुराङ्गनाः । त्रिज्ञानविक्रियर्द्ध्याढ्याः सार्धं द्विशतसंख्यिकाः ॥१३५॥
एता वल्लभिका देव्यस्त्रिषष्टिप्रमिताः शुभाः । तव चेतोऽपहारिण्यो महतीरूपसंपदा ॥१३६॥
पिण्डिता निखिला देव्यस्तास्ते नाथ समर्पिताः । द्विसहस्राधिकैकाग्रसप्ततिप्रमिताः पराः ॥१३७॥
दशलक्षचतुर्विंशतिसहस्रप्रमाण्यपि । विकरोत्येकशो देवी दिव्यरूपाणि योषिताम् ॥१३८॥
हस्तिनोऽश्वा रथा पादातयो वृषाश्च सत्तमाः । गन्धर्वाः सुरनर्तक्यः सप्तानीकान्यमून्यपि ॥१३९॥
तदेकैकचमूनां स्युः सप्तकक्षाः पृथक् पृथक् । देवास्तेषां हि प्रत्येकं सन्ति सेना-महत्तराः ॥१४०॥
प्रथमे च गजानीके सहस्रविंशतिप्रमाः । गजा शेषेष्वनीकेषु द्विगुणद्विगुणा मताः ॥१४१॥
तथैव तुरगादीनां षट्सैन्यानां सुराधिप । विद्धि संख्यामनूनां त्वं तव सेवापरायिणाम् ॥१४२॥
एकैकस्या हि देव्या अप्सरसां परिषत्त्रयम् । गीतनृत्यकलाज्ञानविज्ञानादिकुलालयम् ॥१४३॥
परिषत्प्रथमायामप्सरसः पञ्चविंशतिः । द्वितीयायां च पञ्चाशत् तृतीयायां शतप्रमाः ॥१४४॥

संख्यावाले सामानिक देव हैं। आज्ञा के विना शेष सब महाभोगोंमें ये आपके समान ही महाऋद्धिवाले हैं ॥१२८॥ ये तीस संख्यावाले देवोंमें उत्तम त्रायस्त्रिंश देव हैं। ये आपके पुत्रके समान हैं और इनका हृदय आपके प्रति स्नेहसे भरा हुआ है ॥१२९॥ ये चालीस हजार आत्मरक्षक देव हैं, जो आपके अंग-रक्षकोंके समान हैं और केवल वैभवके लिए ही हैं ॥१३०॥ ये एक सौ पचीस देव आपकी अन्तःपरिषद्के सदस्य हैं। ये दो सौ पचास देव मध्यम परिषद्के सभासद् हैं और ये पाँच सौ देव बाहरी परिषद्के पारिषद हैं। ये सभी देव आपकी आज्ञाकारी हैं। ये चार लोकपाल हैं जो आपकी अपनी-अपनी दिशाका लोकसे अन्ततक पालन करते हैं ॥१३१-१३२॥

इन लोकपालोंमें से प्रत्येककी बत्तीस-बत्तीस देवियाँ हैं, जो सुख भोगादिकी खानि हैं ॥१३३॥ ये रूप-लावण्यसे भूषित आपकी आठ महादेवियाँ हैं, जो आपकी आज्ञाकारिणी और आपके रागमें रंजित हृदयवाली हैं ॥१३४॥ इन प्रत्येक महादेवीके परिवारमें ढाई-ढाई सौ देवियाँ हैं जो तीन ज्ञान और विक्रिया ऋद्धिसे युक्त हैं ॥१३५॥ ये तिरसठ वल्लभिका देवियाँ हैं जो कि उत्तम भारी रूप-सम्पदासे युक्त हैं, आपके चित्तको हरनेवाली हैं ॥१३६॥ हे नाथ, ये सब मिलाकर दो हजार इकहत्तर परम देवियाँ आपको समर्पित हैं ॥१३७॥ ये आपकी एक-एक महादेवी दश लाख चौवीस हजार स्त्रियोंके दिव्यरूप विक्रियासे बना सकती हैं ॥१३८॥ हाथी, घोड़े, रथ, पयादे, बैल, गन्धर्व और देवनर्तकी वाली ये सात प्रकारकी आपकी उत्तम सेना है ॥१३९॥ एक-एक जातिकी सेनाकी पृथक्-पृथक् सात-सात कक्षाएँ हैं। प्रत्येक कक्षा (पलटन) के अलग-अलग सेना महत्तर (सेनापति) देव हैं ॥१४०॥ हाथियोंकी पहली कक्षामें बीस हजार हाथी हैं। शेष कक्षाओंमें इससे दूनी-दूनी संख्या है। इसी प्रकार हे देवेन्द्र, आपकी आज्ञा-परायण घोड़े आदि छहों सेनाओंके प्रत्येक कक्षाकी संख्या जानिए ॥१४१-१४२॥ एक-एक देवीकी अप्सराओंकी तीन-तीन सभाएँ हैं, जो कि गीत, नृत्य, कला, ज्ञान-विज्ञानादि गुणोंसे सम्पन्न हैं ॥१४३॥ महादेवीकी प्रथम अन्तःपरिषद्में पचीस देवियाँ हैं, दूसरी मध्यम परिषद्में पचास देवियाँ हैं और तीसरी बाहरी

एता विभूतयो दिव्या अन्याश्च विविधाः पराः । नाथ तेऽद्भुतपुण्येन संमुखीभावमागताः ॥१४५॥
समग्रस्वर्गराज्यस्य भव स्वामी त्वमद्य च । गृहाण सकला भूतीर्निरौपम्याः स्वपुण्यतः ॥१४६॥
इत्यादि तद्वचः श्रुत्वाथावधिज्ञानमञ्जसा । तेन प्राग्भववृत्तादीन् ज्ञात्वा भूत्वा परायणः ॥१४७॥
धर्मे जिनोक्तमार्गे च साक्षाद् दृष्टफलः सुधीः । अच्युतेन्द्र उवाचेदं वचः प्राग्भवसूचकम् ॥१४८॥
अहो मया पुरा घोरं कृतं सर्वं तपोऽनघम् । ध्यानाध्ययनयोगाद्याः शुभाः कातरभीतिदाः ॥१४९॥
आराधिता जगत्पूज्याः सुपञ्चपरमेष्ठिनः । रत्नत्रयं विशुद्धयामा धृतं भावनया परम् ॥१५०॥
निर्दग्धं विषयारण्यं स्मरखाद्यरयो हताः । कषायरिपवः सर्वे निर्जिताश्च परीषहाः ॥१५१॥
दशलाक्षणिको धर्मः सर्वशक्त्या पुरा मया । अनुष्ठितस्ततस्तेनात्राहं संस्थापितः पदे ॥१५२॥
अथवा स्वर्गसाम्राज्यमिदं कृत्स्नं गतोपमम् । धर्मस्यैव फलं मन्ये विपुलं विश्वशर्मदम् ॥१५३॥
अतो धर्मसमो बन्धुर्नान्यो लोकत्रये क्वचित् । धर्मस्त्राता भवाम्भोधेर्धर्मः सर्वार्थसाधकः ॥१५४॥
सहगामी नृणां धर्मो धर्मः पापारिहिंसकः । धर्मः स्वर्मुक्तिदाता च धर्मो विश्वसुखाकरः ॥१५५॥
इति मत्वा बुधैः कार्यः सर्वावस्थासु सर्वदा । शर्मार्थिभिः परो धर्मो निर्मलाचारकोटिभिः ॥१५६॥
अहो वृत्तेन येनैष जायते सकलो महान् । तत्रात्र लभ्यते जातु ततोऽद्याहं करोमि किम् ॥१५७॥
दृक्शुद्धिरथवैका मेऽत्रास्तु धर्मादिसिद्धये । भक्तिः श्रीजिननाथानां तन्मूर्तीनां परार्चना ॥१५८॥
इत्युक्त्वा स्नानवाप्यां स स्नात्वा धर्मार्जनाय च । अकृत्रिमं जिनागारं ययौ देवाङ्गनावृतः ॥१५९॥

परिषद्में सौ देवियाँ हैं ॥१४४॥ हे नाथ, ये सब दिव्य विभूति और अन्य अनेक प्रकारकी सम्पदा आपके अद्भुत पुण्यसे आपके सम्मुख उपस्थित हैं ॥१४५॥ हे नाथ, आज आप अपने पुण्यसे इस समस्त स्वर्गके राज्यके स्वामी हो और इस समस्त अनुपम विभूतिको ग्रहण करो ॥१४६॥

इस प्रकारसे उस सचिव देवके वचनोंको सुन करके और तत्काल उत्पन्न हुए अवधिज्ञानसे पूर्वभवके वृत्तान्तको जानकर धर्ममें तत्पर होता हुआ वह बुद्धिमान् अच्युतेन्द्र साक्षात् पुण्यके फलको देखकर पूर्वभव-सूचक यह वचन बोला ॥१४७-१४८॥ अहो, मैंने पूर्वभवमें सर्व प्रकारका निर्दोष घोर तप किया है, कायरजनोंको भय देनेवाले शुभ ध्यान, अध्ययन और योगादि किये हैं, जगत्पूज्य पंचपरमेष्ठीकी आराधना की है, विशुद्ध भावनाके साथ परम रत्नत्रयधर्मको धारण किया है, इन्द्रियोंके विषयरूप वनको जलाया है, कामदेव रूप शत्रुको मारा है, कषायरूप शत्रुओंका दमन किया है, सभी परीषहोंको जीता है और पूर्ण सामर्थ्यसे मैंने पहले क्षमादि दश लक्षणवाले धर्मका परिपालन किया है उसीने मुझे यहाँ इस पदपर स्थापित किया है ॥१४९-१५२॥ अथवा उपमा-रहित और सर्वसुखदायक यह समस्त स्वर्गका विशाल साम्राज्य धर्मका ही फल है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥१५३॥ अतः तीनों लोकोंमें कहींपर भी धर्मके समान दूसरा कोई बन्धु नहीं है। धर्म ही संसार-समुद्रसे पार उतारनेवाला रक्षक है और धर्म ही सब अर्थका साधक है ॥१५४॥ धर्म ही जीवोंका सहगामी है, धर्म ही पापरूप शत्रुका नाशक है, धर्म ही स्वर्ग-मुक्तिका दाता है और धर्म ही समस्त सुखोंकी खानि है। ऐसा समझकर सुखके इच्छुक ज्ञानी जनोंको चाहिए कि वे सभी अवस्थाओंमें सदा ही निर्मल आचरणोंसे परम धर्मका पालन करें ॥१५५-१५६॥ अहो, जिस चारित्रसे उस लोकमें और इस लोकमें यह सब महान् वैभव प्राप्त होता है उस चारित्र धर्मको पालन करनेके लिए आज मैं क्या करूँ ॥१५७॥ अथवा धर्म आदिकी सिद्धिके लिए एक दर्शनविशुद्धि ही मेरे यहाँ पर होवे, तथा श्री जिननाथोंकी भक्ति और उनकी मूर्तियोंका परम पूजन ही करूँ ? ऐसा कहकर और स्नान-वापिकामें स्नान करके देवांगनाओंसे घिरा हुआ वह अच्युतेन्द्र धर्मोपार्जनके लिए अपने अकृत्रिम जिनालयमें गया ॥१५८-१५९॥

चकार महतीं पूजां नमस्कारपुरःसराम् । तत्रार्हतां सुबिम्बानां भक्तिभारवशीकृतः ॥१६०॥
संकल्पमात्रसंजातैर्दिव्यैरष्टविधार्चनैः । तोयादिफलपर्यन्तैर्गीतवाद्यस्तवादिभिः ॥१६१॥
ततोऽभ्यर्च्य जिनार्चाश्च चैत्यपादपसंस्थिताः । तिर्यग्नृलोकनाकस्था गत्वा भक्त्या सुरेश्वरः ॥१६२॥
नत्वा प्रपूज्य तीर्थेशगणेशादिमुनीश्वरान् । श्रुत्वा तेभ्यः स्वतत्त्वादीन्महाधर्ममुपार्जयत् ॥ १६३॥
तस्मादेत्य निजं स्थानं स्वधर्मजनितां पराम् । विभूतिं विविधां सर्वां स्वीचक्रे सोऽमरार्पिताम् ॥१६४॥
त्रिकरोच्चातिदिव्याङ्गधरो नेत्रप्रियो महान् । स्वेदधातुमलातीतो नयनस्पन्दवर्जितः ॥१६५॥
षट्प्रमावनिपर्यन्तान् रूपिद्रव्यांस्त्रिधात्मकान् । जानन् स्वावधिबोधेन विक्रियर्द्धिप्रभावतः ॥१६६॥
गमनागमनं कर्तुं क्षमः क्षेत्रे स्वचित्समे । द्वाविंशत्यब्धिमानायुर्विश्वाभरणभूषितः ॥१६७॥
द्वाविंशतिसहस्राब्दैर्गतैः सर्वाङ्गतृप्तिदम् । दिव्यं सुधामयाहारमाहरन्मनसोर्जितम् ॥१६८॥
एकादशप्रमैर्मासैर्निष्क्रान्तैश्च मनाग्मजन् । सुगन्धिदिव्यमुच्छ्वासं सुरभीकृतदिक्चयम् ॥१६९॥
पञ्चकल्याणकान्येव तीर्थेशां भक्तिनिर्भरः । शेषकेवलिनां कुर्वन् कल्याणद्विकमन्वहम् ॥१७०॥
स्वकीयं वर्धयन् धर्मं महार्चादिमहोत्सवैः । सर्वदेवार्चिताङ्घ्र्यब्जो धर्मकर्माग्रणीर्महान् ॥१७१॥
महादेवीभिरेवासौ सार्धं क्रीडादिकोटिभिः । सुखं मनःप्रवीचारभवं त्यक्तोपमं महत् ॥१७२॥
भुञ्जानः परमानन्दसुखसागरमध्यगः । आस्ते तत्राच्युताधीशः कृत्स्नामरनमस्कृतः ॥१७३॥

वहाँपर उसने भक्ति-भावसे नम्रीभूत होकर अर्हन्तोंके प्रतिबिम्बोंका नमस्कारपूर्वक महापूजन संकल्पमात्रसे उत्पन्न हुए जलादि-फल पर्यन्त आठ प्रकारके दिव्य द्रव्योंसे गीत, नृत्य, वाद्य, स्तवनादिके द्वारा की ॥१६०–१६१॥ तत्पश्चात् चैत्य वृक्षोंके नीचे विराजमान जिनप्रतिमाओं-को पूजकर वह देवेन्द्र भक्तिके साथ तिर्यक्लोक, मनुष्यलोक और देवलोकमें स्थित कृत्रिम-अकृत्रिम चैत्यालयोंकी वन्दनाके लिए गया और तीर्थंकर गणधर आदि मुनीश्वरों-को नमस्कार-पूजन कर और उनसे धर्म-तत्त्वको सुनकर उसने महान् धर्म उपार्जन किया ॥१६२–१६३॥

तत्पश्चात् वहाँसे वापस अपने स्थान पर आकर अपने पुण्यसे उत्पन्न और देवों द्वारा समर्पित नाना प्रकारकी सर्व विभूतिको उसने स्वीकार किया ॥१६४॥ वह इन्द्र तीन हाथ उन्नत अति दिव्य देहका धारक, नेत्रोंको अतिप्रिय, स्वेद-धातु आदि सर्व मलोंसे रहित और नेत्र-टिमकारसे रहित था ॥१६५॥ छठी पृथिवी तकके तीन प्रकारके रूपी द्रव्योंको अपने अवधि-ज्ञानसे जानता हुआ वह देव अवधिज्ञान प्रमाण क्षेत्रमें विक्रिया ऋद्धिके प्रभावसे गमनागमन करनेमें समर्थ था, बाईस सागर प्रमाण आयु थी और सब उत्तम आभरणोंसे भूषित था ॥१६६–१६७॥

बाईस हजार वर्ष बीतनेपर सर्वांगको तृप्त करनेवाला अमृतमय दिव्य आहार मनसे ग्रहण करता था ॥१६८॥ ग्यारह मास बीतनेपर दिङ्मण्डलको सुरभित करनेवाला सुगन्धिवाला दिव्य उच्छ्वास नाममात्रको लेता था ॥१६९॥ भक्तिसे भरा हुआ वह अच्युतेन्द्र तीर्थंकरोंके पंच कल्याणकोंको, एवं शेष केवलियोंके ज्ञान-निर्वाण इन दो कल्याणकों-को निरन्तर करता हुआ महापूजनादिके महोत्सवों द्वारा अपने धर्मको बढ़ाता था, सर्व देवोंसे पूजित हैं चरण-कमल जिसके ऐसा धर्म-कार्यमें अग्रणी वह महान् देवेन्द्र अपनी महादेवियोंके साथ कोटि प्रकारके क्रीड़ा-कौतूहलादिसे खेलता मनःप्रवीचारजनित अनुपम महान् सुखको भोगता था ॥१७०–१७२॥ इस प्रकार सर्वदेवोंसे नमस्कृत अच्युत स्वर्गका स्वामी वह देवेन्द्र वहाँपर परम आनन्दरूप सुख-सागरके मध्यमें निमग्न रहने लगा ॥१७३॥

इति वृषपरिपाकादाप्य नाकाग्रराज्यं सकलविभवपूर्णं सोऽन्वभूद् दिव्यभोगान् ।
सुरपतिरतिसारांश्चेति मत्वा भजध्वं शमदमयमयोगैर्धर्ममेकं सुदक्षाः ॥१७४॥

धर्मश्चाचरितो मया सह जनैर्धर्मं प्रकुर्वेऽनिशं
धर्मेणानुचरामि वृत्तमतुलं धर्माय मूर्ध्ना नमः ।
धर्मान्नापरमाश्रये शिवकृते धर्मस्य मार्गं भजे
धर्मो मे दधतो मनोऽत्र हृदये हे धर्म तिष्ठान्वहम् ॥१७५॥

इति श्री-भट्टारकसकलकीर्तिविरचिते श्रीवीरवर्धमानचरिते नन्द-नृप-
तपोऽच्युतेन्द्रोद्भवविभूतिवर्णनो नाम षष्ठोऽधिकारः ॥६॥

इस प्रकार धर्मके फलसे वह देवेन्द्र सर्ववैभवोंसे परिपूर्ण स्वर्गके उत्तम राज्यको प्राप्त कर सारभूत दिव्य महाभोगोंको भोगने लगा। ऐसा जानकर सुचतुर पुरुष शम, दम और योगसे एक धर्मको ही निरन्तर पालन करें ॥१७४॥

साथियोंके साथ मेरे द्वारा धर्म आचरण किया गया, मैं धर्मको नित्य करता हूँ, धर्मके द्वारा मैं अनुपम चारित्रका पालन करता हूँ, धर्मके लिए मस्तक नवाकर नमस्कार है, मैं धर्मसे भिन्न किसी अन्य वस्तुका आश्रय नहीं लेता हूँ, मोक्षकी प्राप्तिके लिए मैं धर्मके मार्गका सेवन करता हूँ, धर्ममें अपने मनको लगानेवाले मेरे हृदयमें हे धर्म, तुम निरन्तर विराजमान रहो ॥१७५॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्तिविरचित श्री-वीरवर्धमानचरितमें नन्दराजाके
तपका, अच्युतेन्द्रकी उत्पत्ति और वहाँकी विभूतिका वर्णन
करनेवाला छठा अधिकार समाप्त हुआ ॥६॥

सप्तमोऽधिकारः

कृत्स्नविघ्नौघहन्तारं त्रिजगन्नाथसेवितम् । वन्दे श्रीपार्श्वतीर्थेशं पञ्चकल्याणनायकम् ॥१॥
अथेह भारते क्षेत्रे विदेहाभिध ऊर्जितः । देशः सद्धर्मसंघाद्यैर्विदेह इव राजते ॥२॥
तत्रत्या मुनयः केचिद्-विदेहाः संभवन्त्यहो । वृत्तात्तस्मात्स देशोऽत्र विधत्ते नाम सार्थकम् ॥३॥
केचित्तीर्थेशसत्कर्म बध्नान्ति भावनादिभिः । यान्ति पञ्चोत्तरं केचिच्चाहमिन्द्रालयं दिवम् ॥४॥
केंचिद् भक्त्या प्रदायोच्चैः दानं पात्राय तत्फलात् । यान्ति भोगधरां चान्ये शक्रास्थानं जिनार्चया ॥५॥
निर्वाणभूमयो यत्र विलोक्यन्ते पदे पदे । नृदेवखचरैर्वन्द्या अर्हत्केवलियोगिनाम् ॥६॥
यत्रारण्याचलादीनि भान्ति ध्यानस्थयोगिभिः । तुङ्गश्रीजिनधामौघैः पुरादीनि च संततम् ॥७॥
यत्र ग्रामपुरीखेटमटंवाद्या वनानि च । तुङ्गैर्जिनालयैः सद्भिः शोभन्तेऽयाकरा इव ॥८॥
विहरन्ति यतीशौघा यत्र धर्मप्रवृत्तये । चतुर्विधैरमा संघैर्गणेशाः केवलेक्षणाः ॥९॥
इत्यादि वर्णनोपेतदेशस्याभ्यन्तरे पुरम् । कुण्डाभिधं विराजेत नाभिवद्धार्मिकैर्महत् ॥१०॥
यत्तुङ्गगोपुरैः शालखातिकाभ्यां सुरक्षकैः । अलङ्घ्यं शत्रुभिश्चाभात् साकेतपुरवत्तराम् ॥११॥
यत्र केवलितीर्थेशां कल्याणायागतैः सुरैः । तेषां यात्रादिभिश्चैको वर्तते परमोत्सवः ॥१२॥
यत्रोन्नता जिनागारा हेमरत्नमयाः शुभाः । विभ्राजन्ते बुधैः सेव्या इव धर्माब्धयोऽद्भुताः ॥१३॥

समस्त विघ्न-समूहके विनाशक, तीन जगत्‌के स्वामियोंसे सेवित और पंचकल्याणकोंके नायक श्री पार्श्वनाथ तीर्थेशकी मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर इसी भारतवर्षमें विदेह नामक एक विशाल देश है, जो श्रेष्ठ धर्म और मुनीश्वरोंके संघ आदिसे विदेहक्षेत्रके समान शोभायमान है ॥२॥ अहो, वहाँके कितने ही मुनिराज शुद्ध चारित्रसे देह-रहित (मुक्त) होते हैं, इस कारणसे वह देश 'विदेह' इस सार्थक नामको धारण करता है ॥३॥ वहाँके कितने मनुष्य दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओंके द्वारा उत्तम तीर्थंकर नामकर्मको बाँधते हैं और कितने ही पंच अनुत्तर विमानोंमें जाकर अहमिन्द्र-पद प्राप्त करते हैं ॥४॥ कितने ही भव्य जीव उच्च भक्तिके साथ पात्रके लिए दान देकर भोग-भूमिको जाते हैं और कितने ही जिन-पूजनके प्रभावसे इन्द्रोंका स्थान प्राप्त करते हैं ॥५॥ जिस देशमें तीर्थंकर और सामान्यकेवलियोंकी देव, मनुष्य, विद्याधरोंसे वन्द्य निर्वाणभूमियाँ पद-पद पर दृष्टिगोचर होती हैं ॥६॥ जहाँके वन और पर्वतादिक ध्यान-स्थित योगियोंके द्वारा शोभित हैं और जहाँके नगर-ग्रामादिक उत्तुंग जिनमन्दिरोंसे निरन्तर शोभा पा रहे हैं ॥७॥ जहाँ पर ग्राम, पुर, खेट, मटम्ब आदि और वन-प्रदेश उन्नत और उत्तम जिनालयोंसे पुण्यकी खानिके समान शोभित हैं ॥८॥ जहाँ पर धर्मकी प्रवृत्तिके लिए केवलज्ञानी भगवन्त, गणधर और मुनिराजोंके समूह चारों प्रकारके संघोंके साथ विहार करते रहते हैं ॥९॥ इत्यादि वर्णन-से संयुक्त उस देशके भीतर नाभिके समान मध्यभागमें कुण्डपुर नामक महान् नगर विराज-मान है ॥१०॥ जो सुरक्षक उत्तुंग गोपुरोंसे, कोट और खाईसे शत्रुओं द्वारा अलंघ्य है, अतः साकेतपुर (अयोध्यानगर) के समान अयोध्या है ॥११॥ जहाँ पर केवली और तीर्थंकरोंके कल्याणकोंके लिए, तथा तीर्थयात्रादिके लिए समागत देवों द्वारा सदा परम उत्सव होता रहता है ॥१२॥ जहाँपर उन्नत सुवर्ण-रत्नमयी उत्तम जिनालय शोभायमान है, जो ज्ञानी जनोंके

जयनन्दस्तवाद्यैश्च गीतवाद्यसुनर्तनैः । मणिबिम्बव्रजैर्दिव्यैर्हेमोपकरणैर्वरैः ॥१४॥
तेष्वर्चायै नृयुग्मानि यातायातानि चान्वहम् । दिव्यरूपाणि शोभन्तेऽमरयुग्मानि वा गुणैः ॥१५॥
यत्रत्या दानिनो नित्यं पात्रदानाय धीधनाः । प्रपश्यन्ति गृहद्वारं मुहुर्भक्तिभराङ्किताः ॥१६॥
केचित्सुपात्रदानेन लभन्ते च सुरार्चनाम् । तद्रत्नवृष्टिमालोक्य परे स्युर्दानतत्पराः ॥१७॥
यत्पुरं राजते तुङ्गसौधाग्रध्वजपाणिभिः । आह्वयतीव नाकेशानुच्चैस्तरपदाप्तये ॥१८॥
दातारो धार्मिकाः शूरा व्रतशीलगुणालयाः । जिनेन्द्रसद्गुरूणां च भक्तिसेवार्चनापराः ॥१९॥
नीतिमार्गरता दक्षा इहामुत्र हितोद्यताः । धर्मशीलाः सदाचारा धनिनः सुखिनो बुधाः ॥२०॥
दिव्यरूपा नरा नार्यस्तत्समानगुणाङ्किताः । वसन्ति तुङ्गसौधेषु यत्र देवा इवोर्जिताः ॥२१॥
पतिस्तस्य महीपालः श्रीमान् सिद्धार्थसंज्ञकः । आसीत् काश्यपगोत्रस्थो हरिवंशनभोंऽशुमान् ॥२२॥
ज्ञानत्रयधरो धीमान् नीतिमार्गप्रवर्तकः । जिनभक्तो महादाता दिव्यलक्षणलक्षितः ॥२३॥
धर्मकर्माग्रणीर्धीरः सद्दृष्टिर्वत्सलः सताम् । कलाविज्ञानचातुर्यविवेकादिगुणाश्रयः ॥२४॥
व्रतशीलशुभध्यानभावनादिपरायणः । ख-भूचरसुराधीशैः सेविताङ्घ्रिर्नृपाग्रणीः ॥२५॥
दीप्तिकान्तिप्रतापाद्यैर्दिव्यरूपांशुकैः परैः । नेपथ्यैः सकलैः सारैर्धर्ममूलप्रवर्तनैः ॥२६॥
नरेन्द्रः सोऽतिपुण्यात्मा बभौ विश्वमहीभुजाम् । मध्ये यथामराणां च सुरराजोऽतिपुण्यधीः ॥२७॥
तस्याभवन् महादेवी सन्नाम्ना प्रियकारिणी । अनौपम्यैर्गुणव्रातैर्जगतां पुण्यकारिणी ॥२८॥

द्वारा सेव्यमान हैं अतः वे अद्भुत धर्मके समुद्रके समान प्रतीत होते हैं ॥१३॥ वे जिनालय जय, नन्द आदि शब्दोंसे, स्तवन आदिसे, गीत, वाद्य, नृत्यादिसे, दिव्य मणिमयी जिन-बिम्बोंसे और उत्तम दिव्य, हेम-रचित उपकरणोंसे युक्त हैं और उनमें मनुष्य-युगल (स्त्री-पुरुषोंके जोड़े) पूजनके लिए सदा आते-जाते रहते हैं, जो अपने गुणोंके द्वारा दिव्य रूपवाले देव-युगलके समान शोभित होते हैं ॥१४-१५॥ जहाँके बुद्धिमान् दानी पुरुष भक्ति-भारसे युक्त होकर पात्रदानके लिए नित्य अपने घरका द्वार बार-बार देखते रहते हैं ॥१६॥ कितने ही पुरुष सुपात्रदानसे देवों द्वारा पूजाको प्राप्त होते हैं और उनके द्वारा की गयी रत्नवृष्टिको देखकर कितने ही दूसरे लोग दान देनेके लिए तत्पर होते हैं ॥१७॥ जो नगर ऊँचे प्रासादोंके अग्रभाग-पर लगी हुई ध्वजारूपी हाथोंसे उच्चतर पदकी प्राप्तिके लिए देवेन्द्रोंको बुलाता हुआ-सा शोभता है ॥१८॥ उस नगरके ऊँचे भवनोंमें दातार, धार्मिक, शूरवीर, व्रत-शील-गुणोंके धारक, जिनेन्द्र देव और सद्-गुरुओंकी भक्ति, सेवा और पूजामें तत्पर, नीति-मार्ग-निरत, चतुर, इस लोक और पर लोकके हित-साधनेमें उद्यत, धर्मात्मा, सदाचारी, धनी, सुखी, ज्ञानी, और दिव्यरूपवाले मनुष्य तथा उनके समान गुणवाली स्त्रियाँ रहती हैं, वे स्त्री-पुरुष देव-देवियोंके समान पुण्यशाली प्रतीत होते हैं ॥१९-२२॥

उस कुण्डपुरके स्वामी श्रीमान् सिद्धार्थ नामवाले महीपाल थे, जो काश्यपगोत्री, हरि-वंशरूप गगनके सूर्य, तीन ज्ञानके धारक, बुद्धिमान्, नीतिमार्गके प्रवर्तक, जिनभक्त, महादानी, दिव्य लक्षणोंसे संयुक्त, धर्मकार्योंमें अग्रणी, धीर वीर, सम्यग्दृष्टि, सज्जनवत्सल, कला विज्ञान चातुर्य विवेक आदि गुणोंके आश्रय, व्रत शील शुभध्यान भावनादिमें परायण, राजाओंमें प्रमुख थे और जिनके चरण विद्याधर, भूमिगोचरी और देवेन्द्रोंके द्वारा सेवित थे ॥२३-२५॥ वे पुण्यात्मा सिद्धार्थ नरेन्द्र दीप्ति, कान्ति, प्रताप आदिसे, दिव्यरूप वस्त्रोंसे, उत्कृष्ट वेष-भूषासे और सारभूत धर्ममूलक सर्वप्रवृत्तियोंसे समस्त राजाओंके मध्यमें इस प्रकार शोभायमान थे, जैसे कि अतिपुण्य बुद्धिवाला देवेन्द्र देवोंके मध्यमें शोभा पाता है ॥२६-२७॥ उस सिद्धार्थ नरेश की रानी 'प्रियकारिणी' इस उत्तम नामवाली महादेवी थी। जो अपने अनुपम गुण-समूहसे जगत्‌की पुण्यकारिणी थी ॥२८॥

सा कलेवैन्दवी कान्त्या जगदानन्ददायिनी । कलाविज्ञानचातुर्यैर्भारतीव जनप्रिया ॥२९॥
जितनीरजपादाब्जा नखचन्द्रांशुराजिता । मणिनूपुरझंकारैर्मुखरीकृतदिङ्मुखा ॥३०॥
कदलीगर्भसादृश्यमृदुजङ्घा मनोहरा । चारुजानुद्वयोपेता द्युदारोरुद्वयाङ्किता ॥३१॥
मनोभूधामसंकाशकलत्रस्थानभूपिता । काञ्चीदामांशुकैर्दिव्यैः परिष्कृतकटीतटा ॥३२॥
कृशमध्या महाकाया निम्ननाभिस्तनूदरा । मणिहारादिभूपाङ्गा तुङ्गचारुपयोधरा ॥३३॥
निर्जिताशोकसच्छायमृदुदिव्यकरान्विता । कण्ठाभरणशोभाढ्या शुभकण्ठातिकोकिला ॥३४॥
महाकान्तिकलालापदीप्त्युद्योतितसम्मुखा । कर्णाभरणविन्यासैः सुकर्णाभ्यामलंकृता ॥३५॥
अष्टमीन्दुसमाकारललाटा दिव्यनासिका । मनोज्ञभ्रूलतानीलकेशस्रग्युतमस्तका ॥३६॥
अतीवरूपसौन्दर्यलावण्यसुश्रुतात्मिका । परमैस्त्रिजगत्सारैरणुभिर्निर्मिता सती ॥३७॥
इत्याद्यैरपरैः कृत्स्नैः स्त्रीलक्षणसमुत्करैः । सा शचीव बभौ लोकेऽसाधारणगुणव्रजैः ॥३८॥
खनीव गुणरत्नानां निधिर्वाखिलसंपदाम् । श्रुतदेवीव सानेकशास्त्राब्धेः पारगा व्यभात् ॥३९॥
साभवत्प्रेयसी भर्तुः प्राणेभ्योऽतिगरीयसी । इन्द्राणीवामरेन्द्रस्य परा प्रणयभूमिका ॥४०॥
तौ दम्पती महापुण्यपरिपाकान्महोदयौ । महाभोगोपभोगादीन् भुञ्जानौ तिष्ठतो मुदा ॥४१॥
अथ सौधर्मकल्पेशो ज्ञात्वाच्युतसुरेशिनः । षण्मासावधिशेषायुः प्राहेति धनदं प्रति ॥४२॥
श्रीदात्र भारते क्षेत्रे सिद्धार्थनृपमन्दिरे । श्रीवर्धमानतीर्थेशश्चरमोऽवतरिष्यति ॥४३॥
अतो गत्वा विधेहि त्वं रत्नवृष्टिं तदालये । शेषाश्चर्याणि पुण्याय स्वान्यशर्माकराणि च ॥४४॥

वह अपनी कान्तिसे चन्द्रमाकी कलाके समान जगत्को आनन्द देनेवाली थी। कला विज्ञान चातुर्यके द्वारा सरस्वतीके समान सर्वजनोंको प्रिय थी, अपने चरण-कमलोंसे जलमें उत्पन्न होनेवाले कमलोंको जीतती थी, नखरूप चन्द्रकी किरणोंसे शोभित थी, मणिमयी नूपुरोंकी झंकारोंसे सर्व दिशाओंको व्याप्त करती थी ॥२९-३०॥ केलेके गर्भ-सदृश कोमल जंघावली, मनोहर, दो सुन्दर जानुओंसे युक्त, दो उदार ऊरुओंसे भूपित, कामदेवके निवासस्थानवाले स्त्री-चिह्नसे भूपित, कांचीदाम (करधनी) और दिव्य वस्त्रोंसे परिष्कृत कमरवाली, मध्यमें कृश और ऊपर पुष्ट शरीरवाली, गम्भीरनाभिवाली, कृशोदरी, मणियोंके हार आदिसे भूपित अंगवाली, उन्नत सुन्दर स्तनोंको धारक, अशोककी पत्रकान्तिको जीतनेवाले कोमल हाथोंसे युक्त, कण्ठके आभूपणोंसे शोभित, उत्तम कण्ठ-स्वरसे कोकिलकी बोलीको जीतनेवाली, महाकान्ति, कलकलालाप और दीप्तिसे प्रकाशित उत्तम मुखवाली, कानोंके आभूपण युक्त सुन्दर आकारवाले कानोंसे अलंकृत, अष्टमीके चन्द्रसमान ललाटवाली, दिव्य नासिकावाली, सुन्दर भ्रूलता, नीलकेश और पुष्प-मालासे युक्त मस्तकवाली, अत्यन्त रूप-सौन्दर्य, लावण्य और उत्तम विद्याओंको धारण करनेवाली वह सती प्रियकारिणी, मानो तीन लोकमें सारभूत परमाणुओंसे निर्मित प्रतीत होती थी। इन उक्त गुणोंको आदि लेकर अन्य समस्त स्त्री-लक्षणोंके समूहसे तथा असाधारण गुणोंके पुंजसे वह लोकमें शचीके समान शोभती थी ॥३१-३८॥ वह गुणरूप रत्नोंकी खानि थी, समस्त सम्पदाओं की निधान थी और श्रुतदेवीके समान अनेक शास्त्र-समुद्रकी पारंगत थी। वह अपने भर्तारको प्राणोंसे भी अधिक प्यारी थी और इन्द्रके इन्द्राणीके समय परम प्रेमकी भूमिका थी ॥३९-४०॥ महापुण्यके परिपाकसे महान् उदयको प्राप्त वे दम्पती राजा-रानी महान् भोगोपभोगको भोगते हुए आनन्दसे रहते थे ॥४१॥

अथानन्तर सौधर्मस्वर्गका इन्द्रने उक्त अच्युतेन्द्रकी छह मास प्रमाण शेप आयुको जानकर कुबेरके प्रति इस प्रकार कहा—हे धनद, इस भरतक्षेत्रमें सिद्धार्थ राजाके राज-मन्दिरमें अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्धमान स्वामी अवतार लेंगे, अतः तुम जा करके उनके

इत्यादेशं स यक्षेशो मूर्ध्नादायामरेशिनः । द्विगुणीभूतसद्भाव आजगाम महीतलम् ॥४५॥
ततः प्रत्यहमारेभे मणिकाञ्चनवर्षणैः । रत्नवृष्टिं मुदा कर्तुं भूपधामनि सोऽमरः ॥४६॥
नानारत्नमयाधारा सैरावतकराकृतिः । पतन्ती श्रीरिवायान्त्यभात् पुण्यकल्पशाखिनः ॥४७॥
दीप्रा हिरण्यमयी वृष्टिः पतन्ती खाङ्गणाद् बभौ । ज्योतिर्मालेव सायान्ती सेवितुं पितरौ गुरोः ॥४८॥
प्राग्गर्भाधानतः षण्मासान्तं सिद्धार्थमन्दिरे । सार्धं कल्पद्रुमोद्भूतपुष्पगन्धाम्बुवृष्टिभिः ॥४९॥
रत्नवृष्टिं चकारोच्चैर्महार्घ्यमणिकाञ्चनैः । धनदोऽनुदिनं भूत्या सेवया श्रीजिनेशिनः ॥५०॥
तदा नृपालयं दीप्रमाणिक्यस्वर्णराशिभिः । पूर्णं तन्मणिरम्यौघैर्ग्रहचक्रमिवावभौ ॥५१॥
केचिद् विचक्षणा वीक्ष्य साङ्गणं भूपधाम तत् । व्याप्तं सन्मणिहेमाद्यैस्तदेत्याहुः परस्परम् ॥५२॥
अहो पश्येदमत्यन्तं माहात्म्यं त्रिजगद्गुरोः । यतोऽस्य मन्दिरं रत्नैः पूरयामास यक्षराट् ॥५३॥
तदाकर्ण्यापरेऽप्यूचुरित्यहो नैतदद्भुतम् । किन्तु भक्त्यार्हतः पित्रोः सेवां कुर्वन्ति वासवाः ॥५४॥
तच्छ्रुत्वान्ये वदन्तीत्थं सर्वमेतदहो फलम् । धर्मस्य प्रवरं रत्नवृष्ट्यर्हत्सुतगोचरम् ॥५५॥
यतो धर्मेण जायन्ते पुत्रा लोकत्रयार्चिताः । तीर्थेशपदकल्याणसंपदो दुर्घटानि च ॥५६॥
ततोऽपरे जगुश्चैवमहो सत्यमिदं वचः । यस्माद् धर्माद्दते न स्युः सूनवाद्यभीष्टसंपदः ॥५७॥
तस्मात् सुखार्थिभिर्नित्यं कार्यो धर्मः प्रयत्नतः । अहिंसालक्षणो द्वेधाणुमहाव्रतनिर्मलैः ॥५८॥

भवनमें रत्नोंकी वर्षा करो, तथा पुण्य-प्राप्तिके लिए स्व-परको सुख करनेवाले शेष आश्चर्योंको भी करो ॥४२-४४॥ वह यक्षेश अमरेन्द्रके इस आदेशको शिरोधार्य कर द्विगुण हर्षित होता हुआ महीतल पर आया ॥४५॥ तत्पश्चात् उस यक्षेशने सिद्धार्थ राजाके भवनमें प्रतिदिन मणिसुवर्ण बरसाते हुए हर्षसे रत्नवृष्टि आरम्भ कर दी ॥४६॥ ऐरावत हाथीकी सूँड़के समान आकारवाली नाना रत्नमयी वह धारा आकाशसे गिरती हुई ऐसी शोभती थी, मानो पुण्यरूपी कल्पवृक्षसे लक्ष्मी ही आ रही हो ॥४७॥ गगनांगणसे गिरती हुई वह देदीप्यमान हिरण्यमयी वृष्टि इस प्रकार शोभा दे रही थी, मानो त्रिजगद्-गुरुके माता-पिताको सेवा करनेके लिए ज्योतिर्मय नक्षत्रमाला ही आ रही हो ॥४८॥

गर्भाधानसे पूर्व छह मासतक सिद्धार्थ नरेशके मन्दिरमें कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए पुष्पोंके और सुगन्धित जलवर्षाके साथ, तथा बहुमूल्यवाले मणियों और सुवर्णोंके द्वारा श्री जिनेश्वरदेवकी विभूतिसे सेवा करनेके लिए प्रतिदिन महारत्नवृष्टि करने लगा ॥४९-५०॥ उस समय कान्तिमान् माणिक्य और सुवर्णकी राशियोंसे परिपूर्ण राजमन्दिर मणियोंकी रमणीक किरण-समूहसे प्रकाशमान ग्रहचक्रके समान शोभाको प्राप्त हो रहा था ॥५१॥ उस समय कितने ही विचक्षण पुरुष उत्तम मणि-सुवर्णादिसे व्याप्त राजभवन और आँगनको देखकर परस्पर इस प्रकार कहने लगे ॥५२॥ अहो, त्रिजगद्-गुरुके इस असीम माहात्म्यको देखो कि यक्षराजने इस राजाका मन्दिर रत्नोंसे पूर दिया है ॥५३॥ उनकी यह बात सुनकर दूसरे लोग बोले—अहो, यह कोई अद्‌भुत बात नहीं है, क्योंकि तीर्थंकरके माता-पिताकी सेवाको देव भक्तिसे करते हैं ॥५४॥ उनकी यह बात सुनकर अन्य पुरुष इस प्रकार बोले—अहो, यह सब धर्मका प्रकृष्ट फल है जो होनेवाले तीर्थंकर पुत्रके सम्बन्धसे यह भारी रत्नवर्षा हो रही है ॥५५॥ क्योंकि धर्मके प्रभावसे तीन लोक-द्वारा पूजित तीर्थंकर पदकी कल्याणरूप सम्पदावाले पुत्र उत्पन्न होते हैं और दुःखसे प्राप्त होनेवाली वस्तुएँ भी सुखसे अनायास प्राप्त हो जाती हैं ॥५६॥ तब दूसरे लोग इस प्रकार बोले—अहो, यह वचन सत्य है, क्योंकि धर्मके बिना पुत्र आदि अभीष्ट सम्पदाएँ नहीं प्राप्त होती हैं ॥५७॥ इसलिए सुखके इच्छुक मनुष्योंको नित्य ही प्रयत्न पूर्वक धर्म करना चाहिए। वह अहिंसा लक्षण धर्म निर्मल अणुव्रत और महाव्रतके भेदसे दो प्रकारका है ॥५८॥

अथैकदा महादेवी सौधान्तर्मृदुतल्पके । सुखातिशर्मणा स्वस्था पश्चिमे प्रहरे शुभे ॥५९॥
निशायाः पुण्यपाकेनापश्यत्स्वप्नान् जगद्धितान् । इमान् षोडश तीर्थेशविश्वाभ्युदयसूचकान् ॥६०॥
ददर्शादौ गजेन्द्रं सा त्रिमदं[1] श्वेतमूर्जितम् । ततो दीप्रं गवेन्द्रं च चन्द्राभं मन्द्रनिःस्वनम् ॥६१॥
लसत्कान्तिं महाकायं मृगेन्द्रं रक्तकन्धरम् । पद्मां स्नाप्यां हरिण्[2]कुम्भैर्विष्टरे देवदन्तिभिः ॥६२॥
साद्राक्षीद्दामनी दिव्यामोदाकृष्टमदालिनी । हतध्वान्तं च संपूर्णं ताराधीशं सतारकम् ॥६३॥
निर्धूततमसोद्योतं भास्करं सोदयाचलात् । कुम्भौ हेममयौ पद्मपिहितावास्यावलोकयत् ॥६४॥
मत्स्यौ सरसि संफुल्लकुमुदाम्भोजसंचये । तरत्सरोजकिञ्जल्कं पूर्णं दिव्यं सरोवरम् ॥६५॥
उद्वेलं च महाध्वानमब्धिमेषा व्यलोकयत् । स्फुरन्मणिमयं तुङ्गं दिव्यं सिंहासनं परम् ॥६६॥
स्वर्विमानं मुदापश्यत्परार्घ्यरत्नभास्वरम् । फणीन्द्रभवनं पृथ्वीमुद्भिद्योद्गतमूर्जितम् ॥६७॥
अद्राक्षीद् रत्नराशिं च तदंशुद्योतिताम्बरम् । निर्धूमवपुषं दीप्तं पावकं सा जिनाम्बिका ॥६८॥
तेषामन्ते मुदाद्राक्षीत्तुङ्गकायं गजोत्तमम् । प्रविशन्तं स्ववक्त्राब्जे सुतागमनसूचकम् ॥६९॥
ततो जजृम्भिरे प्रातस्तूर्याणामद्भुताः स्वराः । तस्याः प्रबोधमाधातुमिति पेठुः सुपाठकाः ॥७०॥
कलकण्ठाः सुमाङ्गल्यगीतादीन्यस्खलद्गिरः । प्रबोधसमयो देवि तेऽयं सम्मुखमागतः ॥७१॥
मुञ्च तल्पं यथायोग्यं कुरु कृत्यं शुभावहम् । येनाप्नोषि जगत्सारं विश्वकल्याणसंचयम् ॥७२॥

इसके पश्चात् किसी दिन वह स्वस्थ महादेवी प्रियकारिणी राजमन्दिरके भीतर कोमल शय्यापर रात्रिके अन्तिम शुभ प्रहरमें अति सुखसे सो रही थी, तब उसने पुण्य-परिपाकसे जगत्के हित करनेवाले, और तीर्थंकरके सर्व अभ्युदयके सूचक ये वक्ष्यमाण सोलह स्वप्न देखे ॥५९-६०॥ उसने आदि में तीन स्थानोंसे मद झरते हुए श्वेत मदोन्मत्त गजेन्द्रको देखा। तत्पश्चात् गम्भीरध्वनि करनेवाले दीप्तियुक्त चन्द्र समान उज्ज्वल वृषभराजको देखा ॥६१॥ तदनन्तर कान्तियुक्त, लाल कन्धेवाला विशाल देहका धारक मृगराजको देखा। पुनः कमलासनपर बैठी हुई लक्ष्मीको देव हस्तियोंके द्वारा सुवर्णकलशोंसे स्नान कराते हुए देखा ॥६२॥ पुनः उसने दिव्य सुगन्धिसे उन्मत्त भौंरोंको आकृष्ट करनेवाली दो मालाएँ देखीं। पुनः अन्धकारको नाश करनेवाला, ताराओंके साथ सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त चन्द्रमा देखा ॥६३॥ पुनः अन्धकारको सर्वथा नाश करनेवाला ऐसा उदयाचलसे उदित होता हुआ सूर्य देखा। इसके पश्चात् कमलोंसे ढके हुए मुखवाले दो सुवर्णमयी कलश देखे ॥६४॥ तदनन्तर कुमुदों और कमलोंके संचयवाले सरोवरमें क्रीड़ा करती दो मछलियाँ देखीं। पुनः जिसमें कमल-पराग तैर रहा है ऐसा जल-पूर्ण दिव्य सरोवर देखा ॥६५॥ पुनः उसने गम्भीर ध्वनि करता हुआ उमड़ता समुद्र देखा। पुनः स्फुरायमान मणिमय उत्तुंग दिव्य सिंहासन देखा ॥६६॥ पुनः हर्षित होती हुई रानीने बहुमूल्य रत्नोंसे प्रकाशमान देवविमान देखा। पुनः भूमिको भेदकर निकलता हुआ देदीप्यमान धरणेन्द्रका विमान देखा ॥६७॥ अपनी किरणोंसे आकाशको प्रकाशित करनेवाली रत्नराशि देखी। सबसे अन्तमें उस जिनमाताने प्रदीप्त निर्धूम अग्नि देखी। ॥६८॥ इन स्वप्नोंके अन्तमें प्रमोद संयुक्त माताने पुत्रके आगमनका सूचक, उन्नत गजराजको अपने मुखमें प्रवेश करते हुए देखा ॥६९॥

तत्पश्चात् प्रातःकालीन बाजोंकी अद्भुत ध्वनि चारों ओर फैल गयी और उस माताको जगानेके लिए सुन्दर कण्ठवाले तथा अस्खलित वाणीवाले वन्दीजन उत्तम मंगल गीत आदिको गाते हुए इस प्रकार स्तुति करने लगे—हे देवि, जगनेका समय तेरे सम्मुख आकर उपस्थित हुआ है, अतः शय्याको छोड़ो और अपने योग्य शुभ कार्योंको करो जिससे

---

१. ब त्रिमदस्रुति- । २. ब हिरण्य ।

प्रभाते श्रावकाः केचित् समतापन्नमानसाः । सामायिकं प्रकुर्वन्ति कर्मारण्यहुताशनम् ॥७३॥
उत्थाय शयनात् केचित् सर्वविघ्नविनाशकान् । परमेष्ठिनमस्कारान् जपन्ति श्रीसुखाकरान् ॥७४॥
महाप्राज्ञाः परे ज्ञाततत्त्वाः संरुध्य मानसम् । भजन्ते धर्मकद्ध्यानं कर्मघ्नं शर्मसागरम् ॥७५॥
अन्ये धीरा भजन्ति स्म कायं त्यक्त्वा शिवाप्तये । व्युत्सर्गं विधिहन्तारं स्वर्मोक्षसुखसाधनम् ॥७६
इत्याद्यैः शुभकर्मोघैर्दक्षो लोकः प्रवर्तते । स्वहिताय प्रभातेऽस्मिन् धर्मध्यानेन संप्रति ॥७७॥
जिनसूर्योद्गमे यद्वत् खद्योता इव दुर्मताः । जायन्ते निःप्रभास्तद्वच्चेन्दुतारा इनोद्गमे ॥७८॥
अर्हद्-भानूदये यद्वत्कुलिङ्गितस्करोत्कराः । प्रणश्यन्ति तथादित्योदये चौरा भयातुराः ॥७९॥
यथाज्ञानतमो दिव्यध्वन्यंशुभिर्जिनांशुमान् । निर्णाशयति तद्वच्च भास्वान्नैश्यं तमोंऽशुभिः ॥८०॥
सन्मार्गसुपदार्थादीन् शुद्धवाक्किरणैर्यथा । प्रकाशयति तीर्थेशस्तथेनः किरणैरपि ॥८१॥
यथार्हद्वचनांशौघैर्विकासं यान्ति निश्चितम् । मनोऽम्बुजानि भव्यानां तथाब्जानीनरश्मिभिः ॥८२॥
पापिहृत्कुमुदान्याशु लभते म्लानिमर्हतः । दिव्यवाक्किरणैस्तद्वत् कुमुदानीनभाचयैः ॥८३॥
प्रातः कालोऽधुना देवि वर्तते विश्वशर्मकृत् । धर्मध्यानस्य योग्योऽयं सर्वाभ्युदमसाधकः ॥८४॥
अतः पुण्यात्मिके पुण्यं कुरु मुक्त्वाशु तल्पकम् । सामायिकस्तवाद्यैस्त्वं कल्याणशतमाग्भव ॥८५॥
इति तत्सारमाङ्गल्यगीतैः कर्णसुखावहैः । ध्वनद्भिर्वाद्यसंघातैः सह सा राज्ञ्यजागरीत् ॥८६॥
ततः स्वप्नविलोकोत्थानन्दनिर्भरमानसा । उत्थाय शयनाद्देवी चक्रे नित्यक्रियां पराम् ॥८७॥

कि तुम जगत्में सारभूत सब कल्याणोंको पाओगी ॥७०–७२॥ प्रभातकालमें समता-सहित चित्तवाले कितने ही श्रावक सामायिकको करते हैं, जो कि कर्मरूपी वनको जलानेके लिए अग्निके समान है ॥७३॥ कितने ही मनुष्य शय्यासे उठकर सर्व-विघ्न-विनाशक, लक्ष्मी और सुखके भण्डार पंचपरमेष्ठियोंके नमस्कार-मन्त्रका जाप करते हैं ॥७४॥ कितने ही तत्त्वोंके ज्ञाता महाबुद्धिमान् लोग मनको रोककर कर्मका नाशक और सुखका सागर धर्मध्यान करते हैं ॥७५॥ कितने ही धीर पुरुष मुक्ति-प्राप्तिके लिए शरीरका त्याग कर कर्म-नाशक एवं स्वर्ग-मोक्ष सुखका साधक कायोत्सर्ग करते हैं ॥७६॥ इत्यादि शुभ कार्योंके द्वारा चतुर लोग अब इस प्रभातकालमें अपने हितके लिए धर्मध्यानके साथ प्रवृत्त हो रहे हैं ॥७७॥ जिस प्रकार जिन देवरूपी सूर्यके उदय होनेपर कुमतिरूपी खद्योत प्रभा-हीन हो जाते हैं, उसी प्रकार इस समय सूर्यके उदय होनेपर ये चन्द्रमा और तारागण प्रभा-हीन हो रहे हैं ॥७८॥ जिस प्रकार अर्हन्तरूपी भानुके उदय होनेपर कुलिंगीरूपी चोरोंका समूह नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस समय सूर्यके उदय होनेपर चोर भयभीत होकर विनष्ट हो रहे हैं ॥७९॥ जिस प्रकार जिनेन्द्ररूपी सूर्य अपनी दिव्यध्वनि रूपी किरणोंसे अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश करता है, उसी प्रकार यह सूर्य भी अपनी किरणोंके द्वारा रात्रिके अन्धकारका नाश कर रहा है ॥८०॥ जिस प्रकार तीर्थंकर भगवान् अपने शुद्ध वचन-किरणोंके द्वारा सन्मार्ग और जीवादि पदार्थों-को प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार यह सूर्य भी अपनी किरणोंसे सांसारिक पदार्थोंको प्रकाशित कर रहा है ॥८१॥ जिस प्रकार अर्हन्तदेवके वचन-किरणोंके समूहसे भव्य जीवोंके हृदय-कमल विकसित हो जाते हैं, उसी प्रकार सूर्यकी किरणोंसे ये कमल भी विकसित हो रहे हैं ॥८२॥ जिस प्रकार अर्हन्तदेवके दिव्य वचन-किरणोंसे पापियोंके हृदय-कुमुद म्लान हो जाते हैं, उसी प्रकार सूर्यकी किरण-समूहसे कुमुद म्लान हो रहे हैं ॥८३॥ हे देवि, अब यह सर्व सुख-कारक प्रातःकाल हो रहा है, जो कि सर्व अभ्युदयके साधक धर्मध्यानके योग्य है ॥८४॥ अतः हे पुण्यशालिनि, शीघ्र शय्याको छोड़कर सामायिक, जिनस्तव आदिके द्वारा पुण्य कार्य करो और शत कल्याणभागिनी होवो ॥८५॥ इस प्रकार उन बन्दीजनोंके सारभूत, कानोंको सुखदायी, मंगल गीतोंके द्वारा बजते हुए बाजोंके साथ वह रानी जाग गयी ॥८६॥ तब स्वप्नोंके

श्रेयोनिबन्धिनीं सारां विश्वमाङ्गल्यकारिणीम् । एकाग्रचेतसा मुक्त्यै स्तवसामायिकादिभिः ॥८८॥
ततो मज्जननेपथ्यमण्डनानि विधाय सा । परीता [1]स्वजनैः कैश्चिज्जगाम भूपतेः सभाम् ॥८९॥
आगच्छन्तीं नृपो वीक्ष्य प्रियां संभाष्य स्नेहतः । मधुरैर्वचनैस्तस्यै ददौ स्वार्धासनं मुदा ॥९०॥
सुखासीना ततोऽप्येषा विधाय स्वमुखे मुदम् । मनोहरगिरा हीत्थं स्वभर्तारं व्यजिज्ञपत् ॥९१॥
देवाद्य पश्चिमे भागे यामिन्याः सुखनिद्रिता । अद्राक्षं षोडशस्वप्नानहमद्भुतकारणान् ॥९२॥
इमान् गजादिवह्न्यन्तान् महाश्चर्यंकरान् परान् । पृथक् पृथक् त्वमेतेषां फलं नाथ ममादिश ॥९३॥
तदाकर्ण्येति सोऽवादीत् त्रिज्ञानी शृणु सुन्दरि । एकाग्रचेतसामीषां दिशामि फलमूर्जितम् ॥९४॥
प्रशस्ते भविता कान्ते तीर्थनाथो गजेक्षणात् । जगज्ज्येष्ठो महाधर्मरथप्रवर्तको वृषात् ॥९५॥
सिंहेनानन्तवीर्योऽसौ कर्मेभयूथघातकः । लक्ष्म्याभिषेकमाप्नोति मेरौ मूर्ध्नि सुरेश्वरैः ॥९६॥
दाम्ना सुगन्धि देहश्च सद्धर्मज्ञानतीर्थकृत् । पूर्णेन्दुना बुधाह्लादी सद्धर्मामृतवर्षणः ॥९७॥
भास्वताज्ञानकुध्वान्तहन्ता समास्वरद्युतिः । कुम्भाभ्यां निधिभागी स ज्ञानध्यानसुधाघटः ॥९८॥
मत्स्ययुग्मेक्षणाद् विश्वशर्मकर्ता महासुखी । सरसा लक्षणैर्दिव्यैस्त्स्द्भासी व्यञ्जनैश्च सः ॥९९॥
अब्धिना केवलज्ञानी नवकेवलिलब्धिवान् । सिंहासनेन साम्राज्यपदयोग्यो जगद्गुरुः ॥१००॥
स्वर्विमानावलोकेन दिवः सोऽवतरिष्यति । नागेन्द्रभवनालोकात् सोऽवधिज्ञाननेत्रवान् ॥१०१॥

देखनेसे उत्पन्न हुए आनन्दसे जिसका हृदय परिपूर्ण है, ऐसी उस देवीने शय्यासे उठकर पुण्य-वर्धिनी और सर्वमंगलकारिणी नित्य क्रियाओंको एकाग्रचित्तसे मुक्तिके लिए सामायिक, जिनस्तुति आदिके साथ किया ॥८७-८८॥

तत्पश्चात् स्नान करके और वस्त्राभूषण धारण करके वह कितने ही स्वजनोंके साथ राजाकी सभामें गयी ॥८९॥ राजाने अपनी प्रियाको आती हुई देखकर स्नेहके साथ मधुर वचन बोलकर हर्षसे उसे अपना आधा आसन दिया ॥९०॥ तब सिंहासनपर सुखसे बैठकर इस रानीने अपने मुखपर प्रमोद धारणकर मनोहर वाणी द्वारा अपने स्वामीसे इस प्रकार निवेदन किया ॥९१॥ हे देव, आज रात्रिके अन्तिम पहरमें सुखसे सोते हुए मैंने अद्भुत पुण्यके कारण ये सोलह स्वप्न देखे हैं ॥९२॥ ऐसा कहकर उसने हाथीको आदि लेकर अग्नि पर्यन्त महा आश्चर्य करनेवाले उन उत्तम स्वप्नोंको निवेदन किया और बोली—हे नाथ, इन स्वप्नों का भिन्न-भिन्न फल मुझे बताइए ॥९३॥ रानीका यह कथन सुनकर तीन ज्ञानके धारक सिद्धार्थने कहा—हे सुन्दरि, तुम एकाग्रचित्तसे सुनो, मैं इनका उत्तम फल कहता हूँ ॥९४॥ हे उत्तम प्रिये, हाथीके देखनेसे तेरे तीर्थनाथ पुत्र होगा। बैलके देखनेसे वह जगत्में श्रेष्ठ और महान् धर्मरूप रथका प्रवर्तक होगा ॥९५॥ सिंहके देखनेसे वह कर्मरूपी गज-समुदायका घातक अनन्त वीर्यशाली होगा। लक्ष्मीके देखनेसे वह सुमेरुकी शिखरपर देवेन्द्रों द्वारा जन्माभिषेकको प्राप्त होगा ॥९६॥ मालाओंके देखनेसे वह सुगन्धित देहवाला और सद्धर्म-ज्ञानरूप तीर्थका प्रवर्तक होगा। पूर्णचन्द्रके देखनेसे वह श्रेष्ठ धर्मरूप अमृतका बरसानेवाला और ज्ञानियोंको आनन्द करनेवाला होगा ॥९७॥ सूर्यके देखनेसे अज्ञानरूपी अन्धकारका नाशक भास्वर कान्तिका धारक होगा। कलश-युगलके देखनेसे वह अनेक निधियोंका स्वामी और ज्ञान-ध्यानरूपी अमृतसे परिपूर्ण घटवाला होगा ॥९८॥ मत्स्य-युगलके देखनेसे वह सर्व सुखोंका करनेवाला, महासुखी होगा। सरोवरके देखनेसे वह दिव्य लक्षणों और व्यंजनोंसे शोभित शरीरवाला होगा ॥९९॥ समुद्रके देखनेसे वह केवलज्ञानी और नव-केवललब्धियोंवाला होगा। सिंहासनके देखनेसे वह साम्राज्यपदके योग्य जगद्-गुरु होगा ॥१००॥ स्वर्गविमानके देखनेसे वह स्वर्गसे अवतरित होगा। नागेन्द्र-भवनके देखनेसे वह

१. अ परिवारजनैः ।

दक्‌चिद्वृत्तादिरत्नानामाकरो रत्नराशितः । अग्निना कर्मकाष्ठाणां भस्मीभावं करिष्यति ॥१०२॥
गजेन्द्राकारमादाय भवत्यास्यप्रवेशनात् । त्वद्गर्भे निर्मले तीर्थेऽन्तिमोऽवतरिष्यति ॥१०३॥
इत्यमीषां च सम्यक्सत्फलाकर्णनतः सती । कृत्वा रोमाञ्चितं गात्रं पुत्रं प्राप्तेव सातुषत् ॥१०४॥
तदैवादिसुरेशस्यादेशाच्छ्रयाद्याः सुदेवताः । पद्मादिह्रदवासिन्यस्तत्राजग्मुश्च षट्प्रमाः ॥१०५॥
व्यधुस्तीर्थकरोत्पत्त्यै तास्तस्या गर्भशोधनम् । स्वर्गादुपाहृतैर्दिव्यैः शुचिद्रव्यैः शुभाप्तये ॥१०६॥
पुनर्देव्यो जिनाम्बायामादधुः स्वानिमान् गुणान् । सर्वा अभ्यर्णवर्तिन्यस्तत्सेवादिपरायणाः ॥१०७॥
श्रीः श्रियं ह्रीः स्वलज्जां च धृतिर्धैर्यं महद्दधे । तस्यां कीर्तिः स्तुतिं बुद्धिर्बोधिं लक्ष्मीश्च वैभवम् ॥१०८॥
निसर्गनिर्मला देवी भूयस्ताभिर्विशोधिता । तदाच्छस्फटिकेनेव घटिताङ्गीतरां बभौ ॥१०९॥
तदैवाषाढमासस्य शुक्ले षष्ठी दिने शुचौ । उत्तराषाढनक्षत्रे शुभे लग्नादिके सति ॥११०॥
सोऽमरेन्द्रोऽच्युताच्च्युत्वा धर्मध्यानेन धर्मकृत् । सुगर्भे प्रियकारिण्याः शुचौ पुण्यादवातरत् ॥१११॥
तद्गर्भाधानमाहात्म्याद् घण्टाशब्दो महानभूत् । स्वर्लोकेषु सुरेशानां विष्टराणि प्रचकम्पिरे ॥११२॥
स्वयमेवाभवत्सिंहनादो ज्योतिष्कधामसु । शङ्खध्वनिर्महानासीद् भवनाधिपसद्मसु ॥११३॥
भेरीरवोऽतिगम्भीरो व्यन्तराणां गृहेषु च । शेषाश्चर्याणि जातानि बहूनि सर्वधामसु ॥११४॥
इत्यादि विविधाश्चर्यदर्शनाच्छ्रीजिनेशिनः । विवेदुरवतारं ते चतुर्णिकायवासवाः ॥११५॥
ततस्ते त्रिदशाधीशाः स्वस्वभूत्युपलक्षिताः । स्वं स्वं वाहनमारूढाः सद्धर्मकरणोद्यताः ॥११६॥
स्वाङ्गाभरणतेजोभिर्द्योतयन्तो दिशो दश । ध्वजछत्रविमानाद्यैश्छादयन्तो नभोऽङ्गणम् ॥११७॥
सामराः सकलत्रा जयवाद्यादिरवाङ्किताः । जिनकल्याणसंसिद्ध्यै ह्याजग्मुस्तत्पुरं परम् ॥११८॥

अवधिज्ञानरूप नेत्रका धारक होगा ॥१०१॥ रत्नराशिके देखनेसे वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि गुणोंका भण्डार होगा। और अग्निके देखनेसे वह कर्मरूप काष्ठको भस्म करेगा ॥१०२॥ मुखमें प्रवेश करते हुए गजेन्द्रके देखनेसे आपके निर्मल गर्भमें अन्तिम तीर्थंकर गजेन्द्रके आकारको धारण करके अवतरित होगा ॥१०३॥ इस प्रकार इन स्वप्नोंका उत्तम फल सुननेसे वह सती रोमांचित शरीर होती हुई पुत्रको प्राप्त हुएके समान अत्यन्त सन्तुष्ट हुई ॥१०४॥

इसी समय सौधर्म सुरेन्द्रके आदेशसे पद्म आदि सरोवरोंमें रहनेवाली श्री आदि छहों देवियाँ वहाँ आयीं ॥१०५॥ उन्होंने स्वर्गसे लाये हुए दिव्य पवित्र द्रव्योंसे पुण्य प्राप्तिके निमित्त तीर्थंकरकी उत्पत्तिके लिए उस प्रियकारिणीके गर्भका शोधन किया ॥१०६॥ पुनः समीपमें रहकर और उसकी सेवामें तत्पर होकर उन सभी देवियोंने जिन मातामें ये अपने-अपने गुण स्थापित किये ॥१०७॥ माताके शरीरमें श्री देवीने अपनी शोभाको, ह्री देवीने अपनी लज्जाको, धृति देवीने महान् धैर्यको, कीर्तिदेवीने स्तुतिको, बुद्धिदेवीने बोधिको और लक्ष्मी देवीने अपने वैभवको धारण किया ॥१०८॥ वह देवी स्वभावसे ही निर्मल थी; पुनः उन देवियोंके द्वारा विशुद्ध किये जानेपर स्वच्छ स्फटिकमणि निर्मित शरीरके समान अत्यन्त शोभाको प्राप्त हुई ॥१०९॥ उसी समय आषाढ़मासके शुक्लपक्षके पवित्र षष्ठीके दिन उत्तराषाढ़ा नक्षत्रमें शुभ लग्नादिक होनेपर वह धर्मात्मा देवेन्द्र धर्मध्यानके साथ अच्युत स्वर्गसे च्युत होकर पुण्योदयसे प्रियकारिणीके पवित्र गर्भमें अवतरित हुआ ॥११०-१११॥ उसके गर्भधारणके माहात्म्यसे स्वर्गलोकमें घण्टाओंका भारी शब्द हुआ और इन्द्रोंके आसन कम्पित हुए ॥११२॥ ज्योतिष्क देवोंके स्थानोंमें स्वयमेव ही सिंहनाद हुआ। भवनवासियोंके भवनोंमें शंखध्वनि होने लगी ॥११३॥ व्यन्तरोंके घरोंमें अति गम्भीर भेरियोंका शब्द हुआ। उस समय सर्व ही स्थानोंमें इसी प्रकारके अनेक आश्चर्य हुए ॥११४॥ इत्यादि नाना प्रकारके आश्चर्योंको देखनेसे चतुर्निकायके देवोंने श्री तीर्थंकर देवके गर्भावतारको जाना ॥११५॥ तब वे सभी देवेन्द्र अपनी-अपनी विभूतिके साथ अपने-अपने वाहनोंपर आरूढ़ हो उत्तम धर्मके करनेमें उद्यत हुए अपने

तदानेकविमानैश्चाप्सरोभिः सुरसैन्यकैः । तत्पुरं परितो रुद्धं रेजेऽमरपुरं यथा ॥११९॥
जिनेन्द्रपितरौ भक्त्या ह्यारोप्य हरिविष्टरे । अभिषिच्य कनत्काञ्चनकुम्भैः परमोत्सवैः ॥१२०॥
प्रपूज्य दिव्यभूषास्रग्वस्त्रैः शक्राः सहामरैः । गर्भान्तस्थं जिनं स्मृत्वा प्रणेमुस्त्रिःपरीत्य ते ॥१२१॥
इत्याद्यं गर्भकल्याणं कृत्वा संयोज्य सद्गुरोः । अम्बायाः परिचर्यायां दिक्कुमारीरनेकशः ॥१२२॥
आदिकल्पाधिपो देवैः समं शक्रैरुपार्ज्य च । परं पुण्यं सुचेष्टाभिर्नाकलोकं मुदा ययौ ॥१२३॥
इति सुचरणधर्माच्छर्मसारं नृनाके निरुपममिह भुक्त्वा तीर्थकर्तावतीर्णः ।
शिवमतिसुखसिद्ध्यै चेति मत्वाश्रयध्वं ह्यमलचरणधर्मं शर्मकामा जिनोक्तम् ॥१२४॥
धर्मोऽधर्महरः सुधर्मजनको धर्मं श्रितास्तद्विदो धर्मेणैव किलाप्यते जिनपदं धर्माय मुक्त्यै नमः ।
धर्मान्नास्त्यपरो जगत्सुखिवकृद्धर्मस्य हेतुः क्रिया धर्मे मां स्थितिवन्तमेव विधिभिर्हे धर्म मुक्तं कुरु ॥१२५॥
वीरो वीरबुधाग्रणीर्जितरिपुं वीरं श्रयन्ते बुधा वीरेणारिचयः सतां विघटते वीराय सिद्ध्यै नमः ।
वीरान्नास्त्यरिघातकोऽत्र सुभटो वीरस्य नित्या गुणा वीरे वीरतरं दधे निजमनो मां वीर वीरं सृज ॥१२६॥

इति भट्टारक-सकलकीर्ति-विरचिते श्री-वीरवर्धमानचरिते
भगवद्-गर्भावतार-वर्णनो नाम सप्तमोऽधिकारः ॥७॥

शरीरके आभूषणोंके तेजसे दशों दिशाओंको उद्योतित करते, ध्वजा, छत्र, विमानादिसे गगनाङ्गणको आच्छादित करते और जय-जय नाद करते और वाजोंको बजाते हुए अपनी स्त्रियों और अपने देव-परिवारके साथ भगवान्के गर्भकल्याणकी सिद्धिके लिए उस उत्तम कुण्डपुर नगर आये ॥११६-११८॥

उस समय अनेक विमानोंसे, अप्सराओंसे और देव-सैनिकोंसे वह कुण्डपुर सर्व ओर से व्याप्त होकर अमरपुरके समान शोभित होने लगा ॥११९॥ इन्द्रोंने तीर्थंकर भगवान्के माता-पिताको भक्तिसे सिंहासनपर बैठाकर चमकते हुए सुवर्ण-कलशों द्वारा परम उत्सवके साथ अभिषेक करके, दिव्य वस्त्र, आभूषण और मालाओंसे सर्व देवोंके साथ पूजा करके उन्होंने गर्भके भीतर विराजमान जिनदेवका स्मरण कर और तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया ॥१२०-१२१॥ इस प्रकार गर्भकल्याणक करके और जगद्-गुरुकी माताकी सेवामें अनेक दिक्कुमारियोंको नियुक्त करके तथा परम पुण्य उपार्जन करके वह आदि कल्पका स्वामी सौधर्मेन्द्र उत्तम चेष्टावाले देवोंके साथ हर्षित होता हुआ देवलोकको चला गया ॥१२२-१२३॥

इस प्रकार उत्तम आचरण किये गये धर्मके प्रभावसे मनुष्य और स्वर्गलोकमें अनुपम सारभूत सुखोंको भोगकर तीर्थंकर देवने अवतार लिया। ऐसा समझकर सुखके इच्छुक जन शिवगतिके सुखोंकी सिद्धिके लिए जिन-भाषित निर्मल चारित्र धर्मका आश्रय लेवें ॥१२४॥ धर्म अधर्मका हर्ता है और सुधर्मका जनक है, अतः सुधर्मके जानकार उस धर्मका आश्रय लेते हैं। धर्मके द्वारा ही निश्चयसे जिन पद प्राप्त होता है, अतः मुक्ति प्राप्तिके अर्थ धर्मके लिए नमस्कार है। जगत्में धर्मके अतिरिक्त अन्य कोई सुखकारी नहीं है, धर्मका कारण चारित्र-आचरण है, अतः धर्ममें स्थिति करनेवाले मुझे हे धर्म, तुम कर्मोंसे मुक्त करो ॥१२५॥ वीर भगवान् वीरोंमें ज्ञानियोंके अग्रणी हैं, अतः पण्डित लोग शत्रुओंके जीतनेवाले वीर भगवान्का आश्रय लेते हैं, वीरके द्वारा ही सन्तपुरुषोंका शत्रु-समूह विघटित होता है, अतः सिद्धि-प्राप्तिके अर्थ वीर प्रभुके लिए नमस्कार है। इस लोकमें वीरसे अतिरिक्त और कोई सुभट शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ नहीं है, वीर प्रभुके गुण नित्य हैं, मैं वीर भगवान्में अपने अति वीर मनको धारण करता हूँ, हे वीर भगवन्, मुझे वीर बनाओ ॥१२६॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति-विरचित श्री-वीरवर्धमान चरितमें भगवान्के
गर्भावतारका वर्णन करनेवाला सप्तम अधिकार समाप्त हुआ ॥७॥

अष्टमोऽधिकारः

पञ्चकल्याणभोक्तारं दातारं त्रिजगच्छ्रियः । त्रातारं संसृतेः पुंसां वीरं तच्छक्तये स्तुवे ॥१॥
अथ मङ्गलधारिण्यः काश्चित्तस्याः सुराङ्गनाः । काश्चिन्मज्जनपालिन्यश्चान्यास्ताम्बूलदायिकाः ॥२॥
काश्चिन्महानसे लग्नाः शय्याविरचने पराः । पादप्रक्षालने काश्चिदासन् दिव्यप्रसाधने ॥३॥
काश्चिद्दिव्याः स्रजस्तस्यै दद्युः कल्पलता इव । क्षौमांशुकानि काश्चिच्चान्या रत्नाभरणानि च ॥४॥
उत्खातासिकराः काश्चिदङ्गरक्षाविधौ स्थिताः । तस्या अभीष्टभोगादीन् दातुं चान्यास्तदिच्छया ॥५॥
पुष्परेणुभिराकीर्णं मार्जयन्ति नृपाङ्गणम् । काश्चिच्चान्याः प्रकुर्वन्ति चन्दनच्छटयोक्षितम् ॥६॥
विचित्रं बलिविन्यासं रत्नचूर्णैः प्रकुर्वते । काश्चिद् द्युशाखिपुष्पौघैरन्या उपहरन्ति च ॥७॥
काश्चित्खे तुङ्गहर्म्याग्रे तरला मणिदीपिकाः । निशासु बोधयन्ति स्म विधुन्वानस्तमोऽमितः ॥८॥
गतावंशुकसंधानमासनेऽप्यासनार्पणम् । स्थितौ च परितः सेवां तस्याश्चक्रुः सुराङ्गनाः ॥९॥
कदाचिज्जलकेलीभिर्वनक्रीडाभिरन्यदा । अन्येद्युर्मधुरैर्गीतैस्तत्सुतोत्थगुणान्वितैः ॥१०॥
परेद्युर्नर्तनैर्नेत्रप्रियैस्तूर्यत्रिकैः परैः । कथागोष्ठीभिरन्येद्युः प्रेक्षणगोष्ठीभिरन्यदा ॥११॥
इत्याद्यैरपरैर्दिव्यैर्विक्रियर्द्धिप्रभावजैः । विनोदैस्ता जिनाम्बाया देव्यश्चक्रुस्तरां सुखम् ॥१२॥

पंचकल्याणकोंके भोक्ता, तीन लोककी लक्ष्मीके दाता और संसारी जीवोंके त्राता श्री वीरनाथकी मैं उनकी शक्ति-प्राप्तिके लिए स्तुति करता हूँ ॥१॥

भगवान्‌के गर्भमें आनेके पश्चात् उन कुमारिका देवियोंमें से कितनी ही देवियाँ माताके आगे मंगल द्रव्योंको रखती थीं, कितनी ही देवियाँ माताको स्नान कराती थीं, कितनी ही ताम्बूल प्रदान करती थीं, कितनी ही रसोईके काममें लग गयीं, कितनी ही शय्या सजानेका काम करने लगीं, कोई पाद-प्रक्षालन कराती, कोई दिव्य आभूषण पहनाती, कोई माताके लिए कल्पलताके समान दिव्य मालाएँ बनाके देती, कोई रेशमी वस्त्र पहननेके लिए देती और कोई रत्नोंके आभूषण लाकर देती थी ॥२-४॥ कितनी ही देवियाँ माताकी शरीर-रक्षाके लिए हाथोंमें तलवार लिये खड़ी रहतीं और कितनी ही देवियाँ माताकी इच्छाके अनुसार उन्हें अभीष्ट भोगादिकी वस्तुएँ लाकर देती थीं ॥५॥ कितनी ही देवियाँ पुष्प-पराग-से व्याप्त राजांगणको साफ करतीं और कितनी ही चन्दनके जलका छिड़काव करती थीं ॥६॥ कितनी ही देवियाँ रत्नोंके चूर्णसे सांथिया आदि पूरती थीं, और कितनी ही कल्पवृक्षोंके पुष्पोंसे बने फूल-गुच्छक भेंट करती थीं ॥७॥ कितनी ही देवियाँ आकाशमें ऊँचे राजभवनके अग्रभागपर रातके समय प्रकाशमान मणि-दीपक जलाती थीं जो कि सब ओरके अन्धकार-का नाश करते थे। माताके गमन करते समय कितनी ही देवियाँ वस्त्रोंको सँभालती थीं और उनके बैठते समय आसन-समर्पण करती थीं। माताके खड़े होनेपर वे देवियाँ चारों ओर खड़ी होकर उनकी सेवा करती थीं ॥८-९॥ वे देवियाँ कभी जलक्रीड़ाओंसे, कभी वनक्रीड़ाओं-से, कभी उसके गर्भस्थ पुत्रके गुणोंसे युक्त मधुर गीतोंसे, कभी नेत्र-प्रिय नृत्योंसे, कभी तीन प्रकारके बाजोंसे, कभी कथा-गोष्ठियोंसे और कभी दर्शनीय स्थलोंको दिखानेके द्वारा माताका मनोरंजन करती थीं ॥१०-११॥ इनको आदि लेकर विक्रिया ऋद्धिके प्रभावसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके अन्य दिव्य विनोदोंके द्वारा वे जिनमाताको सर्व प्रकारसे सुखी करती

इत्येषा दिक्कुमारीभिर्विधिना पर्युपासिता । तत्प्रभावैरिवाविष्टा बभौ त्यक्तोपमा सती ॥१३॥
नवमे मास्यथाभ्यर्णे अन्तर्वत्नीं महागुणाम् । प्रज्ञाप्रकर्षसंप्राप्तां देव्यस्तामित्यरञ्जयन् ॥१४॥
निगूढार्थक्रियाशब्दैर्नानाप्रश्नैर्मनोहरैः । प्रहेलिकानिरोष्ठ्याद्यैः काव्यैः श्लोकैश्च धर्मदैः ॥१५॥
विरक्तो नित्यकामिन्यां कामुकोऽकामुको महान् । सस्पृहो निःस्पृहो लोके परात्मान्यश्च यः स कः ॥१६॥
(प्रहेलिका)
दृश्योऽदृश्यस्त्रिचिद्भूपः प्रकृत्या निर्मलोऽव्ययः । हन्ता देहविधेर्देवोना यः क्व वर्ततेऽद्य सः ॥१७॥
(प्रहेलिका)
असंख्यनृसुराराध्यो दृश्योऽत्र त्रिजगद्गुरुः । जयतात्ते सुतोऽनेकैर्गुणैः सारैश्च सुन्दरि ॥१८॥
(निरोष्ठ्यम्)
नित्यस्त्रीरागरक्तो यस्त्यक्तान्यस्त्रीसुखाशयः । सूनुस्ते जगतां नाथो नो रक्षतु गुणाकरः ॥१९॥
(निरोष्ठ्यम्)
हरहर्यादिविश्वेषां मनोऽम्ब त्रिजगत्पतेः । गर्भाधानेन दिव्येन जगत्कल्याणकारिणि ॥२०॥
(क्रियागोपितम्)
अटाद्युभूनृनाथानां तीर्थतां तीर्थधारिणे । धर्मतीर्थकरोत्पत्तेः स्वस्य गर्भाज्जगद्धिते ॥२१॥
(क्रियागोपितम्)
हितकृत्क इहामुत्र देवि योऽनन्तशर्मणे । त्रिजगद्धितकर्त्रोश्च कर्ता चिद्धर्मतीर्थयोः ॥२२॥

थीं ॥१२॥ इस प्रकार उन दिक्कुमारी देवियोंके द्वारा विधिपूर्वक उपासना की गयी सती जिन-माताने उनके प्रभावसे व्याप्त होकर अनुपम शोभाको धारण किया ॥१३॥

अथानन्तर नवम मासके समीप आनेपर महागुणशालिनी, बुद्धि प्रकर्षधारिणी उस गर्भवती माताका मन देवियोंने गूढ़ अर्थ और गूढ़ क्रियापदवाले नाना प्रकारके मनोहर प्रश्नोंसे, प्रहेलिका (पहेलियाँ) पूछकर, निरोष्ठ्य (ओठसे नहीं बोले जानेवाले वर्णोंसे युक्त) काव्य, और धार्मिक श्लोकोंके द्वारा इस प्रकारसे रंजायमान करना प्रारम्भ किया ॥१४-१५॥ देवियोंने पूछा—हे माता, बताओ—नित्य ही कामिनी जनोंमें आसक्त होकरके भी विरक्त है, कामुक होकरके भी अकामुक है और इच्छा-सहित होकर भी इच्छा-रहित है ? ऐसा लोक-में कौन श्रेष्ठ आत्मा है ? माताने उनके इस प्रश्नका उत्तर इस प्रश्नमें पठित 'परात्मा' पदसे दिया । अर्थात् जो परमात्मा होता है, वह मुक्ति स्त्रीमें आसक्त होते हुए भी सांसारिक स्त्रियोंसे विरक्त रहता है ॥१६॥ पुनः देवियोंने पूछा—जो अदृश्य होकरके भी दृश्य है, रत्न त्रयसे भूषित होनेपर भी त्रिशूलधारक नहीं है, प्रकृतिसे निर्मल और अव्यय होनेपर भी देहकी रचनाका नाशक है, परन्तु वह महादेव नहीं है, ऐसा वह जीव अभी कहाँ रहता है ? इसका उत्तर इसी श्लोक-पठित 'देवोना' पदसे माताने दिया । अर्थात् वह देवरूपधारक मनुष्य तीर्थंकर हैं ॥१७॥ हे सुन्दरि, असंख्य नर और सुर-आराध्य, दृश्य, त्रिजगद्गुरु अनेक सारवान् गुण-युक्त तेरा पुत्र है । (यह निरौष्ठ्य काव्य है, क्योंकि इस श्लोकमें ओठसे बोले जानेवाला एक भी शब्द नहीं है) ॥१८॥ जो नित्य-स्त्री-राग-रक्त है, अन्य स्त्रीसुखका त्यागी है, ऐसा जगत्का नाथ तेरा गुणाकर सुत हमारी रक्षा करे । (इस पद्यमें भी सभी निरौष्ठ्य अक्षर हैं) ॥१९॥ हे जगत्कल्याणकारिणि, मातः, त्रिजगत्पतिको अपने दिव्य गर्भमें धारण करनेसे हर, हरि आदि सर्व देवोंके मनकी रक्षा करो । (इस श्लोकमें 'अव' क्रिया छिपी होनेसे यह क्रियागुप्त पद्य है) ॥२०॥ हे जगत्-हितंकरि, अपने गर्भसे धर्म-तीर्थंकरकी उत्पत्ति करनेके कारण तीर्थधारिणी तू देव, विद्याधर और भूमिगोचरी राजाओंका तीर्थस्थान बन ॥२१॥ (इस पद्यमें 'अट' यह क्रिया गुप्त है) । (प्रश्न—) हे देवि ! इस लोक और परलोकमें

महागुरुर्गुरूणां को यो गरीयान् जगत्त्रये । सर्वैश्चातिशयैर्दिव्यैर्गुणैरन्तातिगैर्जिनेट् ॥२३॥
प्रामाण्यं सद्वचः कस्य यः सर्वज्ञो जगद्धितः । निर्दोषो वीतरागश्च तस्य नान्यस्य जातुचित् ॥२४॥
पीयूषमिव किं पेयं जन्ममृत्युविषापहम् । जिनेन्द्रास्योद्भवं ज्ञानामृतं दुर्विद्विषं न च ॥२५॥
किं ध्येयं धीमतां लोके ध्यानं च परमेष्ठिनाम् । जिनागमं स्वतत्त्वं वा धर्मशुक्लं न चापरम् ॥२६॥
त्वरितं करणीयं किं येन नश्यति संसृतिः । अनन्ता दृष्टिचिद्वृत्तयमादि तन्न चापरम् ॥२७॥
सहगामी सतां कोऽत्र धर्मबन्धुर्दयामयः । सर्वत्रापदि सत्त्राता पापारिरपि नापरः ॥२८॥
धर्मस्य कानि कर्तॄणि तपो रत्नत्रयाणि च । व्रतशीलानि सर्वाणि क्षमादिलक्षणान्यपि ॥२९॥
धर्मस्य किं फलं लोके या विश्वेन्द्रविभूतयः । सत्सुखं श्रीजिनादीनां तत्सर्वं तत्फलं परम् ॥३०॥
लक्षणं कीदृशं धर्मिणामत्र शान्तता परा । निरहंकारता शुद्धक्रिया तत्परतानिशम् ॥३१॥
कानि पापस्य कर्तॄणि मिथ्यात्वादीनि खानि च । कोपादीनि कुसंगानि षोढानायतनान्यपि ॥३२॥
पापस्य किं फलं यच्चामनोज्ञं दुःखकारणम् । दुर्गतौ क्लेशरोगादिनिन्द्यं सर्वं हि तत्फलम् ॥३३॥
पापिनां लक्षणं कीदृग्विधं तीव्रकषायता । परनिन्दात्मशंसादिरौद्रत्वादीनि तत्परम् ॥३४॥
को लोभी सर्वदा योऽत्रैकं धर्मं भजते सुधीः । मुमुक्षुर्विमलाचारैस्तपोयोगैश्च दुःकरैः ॥३५॥

जीवोंका हित करनेवाला कौन है ? (उत्तर-) जो चेतन-धर्म तीर्थका कर्ता है, वही अनन्त सुखके लिए तीन जगत्का हित करनेवाला है ॥२२॥ (प्रश्न-) गुरुओंमें सबसे महान् गुरु कौन है ? (उत्तर-) जो सर्व दिव्य अतिशयोंसे अनन्त गुणोंसे गरिष्ठ हैं, ऐसे जिनराज ही महान् गुरु हैं ॥२३॥ (प्रश्न-) इस लोकमें किसके वचन प्रामाणिक हैं ? (उत्तर-) जो सर्वज्ञ, जगत्-हितैषी, निर्दोष और वीतराग है, उसके ही वचन प्रामाणिक हैं, अन्य किसीके नहीं हैं ॥२४॥ (प्रश्न-) जन्म-मरणरूप विषको दूर करनेवाली, अमृतके समान पीने योग्य क्या वस्तु है ? (उत्तर-) जिनेन्द्रदेवके मुखसे उत्पन्न हुआ ज्ञानामृत ही पीनेके योग्य है। मिथ्याज्ञानियोंके विषरूप वचन नहीं ॥२५॥ (प्रश्न-) इस लोकमें बुद्धिमानोंको किसका ध्यान करना चाहिए ? (उत्तर-) पंच परमेष्ठियोंका, जिनागमका, आत्मतत्त्वका और धर्मशुक्लरूप ध्यानोंका ध्यान करना चाहिए। अन्य किसीका नहीं ॥२६॥ (प्रश्न-) शीघ्र क्या काम करना चाहिए ? (उत्तर-) जिससे संसारका नाश हो, ऐसे अनन्त दर्शन, ज्ञान, चारित्रके पालनेका काम करना चाहिए, अन्य काम नहीं ॥२७॥ (प्रश्न-) इस संसारमें सज्जनोंके साथ जानेवाला कौन है ? (उत्तर-) पापका नाशक, सर्वत्र आपदाओंमें रक्षक ऐसा दयामयी धर्म बन्धु ही साथ जानेवाला है, अन्य कोई नहीं ॥२८॥ (प्रश्न-) धर्मके करनेवाले कौन हैं ? (उत्तर-) तप, रत्नत्रय, व्रत, शील और क्षमादि लक्षणवाले सर्व कार्य धर्मके करनेवाले हैं ॥२९॥ (प्रश्न -) इस लोकमें धर्मका क्या फल है ? (उत्तर-) समस्त इन्द्रोंकी विभूति, तीर्थंकरादिकी लक्ष्मी और उत्तम सुखकी प्राप्ति ही धर्मका उत्तम फल है ॥३०॥ (प्रश्न-) धर्मात्माओंका क्या लक्षण है ? (उत्तर-) उत्तम शान्त और अहंकार-रहित स्वभाव होना, तथा शुद्ध क्रियाओंके आचरणमें नित्य तत्पर रहना ये धर्मात्माके लक्षण हैं ॥३१॥ (प्रश्न-) कौनसे कार्य पापके करनेवाले हैं ? (उत्तर-) मिथ्यात्व आदिक, पंच इन्द्रियाँ, क्रोधादि कषाय, कुसंग और छह अनायतन ये सब पापके करनेवाले हैं ॥३२॥ (प्रश्न-) पापका क्या फल है ? (उत्तर-) अप्रिय और दुखके कारण मिलना, दुर्गतिमें रोग-क्लेशादि भोगना और निन्द्य पर्याय पाना ये सर्व ही पापके फल हैं ॥३३॥ (प्रश्न-) पापियोंके लक्षण किस प्रकारके हैं ? (उत्तर -) तीव्र कषायी होना, पर-निन्दा और अपनी प्रशंसा करना, रौद्र कार्य करना इत्यादि पापियोंके लक्षण हैं ॥३४॥ (प्रश्न-) सदा लोभी कौन है ? (उत्तर-) जो बुद्धिमान् संसारमें सदा एकमात्र धर्मका ही सेवन करता है, और

विवेकी कोऽत्र यो वेत्ति विचारं निस्तुषं हृदि । देवशास्त्रगुरूणां च धर्मादीनां न चापरः ॥३६॥
को धर्मी यो युतः सारैः क्षमाद्यैर्दशलक्षणैः । जिनाज्ञापालको धीमान् व्रती ज्ञानी न चापरः ॥३७॥
किममुत्र सुपाथेयं यत्पुण्यं निर्मलं कृतम् । दानपूजोपवासाद्यैर्व्रतशीलयमादिभिः ॥३८॥
सफलं जन्म कस्येह येनाप्ता बोधिरुत्तमा । मुक्तिश्रीसुखमाता च तस्य नान्यस्य जातुचित् ॥३९॥
कः सुखी जगतां मध्ये यः सर्वोपधिवर्जितः । ज्ञानध्यानामृतस्वादी वनवासी न चापरः ॥४०॥
चिन्ता कात्र विधेयाहो कर्मारीणां विघातने । साधने मुक्तिलक्ष्म्याश्च नान्यत्र खादिशर्मणि ॥४१॥
क विधेयो महान् यत्नः पालने शिवदायिनाम् । रत्नत्रयतपोयोगज्ञानादीनां न संपदाम् ॥४२॥
कः सुहृत्परमः पुंसां यो बलात्कारयेद् वृषम् । तपो दानं व्रतादीनि दुराचारं निवार्य च ॥४३॥
कः शत्रुर्विषयो योऽत्र तपोदीक्षाव्रतादिकान् । हितान् ददाति न दातुं स शत्रुः स्वान्ययोः कुधीः ॥४४॥
किं श्लाघ्यं यन्महद्दानं सुक्षेत्रेऽल्पधनान्वितैः । तपो वा दुर्बलाङ्गैर्यत् क्रियतेऽनघमूर्जितम् ॥४५॥
त्वत्समा का महादेवी महादेवं जगद्गुरुम् । सूते या धर्मकर्तारं मत्समा सा न चापरा ॥४६॥
किं पाण्डित्यं श्रुतं ज्ञात्वा यद्दुराचारदुर्मदम् । मनाग् न क्रियतेऽन्यद्वा पापहेतुक्रियादिकम् ॥४७॥
किं मूर्खत्वं परिज्ञाय यज्ज्ञानं हितकारणम् । तपो धर्मक्रियाचारं निःपापं न विधीयते ॥४८॥

निर्मल आचरणोंसे तथा दुष्कर तपोयोगोंसे मोक्षकी इच्छा करता है, वही महालोभी है ॥३५॥ (प्रश्न-) इस लोकमें विवेकी पुरुष कौन है? (उत्तर-) जो मनमें देवशास्त्र गुरुका और धर्मादिकका निर्दोष विचार करता है, वह विवेकी है। अन्य कोई नहीं ॥३६॥ (प्रश्न-) धर्मात्मा कौन है? (उत्तर-) जो सारभूत उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्मसे संयुक्त है, जिन-आज्ञाका पालक है, बुद्धिमान्, व्रती और ज्ञानी है, वही धर्मात्मा है। अन्य कोई नहीं ॥३७॥ (प्रश्न-) परलोकमें जाते समय उत्तम पाथेय (मार्गका भोजन) क्या है? (उत्तर-) दान, पूजा, उपवासादिसे, तथा व्रत, शील संयमादिसे उपार्जित निर्मल पुण्य ही परलोकका उत्तम पाथेय है ॥३८॥ (प्रश्न-) इस संसारमें किसका जन्म सफल है? (उत्तर-) जिसने मुक्ति-श्रीकी सुखमयी मातास्वरूप उत्तम बोधि प्राप्त (भेदज्ञान) कर ली है, उसीका जन्म सफल है, अन्य किसीका नहीं ॥३९॥ (प्रश्न-) जगत्में सुखी कौन है? (उत्तर-) जो सर्व परिग्रहसे रहित है, ज्ञान और ध्यान रूप अमृतका आस्वादन करनेवाला है, ऐसा वनवासी साधु संसारमें सुखी है और कोई सुखी नहीं ॥४०॥ (प्रश्न-) संसारमें चिन्ता किस वस्तुकी करना चाहिए? (उत्तर-) कर्म-शत्रुओंके विघात करनेमें, और मुक्ति लक्ष्मीके साधनमें चिन्ता करना चाहिए। इन्द्रियादिके सुखमें नहीं ॥४१॥ (प्रश्न -) महान् प्रयत्न कहाँ करना चाहिए? (उत्तर-) शिव देनेवाले रत्नत्रयधर्ममें, तपःसाधनमें और ज्ञानादिकी प्राप्तिमें प्रयत्न करना चाहिए। सांसारिक सम्पदाओंके पानेमें नहीं ॥४२॥ (प्रश्न-) मनुष्योंका परम मित्र कौन है? (उत्तर -) जो आग्रहपूर्वक धर्मको, तप, दान और व्रतादिको करावें और दुराचारको छुड़ावे ॥४३॥ (प्रश्न -) संसारमें विषम शत्रु कौन है? (उत्तर-) जो आत्म-हितकारक तप, दीक्षा और व्रतादिको ग्रहण न करने देवे, वह कुबुद्धि अपना और दूसरोंका परम शत्रु है ॥४४॥ (प्रश्न-) प्रशंसा करनेके योग्य क्या कार्य है? (उत्तर-) जो अल्प धनसे युक्त होनेपर भी उत्तम क्षेत्रमें महान् दान दे और दुर्बल अंग होनेपर भी निर्दोष उत्तम तपश्चरण करे, उसके ये दोनों कार्य प्रशंसनीय हैं ॥४५॥ (प्रश्न-) तुम्हारे समान और दूसरी महादेवी कौन है? (उत्तर-) जो जगत्के गुरु और धर्मके कर्ता महान् देवको उत्पन्न करती है, वह मेरे समान है, दूसरी कोई नहीं है, ॥४६॥ (प्रश्न-) पाण्डित्य क्या है? (उत्तर-) जो शास्त्रोंको जानकर जरा-सा भी दुराचरण और दुरभिमान नहीं करता, तथा पापकी कारणभूत अन्य क्रियादिको नहीं करना ही पाण्डित्य है ॥४७॥ (प्रश्न-) मूर्खता क्या है? (उत्तर-)

के चौरा दुर्धराः पुंसां धर्मरत्नापहारिणः । पञ्चाक्षाः पापकर्तारः सर्वानर्थविधायिनः ॥४९॥
के शूरा ये जयन्त्यत्र परीषहमहाभटान् । धैर्यासिना कषायारीन् स्मरमोहादिशात्रवान् ॥५०॥
को देवोऽखिलवेत्ता यो दोषाष्टादशदूरगः । अनन्तगुणवाराशिर्धर्मकर्ता परो न च ॥५१॥
को महान् गुरुरेवात्र यो द्विधा सङ्गवर्जितः । जगद्भव्यहितोद्युक्तो मुमुक्षुर्नापरः क्वचित् ॥५२॥
इति ताभिः प्रयुक्तानां प्रश्नानां शुभकारिणाम् । सर्वविद्गर्भमाहात्म्यादुत्तरं सा स्फुटं ददौ ॥५३॥
निसर्गेणामला बुद्धिर्विज्ञानेऽस्यास्तरामभूत् । त्रिज्ञानभास्वरं देवमुद्वहन्त्या निजोदरे ॥५४॥
सुतोऽस्या उदरस्थोऽपि नाजीजनन्मनाग् व्यथाम् । शुक्तिस्थो जलबिन्दुः किं विक्रियां याति जातुचित् ॥५५॥
त्रिवलीभङ्गुरं देव्यास्तथैवास्थात्तनूदरम् । तथापि ववृधे गर्भस्तत्प्रभावो महात्मनः ॥५६॥
साभात्पुरुषरत्नेन तेन गर्भस्थितेन भोः । रत्नगर्भा धरेवान्या महती कान्तिसंश्रिता ॥५७॥
शक्रेण प्रहितेन्द्राणी ह्यप्सरोभिः समं मुदा । सिषेवे यदि तां देवीं तस्याः का वर्णना परा ॥५८॥
इत्याद्यैः परमोत्साहैर्महोत्सवशतैः परैः । नवमे मासि संपूर्णे चैत्रे मासि शुभोदये ॥५९॥
त्रयोदशीदिने शुक्ले योगेऽर्यमणि नामनि । शुभे लग्नादिके देवी सुखेन सुषुवे सुतम् ॥६०॥
लसत्कान्तिहतध्वान्तं दिव्यदेहं जगद्धितम् । त्रिज्ञानभूषितं दीप्रं धर्मचित्तीर्थकारकम् ॥६१॥
तदास्य जन्ममाहात्म्यात्प्रापुर्निर्मलतां दिशः । नभसामाववौ वायुः सुगन्धिः शिशिरः शनैः ॥६२॥

हितकारक ज्ञानको पा करके भी निष्पाप धर्म, क्रिया और आचारको नहीं करना ही मूर्खता है ॥४८॥ (प्रश्न–) दुर्धर चोर कौनसे हैं? (उत्तर–) जीवोंके धर्मरूप रत्नके चुरानेवाले, पाप-कारक, और सर्व अनर्थ विधायक इन्द्रिय-विषय ही दुर्धर चोर हैं ॥४९॥ (प्रश्न–) इस जगत्में शूर-वीर कौन हैं? (उत्तर–) जो धैर्यरूपी तलवारके द्वारा परीषह रूपी महान् सुभटोंको, कषायरूप अरियोंको और काम-मोहादि शत्रुओंको जीतते हैं, वे ही पुरुष शूरवीर हैं ॥५०॥ (प्रश्न–) देव कौन है? (उत्तर–) जो सर्व वस्तुओंका ज्ञाता है, अठारह दोषोंसे रहित है, अनन्त गुणोंका सागर है और धर्म तीर्थका कर्ता है, वही देव है। दूसरा नहीं ॥५१॥ (प्रश्न–) महान् गुरु कौन है? (उत्तर–) जो अन्तरंग-बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहसे रहित है, जगत्के भव्य जीवोंके हित करनेमें उद्यत है, और मोक्षका इच्छुक है, वही सच्चा गुरु है और कोई नहीं ॥५२॥ इस प्रकारसे उन देवियोंके द्वारा पूछे गये शुभ-कारक प्रश्नोंका उत्तम स्पष्ट उत्तर सर्ववेत्ता गर्भस्थ तीर्थंकरके माहात्म्यसे उस माताने दिया ॥५३॥

यद्यपि माता प्रियकारिणी स्वभावसे ही निर्मल बुद्धिवाली थी, तो भी अपने उदरमें त्रिज्ञानी सूर्यरूप जिनदेवको धारण करनेसे विशिष्ट ज्ञानमें उसकी बुद्धि और भी अधिक निपुण हो गयी ॥५४॥ गर्भस्थ पुत्रने अपनी माताको जरा-सी भी पीड़ा नहीं दी। शुक्तिके भीतर स्थित जलबिन्दु क्या कभी कुछ विकार करता है? नहीं करता ॥५५॥ माताका त्रिवलीसे सुन्दर कृश उदर ज्योंका त्यों रहा और गर्भ बढ़ता रहा। यह प्रभाव गर्भस्थ महान् आत्माका था ॥५६॥ गर्भमें स्थित उस पुरुषरत्नसे वह माता इस प्रकारसे शोभाको प्राप्त हुई, जैसे कि महाकान्तिसे युक्त दूसरी रत्नगर्भा पृथ्वी ही हो ॥५७॥ यदि शक्रेन्द्रके द्वारा भेजी गयी इन्द्राणी अप्सराओंके साथ हर्षसे उस प्रियकारिणी देवीकी सेवा करती थी, तो उसकी महिमाका और अधिक क्या वर्णन किया जा सकता है ॥५८॥

इस प्रकारके परम उत्साह-पूर्ण सैकड़ों महोत्सवोंके साथ गर्भकालके नौ मास पूर्ण होनेपर चैत्र मासके शुभोदयवाले शुक्ल पक्षमें त्रयोदशीके दिन 'अर्यमा' नामक योगमें शुभ लग्नादिके समय सुखसे पुत्रको पैदा किया ॥५९-६०॥ वह पुत्र प्रकाशमान शरीरकी कान्तिसे अन्धकारको नाश करनेवाला, दिव्य देहका धारक, जगत्-हितैषी, तीन ज्ञानसे भूषित देदीप्य-मान और धर्मतीर्थका कर्ता था ॥६१॥ उस समय इस पुत्रके जन्म होनेके माहात्म्यसे सर्व

अम्लानकुसुमैर्वृष्टिं प्रचक्रुः सुरभूरुहाः । चतुर्णिकायदेवेशामासनानि च कम्पिरे ॥६३॥
अनाहताः पृथुध्वाना घण्टादिप्रमुखानकाः । दध्वनुर्नाकिनां लोके वदन्तीव जिनोत्सवम् ॥६४॥
सिंहशङ्खमहाभेरीरवा आसन् स्वयं तदा । सहान्यैः सकलाश्चर्यैर्निकायत्रितये परे ॥६५॥
चिह्नैस्तैः सामराः शक्रा ज्ञात्वा जन्मजिनेशिनः । तत्कल्याणे मतिं चक्रुः सौधर्मेन्द्रादयोऽखिलाः ॥६६॥
तदैवेन्द्राज्ञया देवपृतना निर्ययुर्दिवः । महाध्वानाः क्रमेणैव महाब्धेरिव वीचयः ॥६७॥
हस्तिनोऽश्वा रथा गन्धर्वा नर्तक्यः पदातयः । वृषभा इति देवेशां सप्तानीकानि निर्ययुः ॥६८॥
अथ सौधर्मकल्पेश आरुह्य देवदन्तिनम् । ऐरावतं सहेन्द्राण्या प्रतस्थे निर्जरैर्वृतः ॥६९॥
ततः सामानिकाद्या हि निःशेषा नाकिनो मुदा । स्वस्वभूत्या श्रिता धर्मोद्यतास्तं परिवव्रिरे ॥७०॥
दुन्दुभीनां महाध्वानैर्देवानां जयघोषणैः । तदाभवन्महाध्वानः सप्तानीकेषु विस्फुरन् ॥७१॥
केचिद्धसन्ति वल्गन्ति नृत्यन्त्यास्फोटयन्ति च । पुरो धावन्ति गायन्ति तत्र देवाः प्रमोदिनः ॥७२॥
ततः खाङ्गणमारुध्य स्वैः स्वैश्छत्रैर्ध्वजोत्करैः । विमानैर्वाहनैर्वाद्यैरवतीर्य महीतलम् ॥७३॥
विभूत्या परया सार्धं क्रमात्कुण्डपुरं परम् । चतुर्णिकायदेवेशाः प्रापुर्नाकयङ्गनावृताः ॥७४॥
तदा मध्योर्ध्वभागेन परितस्तत्पुरं सुरैः । देवीभिरभवद्रुद्धं शक्राद्यैश्च नृपाङ्गणम् ॥७५॥
ततः शची प्रविश्याशु प्रसवागारमूर्जितम् । दिव्यदेहकुमारेण सार्धं वीक्ष्य जिनाम्बिकाम् ॥७६॥
मुहुः प्रदक्षिणीकृत्य मूर्ध्ना नत्वा जगद्गुरुम् । जिनमातुः पुरः स्थित्वा श्लाघते स्मेति तां गुणैः ॥७७॥

दिशाएँ निर्मल हो गयीं और आकाशमें मन्द सुगन्धित पवन चलने लगा ॥६२॥ स्वर्गके कल्प-वृक्षोंने खिले हुए फूलोंकी वर्षा की, और चारों जातिके देवेन्द्रोंके आसन काँपने लगे ॥६३॥ स्वर्गलोकमें विना बजाये ही गम्भीर ध्वनि करनेवाले घण्टा आदि प्रमुख बाजे बजने लगे, मानो वे प्रभुके जन्मोत्सवकी ही बाट जोह रहे हों ॥६४॥ शेष तीन जातिके देवोंके यहाँ सिंह, शंख और भेरीके शब्द उस समय अपने आप ही अन्य आश्चर्योंके साथ होने लगे ॥६५॥ इन सब चिह्नोंसे देवोंके साथ इन्द्रोंने तीर्थंकर देवका जन्म जानकर सब देवोंने भगवान्‌के जन्मकल्याणक करनेका विचार किया ॥६६॥ तभी इन्द्रकी आज्ञासे देव-सेना महाध्वनि करती हुई महासमुद्रकी तरंगोंके समान क्रमशः स्वर्गसे निकली ॥६७॥ हाथी, घोड़े, रथ, गन्धर्व, नर्तकी, पयादे और बैल यह सात प्रकारकी देवोंकी सेना निकली ॥६८॥ तभी सौधर्म स्वर्गका स्वामी ऐरावत नामके देव गजराजपर इन्द्राणीके साथ बैठकर देवोंसे घिरा हुआ स्वर्गसे चला ॥६९॥

तत्पश्चात् सामानिक आदि समस्त देवगण अपनी-अपनी विभूतिके साथ धर्ममें उद्यत होकर और इन्द्रको घेरकर चले ॥७०॥ उस समय दुन्दुभियोंकी महाध्वनिसे तथा देवोंके जय-जयकारसे सातों प्रकारकी सेनाओंमें फैलता हुआ महान् शब्द हुआ ॥७१॥ उस समय हर्षित होते हुए कितने ही देव हँस रहे थे, कितने ही कूद रहे थे, कितने ही नाच रहे थे, कितने ही हाथोंसे तालियाँ बजा रहे थे, कितने ही आगे दौड़ रहे थे और कितने ही देव गा रहे थे ॥७२॥ तब वे देव अपने-अपने छत्रोंसे, ध्वजाओंके समूहोंसे, विमानोंसे, वाहनोंसे और बाजोंसे गगनांगणको व्याप्त करते हुए भूतलपर उतरे और परम विभूतिके साथ अपनी-अपनी देवांगनाओंसे घिरे हुए वे चतुर्निकायके देवेन्द्र क्रमसे उस उत्तम कुण्डपुर पहुँचे ॥७३-७४॥ उस समय नगरका मध्य और ऊर्ध्व भाग देव-देवियोंके द्वारा सर्व ओरसे घिर गया, तथा शक्र आदि इन्द्रोंके द्वारा राजाका आँगन व्याप्त हो गया ॥७५॥

तत्पश्चात् शची शीघ्र प्रकाशमान प्रसूतिगृहमें प्रवेश करके, दिव्य देहके धारक बालक-के साथ जिन-माताको देखकर, बार-बार उनकी प्रदक्षिणा करके मस्तकसे जगद्-गुरुको नमस्कार करके और जिनमाताके आगे खड़ी होकर गुणोंके द्वारा उनकी इस प्रकार स्तुति

त्वं देवि भुवनाम्बासि जननात्त्रिजगत्पतेः । महादेवी त्वमेवासि महादेवाङ्गजोद्भवात् ॥७८॥
त्वयाद्य सार्थकं नाम कृतं हे प्रियकारिणि । स्वस्य विश्वप्रियोत्पत्तेस्ततोऽन्या स्त्री न ते समा ॥७९॥
इत्यभिस्तुत्य गूढाङ्गी तां मायानिद्रयान्विताम् । कृत्वा मायामयं बालं निधाय तत्पुरोऽपरम् ॥८०॥
स्वकराभ्यां मुदादाय दीप्त्या द्योतितदिङ्मुखम् । जिनं संस्पर्श्य तद्गात्रमाघ्राय तन्मुखं मुहुः ॥८१॥
भेजे सा परमां प्रीतिं महतीं रूपसंपदाम् । निरुन्मेषतया दिव्यरूपोत्थानां विलोकनात् ॥८२॥
ततोऽसौ बालसूर्येण व्रजन्ती तेन खे बभौ । तदङ्गकान्तितेजोभिः प्राचीव भानुना समम् ॥८३॥
छत्रं ध्वजं सुभृङ्गारं कलशं सुप्रतिष्ठकम् । चामरं दर्पणं तालमित्यादाय स्वपाणिभिः ॥८४॥
अष्टौ मङ्गलवस्तूनि जगन्मङ्गलकारिणः । तदा मङ्गलधारिण्यः दिक्कुमार्यः पुरो ययुः ॥८५॥
ततो मुदा समानीय जगदानन्दवर्तिनम् । इन्द्राणी देवराजस्य व्यधात् करतले जिनम् ॥८६॥
तन्महारूपसौन्दर्यकान्तिलक्षणदर्शनात् । प्रमोदं परमं प्राप्य स जिनं स्तोतुमुद्ययौ ॥८७॥
त्वं देव परमानन्दं कर्तुमस्माकमुद्गतः । विश्वान् दर्शयितुं लोके पदार्थान् बालचन्द्रवत् ॥८८॥
त्वं ज्ञानिन् जगतां नाथो महतां त्वं महागुरुः । पतिर्जगत्पतीनां त्वं धाता चिद्धर्मतीर्थयोः ॥८९॥
आमनन्ति मुनीन्द्रास्त्वां केवलेनोदयाचलम् । त्रातारं भव्यजीवानां भर्तारं मुक्तिसत्स्त्रियः ॥९०॥
मिथ्याज्ञानान्धकूपेऽस्मिन् पततो भव्यदेहिनः । धर्महस्तावलम्बेन बहूंस्त्वमुद्धरिष्यसि ॥९१॥
सुधियोऽत्र भवद्वाण्या हत्वा मोहादिदुर्विभीन् । यास्यन्ति परमं स्थानं केऽपि स्वर्गादि चापरम् ॥९२॥

करने लगी ॥७६-७७॥ हे देवि, त्रिजगतपतिको जन्म देनेसे तुम सर्व लोककी माता हो, महादेव स्वरूप पुत्रके उत्पन्न करनेसे तुम ही महादेवी हो, संसारके प्रिय पुत्रकी उत्पत्तिसे तुमने अपना 'प्रियकारिणी' यह नाम आज सार्थक कर दिया है, संसारमें तुम्हारे समान और कोई स्त्री नहीं है ॥७८-७९॥

इस प्रकारसे जिनमाताकी स्तुति कर गुप्त देहवाली उस इन्द्राणीने उन्हें माया-रूप निद्रासे युक्त करके और उनके समीप दूसरा मायामयी बालक रखकर, अपनी कान्तिसे दशों दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले बालजिनेन्द्रको हर्षके साथ दोनों हाथोंसे उठाकर, उनके शरीरका आलिंगन कर और बार-बार मुख चुम्बन कर, दिव्यरूप-जनित अलौकिक रूप सम्पदाको निर्निमेष दृष्टिसे देखती वह परम प्रीतिको प्राप्त हुई ॥८०-८२॥ उस समय वह इन्द्राणी भगवान्‌के शरीरकी कान्ति और तेजसे युक्त बालसूर्यके साथ आकाशमें जाती हुई इस प्रकारसे शोभाको प्राप्त हुई, जैसे कि उदित होते हुए सूर्यके साथ पूर्व दिशा शोभती है ॥८३॥ उस समय जगत्‌में मंगल करनेवाली दिक्कुमारी देवियाँ छत्र, ध्वजा, भृङ्गार, कलश, सुप्रतिष्ठक (स्वस्तिक), चमर, दर्पण और ताल (पंखा) इन आठ मंगल वस्तुओंको अपने हाथोंमें लेकर इन्द्राणीके आगे चलीं ॥८४-८५॥ इस प्रकार संसारमें आनन्द करनेवाले बाल जिनको लाकर इन्द्राणीने हर्षके साथ देवेन्द्रके करतलमें दिया ॥८६॥ उन बाल जिनके रूप, सौन्दर्य, कान्ति और शुभ लक्षणोंके देखनेसे परम प्रमोदको प्राप्त होकर वह जिनदेवकी स्तुति करनेके लिए उद्यत हुआ ॥८७॥

हे देव, तुम हमारे परम आनन्दको करनेके लिए तथा लोकमें सर्व पदार्थोंको दिखानेके लिए बालचन्द्रके समान उदित हुए हो ॥८८॥ हे ज्ञानवान्, तुम जगत्‌के नाथ हो, महा-पुरुषोंके भी महान् गुरु हो, जगत्पतियोंके भी पति हो, और धर्मतीर्थके विधाता हो ॥८९॥ हे देव, मुनीन्द्रगण आपको केवलज्ञानरूप सूर्यका उदयाचल, भव्यजीवोंका रक्षक और मुक्ति रमाका भर्तार मानते हैं ॥९०॥ इस मिथ्याज्ञानरूप अन्ध कूपमें पड़े हुए बहुतसे भव्य जीवों-को धर्मरूप हस्तावलम्बन देकरके आप उनका उद्धार करोगे ॥९१॥ इस संसारमें कितने ही बुद्धिमान् लोग आपकी दिव्यवाणीसे अपने मोहादि कर्म शत्रुओंका नाशकर मोक्षरूप परम

अद्य प्रवर्तते देव ह्यानन्दः परमः सताम् । त्रिलोके धर्महेतुर्नोऽभवत्तीर्थंकरोदयात् ॥९३॥
अत देव वयं कुर्मः शिरसा ते नमस्क्रियाम् । सेवां भक्तिं मुदाज्ञां च दध्मो नान्यस्य जातुचित् ॥९४॥
स्तुत्वेति तं जगन्नाथं स्वाङ्कमारोप्य देवराट् । हस्तमुच्चालयामास मेरुं गन्तुं गजाश्रितः ॥९५॥
जय नन्देश वर्धस्व त्वमित्योच्चैर्ध्वनिव्रजैः । सुराः कलकलं चक्रुस्तदा व्याप्तं दिगन्तरम् ॥९६॥
अथोत्पेतुर्नभोमार्गं प्रोच्चरज्जयघोषणाः । नाकिनोऽमासुरेन्द्रेण प्रमोदाङ्कितविग्रहाः ॥९७॥
तदाकाशे नटन्ति स्म लीलयाप्सरसः पुरः । विभोर्व्रजन्त्य एवात्र हर्षास्तूर्यत्रिकैः समम् ॥९८॥
जन्माभिषेकसंबन्धिचारुगीतान्यनेकशः । दिव्यकण्ठा हि गन्धर्वा गायन्ति सह वीणया ॥९९॥
कुर्वन्ति विविधान् नादान् देवदुन्दुभयोऽद्भुतान् । मधुरान् सुरदोःस्पर्शाद् वधिरीकृतदिङ्मुखान् ॥१००॥
किन्नर्यः किन्नरैः सार्धं गीतं गानं मनोहरम् । पूर्णं जिनगुणैः सारैः कर्तुमारेभिरे मुदा ॥१०१॥
वपुर्भगवतो दिव्यं पश्यन्तः स्वाङ्गनान्विताः । तदानिमिषनेत्राणां फलं प्रापुः सुरासुराः ॥१०२॥
सौधर्माधिपतेरङ्कमध्यासीनस्य सद्गुरोः । शिरसीन्दुसमं छत्रमैशानेन्द्रः स्वयं दधे ॥१०३॥
सनत्कुमारमाहेन्द्रौ चामरोत्क्षेपणैर्मुदा । क्षीराब्धिवीचिसादृश्यैर्भजतो धर्मनायकम् ॥१०४॥
तदातनीं परां भूतिं वीक्ष्य केचिज्जिनेशिनः । शक्रप्रामाण्यमाश्रित्य स्वीचक्रुर्दर्शनं हृदि ॥१०५॥
ज्योतिष्पटलमुल्लङ्घ्य प्रययुर्देवनायकाः । तन्वन्तश्चेन्द्रचापानि खेऽङ्गभूषणरश्मिभिः ॥१०६॥
क्रमात्प्रापुः सुराधीशा महोत्सवशतैः परैः । विभूत्यामा महत्या च महामेरुं महोन्नतम् ॥१०७॥

स्थानको प्राप्त करेंगे और कितने ही स्वर्गादिको जायेंगे ॥९२॥ हे देव, आप तीर्थंकरके उदय होनेसे तीन लोकमें सन्तजनोंको आज परम आनन्द हो रहा है, क्योंकि आप धर्म-प्रवृत्तिके कारण हैं ॥९३॥ अतएव हे देव, हम मस्तक नमाकर आपको नमस्कार करते हैं और हर्षसे आपकी सेवा, भक्ति एवं आज्ञाको धारण करते हैं। हम अन्य देवकी सेवा-भक्ति कभी नहीं करते हैं ॥९४॥ इस प्रकार वह देवेन्द्र स्तुति करके हाथीपर बैठकर और उस जगन्नाथको अपनी गोदमें विराजमान कर सुमेरुपर चलनेके लिए अपना हाथ ऊपर उठाकर घुमाया ॥९५॥ उस समय सब देवोंने 'हे प्रभो, आपकी जय हो, आप आनन्दको प्राप्त हों, वृद्धिको प्राप्त हों' इस प्रकार उच्चस्वरसे जय-जयनाद किया। उनकी इस कलकल ध्वनिसे सर्व दिशाओंके अन्तराल व्याप्त हो गये ॥९६॥

अथानन्तर प्रमोदसे व्याप्त शरीरवाले वे देव जय-जय शब्द उच्चारण करते हुए इन्द्रके साथ आकाशकी ओर उड़ चले ॥९७॥ उस समय अत्यन्त हर्षको प्राप्त अप्सराएँ तीन प्रकारके वाजोंके साथ लीलापूर्वक आकाशमें प्रभुके आगे गमन करती हुई ही नाच कर रही थीं ॥९८॥ दिव्य कण्ठवाले गन्धर्व देव अपनी वीणाके साथ जन्माभिषेक सम्बन्धी सुन्दर गीत अनेक प्रकारसे गा रहे थे ॥९९॥ उस समय देव-दुन्दुभियाँ स्वर्गलोकके स्पर्शसे सर्व दिशाओंको बधिर करनेवाले मधुर, अद्भुत नाना प्रकारके शब्दोंको करने लगीं ॥ किन्नरोंके साथ किन्नरी देवियोंने हर्षसे सारभूत जिनेन्द्र-गुणोंसे परिपूर्ण मनोहर गीतोंका गाना प्रारम्भ किया ॥१००-१०१॥ उस समय सुर और असुरोंने अपनी-अपनी देवियोंके साथ भगवान्के दिव्य रूपवाले शरीरको देखते हुए अनिमेष नेत्रोंका फल प्राप्त किया ॥१०२॥ सौधर्म इन्द्रकी गोदमें विराजमान जगद्-गुरुके शिरपर चन्द्रके समान शुभ्र छत्रको स्वयं ईशानेन्द्रने लगाया ॥१०३॥ सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गके इन्द्र क्षीरसागरकी तरंगोंके समान उज्ज्वल चमर हर्षसे ढोरते हुए उस धर्मके स्वामीकी सेवा करने लगे ॥१०४॥ उस समयकी जिनेश्वर देवकी परम विभूतिको देखकर कितने ही देवोंने इन्द्रकी प्रमाणताका आश्रय लेकर अपने हृदयमें सम्यग्दर्शनको स्वीकार किया ॥१०५॥ वे देव-नायक ज्योतिष्पटलका उल्लंघन कर और अपने शरीरके आभूषणोंकी किरणोंसे आकाशमें इन्द्रधनुषकी शोभाको

भवेदस्योन्नतिर्भूमेर्लक्षैकमूनमेव च । योजनानां सहस्रेण सहस्रं कन्द उन्नतः ॥१०८॥
तस्याद्यं भद्रशालाख्यं वनं भद्रं विराजते । चतुर्महाजिनागारैस्त्रिशालध्वजभूषितैः ॥१०९॥
शतैकयोजनायामैस्तदर्धविस्तृतैः परैः । उभयोऽर्धसमुत्तुङ्गै रत्नोपकरणान्वितैः ॥११०॥
गव्यूतिद्विसहस्राणि गत्वा पृथ्व्याश्च सुन्दरम् । एतस्य मेखलायां भ्राजतेऽन्यं नन्दनं वनम् ॥१११॥
परिधानमिवानेकपादपैः कूटधामभिः । स्वर्णरत्नमयैर्दिव्यैश्चतुश्चैत्यालयोत्तमैः ॥११२॥
वै योजनसहस्राणि सार्धद्विषष्टिसंख्यया । गत्वापरं महद्रम्यं भाति सौमनसं वनम् ॥११३॥
तस्यैवेवोपसंख्यानं सर्वर्तुफलदैर्द्रुमैः । अष्टोत्तरशतार्चाढ्यैश्चतुःश्रीजिनधामभिः ॥११४॥
पुनर्गत्वास्य षट्त्रिंशत्सहस्रयोजनान्यपि । मूर्ध्नि पाण्डुकमेवान्त्यं राजते वनमुल्वणम् ॥११५॥
शिरोरुहमिवातीव सुन्दरं द्रुमसंचयैः । चतुश्चैत्यालयैस्तुङ्गैः शिलासिंहासनादिभिः ॥११६॥
तन्मध्ये चूलिका भाति मुकुटश्रीरिवोर्जिता । चतुःखयोजनोत्सेधा स्वर्गाधोवर्तिनी स्थिरा ॥११७॥
मेरोरीशानदिग्भागे महती पाण्डुकाह्वया । योजनानां शतायामा पञ्चाशद्विस्तृता शिला ॥११८॥
अष्टोच्छ्रिता पवित्राङ्गा क्षालिता क्षीरवारिभिः । अर्धचन्द्रसमाकारा भातीवान्त्याष्टमी धरा ॥११९॥
छत्रचामरभृङ्गारसुप्रतिष्ठकदर्पणैः । कलशध्वजतालैश्च मङ्गलद्रव्यधारणैः ॥१२०॥
वैडूर्यसंनिभं तस्या मध्ये सुहरिविष्टरम् । क्रोशपादोच्छ्रितं क्रोशपादभूभागविस्तृतम् ॥१२१॥
तदर्धमुखविस्तारं जिनस्नानैः पवित्रितम् । राजते मणितेजोभिर्मेरोः शृङ्गमिवापरम् ॥१२२॥

विस्तारते, तथा सैकड़ों प्रकारके महोत्सव करते हुए क्रमसे परम विभूतिके साथ महान् उन्नत महामेरुपर पहुँचे ॥१०६-१०७॥ उस सुमेरु पर्वतकी ऊँचाई इस भूमितलसे एक हजार योजन कम एक लाख योजन है। भूमिमें उसका स्कन्द एक हजार योजनका है ॥१०८॥ उस सुमेरुपर्वतके भूमितलपर भद्रशाल नामक प्रथम वन तीन कोट और ध्वजाओंसे भूषित चार महान् चैत्यालयोंसे शोभायमान है ॥१०९॥ ये चैत्यालय पूर्व-पश्चिम दिशामें एक सौ योजन लम्बे, उत्तर-दक्षिण दिशामें पचास योजन चौड़े और इन दोनोंके आधे अर्थात् पिचहत्तर योजन ऊँचे हैं, तथा रत्नोंके उपकरणोंसे युक्त हैं ॥११०॥ पृथ्वीसे अर्थात् भद्रशाल वनसे दो हजार कोश अर्थात् पाँच सौ योजन ऊपर जाकर सुमेरुकी प्रथम मेखला (कटनी) पर दूसरा सुन्दर वन है ॥१११॥ यह वन भी अनेक प्रकारके वृक्षोंसे, कूट प्रासादोंसे, तथा सुवर्ण-रत्नमय दिव्य उत्तम चार चैत्यालयोंसे शोभित है ॥११२॥ इससे ऊपर साढ़े-बासठ हजार योजन ऊपर जाकर तीसरा महा रमणीक सौमनस नामका वन है। यह भी सर्व ऋतुओंके फल देनेवाले वृक्षोंसे और एक सौ आठ-आठ प्रतिमाओंसे युक्त चार श्रीजिनालयोंसे संयुक्त हैं, शेष कथन नन्दन वनके समान समझना चाहिए ॥११३-११४॥ इससे ऊपर छत्तीस हजार योजन जाकर सुमेरुके मस्तक पर चौथा उत्तम पाण्डुकवन शोभित है ॥११५॥ वह केशोंके समान वृक्ष समूहोंसे, चार उत्तुंग चैत्यालयोंसे, पाण्डुकशिला और सिंहासनादिसे अत्यन्त सुन्दर हैं ॥११६॥ उस पाण्डुक वनके मध्यमें मुकुटश्रीके समान उत्तम चूलिका शोभित है। वह चालीस योजन ऊँची है, स्वर्गके अधोभागको स्पर्श करती है और स्थिर है ॥११७॥ सुमेरुकी ईशान दिशामें एक विशाल पाण्डुक शिला है, जो सौ योजन लम्बी और पचास योजन चौड़ी है, तथा आठ योजन ऊँची है, क्षीरसागरके जलसे प्रक्षालित होनेके कारण पवित्र अंगवाली है, अर्ध चन्द्रके समान आकारवाली है, जो कि ईषत्प्राग्भार पृथ्वीके समान शोभती है ॥११८-११९॥ वह छत्र, चामर, भृंगार, स्वस्तिक, दर्पण, कलश, ध्वजा और ताल इन अष्ट मंगल द्रव्योंको धारण करती है ॥१२०॥ उस पाण्डुक शिलाके मध्यमें वैडूर्यमणिके समान वर्णवाला सिंहासन है, जो चौथाई कोश ऊँचा, चौथाई कोश लम्बा और उसके आधे प्रमाण चौड़ा है। तीर्थंकरोंके जन्माभिषेकोंसे पवित्र है, मणियोंके तेजसे

तस्य दक्षिणदिग्भागेऽस्त्यन्यसिंहासनं महत्। सौधर्मेन्द्रस्य चेशानेन्द्रस्योत्तरदिशि स्फुटम् ॥१२३॥
तस्य मध्यस्थहर्यासनस्योपरि सुरेश्वरः। विभूत्या परयानीय सुरैः सार्धं महोत्सवैः ॥१२४॥
परीत्याद्यं गिरीन्द्रं तं सुरचारणसेवितम्। न्यधाच्छ्रीतीर्थकर्तारं प्राङ्मुखं स्नानसिद्धये ॥१२५॥

इति परमविभूत्या तीर्थकृत्पुण्यपाकात्सकलसुरगणेशाः स्थापयामासुरन्त्यम्।
इह जिनवरराजं हीति मत्वा सुभव्या भजत विमलपुण्यं कारणैर्द्व्यष्टसंख्यैः ॥१२६॥

पुण्यं तीर्थकरादिभूतिजनकं पुण्यं श्रितास्तद्विदः
पुण्येनैव पवित्रितं जगदिदं पुण्याय भद्रा क्रिया।
पुण्यान्नापर एव शर्मजनकः पुण्यस्य मूलं व्रतं
पुण्येऽनेकगुणा भवन्त्यसुमतां मां पुण्य, पूतं कुरु ॥१२७॥

वीरो वीरबुधैः स्तुतश्च महितो वीरं प्रवीराः श्रिताद्
वीरेणाशु समाप्यते गुणचयो वीराय भक्त्या नमः।
वीरान्नास्त्यपरः स्मरारिहतको वीरस्य दिव्या गुणा
वीरे मां विधिना स्थितं विधिजये भो वीर वीरं कुरु ॥१२८॥

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते वीरवर्धमानचरिते प्रियकारिणीप्रज्ञाप्रकर्षतीर्थ-कृत्(जन्म)सुराचलानयनवर्णनो नामाष्टमोऽधिकारः ॥८॥

शोभित है। वह सुमेरुके दूसरे शिखरके समान मालूम पड़ता है ॥१२१-१२२॥ उस सिंहासनकी दक्षिण दिशामें सौधर्मेन्द्रके खड़े होनेका और उत्तर दिशामें ईशानेन्द्रके खड़े होनेका एक-एक सुन्दर सिंहासन है ॥१२३॥ देवोंके स्वामी सौधर्मेन्द्रने उपर्युक्त तीन सिंहासनोंमें से बीचके सिंहासनके ऊपर भारी विभूतिसे, महान् उत्सवोंके द्वारा देवोंके साथ लाकर, देव और चारणऋद्धिवालोंसे सेवित उस गिरिराज सुमेरुकी प्रदक्षिणा देकर जन्माभिषेककी सिद्धिके लिए तीर्थंकर भगवान्को पूर्वमुख विराजमान किया ॥१२४-१२५॥

इस प्रकार तीर्थंकर प्रकृतिके पुण्य-परिपाकसे समस्त देव और उनके स्वामी इन्द्रोंने परम विभूतिके साथ अन्तिम श्री वर्धमान जिनराजको वहाँपर स्थापित किया। ऐसा मानकर भव्यजन सोलह कारण भावनाओंसे निर्मल पुण्यकी आराधना करें ॥१२६॥ यह उत्कृष्ट पुण्य तीर्थंकरादिके वैभवका जनक है, ज्ञानी जन पुण्यका आश्रय लेते हैं, पुण्यसे ही यह जगत् पवित्र होता है, उत्तम क्रियाएँ पुण्यके लिए होती हैं, पुण्यसे अतिरिक्त और कोई वस्तु सुखकारक नहीं है, पुण्यका मूल कारण व्रत है, पुण्यसे प्राणियोंके अनेक गुण प्राप्त होते हैं, इसलिए हे पुण्य, तू मुझे पवित्र कर ॥१२७॥ वीरजिन वीर ज्ञानीजनोंके द्वारा संस्तुत और पूजित हैं, उत्तम वीर पुरुष वीर जिनका आश्रय लेते हैं, वीरके द्वारा शीघ्र ही उत्तम गुण-समुदाय प्राप्त होता है, इसलिए वीरनाथको भक्तिसे नमस्कार है। वीरसे भिन्न और कोई मनुष्य काम-शत्रुका नाशक नहीं है, वीर जिनेन्द्रके गुण दिव्य हैं, वीरनाथमें विधिपूर्वक स्थित मुझे हे वीर भगवन्, कर्म-विजयके लिए वीर करो ॥१२८॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचित श्रीवीरवर्धमानचरितमें प्रियकारिणीके प्रज्ञा प्रकर्ष, तीर्थंकरका जन्म और सुमेरुपर ले जानेका वर्णन करनेवाला आठवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥८॥

नवमोऽधिकारः

तामथावेष्ट्य सर्वत्र द्रष्टुकामा महोत्सवम्। जिनेन्द्रस्य यथायोग्ये तस्थुर्धर्मोद्यताः सुराः ॥१॥
दिग्पालाः स्व-स्वदिग्भागं स्वैर्निकायैः समं मुदा। तिष्ठन्ति द्रष्टुकामास्तज्जन्मकल्याणसंपदः ॥२॥
महान् मण्डपविन्यासस्तत्र चक्रेऽमरैः परः। यत्र देवगणं कृत्स्नमास्ते स्मावाधितं मिथः ॥३॥
तत्रावलम्बिता मालाः कल्पभूरुहपुष्पजाः। रेजुर्भ्रमरझङ्कारैर्गातुकामा इवेशिनम् ॥४॥
तत्र प्रारेभिरे दिव्यं गीतगानं कलस्वनाः। गन्धर्वाश्च सुकिन्नर्यो जिनकल्याणजैर्गुणैः ॥५॥
नृत्यं चामरनर्तक्यो वहुभावरसाङ्किताः। ध्वनन्ति देववाद्यौघाः क्षिप्यन्तेऽर्घाः अनेकशः ॥६॥
शान्तिपुष्ट्यादिकामैश्चोत्क्षिप्यन्ते धूपराशयः। सुराः कलकलं कुर्युर्जयनन्दादिघोषणैः ॥७॥
अथ सौधर्मनाकेशो विभोः प्रथमसज्जने। प्रचक्रे कलशोद्धारं कृत्वा प्रस्तावनाविधिम् ॥८॥
ऐशानेन्द्रोऽपि सानन्दो मुक्तास्रक्चन्दनार्चितम्। आददे कलशं पूर्णं कलशोद्धारमन्त्रवित् ॥९॥
शेषाः कल्पाधिपाः सर्वे सानन्दजयघोषणाः। परिचारकतामापुर्यथोक्तपरिचर्यया ॥१०॥
इन्द्राणीप्रमुखा देव्यो धर्मरागरसोत्सुकाः। तदासन् परिचारिण्यो मङ्गलद्रव्यमण्डिताः ॥११॥
पूतं स्वायंभुवं देहं निसर्गात्क्षीरशोणितम्। स्प्रष्टुं नान्यज्जलं योग्यं दुग्धाब्धिसलिलादृते ॥१२॥
मत्वेति नाकिनो नूनं ततः श्रेणी कृता मुदा। प्रसृता अम्म आनेतुमन्तरेऽब्ध्यचलेन्द्रयोः ॥१३॥

अथानन्तर जिनेन्द्रदेवके जन्म महोत्सवको देखनेके इच्छुक धर्मोद्यत वे सर्वदेव उस पाण्डुक शिलाको सर्व ओरसे घेरकर यथायोग्य स्थानोंपर बैठ गये ॥१॥ भगवान्‌के जन्म-कल्याणककी सम्पदाको देखनेके इच्छावाले दिग्पाल अपने-अपने निकायों (जाति-परिवारों) के साथ अपने-अपने दिग्भागमें हर्षपूर्वक बैठे ॥२॥ वहाँ पर देवोंने एक विशाल मण्डप बनाया, जहाँ पर समस्त देवगण परस्पर विना किसी बाधाके सुखपूर्वक बैठे ॥३॥ उस मण्डपमें कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए फूलोंकी मालाएँ लटकायी गयीं, उनपर गुंजार करते हुए भौंरे ऐसे मालूम पड़ते थे, मानो जिनेन्द्रदेवके गुण ही गा रहे हों ॥४॥ वहाँ पर सुन्दर कण्ठवाले किन्नर और किन्नरियोंने जिनदेवके जन्मकल्याणक-सम्बन्धी गुणोंके द्वारा दिव्य गीत गाना प्रारम्भ किया ॥५॥ देव-नर्तकियोंने अनेक रस-भावसे युक्त नृत्य करना प्रारम्भ किया। देवोंके नाना प्रकारके बाजे बजने लगे, शान्ति-पुष्टि आदिकी इच्छासे देवोंने अनेक प्रकारके पुष्प, अक्षत-मुक्ता आदि फेंकना प्रारम्भ किया, सुगन्धित धूप-पुंज उड़ाया गया और देवोंने 'जय, नन्द' आदि शब्दोंको उच्चारण करते हुए कलकल नाद किया ॥६-७॥

तत्पश्चात् सौधर्म इन्द्रने प्रस्तावना विधि करके भगवान्‌के प्रथमाभिषेकके लिए कलशोंका उद्धार किया ॥८॥ कलशोद्धारके मन्त्रको जाननेवाले ईशानेन्द्रने भी आनन्दके साथ मोती, माला और चन्दनसे चर्चित जलसे भरे हुए कलशको हाथमें लिया ॥९॥ उस समय शेष सभी कल्पोंके इन्द्र आनन्दपूर्वक जय-जय शब्द उच्चारण करते हुए यथायोग्य परिचर्याके द्वारा परिचारकपनेको प्राप्त हुए ॥१०॥ धर्मरागके रससे परिपूर्ण इन्द्राणी आदि देवियाँ मंगल द्रव्योंसे मण्डित होकर परिचारिकाएँ बनकर परिचर्या करने लगीं ॥११॥ 'स्वयम्भू भगवान्‌का देह स्वभावसे ही क्षीर रक्त वर्णवाला होनेसे पवित्र है' अतः इसे क्षीरसागरके जलसे अतिरिक्त अन्य जल स्पर्श करनेके लिए योग्य नहीं है' ऐसा निश्चय करके देवोंकी

कनत्स्वर्णमयैः कुम्भैर्मुखे योजनविस्तृतैः । अष्टयोजनगम्भीरैर्मुक्तादामाद्यलंकृतैः ॥१४॥
सहस्रप्रमितान् बाहून् दिव्याभरणमण्डितान् । विनिर्ममे तदादीन्द्रः स्नपनाय जिनेशिनः ॥१५॥
स तैः साभरणैर्हस्तैः सहस्रकलशान्वितैः । बभौ सद्भाजनाङ्गाख्यः कल्पशाखीव तेजसा ॥१६॥
ततो जयेति संप्रोच्य त्रिवारं निजमूर्धनि । महतीं प्रथमां धारां सौधर्मेन्द्रो न्यपातयत् ॥१७॥
तदा कलकलो भूयान् प्रचक्रेऽसंख्यनिर्जरैः । जय जीव पुनीहि त्वमिति वाक्यैर्मनोहरैः ॥१८॥
तथा सर्वैः सुराधीशैः समं धारा निपातिताः ।बहुशस्तैर्महाकुम्भैः स्वर्नदीपूरसंनिभाः ॥१९॥
यस्याद्रेर्मूर्ध्नि ता धाराः पतन्ति तत्प्रहारतः । तत्क्षणे सोऽचलो नूनं प्रयाति शतखण्डताम् ॥२०॥
तादृशीः पततीर्धारा मूर्धनि श्रीजिनेश्वरः । अप्रमाणमहावीर्यैः कुसुमानीव मन्यते ॥२१॥
उच्छलन्त्यो विरेजुस्ता अच्छटाः खेऽतिदूरगाः । जिनाङ्गस्पर्शमात्रेण पापान्मुक्ता इवोर्ध्वगाः ॥२२॥
तिर्यग्विसारिणः केचित् स्नानाम्भःशीकरा विभोः । मुक्ताफलद्युतिं तेनुर्दिग्वधूमुखमण्डने ॥२३॥
रेजे तदम्भसां पूरः परितस्तद्वनान्तरे । आप्लावयन्निवाद्रीन्द्रं विचित्राकारजर्जितः ॥२४॥
पद्मरागैर्धरापीठैः क्वचिन्मरकतप्रभैः । नानामणिमयैश्चान्यैः कुम्भास्यात्पतिताम्बुजैः ॥२५॥
तत्स्नानाम्भोभिराकीर्णं तद्वनं मग्नपादपम् । बभौ निरन्तरं दृष्ट्या क्षीरार्णव इवापरः ॥२६॥
इत्याद्यैर्विविधैर्दिव्यैर्महोत्सवशतैः परैः । दीपधूपार्चनागीतनृत्यवाद्यादिकोटिभिः ॥२७॥
सामग्र्या परया सार्धं शुद्धाम्बुस्नपनं विभोः । संपूर्णं कल्पनाथास्ते प्रचक्रुः स्वात्मसिद्धये ॥२८॥

श्रेणी (पंक्ति) क्षीरसागर और सुमेरुपर्वतके बीचमें जल लानेके लिए हर्षके साथ खड़ी हो गयी ॥१२-१३॥ जिन कलशोंसे जल लाया जा रहा था वे चमकते हुए स्वर्णनिर्मित थे, मोतियोंकी माला आदिसे अलंकृत थे, आठ योजन ऊँचे (मध्यमें चार योजन चौड़े) और मुखमें एक योजन विस्तृत थे ॥१४॥ उन एक हजार कलशोंको लेकर जिनेश्वरका अभिषेक करनेके लिए सौधर्मेन्द्रने दिव्य आभूषणोंसे मण्डित अपनी एक हजार भुजाएँ बनायीं ॥१५॥ उस समय वह आभूषणवाले तथा हजार कलशोंसे युक्त हाथोंके द्वारा अपने तेजसे भाजनाङ्ग जातिके कल्पवृक्षके समान शोभित हुआ ॥१६॥ सौधर्मेन्द्रने तीन बार जय-जय शब्दको बोलकर भगवान्‌के मस्तकपर पहली महान् जलधारा छोड़ी ॥१७॥ उस समय भारी कल-कल शब्द हुआ, असंख्य देवोंने 'भगवान्, आपकी जय हो, आप पवित्र हो' इत्यादि प्रकारके मनोहर वाक्य उच्चारण किये ॥१८॥ इसी प्रकार शेष सर्व देवेन्द्रोंने भी एक साथ उन महाकुम्भोंके द्वारा स्वर्गङ्गाके पूरके सदृश जल धारा छोड़ी ॥१९॥ ऐसी विशाल जलधाराएँ जिस पर्वतके शिखरपर छोड़ी जावें तो उसके प्रहारसे वह पर्वत तत्काल नियमसे शत खण्ड हो जाय ॥२०॥ किन्तु अप्रमाण महावीर्यशाली श्री जिनेश्वर देवने अपने मस्तकपर गिरती हुई उन जल-धाराओंको फूलोंके समान समझा ॥२१॥ उस समय अति दूर तक ऊपर उछलते हुए जलके छींटे ऐसे शोभित हो रहे थे, मानो जिनेन्द्रके शरीरके स्पर्शमात्रसे पाप-मुक्त होकर ऊपरको जा रहे हैं ॥२२॥ प्रभुके स्नानजलके कितने ही तिरछे फैलते हुए कण दिग्वधुओंके मुख-मण्डनमें मुक्ताफलोंकी कान्तिको विस्तार रहे थे ॥२३॥ अभिषेकका जल-पूर सुमेरुके वन-मध्यभागमें नाना प्रकारके आकारवाला होकर गिरीन्द्र (सुमेरु) को आप्लावित करता हुआ सा शोभित हो रहा था ॥२४॥ भगवान्‌के अभिषेक किये हुए जलसे व्याप्त होनेके कारण डूबे हुए वृक्षोंवाला वह पाण्डुकवन निरन्तर जलवृष्टिसे दूसरे क्षीरसागरके समान शोभित हो रहा था ॥२५॥ इत्यादि अनेक प्रकारके दिव्य परम सैकड़ों महोत्सवोंसे, दीप-धूपादिसे की गयी पूजाओंसे, कोटि-कोटि गीत नृत्य और बाजोंके द्वारा उत्कृष्ट सामग्रीके साथ उन स्वर्गके स्वामी इन्द्रोंने अपने आत्म-कल्याणके लिए भगवान्‌का शुद्ध जलसे अभिषेक किया ॥२६-२८॥

पुनः श्रीतीर्थकर्तारमभ्यषिञ्चच्छताध्वरः । गन्धाम्बुवन्दनार्थं च विभूत्यामा महोत्सवैः ॥२९॥
सुगन्धिद्रव्यसन्मिश्रसुगन्धिजलपूरितैः । गन्धोदकमहाकुम्भैर्मणिकाञ्चननिर्मितैः ॥३०॥
पतन्ती सा गुरोरङ्गे धारा रेजेऽतिपिञ्जरा । तद्गात्रस्पर्शमात्रेण संजातेवाति पावनी ॥३१॥
जगतां पूरयन्त्याशाः सर्वाः पुण्यविधायिनीः । पुण्यधारेव धारासौ नस्तनोतु शिवश्रियम् ॥३२॥
या पुण्यास्रवधारेव सूते विश्वान्मनोरथान् । सा नः करोतु सिद्ध्यर्थं समस्ताभीष्टसंपदः ॥३३
निशाता खड्गधारेव विघ्नजालं निहन्ति या । सतां सा हन्तु नौ धारा प्रत्यूहान् शिवसाधने ॥३४॥
सुधाधारेव या पुंसां निहन्त्यखिलवेदनाम् । सास्माकं वेदनां हन्तु मोक्षाध्वमलकारिणीम् ॥३५॥
दिव्याङ्गं श्रीमतः प्राप्य या यातातिपवित्रताम् । पवित्रयतु सास्माकं मनोदुःकर्मजल्लतः ॥३६॥
इत्थं गन्धोदकैः कृत्वा तेऽभिषेकं सुरधिपाः । विभोः शान्त्यै सतां शान्तिं घोषयामासुरुच्चकैः ॥३७॥
तत्सुगन्धाम्बु ते चक्रुरुत्तमाङ्गेषु नाकिनः । सर्वाङ्गेषु स्वशुद्ध्यै च स्वर्गस्योपायनं मुदा ॥३८॥
गन्धाम्बुस्नपनस्यान्ते जयादिघोषणैः सह । व्यात्युक्षीं ते मुदा चक्रुः सचूर्णैर्गन्धवारिभिः ॥३९॥
निवृतावभिषेकस्य कृतमज्जनसत्क्रियाः । आनर्चुस्तं महाभक्त्या देवेन्द्रा नृसुरार्चितम् ॥४०॥
दिव्यैर्गन्धैस्ततामोदैर्मुक्ताफलमयाक्षतैः । कल्पशाखिजमालाद्यैः सुधापिण्डचरुव्रजैः ॥४१॥
मणिदीपैर्महाधूपैः कल्पद्रुमफलोत्करैः । मन्त्रपूतैः महार्घैश्च कुसुमाञ्जलिवर्षणैः ॥४२॥
कृतेष्टयः कृतानिष्टविघाताः कृतपौष्टिकाः । इति जन्माभिषेकं भोः सुरेशा निरतिष्ठपन् ॥४३॥

पुनः सौधर्मेन्द्रने गन्धोदककी वन्दनाके लिए परम विभूति और महान् उत्सवोंके साथ सुगन्धी द्रव्योंके सम्मिश्रणसे सुगन्धित जलसे भरे हुए, मणि और सुवर्णसे निर्मित गन्धोदक-वाले महाकुम्भोंसे भी तीर्थंकर देवका अभिषेक किया ॥२९–३०॥ जगद्गुरुके शरीरपर गिरती हुई वह अनेक वर्णवाली जलधारा उनके शरीरके स्पर्शमात्रसे अत्यन्त पवित्र हुई के समान शोभाको धारण कर रही थी ॥३१॥ जगत्के जीवोंकी सर्व आशाओंको पूर्ण करनेवाली, पुण्यविधायिनी पुण्यधाराके समान वह जलधारा हमलोगोंको शिवलक्ष्मी देवे ॥३२ जलधारा पुण्यास्रवधाराके समान सर्व मनोरथोंको पूर्ण करती है, वह हमारे भी समस्त अभीष्ट सम्पदा-की सिद्धि करे ॥३३॥ जो तीक्ष्ण खड्गधाराके समान सज्जनोंके विघ्न जालका नाश करती है, वह जलधारा हमारे शिव-साधनमें आनेवाले विघ्नोंका नाश करे ॥३४॥ जो जलधारा अमृतधाराके समान जीवोंकी समस्त वेदनाओंको नष्ट करती है, वह हमारे मोक्षमार्गमें मल उत्पन्न करनेवाली वेदनाका नाश करे ॥३५॥ जो जलधारा श्रीमान् वीरनाथको प्राप्त होकर अति पवित्रताको प्राप्त हुई है, वह हमारे मनके दुष्कर्मोंसे हमें पवित्र करे ॥३६॥

इस प्रकार उन देवेन्द्रोंने प्रभुका सुगन्धित जलसे अभिषेक करके सज्जनोंके विघ्नोंकी शान्तिके लिए उच्चस्वरसे शान्तिकी घोषणा की, अर्थात् शान्ति पाठ पढ़ा ॥३७॥ उन देवोंने अपनी शरीरकी शुद्धिके लिए स्वर्गकी भेंट समझकर हर्षके साथ उस उत्तम गन्धोदकको अपने मस्तकपर और सर्वांगमें लगाया ॥३८॥ सुगन्धित जलसे अभिषेक होनेके अन्तमें जय-जय आदि शब्दोंको उच्चारण करते हुए उन देवोंने हर्षके साथ उस चूर्ण-युक्त सुगन्धित जलसे परस्पर सिंचन किया अर्थात् आपसमें उस सुगन्धित जलके छींटे डाले ॥३९॥ इस प्रकार अभिषेकके समाप्त होनेपर शरीरमज्जनरूप सत्क्रिया करके उन देवेन्द्रोंने देवों और मनुष्योंसे पूजित प्रभुकी महाभक्तिके साथ, जिनकी सुगन्ध सर्व ओर फैल रही है ऐसे दिव्य सुगन्ध द्रव्योंसे, मुक्ताफलमयी अक्षतोंसे, कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए पुष्पोंकी माला आदिसे, अमृतपिण्डमय नैवेद्य पुंजसे, मणिमय दीपोंसे, महान् धूपसे, कल्पवृक्षोंके फल-समूहसे, मन्त्रोंसे पवित्रित महार्घ्योंसे और पुष्पांजलियोंकी वर्षासे पूजा की ॥४०–४२॥ इस प्रकार अनिष्टोंका विनाश करनेवाली पूजाओंको करके, तथा शान्ति-पौष्टिकादि कार्योंको करके उन देवेन्द्रोंने जन्माभि-

त्रिः परीत्य जिनाधीशं प्रणेमुः शिरसा समम् । शचीभिर्निजकैश्चान्यैर्वासवः प्रमुदोद्धताः ॥४४॥
पपात कौसुमी वृष्टिस्तदा गन्धोदकैः समम् । दिवो ववौ मरुन्मन्दं सुगन्धिः शिशिरोऽमरैः ॥४५॥
यस्य जन्माभिषेकस्य स्नानपीठं सुराचलः । इन्द्रः स्नापयिता कुम्भाः क्षीरमेघायिताः पराः ॥४६॥
सर्वा देव्यश्च नर्तक्यः स्नानद्रोणी पयोऽर्णवः । किंकरा निर्जरा दक्षः कस्तं वर्णयितुं क्षमः ॥४७॥
अथाभिषेकसंपूर्णे इन्द्राणी त्रिजगद्गुरोः । दिव्यं प्रसाधनं कर्तुं प्रारेभे कौतुकान्विता ॥४८॥
तस्याभिषिक्तगात्रस्य शिरोनेत्रमुखादिषु । लग्नानम्भःकणान् देवी समार्जत्यमलांशुकैः ॥४९॥
निसर्गदिव्यगन्धाक्तमीशितुर्वपुरूर्जितम् । अन्वलिप्यत भक्त्या सा द्रव्यैः सान्द्रैः सुगन्धिभिः ॥५०
त्रिजगत्तिलकीभूतस्यास्य भालेऽच्युतोपमे । चकार तिलकं दीप्रं भक्तिरागेण केवलम् ॥५१॥
जगच्चूडामणेरस्य न्यधान्मन्दारमालया । उत्तंसेन समं मूर्ध्नि दीप्तं चूडामणिं परम् ॥५२॥
विश्वनेत्रस्य देवस्य स्वभावासितचक्षुषोः । चक्रे साञ्जनसंस्कारं स्वाचार इति लभ्यते ॥५३॥
अविद्धछिद्रयोश्चास्कर्णयोस्त्रिजगत्पतेः । कुण्डलाभ्यां स्फुरद्रत्नाभ्यां शोभां सा परां न्यधात् ॥५४॥
कण्ठं सा मणिहारेण बाहुयुग्मं महद्विभोः । मुद्रिकाभिरलंचक्रे केयूरकटकाङ्गदैः ॥५५॥
कटीतटे ववन्धास्य किङ्किणीभिर्विराजितम् । दीप्रं मणिमयं दाम तेजसा व्याप्तदिग्मुखम् ॥५६॥
पादौ गोमुखनिर्भासैर्मणिभिस्तस्य साकरोत् । वाचालितौ सरस्वत्या सेव्यमानाविवादरात् ॥५७॥
इत्यसाधारणैर्दिव्यैर्मण्डनैस्तत्कृतैः परैः । निसर्गकान्तितेजोभिर्लक्षणैः सहजैर्गुणैः ॥५८॥

षेकको सम्पन्न किया ॥४३॥ पुनः अपनी-अपनी इन्द्राणियोंके साथ इन्द्रोंने, तथा अपनी देवियोंके साथ सब देवोंने अत्यन्त प्रमुदित होते हुए तीन प्रदक्षिणाएँ देकर जिनेन्द्रदेवको नमस्कार किया ॥४४॥ उस समय देवोंने गन्धोदकके साथ पुष्पोंकी वर्षा की, और मन्द सुगन्धित शीतल पवन चलने लगा ॥४५॥ जिसके जन्माभिषेकका स्नानपीठ सुमेरुपर्वत हो, इन्द्र अभिषेक करनेवाला हो, क्षीरसागरके जलसे भरे हुए उत्तम कलश हों, सर्वदेवियाँ नृत्यकारिणी हों, क्षीरसागर द्रोणी (जलपात्र) हो और देव किंकर हों, उसका वर्णन करनेके लिए कौन दक्ष पुरुष समर्थ है ? कोई भी नहीं ॥४६–४७॥

अभिषेकका कार्य समाप्त होनेपर आश्चर्यको प्राप्त इन्द्राणीने त्रिजगद्-गुरुका शृङ्गार करना प्रारम्भ किया ॥४८॥ सर्वप्रथम उसने भगवान्‌के जलाभिषिक्त शरीरके शिर, नेत्र और मुख आदि पर लगे हुए जलकणोंको निर्मल वस्त्रसे पोंछा ॥४९॥ तत्पश्चात् स्वभावसे ही दिव्य सुगन्धसे युक्त भगवान्‌के उत्तम शरीरपर भक्तिके द्वारा गीले सुगन्धित द्रव्योंका लेप किया ॥५०॥ पुनः तीन जगत्‌के तिलक स्वरूप प्रभुके अनुपम ललाटपर केवल भक्तिके रागसे प्रेरित होकर देदीप्यमान तिलक किया ॥५१॥ पुनः जगत्‌के चूड़ामणि प्रभुके मस्तकपर मन्दार पुष्पोंकी माला और मुकुटके साथ परम प्रदीप्त चूड़ामणि रत्न बाँधा ॥५२॥ तत्पश्चात् विश्वके नेत्ररूप प्रभुके स्वभावसे ही अति कृष्ण नेत्रोंमें अञ्जन-संस्कार किया, यह उसने अपने आचार पालनके लिए किया ॥५३॥ पुनः त्रिजगत्पतिके अविद्ध छिद्रवाले दोनों कानोंमें प्रकाशमान रत्न-जटित कुण्डलोंको पहिना कर परम शोभा की ॥५४॥ तत्पश्चात् उस इन्द्राणीने प्रभुके कण्ठको मणिहारसे, बाहु-युगलको केयूर, कटक और अंगद आभूषणोंसे तथा अंगुलियोंको मुद्रिकाओंसे शोभित किया॥५५॥ तदनन्तर उसने प्रभुकी कमरमें छोटी-छोटी घण्टियोंसे विराजित अपने प्रकाशसे दिशाओंके मुखको व्याप्त करनेके लिए देदीप्यमान मणिमयी कांचीदाम (करधनी) पहनायी ॥५६॥ पुनः प्रभुके दोनों चरणोंमें मणिमयी गोमुखवाले प्रकाशमान कड़े पहिनाये, जो कि ऐसे प्रतीत होते थे मानो सरस्वती देवी आदरसे उनके चरणोंकी सेवा ही कर रही हो ॥५७॥ इस प्रकार इन्द्राणीके द्वारा पहिनाये गये असाधारण दिव्य परम आभूषणोंसे तथा स्वभाव-जनित कान्ति, तेज, लक्षण और गुणोंसे युक्त वे भगवान् ऐसे शोभित

लक्ष्म्याः पुञ्ज इवोद्भूतस्तेजसां वा निधिर्महान् । सौन्दर्यस्येव संघातः सद्गुणानामिवाकरः ॥५९॥
भाग्यानामिव संवासो राशिर्वा यशसां पराः । स्वभावरुचिरः कायस्तदाभादीशिनोऽमलः ॥६०॥
इत्थं प्रसाध्यमानं तं शक्रोत्सङ्गस्थितं शची । स्वयं विस्मयमायासीत्पश्यन्ती रूपसंपदः ॥६१॥
तदातनीं परां शोभां वीक्ष्य सर्वाङ्गशालिनः । विभोस्तृप्तिमनासाद्य द्विनेत्राभ्यां च्युतोपमाम् ॥६२॥
पुनस्तामीक्षितुं चक्रे साश्चर्यहृदयः सुरेट् । सहस्रनयनान्याशु निमेषविमुखान्यपि ॥६३॥
देवाः सर्वेऽखिला देव्यो महतीं रूपसंपदम् । ददृशुश्च प्रभोः प्रीत्यानिमेषैर्दिव्यलोचनैः ॥६४॥
ततः परं प्रमोदं ते प्राप्य शक्रा महाधियः । उद्ययुस्तमिति स्तोतुं तीर्थकृत्पुण्यजैर्गुणैः ॥६५॥
त्वं देव स्नातपूताङ्गः सहजातिशयैः परैः । भक्त्याद्य स्नापितोऽस्माभिः केवलं स्वाघहानये ॥६६॥
त्रिजगन्मण्डनोभूत त्वं प्रकृत्यातिसुन्दरः । विना च मण्डनैः प्रीत्या मण्डितः स्वसुखाप्तये ॥६७॥
संचरन्ति विभो तेऽद्य महत्यो गुणराशयः । प्रपूर्य सकलं विश्वं सुरेशां हृदयेष्वपि ॥६८॥
त्वत्तः कल्याणमाप्स्यन्ति देव कल्याणकाङ्क्षिणः । भवद्वाण्या हनिष्यन्ति मोहिनो मोहशात्रवम् ॥६९॥
त्वयोद्दिष्टमहातीर्थपोतेन भववारिधिम् । अनन्तमुत्तरिष्यन्ति रत्नत्रयधनेश्वराः ॥७०॥
भवद्वाक्किरणैर्नाथ मिथ्याज्ञानतमोऽञ्जसा । हतं भव्यात्मनां शीघ्रं विनङ्क्ष्यति न संशयः ॥७१॥
अनर्घ्यदृष्टिचिद्वृत्तरत्नादीन् शिवकारिणः । प्रादुर्बभूविथेशत्वं दातुं दाता महान् सताम् ॥७२॥
त्वं स्वामिन् केवलं नात्रोत्पन्नः स्वस्य शिवाप्तये । किंतु स्वमुक्तिसिद्ध्यर्थं धीमतां चाध्वदर्शनात् ॥७३

हुए, मानो लक्ष्मीके पुंज ही हों, अथवा तेजोंके निधान हों, अथवा सौन्दर्यके समूह हों, अथवा सद्-गुणोंके सागर ही हों, अथवा भाग्यों के निवास हों, अथवा यशों की उज्ज्वल राशि हों। इस प्रकार स्वभावसे ही सुन्दर और निर्मल प्रभुका शरीर उक्त आभूषणोंसे और भी अधिक शोभायमान हो गया ॥५८–६०॥

इस प्रकार आभूषणोंसे भूषित और इन्द्रकी गोदमें विराजमान उन भगवान्‌की रूप-सम्पदाको देखती हुई शची स्वयं ही आश्चर्यको प्राप्त हुई ॥६१॥ उस समय सर्वांगशोभित प्रभुकी परम अनुपम शोभाको दो नेत्रोंसे देखने पर तृप्त नहीं होते हुए आश्चर्य युक्त हृदयवाले इन्द्रने और भी अधिक दृढ़तासे देखनेके लिए निमेष रहित एक हजार नेत्र बनाये ॥६२–६३॥ उस समय सभी देवों और देवियोंने प्रभुके शरीरकी भारी रूप सम्पदाको परम प्रीतिके साथ निर्निमेष दिव्य नेत्रोंसे देखा ॥६४॥

तदनन्तर परम प्रमोदको प्राप्त हुए वे महाबुद्धिशाली इन्द्रगण तीर्थंकर प्रकृतिके पुण्यसे उत्पन्न हुए गुणोंके द्वारा इस प्रकार स्तुति करनेके लिए उद्यत हुए ॥६५॥ हे देव, आप स्नानके विना ही जन्मजात परम अतिशयोंके द्वारा पवित्र शरीरवाले हैं, आज केवल अपने पापोंके नाश करनेके लिए हमने भक्तिसे आपको स्नान कराया है ॥६६॥ हे तीन लोकके आभूषण स्वरूप भगवन्, आप स्वभावसे ही विना आभूषणोंके अति सुन्दर हो, हमने तो केवल सुखकी प्राप्तिके लिए प्रीतिसे आपको आभूषणोंसे मण्डित किया है ॥६७॥ हे प्रभो, आपके महागुणोंकी राशि सर्वविश्वको पूर करके आज इन्द्रोंके हृदयमें भी संचार कर रही है ॥६८॥ हे देव, कल्याणके इच्छुक लोग आपसे कल्याणको प्राप्त होंगे और मोहीजन आपकी वाणीसे अपने मोहशत्रुका नाश करेंगे ॥६९॥ रत्नत्रय धनके धारण करनेवाले भव्य जीव आपके द्वारा उपदिष्ट महातीर्थरूप जहाजसे इस अनन्त संसार सागरके पार उतरेंगे ॥७०॥ हे नाथ, आपकी वचन किरणोंसे भव्यात्माओंका मिथ्याज्ञानरूप अन्धकार शीघ्र विनाशको प्राप्त होगा, इसमें कोई संशय नहीं है ॥७१॥ हे ईश, मोक्ष प्राप्त करनेवाले अमूल्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि रूप रत्न देनेके लिए आपसे प्रकट हुए हैं, इसलिए आप सज्जनोंके महान् दाता हो ॥७२॥ हे स्वामिन्, आप यहाँ पर केवल अपनी मुक्तिकी प्राप्तिके लिए ही नहीं उत्पन्न हुए हैं, किन्तु

मुक्तिरामा महाभाग चासक्ता त्वयि वर्तते । स्निह्यन्ति त्रिजगद्भव्यास्त्वद्गुणैरञ्जिताशयाः ॥७४॥
मोहमल्लविजेतारं त्रातारं शरणार्थिनाम् । मोहान्धकूपपाताच्च हन्तारं कर्मविद्विषाम् ॥७५॥
नेतारं भव्यसार्थानां शाश्वते पथि तीर्थकृत् । कर्तारं धर्मतीर्थस्य विदुस्त्वामामनन्त्यहो ॥७६॥
अद्य जन्माभिषेकेण वयं नाथ पवित्रिताः । ते गुणस्मरणेनैव नोऽभवन्निर्मलं मनः ॥७७॥
भवत्स्तुतिशुभालापैर्जातं नः सफलं वचः । गात्रं चावयवैः सार्धं सेवया ते गुणाम्बुधे ॥७८॥
मणिः शुद्धाकरोद्भूतो यथा संस्कारयोगतः । दीप्यतेऽधिकमीश त्वं तथा स्नानादिसंस्कृतः ॥७९॥
त्रिजगत्स्वामिनां स्वामी त्वं नाथासि महान् भुवि । पतिर्विश्वपतीनां त्वं जगद्बन्धुरकारणः ॥८०॥
अतो देव नमस्तुभ्यं परमानन्ददायिने । नमस्ते चित्त्रिनेत्राय नमस्ते परमात्मने ॥८१॥
नमस्तीर्थकृते तुभ्यं नमः सद्गुणसिन्धवे । मलस्वेदातिगात्यन्तदिव्यदेहाय ते नमः ॥८२॥
निर्वाणदर्शिने तुभ्यं नमः कर्मारिनाशिने । जितपञ्चाक्षमोहाय पञ्चकल्याणभागिने ॥८३॥
नमो निसर्गपूताय भुक्तिमुक्त्येकदायिने । नमोऽतिमहिमाप्ताय नमोऽकारणबन्धवे ॥८४॥
नमो मुक्त्यङ्गनाभर्त्रे नमो विश्वप्रकाशिने । त्रिजगत्स्वामिने तुभ्यं नमोऽधिगुरवे सताम् ॥८५॥
त्वां मुदे हेत्यभिष्टुत्य देव नाशास्महे वयम् । त्रिजगत्सर्वसाम्राज्यं किन्तु देहि जगद्धिताम् ॥८६॥
सामग्रीं सकलां पूर्णां मोक्षसाधनकारिणीम् । त्वत्समां कृपयास्माकं दाता न त्वत्समो यतः ॥८७॥

ज्ञानियोंको भी मार्ग दिखाकर उनकी स्वर्ग और मुक्तिकी सिद्धिके लिए उत्पन्न हुए हैं ॥७३॥ हे महाभाग, मुक्तिरामा आपमें आसक्त हो रही है और तीन जगत्के भव्य जीव भी आपके गुणोंसे अनुरंजित हृदयवाले होकर आपसे परम स्नेह रखते हैं । ७४॥ अहो भगवन्, ज्ञानी लोग आपको मोहमल्लका विजेता, शरणार्थियोंको मोहान्धकूपमें गिरनेसे बचानेवाला रक्षक, कर्मशत्रुओंका नाशक, भव्य सार्थवाहोंको शाश्वत मुक्तिमार्गमें ले जानेवाला नेता और धर्म-तीर्थका कर्ता तीर्थंकर मानते हैं ॥७५-७६॥ हे नाथ, आज आपके जन्माभिषेकसे हम लोग पवित्र हुए हैं, और आपके गुणोंका स्मरण करनेसे हमारा मन निर्मल हुआ है । आपकी शुभ स्तुति करनेसे हमारे वचन सफल हुए हैं और हे गुणसागर, आपकी सेवासे सब अंगोंके साथ हमारा शरीर पवित्र हुआ है ॥७७-७८॥ हे ईश, शुद्ध खानिसे उत्पन्न हुआ मणि जैसे संस्कारके योगसे और भी अधिक चमकने लगता है, उसी प्रकार स्नान आदिके संस्कारको प्राप्त होकर आप और भी अधिक शोभायमान हो रहे हैं ॥७९॥ हे नाथ, आप तीन जगत्के स्वामियोंके स्वामी हैं, संसारमें समस्त विश्वपतियोंके आप महान् पति हैं, और संसारके अकारण बन्धु हैं ॥८०॥ अतः हे देव, परम आनन्दके देनेवाले आपके लिए नमस्कार है, ज्ञानरूप तीन नेत्रोंके धारक आपके लिए नमस्कार है, परमात्मस्वरूप आपके लिए नमस्कार है, तीर्थके प्रवर्तन करनेवाले आपको नमस्कार है, सद्गुणोंके सागर आपको नमस्कार है, प्रस्वेद मल आदिसे रहित अत्यन्त दिव्यदेहवाले आपको नमस्कार है, कर्मशत्रुओंका नाश करनेवाले आपको नमस्कार है, पाँचों इन्द्रियोंको और मोहको जीतनेवाले आपको नमस्कार है, पंचकल्याणकोंके भोगनेवाले आपको नमस्कार है, स्वभावसे पवित्र और भुक्ति-(स्वर्गीय सुख) मुक्तिके देनेवाले आपको नमस्कार है, महामहिमाको प्राप्त आपको नमस्कार है, अकारण बन्धु आपको नमस्कार है, मुक्तिरामाके भर्तार आपको नमस्कार है । विश्वके प्रकाश करनेवाले आपको नमस्कार है, त्रिजगत्के स्वामी आपको नमस्कार है और सज्जनोंके महागुरु आपको नमस्कार है ॥८१-८५॥

हे देव, यहाँपर इस प्रकार हर्षसे आपकी स्तुति करके हम तीन लोकके सर्व साम्राज्यको लेनेकी आशा नहीं करते हैं, किन्तु जगत्का हित करनेवाली, अपने समान ही पूर्ण सर्वसामग्री कृपा करके हमें दीजिए, क्योंकि संसारमें आपके समान और कोई दाता नहीं है ॥८६-८७॥

इतीष्टप्रार्थनां कृत्वा व्यवहारप्रसिद्धये । नाकेशाः सार्थकं सारमिदं नामद्वयं व्यधुः ॥८८॥
अयं स्यान्महतां वीरः कर्मारातिनिकन्दनात् । श्रीवर्धमान एवासौ वर्धमानगुणाश्रयात् ॥८९॥
इत्याख्याद्वयं कृत्वा तथैवातिमहोत्सवैः । आरोप्यैरावतस्कन्धं दिव्यरूपं जिनेश्वरम् ॥९०॥
विभूत्या परया सार्कं जयनन्दादिघोषणैः । शेषकार्याय नाकेशा आजग्मुस्तत्पुरं परम् ॥९१॥
तदारुध्य पुरं विष्वग् नभोभागं च तद्वनम् । तस्थुः सर्वाण्यनीकानि देवा देव्यश्चतुर्विधाः ॥९२॥
ततः कतिपयैर्देवैर्देवदेवं स देवराट् । आदायामा नृपागारं प्रविवेश श्रियोर्जितम् ॥९३॥
तत्र गृहाङ्गणे रम्ये मणिसिंहासने शिशुम् । अशिशुं गुणकान्त्याद्यैः सौधर्मेन्द्रोऽन्यवीविशत् ॥९४॥
सिद्धार्थभूपतिः सार्धं बन्धुभिर्हर्षिताननः । प्रीत्या विस्फारिताक्षस्तं ददर्शाद्भुतकान्तिकम् ॥९५॥
शच्या प्रबोधिता राज्ञी सापश्यत्स्वसुतं मुदा । तेजःपुञ्जमिवोत्पन्नं विश्वाभरणभूषितम् ॥९६॥
सौधर्मेशं समं शच्या तावदृष्ट्वा जगत्पतेः । पितरौ तुष्टिमापन्नौ परिपूर्णमनोरथौ ॥९७॥
ततस्तौ जगतां पूज्यौ प्रपूज्य स्वर्गलोकजैः । विचित्रैर्मणिनेपथ्यैर्दिव्यैश्चाम्बरदामभिः ॥९८॥
प्रीतः सौधर्मकल्पेन्द्रः प्रशशंसेत्यमामरैः । युवां धन्यौ महापुण्यवन्तौ विश्वाग्रिमौ परौ ॥९९॥
लोके गुरू युवां यस्मात्पितरौ त्रिजगत्पितुः । पती त्रिजगतां मान्यौ जननात् त्रिजगत्पतेः ॥१००॥
विश्वोपकारिणौ जातौ युवां कल्याणभागिनौ । विश्वोपकारि तीर्थेशसुतोत्पादनहेतुतः ॥१०१॥
चैत्यालयमिवागारमिदमाराध्यमद्य नः । माननीयौ युवां पूज्यौ अस्मद्गुरुसमाश्रयात् ॥१०२॥
इत्यभिष्टुत्य तौ देवं समर्प्य तत्करेऽमरेट् । क्षणं तस्थौ मुदा कुर्वंस्तद्वार्तां मेरुजां वराम् ॥१०३॥

इस प्रकारसे इष्ट प्रार्थना करके इन्द्रोंने लोकव्यवहारकी प्रसिद्धिके लिए सार्थक और सारभूत ये दो नाम रखे। कर्मरूपी शत्रुओंको नाश करने हेतु ये महावीर हैं और निरन्तर बढ़नेवाले गुणोंके आश्रयसे ये श्रीवर्धमान हैं ॥८८–८९॥ इस प्रकार दो नाम रखकर दिव्यरूपधारी जिनेश्वरको ऐरावत गजके कन्धे पर विराजमान करके पूर्वके समान ही अत्यन्त महोत्सव और भारी विभूतिके साथ 'जय, नन्द' आदि शब्दोंको उच्चारण करते हुए वे देवेन्द्र शेष कार्योंको सम्पन्न करनेके लिए वापस कुण्डपुर आये ॥९०–९१॥ वहाँ आकर नगरको, आकाशको और वनोंको सर्व ओरसे घेरकर सर्व देव-सेनाएँ और चारों जातिके देव-देवियाँ यथास्थान ठहर गये ॥९२॥ तत्पश्चात् कुछ देवोंके साथ उस देवराजने देवोंके देव श्रीजिनेन्द्र-देवको लेकर शोभासम्पन्न राजभवनमें प्रवेश किया ॥९३॥ वहाँ राजभवनके अंगण (चौक) में सौधर्मेन्द्रने रमणीक मणिमयी सिंहासनपर गुणकान्ति आदिसे अशिशु (शैशवावस्थासे रहित) किन्तु वयसे शिशु जिनेन्द्रको विराजमान किया ॥९४॥ तब बन्धुजनोंके साथ हर्षित मुख सिद्धार्थ राजाने अति प्रीतिसे आँखें फैलाकर अद्भुत कान्तिवाले बाल जिनदेवको देखा ॥९५॥ इन्द्राणीके द्वारा जगायी गयी प्रियकारिणी रानीने सर्व आभूषणोंसे भूषित समुत्पन्न तेजपुंजके समान अपने पुत्रको अति हर्षके साथ देखा ॥९६॥ उस समय जगत्पति श्रीवर्धमान स्वामीके माता-पिता इन्द्राणीके साथ सौधर्मेन्द्रको देखकर परिपूर्ण मनोरथ हो अत्यन्त सन्तोषको प्राप्त हुए ॥९७॥ तत्पश्चात् सौधर्मेन्द्रने स्वर्गलोकमें उत्पन्न नाना प्रकारके मणिमयी वस्त्राभूषणोंसे और दिव्य पुष्पमालाओंसे उन जगत्पूज्य माता-पिताकी पूजा कर देवोंके साथ प्रसन्न होते हुए उनकी इस प्रकारसे प्रशंसा करने लगा—आप दोनों ही लोकके गुरु हैं, क्योंकि आप त्रिजगत्-पिताके माता-पिता हैं, त्रिजगत्पतिके उत्पन्न करनेसे आप लोग ही त्रिजगन्मान्य स्वामी हैं, संसारके उपकारी तीर्थेश पुत्रके उत्पन्न करनेके निमित्तसे कल्याणभागी आप दोनों ही विश्वके उपकारी हैं ॥९८–१०१॥ आज आपका यह भवन जिनमन्दिरके समान हमारे लिए आराध्य है। हमारे परमगुरुके आश्रयसे आप दोनों ही हमारे लिए माननीय और पूज्य हैं ॥१०२॥ इस प्रकार देवोंका स्वामी सौधर्मेन्द्रने माता-पिताकी स्तुति करके और उनके

जन्माभिषेकजां सर्वां वार्तां श्रुत्वा सविस्मयौ । प्रमोदस्य परां कोटिं प्रापतुस्तौ महोदयौ ॥१०४॥
तौ भूयोऽनुमतिं लब्ध्वा शक्रस्य बन्धुभिः समम् । चक्रतुः स्वसुतस्येति जातकर्ममहोत्सवम् ॥१०५॥
तस्यादौ श्रीजिनागारे जिनार्चाणां महामहम् । नृपाद्याश्चक्रिरे भूत्या सर्वाभ्युदयसाधकम् ॥१०६॥
ततः स्वजनभृत्येभ्यो ददौ दानान्यनेकशः । यथायोग्यं नृपो दीनानाथवन्दिभ्य एव च ॥१०७॥
तदा तोरणविन्यासैः केतुपङ्क्तिभिरूर्जितैः । गीतैर्नृत्यैश्च वादित्रैर्महोत्सवशतैः परैः ॥१०८॥
तत्पुरं स्वःपुरं वाभात्स्वर्धामैव नृपालयम् । प्रमोदनिर्भराः सर्वे बभूवुः स्वजनाः प्रजाः ॥१०९॥
प्रमोदनिर्भरान् विश्वांस्तद्बन्धूंस्तन्महोत्सवे । पौरांश्च वीक्ष्य देवेशः स्वं प्रमोदं प्रकाशयन् ॥११०॥
आनन्दनाटकं दिव्यं त्रिवर्गफलसाधनम् । गुरोराराधनायामा देवीभिः कर्तुमुद्ययौ ॥१११॥
नृत्यारम्भेऽस्य सद्गीतगानं (चैव) मनोहरम् । कर्तुं प्रारेभिरे गन्धर्वास्तद्वाद्यादिभिः समम् ॥११२॥
सिद्धार्थाद्या नृपाधीशाः सकलत्राश्च सोत्सवाः । तं द्रष्टुं प्रेक्षकास्तत्र पुत्रोत्सङ्गा उपाविशन् ॥११३॥
आदौ समवतारं स कृत्वा नेत्रसुखावहम् । जन्माभिषेकसंबद्धं प्रायुङ्क्तैनं शुभप्रदम् ॥११४॥
पुनर्ननाट शक्रोऽन्यन्नाटकं बहुरूपकम् । अधिकृत्य जिनेन्द्रस्यावतारान् प्राग्भवोद्भवान् ॥११५॥
प्रकुर्वन्नूर्जितं नृत्यं लसद्दीप्तिभराङ्कितम् । कल्पशाखीव रेजेऽसौ दिव्याभरणदामभिः ॥११६॥
सलयैः क्रमविन्यासैः परितो रङ्गमण्डलम् । परिक्रामन् बभौ शक्रो मिमान इव भूतलम् ॥११७॥

हाथमें भगवान्‌को समर्पण कर मेरुपर हुई जन्माभिषेककी सुन्दर वार्ताको हर्षके साथ कहता हुआ कुछ क्षण खड़ा रहा ॥१०३॥ जन्माभिषेककी सारी बात सुनकर आश्चर्य-युक्त हो वे दोनों भाग्यशाली माता-पिता अत्यन्त प्रमोदको प्राप्त हुए ॥१०४॥

तत्पश्चात् माता-पिताने सौधर्मेन्द्रकी अनुमति लेकर बन्धुजनोंके साथ अपने पुत्रका जन्ममहोत्सव किया ॥१०५॥ सबसे प्रथम उन्होंने और राजाओंने श्रीजिनालयमें जाकर सर्व कल्याणकी साधक श्री जिनप्रतिमाओंकी महापूजा भारी विभूतिके साथ की ॥१०६॥ उसके बाद सिद्धार्थराजाने अपने परिजनोंको, नौकरोंको, दीन, अनाथ और बन्दीजनोंको यथायोग्य अनेक प्रकारका दान दिया ॥१०७॥ उस समय तोरण द्वारोंसे, वन्दनवारोंसे, ऊँची ध्वजा-पंक्तियोंसे, गीतोंसे, नृत्योंसे, बाजोंसे और सैकड़ों प्रकारके महोत्सवोंसे वह नगर स्वर्गपुरके समान और राज-भवन स्वर्ग-धामके समान शोभाको प्राप्त हो रहा था। सभी स्वजन और प्रजाजन अत्यन्त प्रमुदित हुए ॥१०८-१०९॥ उस जन्ममहोत्सवके द्वारा आनन्दसे परिपूर्ण समस्त बन्धुजनोंको और पुरवासियोंको देखकर सौधर्मेन्द्र अपना प्रमोद प्रकाशित कर श्रीजगद्-गुरुकी आराधना करनेको अपनी देवियोंके साथ धर्म अर्थ कामरूप त्रिवर्ग फलका साधक दिव्य आनन्द नाटक करनेके लिए उद्यत हुआ ॥११०-१११॥ नृत्यके प्रारम्भमें गन्धर्व देवोंने अपने-अपने वीणादि बाजोंके साथ मनोहर सद्-गीत-गान करना प्रारम्भ किया ॥११२॥ उस समय श्री महावीर पुत्रको गोदमें बैठाये हुए सिद्धार्थ राजा तथा अपनी-अपनी रानियोंके अन्य राजा लोग और उल्लासको प्राप्त अन्य दर्शकगण उस आनन्द नाटकको देखनेके लिए यथास्थान बैठ गये ॥११३॥ उस सौधर्मेन्द्रने सबसे पहले नयनोंको आनन्दित करनेवाला, कल्याणमयी जन्माभिषेक-सम्बन्धी दृश्यका अवतार किया। अर्थात् सुमेरुपर किये गये जन्म कल्याणकका दृश्य दिखाया ॥११४॥ पुनः जिनेन्द्रदेवके पूर्वभव-सम्बन्धी अवतारोंका अधिकार लेकर इन्द्रने बहुरूपक अन्य नाटक किया ॥११५॥ उल्लासयुक्त, दीप्ति-भारसे परिपूर्ण-उत्कृष्ट नाटकको करता हुआ वह इन्द्र उस समय दिव्य आभूषण और मालाओंके द्वारा कल्प-वृक्षके समान शोभाको प्राप्त हो रहा था ॥११६॥ लय-युक्त पादविक्षेपोंके द्वारा, रंगभूमिकी चारों ओरसे प्रदक्षिणा करता हुआ वह इन्द्र ऐसा मालूम होता था मानो इस भूतलको नाप

कृतपुष्पाञ्जलेरस्य ताण्डवारम्भसंभ्रमे । पुष्पवर्षं मुदामुञ्चन् देवास्तद्भक्तिवर्तिनः ॥११८॥
समं तद्योग्यवाद्यानि कोटिशो दध्वनुस्तदा । आरेणुर्मधुरं वीणाः कलवंशा विसस्वनुः ॥११९॥
फलं गायन्ति किन्नर्य ऊर्जितं गीतसंचयम् । रचितं श्रीजिनेन्द्राणां गुणग्रामैः शुभप्रदम् ॥१२०॥
प्रयुज्यासौ महच्छुद्धं पूर्वरङ्गमनुक्रमात् । करणैरङ्गहारैश्च विकृत्य पुनरूर्जितान् ॥१२१॥
सहस्रप्रमितान् बाहून् मणिनेपथ्यभूषितान् । ननाट ताण्डवं दिव्यं दर्शयन् रसमद्भुतम् ॥१२२॥
नृपादीनां सुखं कुर्वन् विक्रियर्द्ध्याघहानये । विचित्रै रेचकैः पादकटीकण्ठकराश्रितैः ॥१२३॥
तस्मिन् बाहुसहस्राढ्ये प्रनृत्यत्यमरेशिनि । पृथ्वी तत्क्रमविन्यासैः स्फुटन्तीव तदाचलत् ॥१२४॥
विक्षिप्तकरविक्षेपैस्तारकाः परितो भ्रमन् । कल्पद्रुम इवानर्ती चलदंशुकभूषणः ॥१२५॥
एकरूपः क्षणाद्दिव्यो बहुरूपोऽपरः क्षणात् । क्षणात्सूक्ष्मतरः कायः क्षणाद् व्यापी महोन्नतः ॥१२६॥
क्षणात्पार्श्वे क्षणाद्दूरे क्षणाद् व्योम्नि क्षणाद्भुवि । क्षणाद् द्विकरयुक्ताङ्गः क्षणाद् बहुकराङ्कितः ॥१२७॥
इति तन्वन् मुदात्मीयं सामर्थ्यं विक्रियोद्भवम् । इन्द्रजालमिवादीन्द्रोऽदर्शयन्नाटकं तदा ॥१२८॥
पुनरप्सरसो नेटुरङ्गहारैः सचारिभिः । उत्क्षिप्य भ्रूलतां शक्रभुजराशिपु सस्मिताः ॥१२९॥
वर्धमानलयैः काश्चिदन्यास्ताण्डवलास्यकैः । ननृतुर्दैवनर्तक्यश्चित्रैरभिनयैः परैः ॥१३०॥
काश्चिदैरावतीं पिण्डीमैन्द्रीं बद्ध्वा सुराङ्गनाः । अनृत्यंश्च प्रवेशैर्निष्क्रमैर्दिव्यैर्नियन्त्रितैः ॥१३१॥

ही रहा हो ॥११७॥ पुष्पांजलि बिखेरकर ताण्डवनृत्य करते हुए इन्द्रके ऊपर उसकी भक्ति करनेवाले देवोंने हर्षित होकर पुष्पोंकी वर्षा की ॥११८॥ उस समय ताण्डव नृत्यके योग्य करोड़ों बाजे बज रहे थे, वीणाओंने मधुर झंकार किया और सुरीली आवाजवाली अनेक बाँसुरियाँ बज रही थीं ॥११९॥ किन्नरी देवियाँ श्री जिनेन्द्र देवके गुणसमूहसे युक्त उत्तम कल्याणकारक सुन्दर गीतोंको गा रही थीं ॥१२०॥ इस प्रकार अनुक्रमसे महान् पवित्र पूर्व रंग करके उस इन्द्रने मणिमयी आभूषणोंसे भूपित एक हजार उत्कृष्ट भुजाएँ बनाकर, हस्तांगुलि-संचालन और अंग-विक्षेपोंके द्वारा अद्भुत रसको दिखलाते हुए दिव्य ताण्डव नृत्य किया ॥१२१–१२२॥ राजादि सभी दर्शकोंको सुख उत्पन्न करते हुए, अपने पापोंके विनाशके लिए विक्रिया ऋद्धिसे पाद, कमर, कण्ठ और हाथोंसे अनेक प्रकारके अंग-संचालन द्वारा सहस्र भुजावाले उस सौधर्मेन्द्रके नृत्य करते समय उसके पाद विन्यासोंसे पृथ्वी फूटती हुई-सी चलायमान प्रतीत हो रही थी ॥१२३–१२४॥ चंचल वस्त्र और आभूपणवाला वह इन्द्र किये गये करविक्षेपोंके द्वारा ताराओंके चारों ओर घूमता हुआ कल्पवृक्षके समान नृत्य कर रहा था ॥१२५॥ नृत्य करते हुए वह इन्द्र क्षणभरमें एक रूप और क्षण-भरमें दिव्य अनेक रूपवाला हो जाता था। क्षण-भरमें अत्यन्त सूक्ष्म शरीरवाला और क्षण-भरमें महाउन्नत सर्वव्यापक देहवाला हो जाता था ॥१२६॥ क्षण-भरमें समीप आ जाता और क्षण-भरमें दूर चला जाता, क्षण-भरमें आकाशमें और क्षण-भरमें भूमि पर आ जाता था। क्षण-भरमें दो हाथवाला हो जाता और क्षण-भरमें अनेक हाथोंवाला हो जाता था ॥१२७॥ इस प्रकार अत्यन्त हर्षसे विक्रिया-जनित अपनी सामर्थ्यको प्रकट करते हुए इन्द्रने इन्द्रजालके समान उस समय आनन्द नाटक दिखाया ॥१२८॥

तत्पश्चात् इन्द्रकी भुजाओंपर खड़ी होकर मुसकराते हुए अप्सराओंने अपनी भ्रूलताओंको मटकाते और करविक्षेप करते हुए नृत्य करना प्रारम्भ किया ॥१२९॥ कितनी ही देवियाँ वर्धमान लयके साथ, कितनी ही ताण्डव नृत्यके साथ और कितनी ही अनेक प्रकारके अभिनयोंके साथ नाचने लगीं ॥१३०॥ कितनी ही देवियाँ ऐरावत हाथीका और कितनी ही इन्द्रका रूप धारण कर दिव्य नियन्त्रित प्रवेश और निष्क्रमणके द्वारा नृत्य करने लगीं ॥१३१॥

कल्पाङ्घ्रिपस्य शाखासु कल्पवल्ल्य इवोद्गताः । बभुस्ताः परिनृत्यन्तः करांघ्रेष्वमरेशिनः ॥१३२॥

हस्ताङ्गुलीपु शक्रस्य निधाय स्वक्रमान् शुभान् । नेटुः काश्चित्सलीलं ताः सूचीनाट्यमिवाश्रिताः ॥१३३॥

दिव्याः कराङ्गुलीरन्या भ्रेमुश्चादिसुरेशिनः । वंशयष्टीरिवारुह्य तदग्रार्पितनाभयः ॥१३४॥

प्रतिबाह्वमरेशस्य नटन्त्यो नाकियोषितः । यत्नेन संचरन्ति स्म वञ्चयन्त्यो नृवीक्षणात् ॥१३५॥

ऊर्ध्वमुच्छालयंस्ताः खे नटन्तीर्दर्शयन् पुनः । क्षणात् कुर्वन्नदृश्याश्च क्षणान्नयनगोचराः ॥१३६॥

इतस्ततः स्वदोर्जाले गूढं संचारयन् महान् । तदा हरिरभूल्लोके माहेन्द्रजालिकोपमः ॥१३७॥

प्रत्यङ्गमस्य ये रम्याः कलाद्या नृत्यतोऽभवन् । ता एव तासु देवीषु संविभक्ता इवारुचन् ॥१३८॥

इत्याद्यैर्विविधैर्दिव्यैर्नर्तनैर्विक्रियोद्भवैः । आनन्दनाटकं प्रेक्ष्यं पूर्णं देवीभिरादरात् ॥१३९॥

कृत्वामा बहुधाकारैर्हावैर्भावैः सहोत्सवैः । परं सौख्यं सुरेशोऽर्हत्पित्रादीनामजीजनत् ॥१४०॥

ततः शक्रा जिनेन्द्रस्य शुश्रूषाभक्तिहेतवे । देवीर्धात्रीर्नियोज्यामरकुमारांश्च मुक्तये ॥१४१॥

तद्वयोरूपवेषादिकारिणः शुभचेष्टितैः । देवैः सार्धमुपार्ज्यातिपुण्यं स्वं स्वं दिवं ययुः ॥१४२॥

इति सुकृतविपाकात्प्राप तीर्थेट् सुरेशैः सकलविभवपूर्णं जन्मकल्याणसारम् ।
शुभसुखगुणबीजं भो विदित्वेति दक्षाः भजत परमयत्नाद्धर्ममेकं सदैव ॥१४३॥

उस समय इन्द्रके भुजासमूह पर नृत्य करती हुई वे देवियाँ ऐसी शोभित हो रही थीं मानो कल्प-वृक्षकी शाखाओं पर फैली हुई कल्पलताएँ ही हों ॥१३२॥ कितनी ही देवियाँ शक्रके हाथकी अंगुलियोंपर अपने शुभ चरणोंको रखकर लीलापूर्वक सूचीनाट्य (सूईकी नोकों पर किया जानेवाला नृत्य) को करती हुई के समान नाचने लगीं ॥१३३॥ कितनी ही देवियाँ इन्द्रकी दिव्य हस्तांगुलियोंके अग्र भागपर अपनी-अपनी नाभिको रखकर इस प्रकार परिभ्रमण कर रही थीं, मानो बाँसकी लकड़ीपर चढ़कर और उसके अग्र भागपर अपनी नाभिको रखकर घूम रही हों ॥१३४॥ कितनी ही देवियाँ इन्द्रकी प्रत्येक भुजापर नृत्य करती हुई तथा मनुष्योंको नेत्रोंके कटाक्षसे ठगती हुई संचार कर रही थीं ॥१३५॥ वह इन्द्र नृत्य करती हुई उन देवियोंको कभी ऊपर आकाशमें उछालकर नृत्य करता हुआ दिखाता था, कभी उन्हें क्षण-भरमें अदृश्य कर देता था और कभी क्षणभरमें दृष्टिगोचर कर देता था ॥१३६॥ कभी उन्हें अपनी भुजाओंके जालमें गुप्त रूपसे इधर-उधर संचार कराता हुआ वह इन्द्र उस समय लोकमें महान् इन्द्रजालिककी उपमाको धारण कर रहा था ॥१३७॥ नृत्य करते हुए इन्द्रके प्रत्येक अंगमें जो रमणीक कला-कौशल होता था, वह उन सभी देवियोंमें विभक्त हुएके समान प्रतीत होता था ॥१३८॥ इत्यादि विक्रियाजनित विविध दिव्य नृत्योंके द्वारा, बहुत प्रकारके आकारवाले हाव-भाव-विलासोंके द्वारा आदरसे देवियोंके साथ दर्शनीय आनन्द नाटक करके इन्द्रने माता-पिता और दर्शक आदिकोंको परम सुख उत्पन्न किया ॥१३९-१४०॥

तदनन्तर मुक्ति-प्राप्त्यर्थ जिनेन्द्रदेवकी शुश्रूषा और भक्तिके लिए अनेक देवियोंको धाय-रूपसे और भगवान्के वयके अनुरूप वेष आदिके करनेवाले देवकुमारोंको इन्द्रने नियुक्त किया। पुनः शुभचेष्टावाले देवोंके साथ महान् पुण्यको उपार्जन करके वे सब देवगण अपने-अपने स्वर्गको चले गये ॥१४१-१४२॥

इस प्रकार पुण्यके परिपाकसे तीर्थंकर देवने इन्द्रोंके द्वारा समस्त वैभवसे परिपूर्ण सारभूत जन्मकल्याणकके महोत्सवको प्राप्त किया। अतः ऐसा जानकर चतुर पुरुष उत्तम और गुणोंके कारणभूत एक धर्मको ही परम यत्नके साथ सदा सेवन करें ॥१४३॥

धर्मो नाकिनरेन्द्रशर्मजनको धर्मो गुणानां निधि-
धर्मो विश्वहितंकरोऽशुभहरो धर्मः शिवश्रीकरः ।
धर्मो दुःखभवान्तकोऽसमपिता धर्मश्च माता सुहृन्-
नित्यं यः स विधीयतां बुधजना भोः किं ह्यसत्कल्पनैः ॥१४४॥
यो वन्द्योऽङ्गिपितामहोऽसुखहरश्चिद्धर्मतीर्थंकरः
सर्वज्ञो गुणसागरोऽतिविमलो विश्वैकचूडामणिः ।
कल्याणादिसुखाकरो निरुपमः कर्मारिविध्वंसको
वन्द्योऽर्च्योऽत्र मया जगत्त्रयबुधैर्मे सोऽस्तु तद्भूतये ॥१४५॥

इति भट्टारकसकलकीर्तिविरचिते श्रीवीरवर्धमानचरिते भगवज्जन्माभिषेकवर्णनो नाम नवमोऽधिकारः ॥९॥

धर्म इन्द्र और नरेन्द्रके सुखका जनक है, धर्म सर्व गुणोंका निधान है, धर्म विश्वभरके प्राणियोंका हितकारक है, अशुभका संहारक है और शिवलक्ष्मीका कर्ता है। धर्म संसारके दुःखोंका अन्त करनेवाला है, धर्म असामान्य पिता, माता और मित्र है। इसलिए हे ज्ञानी जनो, इस धर्मका ही सदा पालन करो। अन्य असत्कल्पनाओंसे क्या लाभ है ॥१४४॥

जो श्रीवीरप्रभु प्राणियोंके पितामह हैं, दुःखोंके हरण करनेवाले हैं, धर्मतीर्थके कर्ता हैं, सर्वज्ञ हैं, गुणोंके सागर हैं, अत्यन्त निर्मल हैं, विश्वके अद्वितीय चूड़ामणिरत्न हैं, कल्याण आदि सुखोंके भण्डार हैं, उपमा रहित हैं, कर्म-शत्रुओंके विध्वंसक हैं, और तीन लोकके ज्ञानी पुरुषोंके द्वारा एवं मेरे द्वारा वन्दनीय और पूज्य हैं, वे मेरे उक्त विभूतिके लिए सहायक होवें ॥१४५॥

इस प्रकार भट्टारक सकलकीर्ति-विरचित श्रीवीरवर्धमानचरितमें भगवान्‌के जन्माभिषेकका वर्णन करनेवाला नवम अधिकार समाप्त हुआ ॥९॥

दशमोऽधिकारः

नमः श्रीवर्धमानाय हताभ्यन्तरशत्रवे । त्रिजगद्धितकर्त्रे मूर्ध्नानन्तगुणसिन्धवे ॥१॥
अथ काश्चिच्च धात्र्यस्तं भूषयन्ति शिशूत्तमम् । वस्त्राभरणमाल्याद्यैर्नाकोत्पन्नैर्विलेपनैः ॥२॥
स्नापयन्त्यपरा दिव्यैः सलिलैर्देवयोषितः । रमयन्ति मुदा चान्या नानाक्रीडनजल्पनैः ॥३॥
एहि ह्येहि जगत्स्वामिन् प्रसार्य स्वकराम्बुजान् । मुहुरित्युक्तवत्योऽन्याः प्रीत्यैनं क्रीडयन्त्यहो ॥४॥
तदासौ स्मितमातन्वन् प्रसर्पन्मणिभूतले । पित्रोर्मुदं ततानोच्चैर्मनोज्ञैर्बालचेष्टितैः ॥५॥
जगद्बन्ध्वादिनेत्राणां चन्द्रस्येवोत्सवप्रदम् । कलोज्ज्वलं तदास्यासीच्छैशवं विश्ववन्दितम् ॥६॥
मुग्धस्मितं यदस्याभून्मुखेन्दौ चन्द्रिकामलम् । तेन पित्रोर्मनस्तोषसमुद्रो ववृधेतराम् ॥७॥
क्रमाच्छ्रीमन्मुखाब्जेऽस्याभवन्मन्मनभारती । वाग्देवतेव तद्बाल्यमनुकर्तुं तथाश्रिता ॥८॥
प्रस्खलत्पादविन्यासैः शनैर्मणिधरातले । स रेजे संचरन् बालभानुवद्भूषणांशुभिः ॥९॥
हस्त्यश्वमर्कटादीनां रूपमादाय सुन्दरम् । मुदा तं क्रीडयामासुर्नानाक्रीडापराः सुराः ॥१०॥
इत्यन्यैः शिशुचेष्टाद्यैर्बन्धूनां जनयन्मुदम् । क्रमात्सुधान्नपानाद्यैः स कौमारत्वमाप्तवान् ॥११॥

अभ्यन्तर कर्मशत्रुके नाशक, त्रिजगत्‌के प्राणियोंके हितकर्ता और अनन्त गुणोंके सागर श्रीवर्धमानस्वामीके लिए नमस्कार है ॥१॥

अथानन्तर कितनी ही देवियाँ उस श्रेष्ठ बालकको स्वर्गलोकमें उत्पन्न हुए वस्त्र, आभूषण, माला और चन्दन-विलेपनसे भूषित करती थीं, कितनी ही देवियाँ दिव्य जलसे स्नान करातीं और कितनी ही देवियाँ हर्षपूर्वक नाना प्रकारके खेलोंसे और मधुर वचनोंसे उन्हें रमाती थीं ॥२–३॥ कितनी ही देवियाँ अपने कर-कमलोंको पसारकर कहतीं—'हे जगत्स्वामिन्, इधर आइए, इधर आइए,' इस प्रकार प्रीतिसे कहकर उन्हें अपनी ओर बुलाती और खिलाती थीं ॥४॥ उस समय वे बाल वीर जिन मन्द-मन्द मुसकराते और मणिमयी भूतलपर इधर-उधर घूमते हुए अपनी सुन्दर बालचेष्टाओंके द्वारा माता-पिताको आनन्दित करते थे ॥५॥ उस समय भगवान्‌के शैशवकालकी उज्ज्वल कलाएँ समस्त बन्धुजनादिकोंके नेत्रोंको चन्द्रमाके समान उत्सव करनेवाली और विश्ववन्दित थीं ॥६॥ प्रभुके मुख-चन्द्रपर मुग्ध-स्मित (मन्द मुसकान) रूप निर्मल चन्द्रिका थी, उससे माता-पिताके मनका सन्तोषरूप सागर उमड़ने लगता था ॥७॥ क्रमसे बढ़ते हुए श्रीमान् महावीर प्रभुके मुखरूपी कमलमें मन्मन करती हुई सरस्वती प्रकट हुई, सो ऐसा मालूम पड़ता था मानो वचन देवता ही उनके बालपनका अनुकरण करनेके लिए उस प्रकारसे आश्रयको प्राप्त हुई है ॥८॥ मणिमयी धरातलपर धीरे-धीरे डगमगाते चरण-विन्याससे विचरते हुए भगवान् ऐसे शोभित होते थे मानो भूषणरूपी किरणोंके साथ बालसूर्य ही घूम रहा हो ॥९॥ नाना प्रकारकी क्रीड़ाओंमें कुशल देवकुमार हाथी, घोड़े, वानर आदिके सुन्दर रूप धारण कर बड़े हर्षसे बालजिनको खिलाते थे ॥१०॥ इन उपर्युक्त तथा इनके अतिरिक्त अन्य नाना प्रकारकी बालचेष्टाओंके द्वारा बन्धुओंको प्रमोद उत्पन्न करते और अमृतमयी अन्न-पानादिके सेवनद्वारा क्रमसे बढ़ते हुए भगवान् कुमारावस्थाको प्राप्त हुए ॥११॥

सम्यक्त्वं क्षायिकं चास्य प्राक्तनं मलदूरगम् । अस्ति तेनाखिलार्थानां स्वयं सुनिश्चयोऽभवत् ॥१२॥
मतिश्रुतावधिज्ञानत्रितयं सहजं तदा । विभोरुत्कर्षतां प्रायाद्दिव्येन वपुषा समम् ॥१३॥
तेन विश्वपरिज्ञानकलाविद्यादयोऽखिलाः । गुणा धर्मविचाराद्याश्चागुः परिणतिं स्वयम् ॥१४॥
ततोऽयं नृसुरादीनां बभूव गुरुरूर्जितः । नापरो जातु देवस्य गुरुर्वाध्यापकोऽस्त्यहो ॥१५॥
अष्टमे वत्सरे देवो गृहिधर्माप्तये स्वयम् । आददौ स्वस्य भोग्यानि व्रतानि द्वादशैव हि ॥१६॥
स्वेददूरं वपुः कान्तं मलनीहारवर्जितम् । क्षीराच्छशोणितं रम्यमादिसंस्थानभूषितम् ॥१७॥
स वज्रर्षभनाराचज्येष्ठसंहननान्वितम् । सौरूप्योत्कृष्टसंयुक्तं महासौरभ्यमण्डितम् ॥१८॥
अष्टोत्तरसहस्रप्रमैर्लक्षणैरलंकृतम् । अप्रमाणमहावीर्याङ्कितं दधद्वयोऽमलम् ॥१९॥
प्रियं विश्वहितं चाभूद्विभोः कर्णसुखावहम् । इत्थं चातिशयैर्दिव्यैः सहजैर्दशभिर्युतम् ॥२०॥
अप्रमाणैर्गुणैश्चान्यैः सौम्याद्यैः कीर्तिकान्तिभिः । कलाविज्ञानचातुर्यैर्व्रतशीलादिभूषणैः ॥२१॥
कनत्काञ्चनवर्णाभदिव्यदेहधरः प्रभुः । द्वासप्तत्यब्दजीवी स धर्ममूर्तिरिवाबभौ ॥२२॥
अथान्येद्युः सुराः प्राहुः कथामस्य परस्परम् । सभायां कल्पनाथस्य महावीर्योद्भवामिति ॥२३॥
अहो वीरजिनस्वामी कौमारपदभूषितः । धीरः शूराग्रणी वीरो ह्यप्रमाणपराक्रमः ॥२४॥
दिव्यरूपधरोऽनेकासाधारणगुणाकरः । वर्तते क्रीडयासक्तोऽधुनासन्नभवो महान् ॥२५॥
सङ्गमाख्योऽमरः श्रुत्वा तदुक्तं तं परीक्षितुम् । तस्मादेत्य महोद्याने द्रुमक्रीडापरायणम् ॥२६॥

वीरप्रभुके निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व पूर्वभवसे ही प्राप्त था, उससे उनके सर्वतत्त्वोंका यथार्थ निश्चय स्वयं हो गया ॥१२॥ भगवान्‌के मति श्रुत और अवधि ये तीन ज्ञान जन्मसे ही प्राप्त थे, फिर ज्यों-ज्यों उनका दिव्य शरीर बढ़ने लगा, त्यों-त्यों वे तीनों ज्ञान और भी अधिक उत्कर्पताको प्राप्त हुए ॥१३॥ उक्त ज्ञानोंके प्रकर्पसे समस्त पदार्थोंका परिज्ञान, समस्त कलाएँ, सर्वविद्याएँ, सर्वगुण और धार्मिक विचार आदि स्वयं ही भगवान्‌की परिणतिको प्राप्त हुए ॥१४॥ इस कारण वे बाल प्रभु मनुष्यों और देवोंके उत्तम गुरु सहजमें ही बन गये। इसीलिए वीरदेवका कोई दूसरा गुरु या अध्यापक नहीं हुआ, यह आश्चर्यकी बात है ॥१५॥ आठवें वर्पमें वीर जिनने गृहस्थ धर्मकी प्राप्तिके लिए स्वयं अपने योग्य श्रावकके बारह व्रतोंको धारण कर लिया ॥१६॥

भगवान्‌का शरीर अतिशय सुन्दर, पसीना-रहित, मल-मूत्रादिसे रहित, दूधके समान उज्ज्वल रक्तवाला और सुगन्धित था। वे आदि समचतुरस्रसंस्थानसे भूपित थे, वज्रवृपभ-नाराचसंहननके धारक थे, उत्कृष्ट सौन्दर्यसे युक्त, महासुखसे मण्डित, एक हजार आठ शुभ लक्षण-व्यंजनोंसे अलंकृत और अप्रमाणमहावीर्यसे युक्त थे। प्रभु विश्वहितकारक और कर्णोंको सुखदायक प्रिय निर्मल वचनोंके धारक थे। इस प्रकार इन सहज उत्पन्न हुए दश दिव्य अतिशयों से युक्त थे, तथा सौम्यादि अप्रमाण अन्य गुणोंसे, कीर्ति-कान्तिसे, कला-विज्ञान-चातुर्यसे और व्रत-शीलादि भूपणोंसे भूपित थे ॥१७-२१॥ प्रभु तपाये हुए सोनेके वर्ण जैसी आभावाले दिव्य देहके और बहत्तर वर्पकी आयुके धारक थे। इस प्रकार वे साक्षात् धर्ममूर्तिके समान शोभते थे ॥२२॥

अथानन्तर एक दिन सौधर्म इन्द्रकी सभामें देवगण भगवान्‌के महावीर्यशाली होनेकी कथा परस्पर कर रहे थे कि देखो—वीरजिनेश्वर जो अभी कुमारपदसे भूपित हैं और क्रीड़ामें आसक्त हैं, फिर भी वे बड़े धीर-वीर, शूरोंमें अग्रणी, अप्रमाण पराक्रमी, दिव्यरूपधारी, अनेक असाधारण गुणोंके भण्डार, और आसन्न भव्य हैं ॥२३-२५॥ देवोंकी यह चर्चा सुनकर संगम नामका देव उनकी परीक्षा करनेके लिए स्वर्गसे उस महावनमें आया, जहाँ पर कि वीरजिन

कुमारं भासुराकारं ददर्शामा नृपात्मजैः। काकपक्षधरैरेकवयोभिर्बहुभिर्मुदा ॥२७॥
तं विभीषयितुं क्रूरकालनागाकृतिं सुरः। कृत्वा मूलाद् द्रुमस्याशु यावत्स्कन्धमवेष्टत ॥२८॥
तद्भयात्ते निपत्याशु विटपेभ्यो महीतलम्। दूरे पलायनं चक्रुः सर्वेऽतिभयविह्वलाः ॥२९॥
ललज्जिह्वाशतात्युग्रं तमहिं भीषणाकृतिम्। मुदारुह्य विभीर्धीरो निःशङ्को निर्मलाशयः ॥३०॥
कुमारः क्रीडयामास मातृपर्यङ्कवत्तराम्। तृणवन्मन्यमानस्तमप्रमाणमहाबली ॥३१॥
तद्धैर्यमसमं वीक्ष्य देवः साश्चर्यमानसः। प्रकटीभूय तं स्तोतुं प्रोद्ययौ तद्गुणैः परैः ॥३२॥
त्वं देव जगतां स्वामी धैर्यसारस्त्वमेव हि। त्वं कृत्स्नकर्मशत्रूणां हन्ता त्राता जगत्सताम् ॥३३॥
अनिवार्या भवत्कीर्तिश्चन्द्रिकेवातिनिर्मला। महावीर्यादिजा भव्यैर्लोकनाड्यां समन्ततः ॥३४॥
त्वन्नामस्मरणाद् देव धीरस्त्वं परमं भुवि। मङ्क्षु संपद्यते पुंसां सर्वार्थसिद्धिदायकम् ॥३५॥
अत्र नाथ नमस्तुभ्यं नमोऽतिदिव्यमूर्तये। नमः सिद्धिवधूभर्त्रे महावीराय ते नमः ॥३६॥
इति स्तुत्वा महावीरनाम कृत्वा जगद्गुरोः। सार्थकं तृतीयं सोऽस्मान्मुहुर्नत्वा दिवं ययौ ॥३७॥
कुमारोऽपि क्वचित्कृण्वन् स्वयशः शशिनिर्मलम्। प्रोच्यमानं द्युगन्धर्वैर्विश्वकर्णसुखप्रदम् ॥३८॥
अन्येद्युः स्वगुणोत्पन्नगीतसागण्यनेकशः। किन्नरीभिः सुकण्ठीभिर्गीयमानानि सादरम् ॥३९॥
अन्यदा नर्तनं चित्रं नर्तकीनां सुरेशिनाम्। पश्यन्नेत्रप्रियं चान्यं नाटकं बहुरूपिणाम् ॥४०॥
क्वचिदालोकयन् स्वस्य रैदानीतानि शर्मणे। भूषणाम्बरमाल्यानि दिव्यानि स्वर्गजानि च ॥४१॥

सुन्दर केशोंके धारक, समान अवस्थावाले अनेक राजकुमारोंके साथ आनन्दसे वृक्षपर चढ़े हुए क्रीड़ामें तत्पर थे। प्रभुके प्रकाशमान आकारको उस देवने देखा और उन्हें डरानेके लिए उसने क्रूर काले साँपका आकार धारण किया और वृक्षके मूल भागसे लेकर स्कन्ध तक उससे लिपट गया ॥२६-२८॥ उस भयंकर साँपको वृक्षपर लिपटता हुआ देखकर उसके भयसे अतिविह्वल होकर सभी साथी कुमार डालियोंसे भूमिपर कूद-कूदकर दूर भाग गये ॥२९॥ किन्तु धीर-वीर, निर्भय, निःशंक, निर्मल हृदयवाले वीर कुमार तो लपलपाती सैकड़ों जीभोंवाले, भीषण आकारके धारक उस साँपके ऊपर चढ़कर माताकी शय्याके समान क्रीड़ा करने लगे। अप्रमाणमहाबली प्रभुने उसे तृणके समान तुच्छ समझा ॥३०-३१॥ वीरकुमारके अतुल धैर्यको देखकर आश्चर्यचकित हृदयवाला वह देव प्रकट होकर उनके उत्तम गुणोंसे इस प्रकार स्तुति करने लगा ॥३२॥ "हे देव, आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं, आप ही महाधीर वीर हैं, आप ही सर्व कर्मशत्रुओंके नाश करनेवाले हैं और जगत्के सज्जनोंके रक्षक हैं ॥३३॥ चन्द्रिकाके समान अतिनिर्मल महापराक्रमादि गुणोंसे उत्पन्न हुई आपकी कीर्ति भव्य पुरुषोंके द्वारा सारी लोकनालीमें अनिवार्य रूपसे सर्वत्र व्याप्त है ॥३४॥ हे देव, संसारमें आपकी धीरता परम श्रेष्ठ है, आपके नामका स्मरण करने मात्रसे पुरुषोंको सर्व अर्थोंकी सिद्धि करनेवाला धैर्य शीघ्र प्राप्त होता है ॥३५॥ अतः हे नाथ, आपको नमस्कार है, अतिदिव्यमूर्तिके धारक आपको नमस्कार है, सिद्धिवधूके स्वामी आपको नमस्कार है और महान् वीर प्रभु, आपको मेरा नमस्कार है ॥३६॥ इस प्रकार स्तुति करके और जगद्-गुरु वीर प्रभुका 'महावीर' यह तीसरा सार्थक नाम रख करके बार-बार नमस्कार कर वह देव वहाँसे स्वर्ग चला गया ॥३७॥

वीरकुमार भी देव-गन्धर्वोंके द्वारा गाये गये, सबके कानोंको सुखदायी, चन्द्रके समान निर्मल अपने यशको सुनते हुए विचरने लगे ॥३८॥ वे कभी सुन्दर कण्ठवाली किन्नरी देवियोंके द्वारा आदरपूर्वक गाये अपने गुणोंका वर्णन करनेवाले गीतोंको सुनते, कभी देव-नर्तकियोंके विविध प्रकारके नृत्योंको देखते और कभी अनेक रूप धारण करनेवाले देवोंके नेत्र-प्रिय नाटकको देखते थे ॥३९-४०॥ कभी स्वर्गमें उत्पन्न हुए और कुबेर-द्वारा लाये गये

क्वचित्सुरकुमाराद्यैः समं कुर्वन्मुदोर्जिताम् । जलकेलिं तथान्येद्युर्वनक्रीडां निजेच्छया ॥४२॥
इत्याद्यैर्बहुभिः क्रीडाविनोदैः स निरन्तरम् । अन्वभूत्परमं शर्म योग्यं धर्मवतोऽपि सन् ॥४३॥
सौधर्मेन्द्रोऽकरोत्तस्य महत्सौख्यं स्वशर्मणे । विचित्रैर्नर्तनैः रम्यैर्गीतगानैर्मनोहरैः ॥४४॥
कारितैर्निजदेवीभिः स्वर्गजैर्दिव्यवस्तुभिः । काव्यवाद्यादिगोष्ठीभिर्धर्मगोष्ठीभिरन्वहम् ॥४५॥
इत्थं सोऽद्भुतपुण्येन भुञ्जानः सुखमुल्वणम् । क्रमाल्लेभे जगच्छर्मकारणं यौवनं परम् ॥४६॥
तदास्य मुकुटेनालंकृते मन्दारमालया । शिरोऽलिनिभवालं च धर्माद्रिकूटवद्बभौ ॥४७॥
ललाटं रुरुचे तस्य कपोलोत्थसुकान्तिभिः । निधानमिव भाग्यानां वाष्टमीचन्द्रवत्तराम् ॥४८॥
किं वर्ण्येतेऽस्य नेत्राब्जे चारुभ्रूविभ्रमाङ्किते । यदुन्मेषादिमात्रेण प्रतृप्यन्ते जगज्जनाः ॥४९॥
मणिकुण्डलतेजोभिर्विभोः कर्णौ रराजतुः । गीतानां पारगौ ज्योतिश्चक्रेण वेष्टिताविव ॥५०॥
तन्मुखेन्दोः परा शोभा वर्ण्यते किं पृथक्तराम् । निस्सरिष्यति यद्यस्माद् ध्वनिर्दिव्यो जगद्धितः ॥५१॥
नासिकाधरदन्तानां निसर्गरमणीयता । कण्ठादीनां च यास्यासीत्कस्तां प्रोक्तुं क्षमो बुधः ॥५२॥
पृथु वक्षःस्थलं तस्य मणिहारेण भूषितम् । विदधे महतीं शोभां वीरचिच्छ्रीगृहोपमाम् ॥५३॥
मुद्रिकाङ्गदकेयूरकङ्कणाद्यैरलंकृतौ । बाहू सोऽधाज्जनाभीष्टप्रदौ कल्पांह्रिपाविव ॥५४॥
तदाश्रिता नखा दीप्रा मयूखाभिर्विभान्त्यहो । क्षमादीन् दशधर्माङ्गान् लोके वक्तुमिवोद्यताः ॥५५॥
स्वाङ्गमध्ये बभारासौ सावर्तां नाभिमद्भुताम् । सरसीमिव वाग्देवीलक्ष्म्योः क्रीडादिहेतवे ॥५६॥

सुखकारक दिव्य वस्त्र, आभूपण और मालाओंको देखते, कभी देवकुमारोंके साथ आनन्दसे जलक्रीड़ा करते और कभी अपनी इच्छासे वनक्रीड़ाको जाते थे ॥४१–४२॥ इत्यादि प्रकारके अनेक क्रीड़ा-विनोदोंके साथ वीर कुमार धर्मीजनोंके योग्य परम सुखका निरन्तर अनुभव करने लगे ॥४३॥ सौधर्मेन्द्र भी अपने सुखके लिए नाना प्रकारके रमणीक नृत्य और मनोहर गीत-गान अपनी देवियोंके द्वारा कराता, स्वर्गमें उत्पन्न हुई दिव्य वस्तुओंके द्वारा भेंट समर्पण करता, और निरन्तर काव्य-वाद्यगोष्ठी और धर्मगोष्ठीके द्वारा उन वीर प्रभुको महान् सौख्य पहुँचाता था ॥४४-४५॥ इस प्रकार वीरकुमार अद्भुत पुण्यसे उत्कृष्ट सुखको भोगते हुए क्रमसे सांसारिक सुखकी कारणभूत परम यौवनावस्थाको प्राप्त हुए ॥४६॥

युवावस्थाके प्राप्त होनेपर मुकुट और मन्दारमालासे अलंकृत वीर प्रभुका भ्रमरोंके समान काले बालोंसे युक्त सिर धर्मरूप पर्वतपर स्थित कूटके समान शोभायमान होता था ॥४७॥ कपोलोंसे उत्पन्न हुई कान्तिके द्वारा उनका अष्टमीके चन्द्रतुल्य ललाट भाग्योंके निधानके समान शोभित होता था ॥४८॥ सुन्दर भ्रू-विभ्रमसे युक्त उनके नेत्रकमलोंका क्या वर्णन किया जाये, जिनके निमेप-उन्मेपमात्रसे जगत्-जन अत्यन्त सन्तुष्ट होते थे ॥४९॥ मणिमयी कुण्डलोंकी कान्तिसे प्रभुके सुन्दर गीतोंको सुननेवाले दोनों कान इस प्रकार शोभित होते थे मानो वे ज्योतिपचक्रसे ही वेष्टित हों ॥५०॥ उनके मुखचन्द्रकी परम शोभाका क्या पृथक् वर्णन किया जा सकता है, जिससे कि कैवल्य प्राप्त होनेपर जगत्-हितकारी दिव्यध्वनि निकलेगी ॥५१॥ उनके नाक, अधर, ओष्ठ, और दाँतोंकी, तथा कण्ठ आदिकी जो स्वाभाविक रमणीयता थी, उसे कहनेके लिए कौन बुद्धिमान् समर्थ है ॥५२॥ मणियोंसे निर्मित हारसे भूपित उनका विशाल वक्षःस्थल वीरलक्ष्मीके घरके समान भारी शोभाको धारण करता था ॥५३॥ वे मुद्रिका, अंगद, केयूर, कंकण आदि आभूपणोंसे अलंकृत दो भुजाओंको अभीष्ट फल देनेवाले कल्पवृक्षोंके समान धारण करते थे ॥५४॥ उनके दोनों हाथोंकी अँगुलियोंके किरणोंसे देदीप्यमान दशों नख ऐसे शोभायमान होते थे, मानो लोकमें क्षमादि धर्मके दश अंगोंको कहनेके लिए उद्यत हों ॥५५॥ वे अपने शरीरके मध्यमें आवर्त युक्त गम्भीर सुन्दर नाभिको धारण किये हुए थे, जो ऐसी ज्ञात होती थी, मानो सरस्वती और लक्ष्मीकी क्रीड़ादि-

समेखलं कटीभागं लसदंशुकवेष्टितम् । स्मरारेः स दधेऽगम्यं ब्रह्मभूपगृहोपमम् ॥५७॥
वभारोरुद्वयं दीप्तं वीरो जङ्घे च कोमले । कदल्या गर्भतः किंतु व्युत्सर्गादिविधौ क्षमे ॥५८॥
पादाब्जयोर्महाकान्तिरस्य केनोपमीयते । किङ्करा इव देवेन्द्राः कुर्वन्त्याराधनं ययोः ॥५९॥
इत्याद्या परमा शोभा स्यात्केशाग्र्यं नखाग्रतः । स्वभावेनाभवद्या तां विद्वान् को गदितुं क्षमः ॥६०॥
जगत्त्रयस्थितैर्दिव्यैर्दीप्रैः पूतैश्च पुद्गलैः । सुगन्धैर्निर्मितः कायो विभोः सद्विधिनासमः ॥६१॥
आद्यं संहननं तस्य वज्रास्थिघटितं ह्यभूत् । वज्रास्थिवेष्टितं वज्रनाराचैर्भिन्नमूर्जितम् ॥६२॥
मदखेदादयो जातु नास्य गात्रे पदं व्यधुः । महारागादिका दोषा आतङ्काश्च त्रिदोषजाः ॥६३॥
जगत्प्रिया शुभा वाणी विश्वसन्मार्गदेशिनी । धर्ममातेव चास्यासीन्नापरोन्मार्गवर्तिनी ॥६४॥
भर्तुर्दिव्याङ्गमाश्रित्य चामूनि लक्षणान्यपि । बभुर्यथात्र धर्माद्या गुणा आश्रित्य धर्मिणम् ॥६५॥
श्रीवृक्षः शङ्ख एवाब्जस्वस्तिकाङ्कुशतोरणम् । सचामरं सितच्छत्रं केतनं सिंहविष्टरम् ॥६६॥
मत्स्यौ कुम्भौ महाब्धिश्च कूर्मश्चक्रं सरोवरम् । विमानं भवनं नागो मर्त्यनार्यौ महान् हरिः ॥६७॥
बाणवाणासने गङ्गा देवराजोऽचलाधिपः । गोपुरं पुरमिन्द्वर्कौ जात्यश्वस्तालवृन्तकम् ॥६८॥
मृदङ्गोऽहिस्रजौ वीणा वेणुः पट्टांशुकापणौ । दीप्राणि कुण्डलादीनि विचित्राभरणानि च ॥६९॥
उद्यानं फलितं क्षेत्रं सुपक्वकलमान्वितम् । वज्रं रत्नं महाद्वीपो धरा लक्ष्मी सुभारती ॥७०॥
हिरण्यं कल्पवल्ली हि चूडारत्नं महानिधिः । सुरभिः सौरभेयोऽपि जम्बूवृक्षश्च पक्षिराट् ॥७१॥
सिद्धार्थपादपः सौधमुडूनि तारका ग्रहाः । प्रातिहार्याण्यहार्याणि चान्यानि मङ्गलान्यपि ॥७२॥

के लिए वापिका ही हो ॥५६॥ वे सुन्दर मेखला (कांचीदाम) युक्त, शोभायमान रूपसे वेष्टित कटिभागको धारण करते थे, जो ऐसा प्रतीत होता था मानो कामदेवके अगम्य ऐसे ब्रह्म-नृपतिका घर ही हो ॥५७॥ वे वीरप्रभु कान्तियुक्त और केलेके गर्भभागसे भी कोमल, किन्तु कायोत्सर्ग आदिके करनेमें समर्थ दो ऊरु और जंघाओंको धारण करते थे ॥५८॥ उनके चरण-कमलों की महाकान्तिको किसकी उपमा दी सकती है, जिनकी कि आराधना देवेन्द्र भी किंकरके समान करते हैं ॥५९॥ इस प्रकार नखके अग्रभागसे लेकर केशके अग्रभाग तककी उनके शरीरकी परम शोभाको जो स्वभावसे ही प्राप्त हुई थी, कहनेके लिए कौन विद्वान् समर्थ है ॥६०॥ तीन लोकमें स्थित, दिव्य, कान्तियुक्त, पवित्र, सुगन्धित पुद्गल-परमाणुओंसे ही विधाताने प्रभुका अनुपम शरीर रचा था ॥६१॥ उनका प्रथम वज्रवृषभ-नाराच-संहनन था, जो कि वज्रमय हड्डियोंसे घटित, वज्रमय वेष्टनोंसे वेष्टित और वज्रमय कीलोंसे कीलित था ॥६२॥ उनके शरीरमें मद, खेद आदि विकार, रागादि दोष, और त्रिदोष-जनित रोगादिने कभी स्थान नहीं पाया था ॥६३॥ उनकी शुभ वाणी जगत्-प्रिय, विश्वको सन्मार्गका उपदेश देनेवाली और धर्ममाताके समान कल्याणकारिणी थी, कुदेवोंके समान उन्मार्ग-प्रवर्तानेवाली नहीं थी ॥६४॥

वीरप्रभुके दिव्य शरीरको पाकर ये आगे कहे जानेवाले लक्षण (चिह्न) ऐसे शोभायमान होते थे, जैसे कि धर्मात्माको पाकर धर्मादिक गुण शोभित होते हैं ॥६५॥ वे लक्षण ये हैं— श्रीवृक्ष, शंख, कमल, स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चामर, श्वेत छत्र, ध्वजा, सिंहासन, मत्स्य-युगल, कलश युगल, समुद्र, कच्छप, चक्र, सरोवर, देव-विमान, नाग-भवन, स्त्री-पुरुष-युगल, महासिंह, धनुष, बाण, गंगा, इन्द्र, सुमेरु, गोपुर, नगर, चन्द्र, सूर्य, उत्तम जातिका अश्व, तालवृन्त, मृदंग, सर्प, माला, वीणा, बाँसुरी, रेशमी वस्त्र, दुकान, दीप्तियुक्त कुण्डल, विचित्र आभूषण, फलित उद्यान, सुपक्व धान्ययुक्त क्षेत्र, वज्र, रत्न, महाद्वीप, पृथ्वी, लक्ष्मी, सरस्वती, सुवर्ण, कल्पलता, चूड़ामणिरत्न, महानिधि, कामधेनु, उत्तम वृषभ, जम्बू वृक्ष, पक्षिराज (गरुड़), सिद्धार्थ (सर्षप) वृक्ष, प्रासाद, नक्षत्र, तारिका, ग्रह, प्रातिहार्य इत्यादि दिव्य

इत्याद्यैर्लक्षणैर्दिव्यैरष्टोत्तरशतप्रमैः । व्यञ्जनैः सकलैः सारैः परैर्नवशतान्तिकैः ॥७३॥
विचित्राभरणैः स्रग्भिर्निसर्गसुन्दरं विभोः । दिव्यमौदारिकं देहं बभौ त्यक्तोपमं भुवि ॥७४॥
किमत्र बहुनोक्तेन यत्किंचिल्लक्षणं शुभम् । रूपं संपत्प्रियं वाक्यं विवेकादिगुणव्रजम् ॥७५॥
जगत्त्रयेऽपि तत्सर्वं तीर्थकृत्पुण्यपाकतः । बभूव स्वयमेवान्यद्वानेकशर्मकृत्प्रभोः ॥७६॥
इत्याद्यन्यतरै रम्यैर्गुणातिशयनिर्मलैः । भूषितः सेव्यमानोऽसौ नृखेचरसुराधिपैः ॥७७॥
त्रिशुद्धया पालयन् गेहिव्रतानि धर्मसिद्धये । अतिक्रमादृते नित्यं शुभध्यानानि चिन्तयन् ॥७८॥
कुमारलीलया दिव्यान् नृपशक्रार्पितान्मुदा । भुञ्जानो महतो भोगान् स्वपुण्यजनितान् शुभान् ॥७९॥
त्रिंशद्वर्षाणि पूर्णानि कुमारशर्मणानयत् । मन्दरागो जगन्नाथः क्षणवत्सन्मतिर्महान् ॥८०॥
अथान्येद्युर्महावीरः काललब्ध्या प्रपेरितः । चारित्रावरणादीनां क्षयोपशमतः स्वयम् ॥८१॥
प्राक् परिभ्रमणं स्वस्य विचिन्त्य भवकोटिभिः । उत्कृष्टं प्राप वैराग्यं विश्वभोगाङ्गवस्तुषु ॥८२॥
ततोऽस्य धीमतश्चित्ते वितर्क इत्यभूत्तराम् । रत्नत्रयतपःकर्ता मोहारातिक्षयंकरः ॥८३॥
अहो वृथा गतान्यत्र ममेयन्ति दिनानि च । मुग्धस्येव विना वृत्तं दुर्लभानि जगत्त्रये ॥८४॥
प्राक्तना वृषभाद्या ये तेषामायुः सुपुष्कलम् । सर्वत्र कर्तुमायाति न चास्मत्सदृशां क्वचित् ॥८५॥
नेमिनाथादयो धन्या विदित्वा स्वस्य जीवितम् । स्वल्पं बाल्येऽप्यगुर्धीराः शीघ्रं मुक्त्यै तपोवनम् ॥८६
अतोऽत्यल्पायुषां नैवात्रैका कालकला क्वचित् । संयमेन विना नेतुं न योग्या हितकाङ्क्षिणाम् ॥८७॥

एक सौ आठ लक्षणोंसे और नौ सौ उत्तम व्यंजनोंसे, तथा शरीरपर धारण किये गये अनेक प्रकारके आभूषणोंसे और मालाओंसे स्वभावतः सुन्दर भगवान्का दिव्य औदारिक शरीर अत्यन्त शोभायुक्त था, जिसकी संसारमें कोई उपमा नहीं थी ॥६६–७४॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ है ? इस जगत्त्रयमें जो कुछ भी शुभ लक्षण, रूप, सम्पदा, प्रिय-वचन, विवेकादि गुणोंका समूह है, वह सब तीर्थंकरप्रकृतिके पुण्य-परिपाकसे वीरप्रभुको स्वयमेव ही सुखके साधन प्राप्त हुए थे ॥७५-७६॥ इत्यादि अन्य अनेक रमणीय निर्मल गुणातिशयोंसे भूपित और नरेन्द्र, विद्याधर एवं देवेन्द्रोंसे सेवित वीरप्रभुने धर्मकी सिद्धिके लिए मन-वचन-कायकी शुद्धि द्वारा श्रावकके व्रतोंको नित्य अतिचारोंके विना पालन करते, शुभ ध्यानोंका चिन्तवन करते, अपने पुण्यसे उपार्जित एवं मनुष्यों और इन्द्रोंसे समर्पित दिव्य शुभ महान् भोगोंको भोगते हुए कुमारकालीन लीलाके साथ कुमारकालके तीस वर्ष एक क्षणके समान पूर्ण किये। इस अवस्थामें वे जगन्नाथ सन्मतिदेव परम मन्दरागी रहे। अर्थात् उनके हृदयमें कभी काम-राग जागृत नहीं हुआ, किन्तु सांसारिक विषयोंसे उदासीन ही रहे ॥७७–८०॥

अथानन्तर काललब्धिसे प्रेरित महावीर प्रभु किसी दिन चारित्रावरणीय कर्मोंके क्षयोपशमसे स्वयं ही अपने कोटिभवोंके पूर्व परिभ्रमणका चिन्तवन करके संसार, शरीर और भोगके कारणभूत द्रव्योंमें उत्कृष्ट वैराग्यको प्राप्त हुए ॥८१-८२॥ तब उन महाबुद्धिशाली प्रभुके चित्तमें रत्नत्रय धर्म और तपश्चरणका करनेवाला, तथा मोहशत्रुका नाशक ऐसा वितर्क उत्पन्न हुआ ॥८३॥ अहो, तीन जगत्में दुर्लभ मेरे इतने दिन चारित्रके विना मूढ़ पुरुषके समान वृथा ही चले गये ॥८४॥ पूर्वकालवर्ती जो वृषभादि तीर्थंकर थे, उनका आयुष्य बहुत था, इसलिए वे सांसारिक सर्व कार्य कर सके थे। अब अल्प आयुवाले हमारे जैसोंको सर्व कार्य करना कभी उचित नहीं है ॥८५॥ नेमिनाथ आदि धीर-वीर तीर्थंकर धन्य हैं कि जो अपना स्वल्प जीवन जानकर बालकालमें ही शीघ्र मुक्ति-प्राप्तिके लिए तपोवनको चले गये ॥८६॥ इसलिए इस संसारमें हितको चाहनेवाले अल्पायुके धारक पुरुषोंको संयमके विना कालकी

स्वल्पायुषो दिनान्यत्र गमयन्ति तपो विना । ये ते सीदन्त्यहो मूढा यमेन ग्रसिता भुवि ॥८८॥
चित्रं त्रिज्ञाननेत्रोऽहं मूढवत्संयमादृते । इयन्तं कालमात्मज्ञः स्थितो गेहाश्रमे वृथा ॥८९॥
तेन ज्ञानत्रयेणात्र किं साध्यं येन नेक्ष्यते । कर्मादिः स्वं पृथक्कृत्वा मुक्तिश्रीमुखपङ्कजम् ॥९०॥
ज्ञानस्य सत्फलं तेषां ये चरन्ति तपोऽनघम् । अन्येषां विफलः क्लेशो ज्ञानाभ्यासादिगोचरः ॥९१॥
सचक्षुर्यः पतेत्कूपे तस्य चक्षुर्निरर्थकम् । यथा ज्ञानी पतेन्मोहकूपे यस्तस्य तद् वृथा ॥९२॥
अज्ञानेन कृतं पापं यत्तज्ज्ञानेन मुच्यते । ज्ञानेन यत्कृतं पापं तदत्र केन मुच्यते ॥९३॥
इति मत्वा क्वचित्पापं न कार्यं ज्ञानशालिभिः । प्राणात्ययेऽपि संप्राप्ते मोहादिनिन्द्यकर्मभिः ॥९४॥
यतो मोहेन जायेते रागद्वेषौ हि दुर्धरौ । ताभ्यां घोरतरं पापं पापेन दुर्गतौ चिरम् ॥९५॥
परिभ्रमणमत्यर्थं तस्माद्वाचामगोचरम् । लभन्ते प्राणिनो दुःखं पराधीनाः सुखच्युताः ॥९६॥
मत्वेति ज्ञानिभिः पूर्वं हन्तव्यो मोहशात्रवः । स्फुरद्वैराग्यखड्गेन विश्वानर्थकरः खलः ॥९७॥
सोऽप्यहो शक्यते जातु न हन्तुं गृहमेधिभिः । तस्मात्तद्दूरतस्त्याज्यं पापवद्-गृहबन्धनम् ॥९८॥
सर्वानर्थकरीभूतं बालत्वेऽपि विचक्षणैः । उन्मत्तयौवनत्वे वा धीरैर्मुक्त्याप्तये यतः ॥९९॥
त एव जगतां पूज्या महान्तो धैर्यशालिनः । निघ्नन्ति यौवनस्था ये स्मरारिं सुष्ठु दुर्जयम् ॥१००॥
यतो यौवनभूपेन प्रेरिता मदनादयः । पञ्चाक्षतस्करा यान्ति विक्रियां परमां भुवि ॥१०१॥
आयाते मन्दतां यौवनराजे तेऽपि यान्त्यहो । मन्दतां स्वाश्रयाभावाज्जरापाशेन वेष्टिताः ॥१०२॥

एक कला भी बिताना योग्य नहीं है ॥८७॥ अहो, अल्प आयुके धारक जो मनुष्य तपके विना जीवनके दिनोंको व्यर्थ गँवाते हैं, वे मूढ़जन यमराजसे ग्रसित होकर संसारमें दुःख पाते हैं ॥८८॥ आश्चर्य है कि तीन ज्ञानरूप नेत्रोंका धारक और आत्मज्ञ भी मैं मूढ़के समान संयमके विना इतने काल तक वृथा गृहाश्रममें रह रहा हूँ ॥८९॥ इस संसारमें तीन ज्ञानकी प्राप्तिसे क्या साध्य है जबतक कि कर्मादिसे अपने स्वरूपको पृथक् करके मुक्ति-लक्ष्मीका मुख-कमल नहीं देखा जाये ॥९०॥ ज्ञान पानेका सत्फल उन्हीं पुरुषोंको है जो कि निर्मल तपका आचरण करते हैं। दूसरोंका ज्ञानाभ्यासादि-विषयक क्लेश निष्फल है ॥९१॥ जो नेत्र धारण करके भी कूपमें पड़े, उसके नेत्र निरर्थक हैं। उसी प्रकार जो ज्ञानी मोहरूप कूपमें पड़े, तो उसका ज्ञान पाना वृथा है ॥९२॥ जो पाप अज्ञानसे किया जाता है वह ज्ञानसे छूट जाता है। किन्तु ज्ञानसे (जान करके) किया गया पाप संसारमें किसके द्वारा छूट सकेगा? किसीके द्वारा भी नहीं छूट सकेगा ॥९३॥ ऐसा समझकर ज्ञानशालियोंको प्राणोंके जानेपर भी मोह-जनित निन्द्य कार्योंके द्वारा कभी कोई पाप कार्य नहीं करना चाहिए ॥९४॥ क्योंकि मोहसे ही दुर्धर राग-द्वेष होते हैं, उनसे पुनः अतिघोर पाप होता है तथा पापसे दुर्गतिमें चिरकाल तक परिभ्रमण करना पड़ता है और उससे सुख-विमुक्त प्राणी पराधीन होकर वचनोंके अगोचर अति भयानक दुःखोंको पाते हैं ॥९५-९६॥ ऐसा समझकर ज्ञानी जनोंको पहले मोहरूपी शत्रु स्फुरायमान वैराग्यरूप खड्गसे मार देना चाहिए, क्योंकि वह दुष्ट समस्त अनर्थोंका करनेवाला है ॥९७॥ अहो, वह मोहशत्रु गृहस्थोंके द्वारा कभी नहीं मारा जा सकता है, इसलिए पापकारक यह घरका बन्धन दूरसे ही छोड़ देना चाहिए ॥९८॥ यह गृह-बन्धन बालपनमें और उन्मत्त यौवन अवस्थामें सर्व अनर्थोंका करनेवाला है, अतः धीर-वीर बुद्धिमानोंको मुक्ति-प्राप्तिके लिए उसका त्याग कर ही देना चाहिए ॥९९॥ वे ही पुरुष जगत्में पूज्य हैं, और वे ही महाधैर्यशाली हैं, जो कि यौवन अवस्थामें ही अति दुर्जन कामशत्रुका नाश करते हैं ॥१००॥ क्योंकि यौवनरूप भूपके द्वारा प्रेरित हुए पंचेन्द्रिय-रूपी चोर संसारमें परम विकारको प्राप्त होते हैं ॥१०१॥ यौवनरूपी राजाके मन्द पड़नेपर अपने आश्रयके अभावसे वृद्धावस्थारूपी पाशके द्वारा वेष्टित होकर वे इन्द्रिय-चोर भी

तस्मान्मन्ये तदेवाहं तपो दुष्करमूर्जितम् । दमनं विषयारीणां युवभिः क्रियते च यत् ॥१०३॥
विचिन्त्येति महाप्राज्ञः सन्मतिः प्रोज्ज्वले हृदि । निःस्पृहो राज्यभोगादौ सस्पृहः शिवसाधने ॥१०४॥
कारागारसमं गेहं ज्ञात्वा राज्यश्रिया समम् । त्यक्तुं तपोवनं गन्तुं प्रोद्यमं परमं व्यधात् ॥१०५॥
इति शुभपरिणामात्काललब्ध्या च तीर्थेट् सकलसुखनिधानं प्राप संवेगसारम् ।
मदनजनितसौख्यं योऽप्यभुक्त्वा कुमार इह दिशतु स वीरो मे स्तुतः स्वां विभूतिम् ॥१०६॥

वीरो वीरगणैः स्तुतश्च महितो वीरा हि वीरं श्रिता
वीरेणात्र विधीयतेऽखिलसुखं वीराय मूर्ध्ना नमः ।
वीराद्वीरपदं भवेत् त्रिजगतां वीरस्य वीरा गुणा
वीरे मां दधतं मनोऽरिविजये श्रीवीर वीरं कुरु ॥१०७॥

इति भट्टारक-श्रीसकलकीर्तिविरचिते श्रीवीर-वर्धमानचरिते भगवत्कुमार-कालवैराग्योत्पत्तिवर्णनो नाम दशमोऽधिकारः ॥१०॥

मन्दताको प्राप्त हो जाते हैं ॥१०२॥ इसलिए मैं उसे ही परम दुष्कर तप मानता हूँ जो कि युवावस्थावाले पुरुषोंके द्वारा विषयरूप शत्रुओंका दमन किया जाता है ॥१०३॥ इस प्रकार विचार करके महाप्रज्ञाशाली सन्मति प्रभु अपने उज्ज्वल हृदयमें राज्यभोग निःस्पृह (इच्छा रहित) हुए और शिव-साधन करनेके लिए सस्पृह (इच्छावाले) हुए ॥१०४॥ उन्होंने घरको कारागार के समान जानकर राज्यलक्ष्मीके साथ उसे छोड़ने और तपोवन जानेके लिए परम उद्यम किया ॥१०५॥

इस प्रकार शुभ परिणामोंसे और काललब्धिसे तीर्थंकर प्रभु काम-जनित सुखको नहीं भोग करके ही समस्त सुखोंके निधानभूत उत्कृष्ट संवेग को प्राप्त हुए। इस प्रकारके वे वीर कुमार मेरे द्वारा स्तुतिको प्राप्त होकर मुझे अपनी विभूति देवें ॥१०६॥

वीर प्रभु वीरजनोंके द्वारा संस्तुत और पूजित हैं, वीर पुरुष वीरनाथके आश्रयको प्राप्त होते हैं, वीरके द्वारा ही इस संसारमें समस्त सुख दिये जाते हैं, ऐसे वीर प्रभुके लिए मस्तकसे नमस्कार है। वीरसे जगत्के जीवोंको वीरपद प्राप्त होता है, वीरके गुण भी वीर हैं, वीरमें अपने मनको धारण करनेवाले मुझे हे श्री वीर भगवन्, शत्रुको जीतने के लिए वीर करो ॥१०७॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति-विरचित श्री वीरवर्धमान चरित्रमें भगवान्के कुमारकालमें वैराग्यकी उत्पत्तिका वर्णन करनेवाला दसवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥१०॥

एकादशोऽधिकारः

वन्दे वीरं महावीरं कर्मारातिनिपातने । सन्मतिं स्वात्मकार्यादौ वर्धमानं जगत्त्रये ॥१॥
अथ स्वामी महावीरः स्ववैराग्यप्रवृद्धये । अचिन्तयदनुप्रेक्षा द्वादशेति जगद्धिताः ॥२॥
अनित्याशरणे संसारैकत्वान्यत्वसंज्ञकाः । ततोऽशुच्यास्रवौ संवराभिधो निर्जरा तथा ॥३॥
लोकस्त्रिधात्मको बोधिदुर्लभो धर्म एव हि । द्विषड्भेदा इमा प्रोक्ता अनुप्रेक्षा विरागदाः ॥४॥
आयुर्नित्यं यमाक्रान्तं जरास्यस्थं च यौवनम् । रोगोरगबिलं कायं खसुखं क्षणभङ्गुरम् ॥५॥
यत्किंचिद् दृश्यते वस्तु सुन्दरं भुवनत्रये । कर्मोद्भवं हि तत्सर्वं नश्येत्कालेन नान्यथा ॥६॥
यदायुर्दुर्लभं पुंसां भवकोटिशतैरपि । क्षणविध्वंसि मृत्योस्तत्का दुराशान्यवस्तुपु ॥७॥
यतो गर्भात्समारभ्य देहिनं समयादिभिः । नयति स्वान्तिकं पापी यमो विश्वक्षयंकरः ॥८॥
यद्यौवनं सतां मान्यं धर्मशर्मादिसाधनम् । तदपि व्याधिमृत्यादेः क्षणाद् यात्यभ्रवत्क्षयम् ॥९॥
यौवनस्था यतः केचिद् रागाग्निकवलीकृताः । भुञ्जन्ति विविधं दुःखं चान्ये वन्दिगृहे धृताः ॥१०॥
यस्यार्थं क्रियते कर्म निन्द्यं श्वभ्रादिसाधकम् । निःसारं तदपि प्रोक्तं कुटुम्बं चञ्चलं यमात् ॥११॥
राज्यलक्ष्मीसुखादीनि चक्रिणामपि भूतले । अभ्रच्छायोपमान्यत्र स्थिरता कान्यवस्तुपु ॥१२॥

कर्मरूप शत्रुओंके नाश करनेमें महावीर, अपने आत्मीय कार्य आदिके साधनमें सन्मति और जगत्त्रयमें वर्धमान ऐसे श्री वीरप्रभुको वन्दन करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर महावीर स्वामी अपने वैराग्यकी वृद्धिके लिए जगत्-हितकारी अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, त्रिप्रकारात्मक लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मनामवाली, वैराग्य-प्रदायिनी बारह अनुप्रेक्षाओंका चिन्तवन करने लगे ॥२-४॥

संसारकी अनित्यताका विचार करते हुए वे सोचने लगे—प्राणियोंकी आयु नित्य ही—प्रतिसमय यमसे आक्रान्त हो रही है, यौवन वृद्धावस्थाके मुखमें प्रवेश कर रहा है, यह शरीर रोगरूपी साँपोंका बिल है और ये इन्द्रिय-सुख क्षणभंगुर हैं ॥५॥ इस तीन भुवनमें जो कुछ भी वस्तु सुन्दर दिखती है, वह सब कर्म-जनित है और समय आनेपर नष्ट हो जायेगी, यह अन्यथा नहीं हो सकता ॥६॥ जब शतकोटि भवोंसे भी अति दुर्लभ मनुष्योंकी आयु मृत्युसे क्षणभरमें नष्ट हो जाती है, तब अन्य वस्तुओंमें स्थिरताकी इच्छा करना दुरासामात्र है ॥७॥ क्योंकि गर्भकालसे लेकर यह विश्वका क्षय करनेवाला पापी यमराज प्राणीको प्रति समय अपने समीप ले जा रहा है ॥८॥ जो यौवन सज्जनोंके धर्म और सुखका साधन माना जाता है, वह भी व्याधि और मृत्यु आदिसे मेघके समान क्षणभरमें क्षयको प्राप्त हो जाता है ॥९॥ यौवन अवस्थामें रहते हुए ही कितने मनुष्य रागरूपी अग्निके ग्रास बन जाते हैं और कितने ही वन्दीगृहमें बद्ध होकरके नाना प्रकारके दुःख भोगते हैं ॥१०॥ जिस कुटुम्बके लिए यह प्राणी नरक आदि दुर्गतियोंके साधक निन्द्य कर्म करता है, वह कुटुम्ब भी यमसे ग्रस्त है, चंचल है, अतः निःसार कहा गया है ॥११॥ इस भूतलपर जब चक्रवर्तियोंके भी राज्यलक्ष्मी और सुखादिक मेघ-छायाके समान अस्थिर हैं तब अन्य वस्तुओंमें स्थिरता कहाँ

विज्ञायेति क्षणध्वंसि जगद्वस्त्वखिलं बुधाः । साधयन्ति द्रुतं मोक्षं नित्यं नित्यगुणाकरम् ॥१३॥

(अनित्यानुप्रेक्षा १)

यथात्र निर्जनेऽरण्ये सिंहदंष्ट्रान्तराच्छिशोः । न कोऽपि शरणं जातु रुग्मृत्यादेस्तथाङ्गिनाम् ॥१४॥
यतः सेन्द्रैः सुरैः सर्वैश्चक्रिविद्याधरादिभिः । यमेन नीयमानोऽङ्गी क्षणं त्रातुं न शक्यते ॥१५॥
मणिमन्त्रादयो विश्वे कृत्स्नाश्चौषधराशयः । व्यर्थीभवन्त्यहो नृणामागते सम्मुखेऽन्तके ॥१६॥
शरण्याः सद्बुधैः प्रोक्ता जिनाः सिद्धाश्च साधवः । सहगामी सतां त्राता धर्मः केवलिभाषितः ॥१७॥
तपोदानजिनेन्द्रार्चाजपरत्नत्रयादयः । विश्वानिष्टाघहन्तारः शरण्याः धीमतां भुवि ॥१८॥
शरणं यान्ति येऽमीषां भवत्रस्ताशया बुधाः । तेऽचिरात्तद्गुणानाप्य पराः स्युस्तत्समाः स्फुटम् ॥१९॥
चण्डिकाक्षेत्रपालादीन् ये यान्ति शरणं शठाः । ते ग्रस्ता रोगदुःखौघैः पतन्ति नरकार्णवे ॥२०॥
मत्वेति धीधनैः कार्या शरण्याः परमेष्ठिनः । तपोधर्मादयः स्वस्य विश्वदुःखान्तकारिणः ॥२१॥
तथानन्तगुणैः पूर्णो मोक्षोऽनन्तसुखाकरः । विद्भिः स्वस्य शरण्योऽनुष्ठेयो रत्नत्रयादिभिः ॥२२॥

(अशरणानुप्रेक्षा २)

संसारो ह्यादिमध्यान्तदूरश्चाभव्यदेहिनाम् । अनन्तोऽशर्मसंपूर्णः सान्तो भव्यात्मनां क्वचित् ॥२३॥
सुखदुःखोमयं भाति संसारेऽत्र जडात्मनाम् । अन्वहं केवलं दुःखं ज्ञानिनां च मतेर्बलात् ॥२४॥
यतो यदेव मन्यन्ते विषयोत्थं सुखं जडाः । तदेव चाधिकं दुःखं विदः श्वाभ्राद्यघार्जनात् ॥२५॥

सम्भव है ॥१२॥ इस प्रकार इस समस्त जगत्को क्षण-विध्वंसी जानकर ज्ञानी पुरुष शीघ्र ही नित्य गुणोंके भण्डाररूप स्थायी मोक्षका साधन करते हैं ॥१३॥

(यह अनित्यानुप्रेक्षा है–१)

जिस प्रकार निर्जन वनमें सिंहकी दाढ़ोंके बीचमें स्थित मृग-शिशुका कोई शरण नहीं है, उसी प्रकार प्राणियोंको रोग और मरणसे बचानेके लिए कोई शरण नहीं है ॥१४॥ यमराजके द्वारा ले जाये जानेवाले प्राणीकी एक क्षण भी रक्षा करनेके लिए सर्व देव, इन्द्र, चक्रवर्ती और विद्याधरादि भी समर्थ नहीं हैं ॥१५॥ अहो, मनुष्योंको ले जानेके लिए यमराजके सम्मुख आ जानेपर मणि-मन्त्रादिक और संसारकी समस्त औषधिराशियाँ व्यर्थ हो जाती हैं ॥१६॥ ज्ञानीजनोंने अरहन्त जिन, सिद्ध परमात्मा, साधुजन और केवलि-भाषित धर्म सज्जनोंके रक्षक और सहगामी कहे हैं ॥१७॥ संसारमें बुद्धिमानोंके लिए तप, दान, जिनेन्द्र-पूजन, जप, रत्नत्रय आदि ही शरण देनेवाले और सर्व अनिष्ट और पापोंका नाश करनेवाले हैं ॥१८॥ संसारके दुःखोंसे त्रस्त चित्त—जो पण्डितजन उक्त अरहन्त आदिके शरणको प्राप्त होते हैं, वे शीघ्र ही उनके गुणोंको प्राप्त होकर नियमसे उनके समान हो जाते हैं ॥१९॥ जो मूर्ख चण्डिका और क्षेत्रपाल आदिके शरण जाते हैं, वे रोग-दुःख आदिके समूहसे पीड़ित होकर नरकरूप समुद्रमें गिरते हैं ॥२०॥ ऐसा जानकर ज्ञानीजनोंको अपने समस्त दुःखोंके अन्त करनेवाले पंचपरमेष्ठी और तप-धर्मादिका शरण ग्रहण करना चाहिए ॥२१॥ तथा अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण और अनन्त सुखोंका समुद्र ऐसा मोक्ष रत्नत्रय आदिके द्वारा सिद्ध करना चाहिए, वही आत्माको शरण देनेवाला है ॥२२॥

(अशरणानुप्रेक्षा–२)

यह संसार अभव्य जीवोंके लिए आदि, मध्य और अन्तसे दूर है, अर्थात् अनादि-अनन्त है और अनन्त दुःखोंसे भरा हुआ है। किन्तु भव्यजीवोंकी अपेक्षा वह शान्त है ॥२३॥ मूर्खजनोंके लिए इस संसारमें सुख और दुःख दोनों प्रतिभासित होते हैं। किन्तु ज्ञानियोंको तो बुद्धिके बलसे केवल दुःखरूप ही प्रतीत होता है ॥२४॥ जड़ बुद्धिवाले लोग जिस विषय-जनित सुखाभासको सुख मानते हैं, ज्ञानीजन उसे नरकादि दुर्गतियोंके कारणभूत पापोंका

द्रव्यादिभ्रमणैः पञ्चप्रकारां च भवाटवीम् । दुःखव्याघ्रादिसंसेव्यां भीमां खतस्करैर्भृताम् ॥२६॥
सर्वेऽङ्गिनश्चिरं भ्रेमुर्भ्रमन्ति गलके धृताः । कर्मारिभिर्भ्रमिष्यन्ति हेति रत्नत्रयादृते ॥२७॥
न गृहीता न मुक्ता ये पुद्गलाः खाङ्गकर्मभिः । न स्युस्तेऽत्र भवानन्तान् भ्रमद्भिर्विश्व-जन्तुभिः ॥२८॥
विद्यते स प्रदेशो न यत्रोत्पन्ना मृता न च । सर्वेऽङ्गिनो भ्रमन्तोऽसंख्यप्रदेशेऽखिलेऽत्र खे ॥२९॥
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योर्नास्त्येकः समयोऽत्र सः । यत्र जाता व्ययं प्राप्ता बहुशो नाखिलाङ्गिनः ॥३०॥
चतुर्गतिषु सा योनिर्न स्याद्या कृत्स्नदेहिभिः । न नीता नोज्झिता मुक्त्वा विमानानि चतुर्दश ॥३१॥
मिथ्यादिप्रत्ययैः सप्तपञ्चाशत्संख्यकैः खलैः । दुष्कर्माण्यनिशं जीवा भ्रमन्तोऽत्रार्जयन्त्यहो ॥३२॥
इत्यनासाद्य यं धर्मं भ्रमन्त्यत्र सदाङ्गिनः । भवघ्नं बहुयत्नेन भवभीता भजन्तु तम् ॥३३॥
धर्मेणानन्तशर्माढ्यं निर्वाणं दुःखदूरगम् । यत्नाद्रत्नत्रयेणाशु शर्मकामाः श्रयन्त्वहो ॥३४॥

(संसारानुप्रेक्षा ३)

एकाकी जायते प्राणी ह्येको याति यमान्तिकम् । एको भ्रमेद्भवारण्यं चैको भुङ्क्तेऽसुखं महत् ॥३५॥
एको रोगादिभिर्ग्रस्तो लभते तीव्रवेदनाम् । तदंशं नैव गृह्णन्ति पश्यन्तः स्वजनाः क्वचित् ॥३६॥
यमेन नीयमानोऽङ्गी कुर्वन्नाक्रन्दमुल्वणम् । एकाकी शक्यते त्रातुं क्षणं जातु न बन्धुभिः ॥३७॥

उपार्जन करनेसे भारी दुःख मानते हैं ॥२५॥ दुःखरूपी व्याघ्रादिसे सेवित, भयानक और इन्द्रियविषयरूप चोरोंसे भरी हुई द्रव्य, क्षेत्रादिरूप पाँच प्रकारकी संसाररूप गहन अटवीमें सभी प्राणी रत्नत्रयधर्मके बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भावरूप पंच प्रकारके परावर्तनोंके द्वारा कर्मशत्रुओंसे गला पकड़े हुएके समान भूतकालमें घूमे हैं, वर्तमानकालमें घूम रहे हैं और भविष्यकालमें घूमेंगे ॥२६-२७॥ इस संसारमें अनन्त भवोंके भीतर परिभ्रमण करते हुए सभी प्राणियोंने अपनी इन्द्रियों और कर्मोंके रूपसे जिन पुद्गल परमाणुओंको ग्रहण न किया हो और छोड़ा न हो, ऐसा कोई पुद्गल परमाणु नहीं है। अर्थात् सभी पुद्गल परमाणुओंको अनन्त वार शरीर और कर्मरूपसे ग्रहण करके छोड़ा है। यह द्रव्यपरिवर्तन है ॥२८॥ इस असंख्यप्रदेशी लोकाकाशमें ऐसा एक भी प्रदेश शेष नहीं है, जहाँपर परिभ्रमण करते हुए सभी प्राणियोंने जन्म और मरण न किया हो। यह क्षेत्रपरिवर्तन है ॥२९॥ उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालका ऐसा एक भी समय नहीं बचा है, जिसमें सभी प्राणियोंने अनन्त वार जन्म न लिया हो और मरणको न प्राप्त हुए हों। यह कालपरिवर्तन है ॥३०॥ देवलोकके नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर इन चौदह विमानोंको छोड़कर शेष चारों गतियोंमें ऐसी एक भी योनि शेष नहीं है, जिसे कि समस्त प्राणियोंने अनन्त वार ग्रहण न किया हो और छोड़ा न हो। यह भवपरिवर्तन है ॥३१॥ अहो, ये संसारी जीव मिथ्यात्व, कषायादि सत्तावन प्रत्ययरूप दुष्टोंके द्वारा परिभ्रमण करते हुए निरन्तर दुष्कर्मोंका उपार्जन करते रहते हैं। यह भावपरिवर्तन है ॥३२॥ इस प्रकार जिस सद्-धर्मको नहीं प्राप्त कर प्राणी इस संसारमें सदा भ्रमण करते रहते हैं, उस संसार-नाशक सद्-धर्मको भव-भयभीत पुरुष बहुयत्नके साथ सेवन करें ॥३३॥ सुखके इच्छुक हे भव्यजनो, दुःखोंसे रहित और अनन्त सुखोंसे परिपूर्ण शिवपदको शीघ्र पानेके लिए रत्नत्रयरूप धर्मका आश्रय करो ॥३४॥

(संसारानुप्रेक्षा-३)

संसारमें यह प्राणी अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही यमके समीप जाता है, अकेला ही भव-काननमें भ्रमण करता है और अकेला ही महादुःखको भोगता है ॥३५॥ जब रोगादिसे पीड़ित यह प्राणी तीव्र वेदनाको पाता है, उस समय देखते हुए भी स्वजन-बन्धुगण कहीं भी उस वेदनाका अंशमात्र भी हिस्सा नहीं बाँट सकते हैं ॥३६॥ यमके द्वारा ले जाया हुआ यह अकेला प्राणी जब अत्यन्त करुण विलाप करता जाता है, उस समय बन्धुजन एक

एको यः कुरुते पापं स्वस्य दुर्गतिकारणम् । निन्द्यैः सावद्यहिंसाद्यैः स्वपरीवारवृद्धये ॥३८॥
तत्फलेन स एवात्र प्राप्य श्वभ्रादिदुर्गतीः । भुनक्ति परमं दुःखं तेनामा न जनोऽपरः ॥३९॥
उपार्ज्यैको महत्पुण्यं जिनेन्द्रादिविभूतिदम् । दृक्तपोज्ञानवृत्ताद्यैस्तद्विपाकेन धीधनः ॥४०॥
भुङ्क्ते त्यक्तोपमं सौख्यं स्वर्गादिसुगतौ महत् । आसाद्य महतीर्भूतीर्नापरः कोऽपि तत्समः ॥४१॥
एको हत्वा स्वकर्मारींस्तपोरत्नत्रयादिभिः । अनन्तसुखसंपन्नं याति मोक्षं भवातिगः ॥४२॥
इत्येकत्वं परिज्ञाय सर्वत्र स्वस्य धीधनाः । एकं चिदात्मकं नित्यं ध्यायन्तु तत्पदाप्तये ॥४३॥

(एकत्वानुप्रेक्षा ४)

अन्यस्त्वं स्वात्मनो विद्धि जन्ममृत्यादिषु स्फुटम् । स्वाङ्गकर्मसुखादिभ्यो निश्चयाद्वाखिलाङ्गिनाम् ॥४४॥
अन्या माता पिताप्यन्योऽन्येऽनो सर्वेऽपि बान्धवाः । स्त्रीपुत्राद्याश्च जायन्ते कर्मपाकाज्जगत्त्रये ॥४५॥
सहजं वपुरात्मीयं पृथग्यत्र विलोक्यते । साक्षान्मृत्यादिके तत्र किं स्वकीयं गृहादिकम् ॥४६॥
आत्मनः स्यात्पृथग्भूतं मनः पुद्गलकर्मजम् । संकल्पजालपूर्णं च निश्चयेन वचो द्विधा ॥४७॥
कर्माणि कर्मकार्याणि सुखदुःखान्यनेकशः । जीवाच्चान्यस्वरूपाणि भवन्ति परमार्थतः ॥४८॥
इन्द्रियैर्यैः पदार्थादीन् जीवो जानाति तत्त्वतः । तेऽपि ज्ञानात्मनो भिन्ना विज्ञेयाः पुद्गलोद्भवाः ॥४९॥
रागद्वेषादयो भावा वर्तन्ते येऽस्य तन्मयाः । तेऽपि कर्मकराः कर्मभवा जीवमया न च ॥५०॥

क्षणभर भी रक्षा करनेके लिए कभी समर्थ नहीं हैं ॥३७॥ यह अकेला प्राणी अपने परिवारकी वृद्धिके लिए निन्द्य सावद्य हिंसादि पापकार्योंके द्वारा अपनी दुर्गतिके कारणभूत जिस पापकर्मका उपार्जन करता है, उसके फलसे वह यहाँपर ही अनेक प्रकारके दुःखोंको पाकर परभवमें नरकादि दुर्गतियोंके महादुःखोंको भोगता है, उसके साथ दूसरा कोई जन उस दुःखको नहीं भोगता है ॥३८-३९॥ कोई एक बुद्धिमान् मनुष्य सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप आदिके द्वारा तीर्थंकरादिकी विभूति देनेवाला महान् पुण्य उपार्जन करके उसके परिपाकसे स्वर्ग आदि सुगतियोंमें भारी विभूति पाकर अनुपम सुखको भोगता है, उसके समान दूसरा कोई महान् पुरुष नहीं है ॥४०-४१॥ यह अकेला ही जीव तपश्चरण और रत्नत्रय-धारणादिके द्वारा अपने कर्म-शत्रुओंका नाश कर और संसारके पार जाकर अनन्त सुखसम्पन्न मोक्षको प्राप्त करता है ॥४२॥ इस प्रकार संसारमें सर्वत्र जीवको अकेला जानकर हे बुद्धिशालियो, आप लोग उस शिवपदके पानेके लिए नित्य ही अपने एक चैतन्यस्वरूपात्मक आत्माका ध्यान करें ॥४३॥

(एकत्वानुप्रेक्षा ४)

हे आत्मन्, तुम अपनी आत्माको जन्म-मरणादिमें स्पष्टतः सर्व प्राणियोंसे अन्य समझो, और निश्चयसे अपने शरीर, कर्म और कर्म-जनित सुख-दुःखादिसे भी भिन्न समझो ॥४४॥ इस त्रिभुवनमें माता अन्य है, पिता भी अन्य है और ये सभी बन्धुजन अन्य हैं। किन्तु कर्मके विपाकसे ये स्त्री-पुत्र आदिके सम्बन्ध होते रहते हैं ॥४५॥ मरणके समय जन्म-कालसे साथ आया हुआ अपना यह शरीर ही जब साक्षात् पृथक् दिखाई देता है, तब स्पष्ट रूपसे भिन्न दिखनेवाले घर आदिक क्या अपने हो सकते हैं ? कभी नहीं ॥४६॥ पौद्गलिक कर्मसे उत्पन्न हुआ यह द्रव्य मन और अनेक प्रकारके संकल्प-विकल्प जालसे परिपूर्ण यह तेरा भावमन, तथा द्रव्यवचन और भाववचन भी निश्चयसे तेरी आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं। इसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म और कर्मोंके कार्य ये अनेक प्रकारके सुख-दुःखादि भी परमार्थतः जीवसे भिन्न स्वरूपवाले हैं ॥४७-४८॥ यह जीव जिन इन्द्रियोंके द्वारा इन बाह्य पदार्थोंको जानता है, वे इन्द्रियाँ भी पुद्गल कर्मसे उत्पन्न हुई हैं, अतः इन्हें भी अपने ज्ञान स्वरूपसे भिन्न जानना चाहिए ॥४९॥ जीवके भीतर जो राग-द्वेषादि भाव हो रहे हैं और

इत्याद्यन्यतरं वस्तु यत्किंचित्कर्मजं भुवि । तत्सर्वं तत्त्वतो ज्ञेयं पृथग्भूतं निजात्मनः ॥५१॥
बहूक्तेनात्र किं साध्यं दृग्ज्ञानादिगुणान् परान् । तत्तन्मयान् विहायान्यत्स्वकीयं जातु नो भवेत् ॥५२॥
वपुरादेर्विदित्वेत्यन्यत्वं स्वस्य चिदात्मनः । ध्यानं कुर्वन्ति योगीन्द्रा यत्नात्कायादिहानये ॥५३॥

(अन्यत्वानुप्रेक्षा ५)

शुक्रशोणितभूतं यत्पूरितं सप्तधातुभिः । विष्टाद्यशुचिवस्त्वोघैस्तदङ्गं को भजेत्सुधीः ॥५४॥
क्षुत्पिपासाजरारोगाग्नयो यत्र ज्वलन्त्यहो । तत्र कायकुटीरे किं निवासः शस्यते सताम् ॥५५॥
वसन्ति यत्र रागद्वेषकषायस्मरोरगाः । तत्र गात्रविले नित्यं ज्ञानी कः स्थातुमिच्छति ॥५६॥
कायोऽयं केवलं पापी स्वेन[1] नाशुचितन्मयः । किन्तु सुगन्धिवस्त्वादीन् स्वाश्रितानपि दूषयेत् ॥५७॥
मातङ्गपाटके यद्वद्रम्यं किंचिन्न दृश्यते । चर्मास्थ्यादीन् विना तद्वत्सर्वाङ्गे मण्डितेऽपि च ॥५८॥
पोषितं शोषितं चैतद्भस्मराशिर्भविष्यति । यद्यवश्यं वपुस्तर्हि तपसे शोषितं वरम् ॥५९॥
यतोऽयं पोषितः कायो दत्ते रोगाद्यदुर्गतीः । शोषितस्तपसामुत्र दाता स्वर्मुक्तिसत्सुखान् ॥६०॥
यद्यनेनापवित्रेण पवित्रा गुणराशयः । कैवल्याद्याः प्रसिद्ध्यन्ति तत्कार्ये का विचारणा ॥६१॥
विदित्वेति शरीरेणानित्येन विमलात्मभिः । साध्यो मोक्षो द्रुतं नित्यस्त्यक्त्वा तत्संभवं सुखम् ॥६२॥

जिनमें यह जीव तन्मय हो रहा है, वे भी कर्म-जनित और नवीन कर्मबन्ध-कारक विभाव हैं, अतः पर हैं। वे जीवमय नहीं हैं ॥५०॥ इत्यादि रूपसे कर्म-जनित जो कुछ भी वस्तु संसारमें विद्यमान है, वह सब वास्तवमें अपनी आत्मासे सर्वथा भिन्न जानना चाहिए ॥५१॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या साध्य है, सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि आत्माके स्वाभाविक तन्मयी उत्तम गुणोंको छोड़ करके संसारमें कोई भी वस्तु अपनी नहीं है ॥५२॥ इसलिए योगीश्वर शरीरादिसे अपने चेतन आत्माको भिन्न जानकर काय आदिके विनाशके लिए शुद्ध चेतन आत्माका ध्यान करते हैं ॥५३॥

(अन्यत्वानुप्रेक्षा ५)

जो शरीर माता-पिताके रज-वीर्यसे उत्पन्न हुआ है, सात धातुओंसे भरा हुआ है, विष्टा आदि अशुचि वस्तुओंके पुंजसे परिपूर्ण है, उस शरीरको कौन बुद्धिमान् पुरुष सेवन करेगा ॥५४॥ अहो, जिस शरीरमें भूख-प्यास, जरा-रोग आदि अग्नियाँ सदा जलती रहती हैं, उस शरीररूप कुटीरमें सज्जनोंका निवास क्या प्रशंसनीय है? कभी नहीं ॥५५॥ जिस शरीररूपी बिलमें राग, द्वेष, कषाय और कामरूपी सर्प नित्य निवास करते हैं, वहाँ कौन ज्ञानी पुरुष रहनेकी इच्छा करेगा? कोई भी नहीं ॥५६॥ यह पापी शरीर केवल स्वयं ही अशुचि और अशुचिमय नहीं है, किन्तु अपने आश्रयमें आनेवाले सुगन्धी केशर, कर्पूर आदि द्रव्योंको भी दूषित कर देता है ॥५७॥ जैसे भंगीके विष्टापात्रमें कुछ भी रमणीय वस्तु नहीं दिखाई देती है, उसी प्रकार चर्म-मण्डित इस सर्वांगमें भी हड्डी, मांस, रक्त आदिके सिवाय कोई रम्य वस्तु नहीं दिखाई देती है ॥५८॥ खान-पानादि पोषण किया गया और तपश्चरणादिसे शोषण किया गया यह शरीर अन्तमें अग्निसे जलकर अवश्य ही राखका ढेर हो जायेगा, यदि यह निश्चित है, तब तपके लिए सुखाया गया यह शरीर उत्तम है ॥५९॥ क्योंकि पोषण किया गया यह शरीर इस जन्ममें रोगादिको और परभवमें दुर्गतियोंको देता है। किन्तु तपके द्वारा सुखाया गया यह शरीर परभवमें स्वर्ग और मुक्तिके उत्तम सुखोंको देता है ॥६०॥ यदि इस अपवित्र शरीरके द्वारा केवलज्ञानादि पवित्र गुणराशियाँ सिद्ध होती हैं, तब इस कार्यमें विचार करनेकी क्या बात है ॥६१॥ ऐसा जानकर इस अनित्य शरीरसे निर्मल आत्माओंको नित्य मोक्ष शरीर-जनित सुख छोड़कर सिद्ध करना चाहिए ॥६२॥

१. ब स्वेदुता।

अपवित्रेण देहेन कृत्स्नकर्ममलातिगः । पवित्रो विबुधैः कार्यः स्वात्मा दृक्चित्तपोजलैः ॥६३॥

(अशुच्यनुप्रेक्षा ६)

रागाद्यै रागिणो यत्र प्रयाति पुद्गलव्रजः । कर्मरूपेण स ज्ञेय आस्रवोऽनन्तदुःखदः ॥६४॥
सच्छिद्रं च यथा पोतं मज्जत्यब्धौ जलागमैः । तथा कर्मास्रवैः प्राणी ह्यनन्ते भवसागरे ॥६५॥
दुर्मतोत्थं कुमिथ्यात्वं पञ्चधानर्थमन्दिरम् । अविरत्यौ द्विषड्भेदाः प्रमादास्त्रिकपञ्चधा ॥६६॥
महापापाकरीभूताः कषायाः पञ्चविंशतिः । योगाः पञ्चदशैतेऽत्र प्रत्यया दुर्धराः खलाः ॥६७॥
सम्यग्वृत्तसुयत्नाद्यायुधैस्तीक्ष्णैर्मुमुक्षुभिः । इवारयः प्रहन्तव्याः कर्मास्रवनिबन्धनाः ॥६८॥
कर्मागममहद्द्वारं निरोद्धुं ये क्षमा न हि । कुर्वन्तोऽपि तपो घोरं जातु तेषां न निर्वृतिः ॥६९॥
यैः स्वकर्मास्रवो रुद्धो ध्यानाध्ययनसंयमैः । तेषां समीहितं सिद्धं किं साध्यं कायदण्डनैः ॥७०॥
यावत्कर्मास्रवो योगाज्जायते चञ्चलात्मनाम् । तावन्मोक्षो न तत्सङ्गाद्वर्धते भवपद्धतिः ॥७१॥
मत्वेत्यादौ सुयत्नेन रुद्ध्वा सर्वाशुभास्रवम् । रत्नत्रयशुभध्यानैस्ततः प्राप्य चिदात्मनः ॥७२॥
निर्विकल्पं महद्ध्यानं कृत्स्नकर्मारिघातकम् । शुभास्रवान् स्वमोक्षाय निराकुर्वन्ति योगिनः ॥७३॥

(आस्रवानुप्रेक्षा ७)

योगैः कर्मास्रवद्वारनिरोधः क्रियतेऽत्र यः । मुनिभिर्वृत्तगुप्त्याद्यैः संवरः स शिवप्रदः ॥७४॥
त्रयोदशविधं वृत्तं सद्धर्मो दशभेदभाक् । अनुप्रेक्षा द्विषड्भेदः परीषहमहाजयः ॥७५॥

अतः ज्ञानियोंको इस अपवित्र देहसे भिन्न, सर्व कर्म-मलसे रहित, अपना आत्मा दर्शन-ज्ञान-तपरूप जलके द्वारा पवित्र करना चाहिए ॥६३॥

(अशुच्यनुप्रेक्षा-६)

जिस रागवाले आत्मामें रागादिभावोंके द्वारा पुद्गलपिण्ड कर्मरूप होकरके आता है, वह अनन्त दुःखोंका देनेवाला आस्रव जानना चाहिए ॥६४॥ जिस प्रकार छिद्रयुक्त जहाज समुद्रमें डूब जाता है, उसी प्रकार कर्मोंके आस्रवसे यह प्राणी भी इस अनन्त संसार-सागरमें डूबता है ॥६५॥ कर्मोंके इस आस्रवके कारण अनर्थोंका स्थान, दुर्मतोंसे उत्पन्न हुआ पाँच प्रकारका मिथ्यात्व है, छह प्रकारकी इन्द्रिय-अविरति और छह प्रकारकी प्राणिअविरति, पन्द्रह प्रकारका प्रमाद, महापापोंकी खानिरूप पचीस कषाय, और पन्द्रह योग हैं। ये सभी कर्मास्रवके कारण हैं, जो दुःखसे दूर किये जाते हैं और दुर्जन हैं ॥६६-६७॥ मोक्षाभिलाषी जनोंको चाहिए कि वे इन कर्मास्रवके कारणोंका शत्रुओंके समान सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि तीक्ष्ण शस्त्रोंके द्वारा प्रयत्नके साथ विनाश करें ॥६८॥ जो पुरुष घोर तपको करते हुए भी कर्मोंके आनेके इन महाद्वारोंको रोकने में असमर्थ हैं, उनकी कभी निर्वृति (मुक्ति) नहीं हो सकती है ॥६९॥ जिन पुरुषोंने ध्यान, अध्ययन और संयमके द्वारा अपने कर्मास्रवको रोक दिया है, उनका मनोरथ सिद्ध हो चुका है। फिर उन्हें शरीरको क्लेश पहुँचानेसे क्या साध्य है? ॥७०॥ जबतक चंचल आत्माओंके योगसे कर्मास्रव हो रहा है, तबतक उनको मोक्ष नहीं मिल सकता। किन्तु आस्रवके संगसे उनकी संसार-परम्परा ही बढ़ती है ॥७१॥ ऐसा समझकर योगीजन सबसे पहले सुप्रयत्नसे सर्व अशुभ आस्रवोंको रोक करके रत्नत्रय और शुभध्यानके द्वारा चेतन आत्मस्वरूपको प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् सर्व कर्म-शत्रुओंके घातक निर्विकल्प परमध्यानको धारण करके आत्माके मोक्षके लिए शुभ आस्रवको भी त्याग देते हैं ॥७२-७३॥

(आस्रवानुप्रेक्षा ७)

मुनिजन योग, चारित्र, गुप्ति आदिके द्वारा जो कर्मास्रवके द्वारका निरोध करते हैं, वह मोक्षका देनेवाला संवर है ॥७४॥ कर्मास्रवको रोकनेके कारण इस प्रकार हैं—पाँच

सामायिकादिचारित्रं पञ्चधा शशिनिर्मलम् । धर्मशुक्लशुभध्यानज्ञानाभ्यासादयो वराः ॥७६॥
एते मुनीश्वरैः सेव्याः कर्मास्रवनिरोधिनः । हेतवः संवरस्योच्चैर्जगत्साराः प्रयत्नतः ॥७७॥
कर्मणां संवरो येषां योगिनां प्रत्यहं परः । निर्जरा सुतपो मोक्षास्तेषां स्युः सद्गुणाः स्वयम् ॥७८॥
सहन्तश्च तपःक्लेशं कर्तुं दुष्कर्म संवरम् । अशक्ता ये व्रतास्तेषां मुक्तिर्वा निर्मला गुणाः ॥७९॥
संवरस्य गुणानित्थं ज्ञात्वा मोक्षोत्सुकाः सदा । दृक्चिद्वृत्तादि-सद्योगैः कुर्वीध्वं सर्वथात्र तम् ॥८०॥

(संवरानुप्रेक्षा ८)

प्रागर्जितविधीनां यः क्रियते तपसा क्षयः । निर्जरात्राविपाका सा यतीनां शिवकारिणी ॥८१॥
जायते कर्मपाकेन निर्जरा याखिलात्मनाम् । स्वभावेनात्र सा हेया सविपाकान्यकर्मदा ॥८२॥
विधीयते तपोयोगैर्यथा यथा स्वकर्मणाम् । निर्जरा याति मुक्तिश्रीर्मुनेः पार्श्वं तथा तथा ॥८३॥
जायते निर्जरा पूर्णा यदैव कृत्स्नकर्मणाम् । तपसात्र तदैव स्याद्योगिनां मुक्तिसङ्गमः ॥८४॥
विश्वशर्मखनी सारा मुक्तिरामाम्बिका परा । अनन्तगुणदा सेव्या तीर्थनाथैर्गणाधिपैः ॥८५॥
सर्वाशर्मातिगा पुंसां मातेव हितकारिणी । निर्जरा त्रिजगत्पूज्या विज्ञेया भवनाशिनी ॥८६॥
इत्येतस्या गुणान् ज्ञात्वा तपो घोरपरीषहैः । सर्वयत्नेन कार्या सा भवभीतैः शिवाप्तये ॥८७॥

(निर्जरानुप्रेक्षा ९)

महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप तेरह प्रकारका चारित्र, उत्तम क्षमादिरूप दश प्रकारका धर्म, अनित्यादि बारह अनुप्रेक्षा, क्षुधादि-बाईस महापरीषहोंका जीतना, सामायिक आदि पाँच प्रकारका चन्द्रतुल्य निर्मल चारित्र-परिपालन, धर्मशुक्लरूप शुभध्यान और उत्तम ज्ञानाभ्यास आदि। कर्मास्रवके रोकनेवाले और जगत्‌में सार ये सभी संवरके उत्कृष्ट कारण मुनीश्वरोंको प्रयत्न पूर्वक सेवन करना चाहिए ॥७५-७७॥ जिन योगियोंके आनेवाले कर्मोंका प्रतिदिन परम संवर है और तपसे संचित कर्मोंकी निर्जरा हो रही है, उनको मोक्ष और सद्-गुण स्वयं प्राप्त होते हैं ॥७८॥ जो लोग तपके क्लेशको सहन करते हुए भी दुष्कर्मोंका संवर करनेके लिए असमर्थ हैं, उनकी मुक्ति कहाँ सम्भव है और निर्मल सद्-गुण पाना भी कहाँसे सम्भव है ॥७९॥ इस प्रकार संवरके गुणोंको जानकर मोक्षके लिए उत्सुक पुरुष सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि सद्‌योगों द्वारा सदा सर्व प्रकारसे कर्मोंका संवर करें ॥८०॥

(संवरानुप्रेक्षा ८)

पूर्वकालमें उपार्जित कर्मोंका तपके द्वारा जो क्षय किया जाता है, वह शिव पद प्राप्त करनेवाली अविपाक निर्जरा योगियोंके होती है ॥८१॥ कर्मकी विपाककालके द्वारा सभी संसारी प्रणियोंके जो स्वभावतः कर्म-निर्जरा होती है, वह सविपाक निर्जरा है। यह नवीन कर्मबन्ध कराती है, अतः त्यागनेके योग्य है ॥८२॥ तपोयोगोंके द्वारा जैसे-जैसे अपने कर्मोंकी निर्जरा की जाती है, वैसे-वैसे ही मुक्तिलक्ष्मी तपस्वी मुनिके पास आती जाती है ॥८३॥ तपसे जब ही सर्व कर्मोंकी पूर्ण निर्जरा है, तब ही योगिजनोंको मुक्तिका संगम हो जाता है ॥८४॥ यह निर्जरा सर्व सुखोंकी खानि है, मुक्तिरामाकी माता है, परम सारभूत है, अनन्त गुणोंको देनेवाली है, तीर्थनाथों और गणनाथोंके द्वारा सेवन की जाती है, सर्व दुःखोंका नाश करती है, माताके समान मनुष्योंकी हितकारिणी त्रिजगत्पूज्य है और संसारको नाश करनेवाली है, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार इस निर्जराके गुणोंको जानकर भव-भय-भीत ज्ञानीजनोंको मोक्षप्राप्तिके लिए घोर तपश्चरण और परीषह-सहनके द्वारा सर्व प्रयत्नसे इस कर्म-निर्जराको करना चाहिए ॥८५-८७॥

(निर्जरानुप्रेक्षा ९)

षड् द्रव्या यत्र लोक्यन्ते स लोकस्त्रिविधो मतः । अधोमध्योर्ध्वभेदेनाकृत्रिमः शाश्वतो महान् ॥८८॥
सप्तरज्जुप्रमेऽस्याधोभागे रत्नप्रभादिकाः । स्युः श्वभ्रमयाः सप्तविश्वदुःखाशुभाकराः ॥८९॥
तासु स्युः पटलान्येकोनपञ्चाशच्च संग्रहे । चतुर्भिरधिकाशीतिर्लक्षाणि दुर्बिलान्यपि ॥९०॥
तेषु ये प्राग्भवे दुष्टा महापापविधायिनः । क्रूरकर्मरता निन्द्याः सप्तव्यसनसेविनः ॥९१॥
महामिथ्यामतासक्ता आपन्ना नारकीं गतिम् । वाचामगोचरं दुःखं ते लभन्ते परस्परम् ॥९२॥
छेदनैर्विविधाकारैस्ताडनैश्च कदर्थनैः । शूलादिरोहणैस्तीव्रैः क्षुत्तृष्णादिपरीषहैः ॥९३॥
जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणोदादयोऽब्धयः । असंख्या मेरवः पञ्चतुङ्गास्त्रिंशत्कुलाद्रयः ॥९४॥
विंशतिर्गजदन्ता विजयार्धाः शतसप्ततिः । वक्षाराख्या अशीतिश्चतुरिष्वाकारपर्वताः ॥९५॥
दश कुरुद्रुमा मानुषोत्तरेण सहोर्जिताः । सार्धद्वीपद्वये सन्ति जिनधामादिभूषिताः ॥९६॥
विषयाश्च नगर्यः सप्तत्याधिकशतप्रमाः । चतुर्गतिषु मुक्त्यम्बास्त्रिपञ्चकर्मभूमयः ॥९७॥
जनन्यो विश्वभोगानां त्रिंशद्भोगधराः पराः । महानद्यो विभङ्गाश्च ह्रदाः कुण्डादयो वराः ॥९८॥
विज्ञेया आगमे दक्षैः षड्देवी कमलादयः । अत्र नन्दीश्वरे द्वीपेऽञ्जनाद्यद्रयग्रवर्तिनः ॥९९॥
द्विपञ्चाशत्समुत्कृष्टाः सर्वदेवनमस्कृताः । सन्ति ये श्रीजिनागारास्तान् सदा प्रणमाम्यहम् ॥१००॥
चन्द्राः सूर्या ग्रहास्ताराः सनक्षत्रा असंख्यकाः । आयुःकायर्धिशर्माद्यैर्ज्योतिष्काः पञ्चधेत्यहो ॥१०१॥
मध्येऽमीषां विमानानां सर्वेषां स्युर्जिनालयाः । हेमरत्नमयाः सार्चा एतान्नौमि सहार्चया ॥१०२॥

जहाँपर जीवादि छहों द्रव्य अवलोकन किये जाते हैं, वह लोक कहा जाता है। यह लोक अकृत्रिम, शाश्वत और महान् है। तथा अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकके भेदसे तीन प्रकारका है ॥८८॥ इस लोकके सात राजु प्रमाण अधोभागमें समस्त अशुभ दुःखोंकी खानिरूप नरकमय रत्नप्रभादिक सात भूमियाँ हैं ॥८९॥ उनमें उनचास (४९) पटल हैं और उनमें चौरासी लाख खोटे बिल हैं ॥९०॥ जो दुष्ट जीव पूर्वभवमें महापाप करते हैं, क्रूर कर्मोंमें संलग्न रहते हैं, निन्दनीय हैं, सप्त व्यसनसेवी हैं और महामिथ्यात्वी कुमतोंमें आसक्त हैं, ऐसे जीव उन नरक बिलोंमें उत्पन्न होकर नारक पर्यायको प्राप्त होते हैं और वचनोंके अगोचर महादुःखोंको सहते हैं। वे परस्पर छेदन-भेदन, विविध प्रकारके ताडन, कदर्थन, शूलारोहण आदिके द्वारा तथा तीव्र भूख-प्यास आदि परीषहोंके द्वारा रात-दिन दुःखोंको पाते हैं ॥९१-९३॥ मध्यलोकमें जम्बूद्वीपको आदि लेकर असंख्य द्वीप और लवण-समुद्रको आदि लेकर असंख्य समुद्र हैं, पाँच उन्नत मेरुपर्वत हैं, तीस कुलाचल हैं, बीस गजदन्त पर्वत हैं, एक सौ सत्तर विजयार्ध गिरि हैं, अस्सी वक्षार पर्वत हैं। चार इष्वाकार पर्वत हैं, दश कुरुद्रुम हैं, एक मानुषोत्तर पर्वत है। पाँच मेरु आदि ये सब अढ़ाई द्वीप में हैं। ये सभी पर्वत उन्नत जिनालयों और कूटादिकोंसे विभूषित हैं ॥९४-९६॥ मनुष्यलोकमें एक सौ सत्तर बड़े देश और एक सौ सत्तर महानगरियाँ हैं। चारों गतियोंमें ले जानेवाली और मुक्तिकी मातारूप पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं ॥९७॥ समस्त भोगोंकी जननी तीस भोगभूमियाँ हैं। इसके अतिरिक्त गंगा-सिन्धु आदि महानदियाँ, विभंग नदियाँ, पद्म आदि ह्रद और गंगाप्रपात आदि श्रेष्ठ कुण्ड आदि भी हैं ॥९८॥ ह्रदोंके सरोवरोंमें अवस्थित कमल और उनपर रहने- वाली श्री-ह्री आदि देवियाँ भी इसी मनुष्यलोकमें रहती हैं, सो यह सब वर्णन आगममें दक्ष चतुर पुरुषोंको जानना चाहिए। इसी मध्यलोकमें आठवाँ नन्दीश्वर द्वीप है, जहाँपर अंजनगिरि आदि पर्वतोंपर अतिउत्कृष्ट बावन श्री जिनालय हैं, जो सर्वदेवोंके द्वारा नमस्कृत हैं। मैं भी उनको सदा नमस्कार करता हूँ ॥९९-१००॥ इस मध्यलोकके ऊपर चन्द्र-सूर्य-ग्रह- तारा और नक्षत्र ये पाँच प्रकारके असंख्यात ज्योतिष्क देव रहते हैं, ये सभी असंख्यात वर्षकी आयुके धारक ऋद्धि और सुखादिसे सम्पन्न हैं ॥१०१॥ इन सभी ज्योतिष्क देवोंके

सप्तरज्ज्वन्तरे स्वर्गाः सौधर्माद्याश्च षोडश । नव ग्रैवेयकाद्याः स्युरूर्ध्वलोके सुखाकराः ॥१०३॥
कल्पकल्पातिगेष्वेव त्रिषष्टिपटलान्यपि । लक्षाश्चतुरशीतिश्च नवतिः सप्तसंयुताः ॥१०४॥
सहस्राणि त्रयोविंशतिः संख्येति जिनैर्मता । सर्वेषां स्वर्विमानानां विश्वशर्मनिबन्धिनाम् ॥१०५॥
भवे ये प्राक्तने दक्षास्तपोरत्नत्रयाङ्किताः । महाधर्मविधातारश्चार्हन्निर्ग्रन्थभाक्तिकाः ॥१०६॥
जितेन्द्रियाः समाचाराः प्राप्ता देवगतिं हि ते । भुञ्जन्ति विविधं तेषु सुखं वाचातिगं महत् ॥१०७॥
दिव्यस्त्रीभिः समं नित्यं चाप्सरोनृत्यलोकनैः । स्वेच्छया क्रीडनैर्भोगैर्गीतादिश्रवणैः परैः ॥१०८॥
लोकाग्रेऽस्ति वियद्रत्नमया मोक्षशिला परा । नरक्षेत्रप्रमा वृत्ता स्थूला द्वादशयोजनैः ॥१०९॥
अनन्तसुखसंलीनाः सिद्धा अन्तातिगाः पराः । ज्ञानाङ्गाः सन्ति ये तस्यां वन्दे तद्गतयेऽत्र तान् ॥११०॥
इति लोकत्रयं ज्ञात्वा सुखदुःखोभयाश्रितम् । रागं विहाय सर्वत्र तदग्रस्थं शिवालयम् ॥१११॥
अनन्तगुणशर्माढ्यं नित्यं शर्मार्थिनः परम् । रत्नत्रयतपोयोगैर्भजताशु प्रयत्नतः ॥११२॥

(लोकानुप्रेक्षा १०)

अत्यन्तदुर्लभो बोधिश्चतुर्गतिषु संततम् । भ्रमतां कर्मकर्तॄणां निधिवच्च दरिद्रिणाम् ॥११३॥
मानुष्यं दुर्लभं चादावब्धौ चिन्तामणिर्यथा । तस्मादप्यार्यखण्डं च खण्डादप्युत्तमं कुलम् ॥११४॥
कुलाद्दीर्घायुरप्राप्यं ततः पञ्चाक्षपूर्णता । दुर्लभा रत्नखानीव पञ्चाक्षान्निर्मला मतिः ॥११५॥

विमानोंमें जिनालय हैं और उनमें स्वर्ण-रत्नमयी जिनप्रतिमाएँ हैं। इन सबको मैं पूजा-भक्तिके साथ नमस्कार करता हूँ ॥१०२॥ मध्यलोकके ऊपर ऊर्ध्वलोकमें सात राजुके भीतर सौधर्मादिक सोलह स्वर्ग, नौ ग्रैवेयक और नौ अनुदिशादि विमान हैं, वे सभी सुखके आकार हैं ॥१०३॥ स्वर्गलोकके उक्त कल्प और कल्पातीत विमानोंके तिरसठ पटल हैं। उनके सर्व विमानोंकी संख्या चौरासी लाख सत्तानबे हजार तेईस जिनदेवोंने कही है। ये सभी सांसारिक सुखोंको देनेवाले हैं ॥१०४-१०५॥ जो चतुर पुरुष पूर्वभवमें रत्नत्रय धर्मयुक्त तपश्चरण करते हैं, महान् धर्मके विधायक हैं, अर्हन्तदेव और निर्ग्रन्थ गुरुओंके भक्त हैं, इन्द्रिय-विजयी और उत्तम सदाचारी हैं, वे देवगतिको प्राप्त होकर वहाँपर वचनोंके अगोचर नाना प्रकारके महान् सुखोंको दिव्य स्त्रियोंके साथ अप्सराओंके नृत्य देखकर, उनके दिव्य गीतादि सुनकर और उनके साथ अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करते हुए भोगते हैं ॥१०६–१०८॥ लोकके अग्रभागपर देदीप्यमान रत्नमयी सिद्धशिला है, जो मनुष्य क्षेत्र प्रमाण पैंतालीस लाख योजन विस्तृत गोलाकार है और बारह योजन मोटी है ॥१०९॥ उस सिद्धशिलाके ऊपर अनन्त परम सुखमें लीन अनन्त सिद्ध भगवन्त विराजमान हैं, वे सभी ज्ञानशरीरी हैं। उस सिद्धगतिको पानेके लिए मैं उनकी वन्दना करता हूँ ॥११०॥ इस प्रकार सुख और दुःख इन दोनोंसे युक्त तीनों लोकोंका स्वरूप जानकर और सबसे राग छोड़कर लोकके अग्रभागपर अवस्थित अनन्त सुखसे युक्त परम शिवालयकी सुखार्थी जन रत्नत्रय और तपोयोगसे शीघ्र ही प्रयत्न पूर्वक आराधना करें ॥१११-११२॥

(लोकानुप्रेक्षा १०)

संसारमें चारों गतियोंके भीतर निरन्तर परिभ्रमण करते हुए कर्मोंके करनेवाले प्राणियोंको बोधिकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, जिस प्रकार कि दरिद्रियोंको निधिकी प्राप्ति अति कठिन है ॥११३॥ सबसे पहले तो संसार-समुद्रमें पड़े हुए जीवोंको मनुष्यभव पाना चिन्तामणि रत्नके समान दुर्लभ है, उससे भी अधिक कठिन आर्य खण्डका पाना है और उससे भी अधिक कठिन उत्तम कुलकी प्राप्ति है। उत्तम कुलसे भी अधिक कठिन दीर्घ आयु पाना है, उससे भी अधिक कठिन पाँचों इन्द्रियोंकी परिपूर्णता है। उस पंचेन्द्रियपरिपूर्णतासे भी बहुत

मतेर्मन्दकषायित्वं तस्मान्मिथ्यात्वहीनता। ततोऽहो विनयाद्याः सद्गुणा अत्यन्तदुर्लभाः ॥११६॥
तेभ्योऽप्यतीव दुष्प्रापा सामग्री धर्मकारिणी। देवशास्त्रयतीशानां कल्पवल्लीव देहिनाम् ॥११७॥
सामग्र्या दृग्विशुद्धिश्च ज्ञानं वृत्तं तपोऽनघम्। अलभ्यं वरमृत्यादीनि सतां सुलभानि न ॥११८
इत्याद्यखिलसामग्रीं लब्ध्वा ये साधयन्त्यहो। हत्वा मोहं विदो मुक्तिं तैर्बोधिः सफलः कृतः ॥११९॥
तामाप्य धर्ममोक्षादौ प्रमादं ये प्रकुर्वते। निमज्जन्ति भवाब्धौ ते च्युतपोता जना यथा ॥१२०॥
मत्वेतीह महान् यत्नो मुक्त्यै धर्मादिसाधने। मरणे चोत्तमे दक्षैः कर्तव्योऽत्र भवे भवे ॥१२१॥

(बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा ११)

भवाब्धौ पतनाज्जीवान् य उद्धृत्य शिवालये। जिनेन्द्रादिपदे वाशु धत्ते स धर्म उत्तमः ॥१२२॥
सत्क्षमा मार्दवोऽप्यार्जवं सत्यं शौचमेव हि। संयमोऽनु तपस्त्याग आकिंचन्यममैथुनम् ॥१२३॥
अमूनि प्रोत्तमान्यत्र दशैव लक्षणान्यपि। महाधर्मस्य बीजानि विधेयानि तदर्थिभिः ॥१२४॥
यतोऽत्रैतै प्रजायेत महाधर्मः शिवप्रदः। हन्ता दुष्कर्मदुःखानां विश्वशर्मनिबन्धनः ॥१२५॥
तथा रत्नत्रयाचारैर्मूलोत्तरगुणव्रजैः। तपसा जायते धर्मो यतीनां मुक्तिसौख्यकृत् ॥१२६॥
धर्मेण सुलभाः सर्वास्त्रैलोक्यस्थाः सुसंपदः। निजाः स्त्रिय इवायान्ति स्वयं प्रीत्यात्र धर्मिणः ॥१२७॥
आकृष्टा धर्ममन्त्रेण ददात्यालिङ्गनं स्वयम्। मुक्तिस्त्री धर्मिणां नूनं का कथामरयोषिताम् ॥१२८॥
यत्किंचिद् दुर्लभं लोके महार्घ्यं सुखसाधनम्। तत्सर्वं धर्मतः पुंसां संपद्येत पदे पदे ॥१२९॥

दुर्लभ निर्मल बुद्धिका पाना है, जैसे कि रत्नोंकी खानिका पाना बहुत दुर्लभ है ॥११४-११६॥ इन सबसे भी अत्यधिक दुर्लभ देव शास्त्र गुरुओंका समागम और धर्मकारिणी सामग्रीका पाना है, जैसे कि दीन प्राणियोंको कल्पलताका पाना दुर्लभ है ॥११७॥ उक्त धर्म-सामग्रीसे भी अधिक कठिन दर्शनविशुद्धि, निर्मल ज्ञान, चारित्र, तप और समाधिमरण आदिकी प्राप्ति है। किन्तु जो सच्चारित्रधारक सन्त पुरुष हैं, उन्हें यह सब मिलना सुलभ है ॥११८॥ इत्यादि समस्त सामग्रीको पा करके जो ज्ञानी पुरुष मोहका नाश कर मुक्तिका साधन करते हैं, वे ही बोधिकी प्राप्तिको सफल करते हैं ॥११९॥ उक्त सर्व सामग्री पा करके भी जो धर्म और मोक्षादिकी साधनामें प्रमाद करते हैं, वे जहाजसे गिरे हुए मनुष्यके समान संसार-समुद्रमें डूबते हैं ॥१२०॥ ऐसा जानकर चतुर पुरुषोंको मुक्तिके लिए धर्मादिके साधनेमें भव-भवमें उत्तम मरणकी प्राप्तिमें महान् यत्न करना चाहिए ॥१२१॥

(बोधिदुर्लभभावना ११)

जो संसार-समुद्रमें गिरनेसे जीवोंका उद्धार करके शिवालयमें अथवा तीर्थंकर-चक्रवर्ती आदिके पदोंमें शीघ्र स्थापित करे, वही उत्तम धर्म है ॥१२२॥ वह धर्म उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन उत्तम दश लक्षणरूप धर्मके इच्छुक जनोंको महाधर्मकेये उत्तम बीज धारण करना चाहिए ॥१२३-१२४॥ क्योंकि इन बीजोंके द्वारा ही इस लोकमें मोक्ष-दाता, दुष्कर्म-जनित दुःखोंका नाशक और सर्व सुखोंका कारणभूत महान् धर्म उत्पन्न होता है ॥१२५॥ तथा रत्नत्रयके आचरणसे, मूलगुणों और उत्तरगुणोंके समुदायसे तथा तपसे मुक्तिसुखका करनेवाला मुनियोंका धर्म होता है ॥१२६॥ धर्मके द्वारा तीन लोकमें स्थित सभी उत्तम सम्पदाएँ सरलतासे प्राप्त होती हैं और वे धर्मात्माके पास प्रीतिसे अपनी स्त्रियोंके समान स्वयं समीप आती हैं ॥१२७॥ धर्मरूपी मन्त्रसे आकृष्ट हुई मुक्तिरूपी स्त्री जब धर्मात्मा पुरुषको निश्चयसे स्वयं ही आकर आलिंगन देती है, तब अन्य देवांगनाओंकी तो कथा ही क्या है ॥१२८॥ लोकमें जो कुछ दुर्लभ और बहुमूल्य सुखसाधन हैं, वे सब धर्मसे पुरुषोंको पद-पदपर प्राप्त होते हैं ॥१२९॥

धर्मो मित्रं पिता माता सहगामी हितंकरः । धर्मः कल्पद्रुमश्चिन्तारत्नं धर्मो निधानकम् ॥१३०॥
धन्यास्त एव लोकेऽस्मिन् धर्मं ये कुर्वतेऽनिशम् । प्रमादपरिहारेण पूज्या लोकत्रये सताम् ॥१३१॥
ये धर्मेण विना मूढा गमयन्ति दिनान्यहो । वृषभास्ते बुधैः प्रोक्ता निःश्रृङ्गा गृहभारतः ॥१३२॥
ज्ञात्वेति धीधनैर्जातु विना धर्मात्प्रमादतः । नैका कालकला नेया क्षणध्वंसि यतो जगत् ॥१३३॥
(धर्मानुप्रेक्षा १२)

इति विगतविकारास्तीव्रवैराग्यमूलाः सकलगुणनिधानाः पापरागादिदूराः ।
जिनमुनिगणसेव्या धीधना रागहान्यै ह्यनवरतमनुप्रेक्षा हृदि स्थापयन्तु ॥१३४॥

एता द्वादश भावनाः सुविमला मुक्तिश्रियोऽन्राम्बिका
अन्तातीतगुणाकरा भवहराः सिद्धान्तसूत्रोद्भवाः ।
ये ध्यायन्ति यतीश्वराः प्रतिदिनं तेषां न काः संपदः
स्वर्मुक्त्यादिविभूतयश्च परमा आविर्भवन्ति स्वयम् ॥१३५॥

यो भुक्त्वा नरदेवजां बहुविधां लक्ष्मीं सुपुण्योदयाद्
भूत्वा तीर्थंकरो जगत्त्रयगुरुर्बाल्येऽपि कर्मापहम् ।
वैराग्यं परमं समाप शिवदं विश्वाङ्गभोगादिषु
स श्रीवीरजिनः स्तुतो मम नतो बाल्येऽस्तु दीक्षाप्तये ॥१३६॥

इति भट्टारक-श्रीसकलकीर्तिविरचिते श्रीवीरवर्धमानचरिते भगवदनुप्रेक्षा-
चिन्तनवर्णनो नामैकादशोऽधिकारः ॥११॥

धर्म ही मित्र, पिता, माता, साथ जानेवाला और हित करनेवाला है। धर्म ही कल्पवृक्ष, चिन्तामणि और सब रत्नोंका निधान है ॥१३०॥ जो लोग इस लोकमें प्रमादका परिहार करके निरन्तर धर्मको करते हैं, वे धन्य हैं और वे ही तीनों लोकोंमें सज्जनोंके पूज्य हैं ॥१३१॥ अहो, जो मूढ़जन धर्मके विना दिन गँवाते हैं, ज्ञानीजनोंने उन्हें गृहके भारको ढोनेसे सींगरहित वैल कहा है ॥१३२॥ ऐसा जानकर बुद्धिमानोंको धर्मके विना प्रमादसे कालकी एक कला भी व्यर्थ नहीं खोनी चाहिए, क्योंकि यह संसार क्षण-भंगुर है ॥१३३॥
(धर्मभावना १२)

इस प्रकार विकार-रहित, तीव्र वैराग्य-कारक, सकल गुणोंकी निधान भूत, रागादि पापोंसे विहीन, तीर्थंकर और मुनिजनोंके द्वारा सेव्य ये वारह अनुप्रेक्षाएँ रागभावके विनाशके लिए ज्ञानीजन सदा अपने हृदयमें धारण करें ॥१३४॥ ये अति निर्मल वारह भावनाएँ मुक्तिलक्ष्मीकी माता हैं, अनन्त गुणोंकी भण्डार हैं, संसारकी नाशक हैं, सिद्धान्त-सूत्रसे उत्पन्न हुई हैं। इनको जो यतीश्वर प्रतिदिन ध्याते हैं, उनको कौन-सी सम्पदाएँ नहीं प्राप्त होती हैं। उनको तो परम स्वर्ग और मुक्ति आदि विभूतियाँ स्वयं प्राप्त होती हैं ॥१३५॥

जो उत्तम पुण्यके उदयसे मनुष्यों और देवोंमें उत्पन्न हुई अनेक प्रकारकी लक्ष्मीको भोगकर और तीर्थंकर होकर वालकालमें भी तीन जगत्‌के गुरु हो गये और कर्मोंका नाश करनेवाले, एवं शिवपद देनेवाले ऐसे संसार शरीर और भोगादिमें परम वैराग्यको प्राप्त हुए, वे श्री वीर जिनेन्द्र मेरे स्तुत और नमस्करणीय हैं और वालकालमें वे दीक्षाकी प्राप्तिके लिए सहायक होवें ॥१३६॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति विरचित श्री वीरवर्धमान चरितमें
भगवान्‌की अनुप्रेक्षा चिन्तनका वर्णन करनेवाला ग्यारहवाँ
अधिकार समाप्त हुआ ॥११॥

द्वादशोऽधिकारः

वीरं वीराग्रिमं नौमि महासंवेगभूषितम् । मुक्तिकान्तासुखासक्तं विरक्तं कामजे सुखे ॥१॥
अथ सारस्वता देवा आदित्या वह्न्योऽरुणाः । गीर्वाणा गर्दतोयाख्या निर्जरास्तुषितामिधाः ॥२॥
अव्यावाधा अरिष्टा इत्यष्टभेदाः सुरोत्तमाः । ब्रह्मलोकालयाः सौम्या लौकान्तिकसमाह्वयाः ॥३॥
प्राग्भवेऽभ्यस्तनिःशेषश्रुतवैराग्यभावनाः । सर्वे पूर्वविदो दक्षा निसर्गब्रह्मचारिणः ॥४॥
परिनिःक्रान्तकल्याणशंसिनोऽमलमानसाः । एकावतारिणो वन्द्याः शक्रैर्देवर्षयोऽमरैः ॥५॥
स्वज्ञानेन परिज्ञाय तत्कल्याणमहोत्सवम् । अवतीर्य महीं स्वर्गादाजग्मुर्निकटं गुरोः ॥६॥
मूर्ध्ना नत्वा महावीरं कर्मारिहननोद्यतम् । प्रपूज्य परया भक्त्या स्वर्गोद्भवमहार्चनैः ॥७॥
विरक्तिजनकैर्वाक्यैश्चार्थ्याभिः स्तुतिभिर्मुदा । इति प्रारेभिरे स्तोतुमृषयस्ते महाधियः ॥८॥
त्वं देव जगतां नाथो गुरूणां त्वं महागुरुः । ज्ञानिनां त्वं महाज्ञानी वोधकानां प्रवोधकः ॥९॥
अतोऽस्माभिर्न वोध्यस्त्वं स्वयंबुद्धोऽखिलार्थवित् । असि वोधयितास्माकं भव्यानां च न संशयः ॥१०॥
प्रवोधितोऽथवा दीपो यथार्थादीन् प्रकाशयेत् । तथा त्वमपि विश्वार्थान् भुवि व्यक्तान् करिष्यसि ॥११॥
किन्तु देव नियोगोऽयं भवत्संवोधनादिषु । स्तुतिव्याजेन नोऽद्यैवं मुखरीकुरुते वलात् ॥१२॥
यतस्त्रिज्ञाननेत्रस्त्वं हेयादेयादिसर्ववित् । शिक्षां दातुं क्षमः कस्ते दीपः किं दीयते रवेः ॥१३॥
मोहारिविजयोद्योगं त्वयैतत्संविधित्सुना । अधुनानुष्ठितं वन्धुकृत्यं देव जगत्सताम् ॥१४॥

महान् संवेगसे भूपित, मुक्तिरमाके सुखमें आसक्त, काम-जनित सुखमें विरक्त ऐसे वीर-शिरोमणि श्री वीर-जिनेन्द्रको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुपित, अव्यावाध और अरिष्ट नामवाले, ब्रह्मलोक निवासी, लौकान्तिक नामधारी, सौम्यमूर्ति, पूर्वभवमें सम्पूर्ण श्रुत और वैराग्यभावनाके अभ्यासी, सर्वपूर्वोके वेत्ता, जन्मजात ब्रह्मचारी, एकभवावतारी, निर्मल चित्तधारी, इन्द्र और देवोंके द्वारा वन्द्य, एवं अभिनिष्क्रमण कल्याणक में तीर्थकरोंको सम्वोधन करनेवाले देवर्षि जव अपने अवधिज्ञानसे भगवान् महावीरके चित्तको विरक्त जाना, तव वे स्वर्गसे उतरकर इस भूतलपर जगद्गुरुके समीप आये और कर्म-शत्रुओंके घात करनेके लिए उद्यत्त श्री महावीर प्रभुको मस्तकसे नमस्कार कर तथा स्वर्गमें उत्पन्न हुए महान् द्रव्योंसे परम भक्तिके साथ पूजकर विरक्ति-वर्धक वाक्यवाली अर्थपूर्ण स्तुतियोंके द्वारा अत्यन्त प्रमोदके साथ उन महावुद्धिशाली देवर्पियोंने इस प्रकार स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥२-८॥

हे देव, आप तीनों लोकोंके नाथ हैं, गुरुओंके महागुरु हैं, ज्ञानियोंके महागुरु हैं, प्रवोध देनेवालोंके महाप्रवोधक हैं, अतः आप हमारे द्वारा प्रवोधनेके योग्य नहीं हैं, आप तो स्वयंवुद्ध हैं, समस्त तत्त्वार्थके वेत्ता हैं, और हमारे-जैसे लोगोंके तथा समस्त भव्यजीवोंके प्रवोधक हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥९-१०॥ जैसे प्रवोधित (प्रज्वलित) प्रदीप घट-पटादि पदार्थोंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आप भी समस्त जीव-अजीवादि पदार्थोंको संसारमें प्रकाशित करेंगे ॥११॥ किन्तु हे देव, आपको सम्वोधन करनेका यह हमारा नियोग है, इसलिए वह आज स्तुतिके छलसे हमें वाचाल कर रहा है ॥१२॥ यतः आप तीन ज्ञानरूपी नेत्रोंके धारक हैं, और हेय-उपादेय आदि सर्वतत्त्वोंके ज्ञायक हैं, अतः आपको शिक्षा देनेके लिए कौन समर्थ है ? क्या दीपक सूर्यको प्रकाश दिखा सकता है ॥१३॥ हे देव, मोह-शत्रुके

यतस्त्वत्तः प्रभो प्राप्य धर्मपोतं सुदुर्लभम् । भवाब्धिमुत्तरिष्यन्ति केचिद्भव्याः सुदुस्तरम् ॥१५॥
केचिद्रत्नत्रयं लब्ध्वा भवद्धर्मोपदेशतः । तत्फलेन च यास्यन्ति सर्वार्थसिद्धिमूर्जिताम् ॥१६॥
भवद्वचोंऽशुभिः केचिन्मिथ्याज्ञानतमश्चयम् । निर्धूय विश्वतत्त्वार्थान् द्रक्ष्यन्ति च शिवात्मजाम् ॥१७॥
त्वत्तोऽत्राभीष्टसंसिद्धिर्निखिला सुधियां भुवि । भविष्यति न सन्देहः स्वामिन् स्वर्मोक्षशर्म च ॥१८॥
मोहपङ्के निमग्नानां सतां हस्तावलम्बनम् । त्वं दास्यसि विभो नूनं धर्मतीर्थप्रवर्तनात् ॥१९॥
त्वद्वाक्यजलदेनाप्य वैराग्यवज्रमद्भुतम् । शतचूर्णीकरिष्यन्ति बुधा मोहाद्रिमूर्जितम् ॥२०॥
भवत्तत्त्वोपदेशेन पापिनः पापमञ्जसा । कामिनः कामशत्रुं च हनिष्यन्ति न संशयः ॥२१॥
केचित्वद्भक्तिका नाथ त्वत्पादाम्बुजसेवनात् । स्वीकृत्य दृग्विशुद्ध्यादीन् भविष्यन्ति भवत्समाः ॥२२॥
अद्य मोहाक्षशत्र्वौघास्ते कम्प्यन्ते जगद्द्विषः । संवेगासिधृतं वीक्ष्य त्वां स्वमृत्यादिशङ्कया ॥२३॥
यतस्त्वं दुर्जयारातीन् क्षमो जेतुं च हेलया । परं.पहभटांस्तीक्ष्णान् स्वान्येषां सुभटोत्तम ॥२४॥
अतो धीर कुरूद्योगं मोहाक्षाद्यरिसंजये । विश्वभव्योपकाराय घातिकर्मारिघातने ॥२५॥
यतोऽयं ते समायातः कालः सन्मुखमूर्जितः । तपः कर्तुं विधीन् हन्तुं नेतुं भव्यान् शिवालयम् ॥२६॥
अतः स्वामिन् नमस्तुभ्यं नमस्ते गुणसिन्धवे । नमस्ते मुक्तिकान्ताप्त्यै प्रोद्यताय जगद्धित ॥२७॥
निःस्पृहाय नमस्तुभ्यं स्वाङ्गभोगसुखादिषु । सस्पृहाय नमस्तुभ्यं मुक्तिस्त्रीसुखसाधने ॥२८॥

विजयका उद्योग करनेके इच्छुक आपने यह जगत्के सन्तजनोंके लिए उत्तम बन्धु-कर्तव्य पालन करनेका विचार किया है ॥१४॥ हे प्रभो, आपसे अति दुर्लभ धर्मपोतको पा करके कितने ही भव्य जीव इस दुस्तर संसार-सागरके पार उतरेंगे, कितने ही जीव आपके धर्मोप-देशसे रत्नत्रयको पाकर उसके फलसे अति उत्कृष्ट सर्वार्थसिद्धिको जायेंगे ॥१५-१६॥ कितने ही जीव आपकी वचन-किरणोंसे मिथ्याज्ञानरूप अन्धकार-पुंजका विनाश कर और समस्त तत्त्वार्थको जाकर शिवरमाका मुख देखेंगे ॥१७॥ संसारमें सुधीजनोंको आपसे समस्त अभीष्ट अर्थकी सिद्धि होगी और हे स्वामिन्, वे स्वर्ग एवं मोक्षके सुखको प्राप्त करेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥१८॥ हे प्रभो, मोहरूपी कीचड़में निमग्न पुरुषोंको धर्मतीर्थका प्रवर्तन कर आप निश्चयसे उन्हें हस्तावलम्बन देंगे ॥१९॥ आपके वाक्यरूपी मेघसे अद्भुत वैराग्यरूपी वज्र पा करके पण्डित लोग महान् मोहरूपी पर्वतके सैकड़ों खण्ड करके चूर्ण कर देंगे ॥२०॥ आपके तत्त्वोपदेशसे पापीजन अपने पापोंको और कामीजन अपने काम-शत्रुको मारेंगे, इसमें कोई संशय नहीं है ॥२१॥ हे नाथ, कितने ही आपके भक्तजन आपके चरण-कमलोंकी सेवा करके और सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि आदि कारणोंको स्वीकार करके आपके समान होंगे ॥२२॥ हे प्रभो, जगत्का अकल्याण करनेवाले मोह और इन्द्रिय शत्रुओंका समूह आपको संवेगरूप खड्ग धारण किये हुए देखकर अपने मरण आदिकी शंकासे कम्पित हो रहा है ॥२३॥ क्योंकि हे सुभटोत्तम भगवन्, आप अपने और दूसरोंके दुःसह परीषह भटरूप दुर्जय शत्रुओंको क्रीडामात्रसे जीतनेके लिए समर्थ हैं ।।२४॥ अतएव हे धीर-वीर प्रभो, मोह और इन्द्रिय शत्रुओंके जीतनेके लिए, घातिकर्मोंके नाश करनेके लिए तथा संसारके भव्य जीवोंके उपकार करनेके लिए आप उद्योग कीजिए ॥२५॥ हे भगवन्, यतः आपके सम्मुख यह उत्तम अंवसर तप करनेके लिए, कर्मोंको नाश करनेके लिए और भव्यजीवोंको शिवालय ले जानेके लिए उपस्थित हुआ है, अतः हे स्वामिन्, आपके लिए नमस्कार है, आप गुणोंके समुद्र हैं, अतः आपको नमस्कार है, हे जगत्-हितकारिन्, मुक्तिकान्ताकी प्राप्तिके लिए आप उद्यत हुए हैं, अतः आपको नमस्कार है ॥२६-२७॥ आप अपने शरीरमें और इन्द्रिय-भोगोंके सुखादिमें निःस्पृह हैं, अतः आपके लिए नमस्कार है। आप मुक्तिस्त्रीके सुख साधनेमें सस्पृह हैं, इसलिए

नमस्तेऽद्भुतवीर्याय कौमारब्रह्मचारिणे । साम्राज्यश्रीविरक्ताय रक्ताय शाश्वतश्रियाम् ॥२९॥
नमोऽधिगुरवे तुभ्यं महते गुरुयोगिनाम् । नमस्ते विश्वमित्राय स्वयंबुद्धाय ते नमः ॥३०॥
अनेन स्तवनेनात्रामुत्र जन्मनि जन्मनि । महादातः प्रदेहि त्वं तपश्चारित्रसिद्धये ॥३१॥
ईदृशीं सकलां शक्तिं भवदीयां भवद्गुणैः । सहबाल्येऽपि नो नाथ मोहारातिविनाशिनीम् ॥३२॥
इति स्तुत्वा जगन्नाथं जगत्त्रयबुधेडितम् । निजेष्टप्रार्थनां कृत्वा स्वनियोगं विधाय च ॥३३॥
उपार्ज्य परमं पुण्यं नमःस्तुतिशतार्चनैः । तत्पादाब्जौ मुहुर्नत्वा ययुः स्वर्गं महर्षयः ॥३४॥
तदैव सामराः सर्वे चतुर्णिकायवासवाः । सकलत्रा महाभूत्या स्वस्ववाहनमाश्रिताः ॥३५॥
घण्टानादादिचिह्नौघैर्ज्ञात्वा तत्संयमोत्सवम् । आजग्मुस्तत्पुरं भक्त्या महोत्सवशतैः समम् ॥३६॥
तत्पुरं तद्वनं मार्गांश्चारुध्य सुरसैन्यकाः । नभोमार्गं मुदा तस्थुः सकलत्राः सवाहनाः ॥३७॥
आदौ तं मुक्तिभर्तारमारोप्य हरिविष्टरे । संभूय वासवाः सर्वेऽभ्यषिञ्चन् परमोत्सवैः ॥३८॥
क्षीरोदाब्धिपयःपूर्णैर्हेमकुम्भैर्महोन्नतैः । गीतनर्तनवाद्याद्यैर्जयकोलाहलस्वनैः ॥३९॥
पुनस्तं भूषयामासुर्जगत्त्रितयभूषणम् । दिव्यैरंशुकनेपथ्यैर्माल्यैस्ते मलयोद्भवैः ॥४०॥
तदा स मातरं स्वस्य महामोहात्तमानसाम् । बन्धूंश्च पितरं दक्षं महाकष्टेन तीर्थकृत् ॥४१॥
विविक्तैर्मधुरालापैरुपदेशशतादिभिः । वैराग्यजनकैर्वाक्यैः स्वदीक्षायै ह्यबोधयत् ॥४२॥

आपको नमस्कार है ॥२८॥ आप अद्भुत वीर्यशाली हैं, कुमारकालसे ही ब्रह्मचारी हैं, लौकिक साम्राज्य लक्ष्मीसे विरक्त हैं और शाश्वत मोक्षलक्ष्मीमें अनुरक्त हैं, अतः आपको नमस्कार है ॥२९॥ हे गुरुओंके गुरु, आपको नमस्कार है, हे योगियोंके पूज्य, आपको नमस्कार है, हे समस्त विश्वके मित्र, आपको नमस्कार है और हे स्वयं बोधिको प्राप्त हुए भगवन्, आपको नमस्कार है ॥३०॥ हे महादातः, इस स्तवनके फलस्वरूप आप इस जन्ममें और परजन्म-जन्मान्तरोंमें भी तप और चारित्रकी सिद्धिके लिए अपने गुणोंके साथ हे नाथ, हमें भी बालकालमें मोहरूपी शत्रुको विनाश करनेवाली सम्पूर्ण शक्ति दीजिए ॥३१-३२॥ इस प्रकार वे देवर्षि लौकान्तिक देव तीन लोकके ज्ञानियोंसे पूजित जगन्नाथ वीर प्रभुकी स्तुति करके, अपनी इष्ट प्रार्थना करके, अपना नियोग पूरा करके, नमस्कार, स्तुति और पूजनसे परम पुण्य उपार्जन करके और भगवान्के चरण-कमलोंको बार-बार नमस्कार करके स्वर्गलोक चले गये ॥३३-३४॥

उन लौकान्तिक देवोंके जाते ही चारों जातिके सभी देवगण घण्टानाद आदि चिह्नोंसे भगवान्का संयमोत्सव जानकर अपनी-अपनी देवियोंके साथ अपने-अपने वाहनोंपर सवार होकर भक्तिके साथ सैकड़ों महोत्सवोंको करते हुए उस कुण्डपुर नगरको आये और उनके वनोंको और सर्व मार्गोंको अवरुद्ध कर वे देव सैनिक अपनी देवियों और अपने वाहनोंके साथ हर्षित हो आकाशमें ठहर गये ॥३५-३७॥ सर्वप्रथम उन सब देवोंने मुक्तिके भर्तार उन वीर प्रभुको सिंहासनपर विराजमान करके क्षीरसागरके जलसे भरे हुए महोन्नत कलशोंके द्वारा परम उत्सवसे, गीत-नृत्य-वादित्र आदिसे, तथा जय-जयनादके कोलाहल पूर्ण शब्दोंके साथ उनका अभिषेक किया ॥३८-३९॥ पुनः त्रिजगत्के भूषणस्वरूप उन वीर प्रभुको उन्होंने दिव्य वस्त्र, आभूषण, और मलयाचलपर उत्पन्न हुई पुष्पमालाओंसे आभूषित किया ॥४०॥ तत्पश्चात् उन वीर प्रभुने महामोहसे व्याप्त चित्तवाली अपनी माताको, दक्ष पिताको और अन्य बन्धु जनोंको वैराग्य-उत्पादक मधुर वचनोंके द्वारा और सैकड़ों प्रकारके उपदेशी वाक्योंसे अलग-अलग सम्बोधित करते हुए महाकष्टसे उन्हें अपनी दीक्षाके लिए समझाया ॥४१-४२॥

ततोऽसौ शिविकां दिव्यां दीप्रां चन्द्रप्रभामिधाम् । सुरेन्द्रनिर्मितां देवः संयमश्रीसुखोत्सुकः ॥४३॥
आरुरोह मुदा शक्रदत्तहस्तावलम्बनः । प्रतिज्ञामिव दीक्षायां त्यक्त्वा बन्धून् श्रिया समम् ॥४४॥
तदारूढो जगन्नाथो विश्वाभरणभूतिभिः । वरोत्तम इवाभासीत्तपोलक्ष्म्याः सुरावृतः ॥४५॥
आदौ तां शिविकामूहुः पदानि सप्त भूमिपाः । ततः खगाधिपा व्योम्नि निन्युः सप्तक्रमान्तरम् ॥४६॥
स्वस्कन्धारोपितां कृत्वा ततोऽमुं त्रिजगत्सुराः । खमुत्पेतुद्रु तं भूत्या धर्मरागरसोत्कटाः ॥४७॥
अहो प्रभोः सुमाहात्म्यं वर्ण्यते किं पृथक्तराम् । तदास्य भुवनाधीशा आसन् युग्यकवाहिनः ॥४८॥
पुष्पवृष्टिं मुदा चक्रुः परितस्तं दिवौकसः । ववौ वायुकुमारोत्थो मरुद् गङ्गाकणान् किरन् ॥४९॥
प्रस्थानमङ्गलान्यस्य प्रपेठुर्देवबन्दिनः । बह्वयः प्रयाणभेर्यश्च सुरैरास्फालितास्तदा ॥५०॥
मोहादिरिजयोद्योगसमयोऽयं जगत्पतेः । इति शक्राज्ञया देवा घोषयामासुरेव तम् ॥५१॥
जयेश नन्द वर्धस्वात्रेति कोलाहलं महत् । भर्तुरग्रे खमारुध्य चक्रुर्हृष्टाः सुरासुराः ॥५२॥
प्रध्वनन्ति नभो व्याप्य देवेन्द्रानककोटयः । नटन्ति सुरनर्तक्यो विचित्रकरणादिभिः ॥५३॥
मोहारिविजयोद्भूतयशोगीतान्यनेकशः । गायन्ति शर्मदानस्य किन्नर्योऽतिकलस्वनाः ॥५४॥
इतोऽमुतः प्रधावन्ति प्रमोदभरनिर्भराः । प्रचलन्ति खमाच्छाद्य ध्वजछत्रादिकोटयः ॥५५॥
पद्मार्पितकरा लक्ष्मीर्व्रजते पुरतो विभोः । सार्धं समङ्गलार्घाभिर्दिक्कुमारीभिरुद्यताः ॥५६॥
इत्याविष्कृतमाहात्म्यो वीज्यमानः प्रकीर्णकैः । श्वेतछत्राङ्कितो मूर्ध्नि देवेन्द्रैः परितो वृतः ॥५७॥

तत्पश्चात् देवेन्द्र-रचित, चन्द्रप्रभा नामकी देदीप्यमान दिव्य पालकीपर संयमरूपी लक्ष्मीके सुख प्राप्त करनेके लिए उत्सुक, और इन्द्रके द्वारा दिया गया है हाथका सहारा जिनको ऐसे श्री वीर जिनदेव राज्यलक्ष्मीके साथ सब बन्धुजनोंको छोड़कर दीक्षामें प्रतिज्ञा-बद्धके समान चढ़े ॥४३-४४॥ उस समय समस्त आभूषणोंकी विभूतिसे युक्त और देवोंसे आवृत वे जगत्के नाथ महावीर प्रभु उस पालकीपर विराजमान होकर ऐसे शोभित हो रहे थे, मानो तपोलक्ष्मीको वरनेके लिए जानेवाले उत्तम वर ही हों ॥४५॥ सर्व प्रथम उस पालकीको राजाओंने सात पद तक उठाया, तत्पश्चात् सात पद तक विद्याधरोंने उठाया और उसके पश्चात् धर्मानुरागके रससे परिपूरित वे सभी देवगण उस पालकीको अपने कन्धोंपर आरोपण करके बड़ी विभूतिके साथ शीघ्र आकाशमें उड़कर ले चले ॥४६-४७॥ अहो, उस प्रभुके महा-माहात्म्यका क्या अलग वर्णन किया जा सकता है, जिसकी कि पालकीको उठानेवाले लोक-नायक इन्द्रादिक हों ॥४८॥ उस समय देवोंने आकाशसे फूलोंकी वर्षा की और वायुकुमार देवोंने गंगाके जलकणोंसे युक्त सुरभित समीर प्रवाहित की ॥४९॥ उस समय देव बन्दी-जनोंने भगवान्के अभिनिष्क्रमण कल्याणक सम्बन्धी मंगल पाठ पढ़े, और देवोंने अनेक प्रयाणभेरियोंको बजाया ॥५०॥ 'जगत्पतिके मोहादि शत्रुओंको जीतनेके उद्योगका यह समय है' इस प्रकारसे इन्द्रकी आज्ञासे उस समय देवोंने उच्च स्वरसे घोषणा की ॥५१॥ उस समय स्वामीके आगे हर्षित हुए सुरासुरोंने 'हे ईश, तुम्हारी जय हो, नन्दो, बर्धो,' इत्यादि शब्दोंको बोलते हुए आकाशको अवरुद्ध कर महान् कोलाहल किया ॥५२॥ उस समय देवेन्द्रोंके कोटि-कोटि बाजे आकाशको व्याप्त करते हुए बजने लगे और नाना प्रकारके हाव-भावोंके साथ देव नर्तकियाँ नृत्य करने लगीं। किन्नरियाँ अति मधुर स्वरसे प्रभुके मोहशत्रुके विजयको प्रकट करनेवाले अनेक प्रकारके सुखद यशोगीत गाने लगीं ॥५३-५४॥ उस समय प्रमोदके भारसे भरे हुए देवगण इधरसे उधर दौड़ रहे थे, और कोटि-कोटि ध्वजा-छत्रादिसे आकाशको आच्छादित करते हुए चल रहे थे, ॥५५॥ प्रभुके आगे कमलोंको हाथमें लिये हुए लक्ष्मीदेवी मंगल द्रव्योंको धारण करनेवाली दिक्कुमारियोंके साथ-साथ आगे चल रही थी ॥५६॥ देवेन्द्रोंके द्वारा जिनके ऊपर चँवर ढोरे जा रहे हैं और मस्तकपर श्वेत छत्र लगाया गया है,

स्रग्वी स्वर्गोपनीतैः संमण्डितोंऽशुकभूषणैः । वीरः पुराद्वनं गच्छन् पौरैरित्यभिनन्दितः ॥५८॥
व्रज सिद्धयै जयारातीन् कुरु कृत्यं जगद्गुरो । शिवपन्थास्तवाद्यास्तु कल्याणकोटिभाग्भव ॥५९॥
केचिद्विचक्षणा वीक्ष्य गच्छतं तं तपोवनम् । अभुक्तभोगसाम्राज्यं जगुरित्थं परस्परम् ॥६०॥
अहो पश्य महच्चित्रमिदमेष यतो जिनेट् । कौमारत्वेऽपि कामारिं हत्वा याति तपोवनम् ॥६१॥
तदाकर्ण्य परे प्राहुरयमेव क्षमोऽत्र भोः । मोहाक्षमदनारातीन् हन्तुं नान्यश्च जातुचित् ॥६२॥
ततः सूक्ष्मधियः केचिदित्यूचुर्भो भवेदिदम् । सर्वं वैराग्यमाहात्म्यं वाह्यान्तः शत्रुनाशकृत् ॥६३॥
ईदृशाः स्वर्गजा भोगाः संपदस्त्रिजगद्भवाः । येन त्यक्तुं च शक्यन्ते हन्तुं पञ्चाक्षतस्कराः ॥६४॥
यतस्त्यजेद् विरक्तोऽत्र तृणवच्चक्रिसंपदः । रागी दारिद्र्यदग्धोऽपि कुटीरं नोज्झितुं क्षमः ॥६५॥
तच्छ्रुत्वान्ये वदन्त्येवमहो सत्यं वचोऽत्र वः । वैराग्येण विना यस्मात्कुतोऽस्य निःस्पृहं मनः ॥६६॥
इत्यादिवचनालापैः केचित्तत्स्तवनं व्यधुः । केचित्पौराः प्रणेमुस्तं पश्यन्त्यन्येऽतिकौतुकात् ॥६७॥
इत्थं स विविधालापैः श्लाघ्यमानः पदे पदे । जनैर्जगत्त्रयीनाथः पुरोपान्तमुपागमत् ॥६८॥
अथातो निर्गते सूनौ जिनाम्बान्तःशुचा हता । वल्लीव दवदग्धाङ्गा तुग्वियोगाग्निना पिता ॥६९॥
रोदनं चेति कुर्वाणा बन्धुभिः सममार्तधीः । विलोपैर्बहुभिर्दुःखात्स पुत्रमनु निर्ययुः ॥७०॥

जो सर्व ओर से देवेन्द्रोंके द्वारा समावृत हैं, जो स्वर्गसे लाये गये मालाओं और वस्त्राभूषणों-से मण्डित हैं और इस प्रकार जिनका माहात्म्य सर्व ओर प्रकट हो रहा है, ऐसे वे वीर भगवान् जब नगरसे वनको जा रहे थे, तब पुरवासियोंने यह कहते हुए उनका अभिनन्दन किया—हे जगद्-गुरो, आप शत्रुओंको जीतें, सिद्धि प्राप्तिके लिए कर्तव्य कार्यको करें, आपका मार्ग सुखमय हो, आप कोटि-कोटि कल्याणोंको प्राप्त हों ॥५७-५९॥ साम्राज्य सुख और स्त्रीभोगको भोगे बिना ही तपोवनको जाते हुए वीर भगवान्को देखकर कितने ही विचक्षण पुरुष परस्परमें इस प्रकारसे वार्तालाप करने लगे—अहो, देखो, यह महान् आश्चर्यकी बात है कि यह जिनराज कुमारावस्थामें ही कामरूपी शत्रुको मारकर तपोवनको जा रहे हैं ॥६०-६१॥ उनकी इस बातको सुनकर दूसरे लोग कहने लगे—अरे, इस लोकमें मोह, इन्द्रिय-भोग और कामशत्रुको मारनेके लिए यह वीर प्रभु ही समर्थ है, और दूसरा कदाचित् भी समर्थ नहीं है ॥६२॥ उनकी यह बात सुनकर कितने ही सूक्ष्म बुद्धिशाली पुरुष बोले—अरे, बाहरी और भीतरी शत्रुको नाश करनेवाले वैराग्यका यह सब माहात्म्य है ॥६३॥ जिससे कि ऐसे स्वर्गीय भोग, और त्रिजगत्की सर्व सम्पदाको भी छोड़नेके लिए और पंचेन्द्रियरूपी चोरोंको मारनेके लिए ये समर्थ हो रहे हैं ॥६४॥ यह परम वैराग्यका ही प्रभाव है कि ये चक्रवर्ती की सम्पदाको विरक्त होकर तृणके समान छोड़ रहे हैं। अन्यथा रागी और दरिद्रतासे युक्त पुरुष तो अपनी जीर्ण पर्णकुटीरको भी छोड़नेके लिए समर्थ नहीं होता है ॥६५॥ उनकी यह बात सुनकर दूसरे लोग कहने लगे—अहो, तुम्हारा कहना सत्य है, क्योंकि वैराग्यके बिना इनका ऐसा निःस्पृह मन कैसे हो सकता है ॥६६॥ इत्यादि वचनालापोंके द्वारा कितने ही लोग उनका स्तवन कर रहे थे, कितने ही पुरवासी लोग उन्हें प्रणाम कर रहे थे और कितने ही लोग अति कौतुकसे उन्हें देख रहे थे ॥६७॥ इस प्रकार लोगोंके द्वारा पद-पदपर अनेक प्रकारके वचनालापोंसे प्रशंसा किये जानेवाले वे तीन जगत्के नाथ नगरके अन्तमें पहुँचे ॥६८॥

इस प्रकार अपने पुत्र वीर कुमारके घरसे चले जाने पर जिन-माता त्रिशला आन्तरिक शोकसे आहत होकर दावाग्निसे जली हुई वेलिके समान होती हुई और पुत्र-वियोगकी अग्निसे पीड़ित सिद्धार्थ पिता भी आर्तचित्त होकर बन्धुजनोंके साथ दुःखसे रोते और मार्ग

हा पुत्र क्व गतोऽद्य त्वं त्यक्त्वा मां मुक्तिरञ्जितः । द्रक्ष्यामि नयनाभ्यां त्वां कदाहं मद्‌उरप्रिय ॥७१॥
त्वद्वियोगं यतोऽत्राहं क्षणमात्रं क्षमा न हि । ततस्त्वामन्तरेणेश जीविष्यामि कथं चिरम् ॥७२॥
हातिकोमलगात्रस्त्वं कथं जेष्यसि दुर्जयान् । सर्वान् परीपहान् घोरानुपसर्गाननेकशः ॥७३॥
दुर्दमेन्द्रियमातङ्गांस्त्रैलोक्यजयिनं स्मरम् । कपायारींश्च धैर्येण केन पुत्र हनिष्यसि ॥७४॥
हासि बालस्त्वमेकाकी कथं स्थास्यसि दुष्करे । भीमारण्ये गुहादौ च क्रूरमांसाशिभिर्भृते ॥७५॥
विलापमिति कुर्वाणां व्रजन्तीं तां स्खलत्क्रमाम् । एत्य दिव्यगिरेत्यूचुर्निरुध्य तन्महत्तराः ॥७६॥
देवि किं वेत्सि नास्येदं चरित्रं त्वं जगद्गुरोः । अयं त्रिजगतीभर्ता सुतस्तेऽद्भुतविक्रमः ॥७७॥
भवाब्धौ पतनात्पूर्वमुद्धृत्यात्मानमात्मवित् । पश्चाद्भव्यान् बहून्नूनमुद्धरिष्यति तीर्थराट् ॥७८॥
पाशैर्बद्धो यथा सिंहस्तिष्ठेज्जातु न दुर्जयः । तथा देवि सुतस्ते च बद्धो मोहादिबन्धनैः ॥७९॥
अत्यासन्नभवप्रान्तो जगदुद्धरणक्षमः । त्वत्सुतो दीनवद् गेहेऽशुभे कुर्यात्कथं रतिम् ॥८०॥
तथा त्रिज्ञाननेत्रोऽयं ज्ञातविश्वो विरक्तधीः । पतेन्मोहान्धकूपेऽस्मिन् मूढवत्केन हेतुना ॥८१॥
विज्ञायेति महादक्षे जहि शोकमघाकरम् । कुरु धर्मं गृहं गत्वा ज्ञात्वानित्यं जगत्त्रयम् ॥८२॥
मूर्खा एव यतः शोकं कुर्वन्तीष्टवियोगतः । दक्षा धर्मं च संवेगात्सर्वानिष्टविघातकम् ॥८३॥
इत्यादि तद्वचः श्रव्यं श्रुत्वा देवी प्रबुद्धधीः । विवेकांशुभिराहत्य स्वान्तःशोकतमो द्रुतम् ॥८४॥

विलाप करते हुए पुत्रके पीछे-पीछे घरसे निकले ॥६९-७०॥ हाय पुत्र, आज तुम मुझे छोड़कर कहाँ जा रहे हो ? हे मुक्तिमें अनुरक्त, हे मेरे हृदयके प्यारे, अब मैं तुम्हें अपने नेत्रोंसे कब देखूँगी ॥७१॥ जब मैं तेरे वियोगको क्षणमात्र भी सहन करनेको समर्थ नहीं हूँ, तब तेरे बिना मैं चिरकाल तक कैसे जीवित रह सकूँगी ॥७२॥ हे पुत्र, तुम अति कोमल शरीरवाले हो, फिर इन दुर्जय परीपह और अनेक प्रकारके घोर उपसर्गोंको कैसे जीतोगे ? इन दुर्दमनीय इन्द्रियरूपी हाथियोंको, त्रैलोक्यविजयी इस कामदेवको, और इन कपायरूपी शत्रुओंको किस धैर्यसे घात करोगे ॥७३-७४॥ हाय पुत्र, तुम अभी बालक हो, फिर इस दुष्कर भयकारी वनमें और क्रूर मांस-भक्षी सिंहादिसे भरे हुए गुफा आदिमें कैसे रहोगे ॥७५॥ इस प्रकारसे विलाप करती और भगवान्‌के पीछे-पीछे गिरती-पड़ती जाती हुई उस त्रिशला माताको उसके महत्तर पुरुषोंने आकर और आगे जानेसे रोककर दिव्य वाणीसे इस प्रकार कहा—हे देवि, क्या तुम इस जगद्-गुरुके इस चरित्रको नहीं जानती हो ? तेरा यह पुत्र तीन लोकका स्वामी है और अद्भुत पराक्रमी है ॥७६-७७॥ यह तीर्थंकर हैं, यह आत्मवेत्ता पहले संसार-सागरमें पतनसे अपना उद्धार करके पीछे बहुत-से भव्य जीवोंका निश्चयसे उद्धार करेंगे ॥७८॥ जैसे दुर्जय सिंह कभी भी पाशोंसे बँधा हुआ नहीं रह सकता है, उसी प्रकार हे देवि, तुम्हारा यह पुत्र भी मोह आदिके बन्धनोंसे बँधा हुआ घरमें कैसे रह सकता है अर्थात् नहीं रह सकता है ॥७९॥ इनका संसार अति निकट आ गया है, यह जगत्‌के उद्धार करनेमें समर्थ तुम्हारा पुत्र दीन जनके समान इस अशुभ घरमें कैसे प्रीति कर सकता है ॥८०॥ यह तुम्हारा पुत्र तीन ज्ञानरूप नेत्रोंका धारक है, संसारका ज्ञाता है, संसारसे विरक्त चित्तवाला है। फिर यह किस कारणसे मूढ़जनके समान इस मोहरूप अन्धकूपमें गिरेगा ॥८१॥ ऐसा जानकर हे महाचतुर माता, पापका आकर (खानि) इस शोकको छोड़ो और घर जाकर तथा इस तीन जगत्‌को अनित्य जानकर धर्मका आचरण करो ॥८२॥ क्योंकि इष्ट जनोंके वियोगसे मूर्ख लोग ही शोकको करते हैं। किन्तु जो चतुर पुरुप होते हैं, वे संवेगसे सर्व अनिष्टोंके विघातक धर्मका पालन करते हैं ॥८३॥ इत्यादि प्रकारके उद्‌बोधक और श्रवणीय महत्तरोंके वचनोंको सुनकर प्रबुद्ध बुद्धि वह देवी विवेकरूपी किरणोंसे अपने मनके शोकरूपी अन्ध-

धृत्वा स्वहृदये धर्मं संवेगाङ्कितविग्रहा । बन्धुभिः सह भृत्यैश्च जगाम निजमन्दिरम् ॥८५॥
जिनेन्द्रो नातिदूरं खमुत्पत्य नेत्रगोचरम् । जनानां मङ्गलारम्भैर्यथोक्तैः संयमाप्तये ॥८६॥
आजगाम सुरैः सार्धं वनं खण्डामिधं महत् । सच्छायं सफलं रम्यं ध्यानाध्ययनवृद्धिदम् ॥८७॥
तत्रैकस्मिन् शिलापट्टे चन्द्रकान्तमये शुचौ । देवैः प्राग्निर्मिते वृत्ते द्रुमौघच्छायशीतले ॥८८॥
चन्दनद्रवदत्ताच्छच्छटामङ्गलमण्डिते । इन्द्राणीकरविन्यस्तरत्नचूर्णोपहारके ॥८९॥
केतुमालावृताकाशे विचित्रपटमण्डपे । धूपधूमात्तदिग्भागे पर्यन्तधृतमङ्गले ॥९०॥
यानादवातरद् वीरो वीरकर्मात्तमानसः । निराकाङ्क्षी शरीरादौ साकाङ्क्षी मोक्षसाधने ॥९१॥
अथ शान्ते जनक्षोभे तत्रासीन उदङ्मुखः । सर्वत्रारातिमित्रादौ समतां भावयन् पराम् ॥९२॥
क्षेत्रादीन् दशवाह्यस्थानुपधींश्चेतनेतरान् । मिथ्यात्वाद्यन्तरङ्गांश्च चतुर्दशातिदुस्त्यजान् ॥९३॥
वस्त्राभरणमाल्यानि त्रिशुद्धया मोहहानये । अत्यजन्निःस्पृहोऽङ्गादौ सस्पृहः स्वात्मशर्मणि ॥९४॥
ततः सिद्धान्नमस्कृत्य पल्यङ्कासनमाश्रितः । मोहपाशानिवालुञ्चत्केशौघान् पञ्चमुष्टिभिः ॥९५॥
विरम्य सर्वसावद्यान्मनोवाक्कायकर्मभिः । अष्टाविंशतिमेवाद्यान् सारान्मूलगुणान् परान् ॥९६॥
आतापनादियोगोत्थान् नानोत्तरगुणान् वरान् । व्रतानि समितीर्गुप्तीः स्वीकृत्य सकला जिनेट् ॥९७॥
सर्वत्र समतापन्नः सामायिकाख्यसंयमम् । कृत्स्नदोषातिगं सारं स्वीचकार गुणाकरम् ॥९८॥

कारको शीघ्र दूर कर अपने हृदयमें धर्मको धारण कर संवेगसे व्याप्त शरीरवाली वह माता बन्धुजनों और सेवकोंके साथ अपने राजमन्दिरको वापस लौट आयी ॥८४-८५॥

तदनन्तर यथोक्त मांगलिक आयोजनोंसे मनुष्योंके नेत्रगोचर आकाशमें न अतिदूर, न अतिसमीप जाते हुए वीर जिनेन्द्र संयमकी प्राप्तिके लिए देवोंके साथ ज्ञातृखण्ड नामक महावनमें पहुँचे, जो कि उत्तम छायावाला, फल-युक्त, रमणीय और ध्यान-अध्ययनकी वृद्धि करनेवाला था ॥८६-८७॥ उस वनमें देवोंके द्वारा पहले ही निर्माण किये गये एक गोल चन्द्रकान्तमयी पवित्र शिलापट्टपर वीर भगवान् पालकीसे उतरकर जा विराजे। वह शिलापट्ट वृक्षोंके समूहकी छायासे शीतल था, घिसे हुए चन्दनके रससे जिसपर छींटे दिये गये थे, सांथिया आदि मंगल-चिह्नोंसे जो मण्डित था, इन्द्राणीके हाथों रत्नोंके चूर्णसे जिसपर नन्द्यावर्त आदि बनाये गये थे, जिसके ऊपर चित्र-विचित्र वस्त्रोंका मण्डप शोभायमान था और जो ध्वजा-पंक्तियोंसे आकाशको व्याप्त कर रहा था, जिसके सर्व ओर दिशाओंमें धूपका सुगन्धित धुआँ फैल रहा था और जिसके चारों ओर मंगलद्रव्य रखे हुए थे ॥८८-९०॥ वीर कार्य करनेमें जिनका मन संलग्न है, जो शरीरादिकमें आकांक्षा-रहित हैं और मोक्षके साधनमें आकांक्षा-युक्त हैं, ऐसे श्री वीरप्रभु जन-संक्षोभ (कोलाहल) के शान्त हो जानेपर उस शिलापट्टके ऊपर उत्तर दिशाकी ओर मुख करके विराजमान हुए। उस समय वे शत्रु-मित्रादि सर्व प्राणियों पर परम समता भावकी भावना कर रहे थे ॥९१-९२॥ तभी उन्होंने क्षेत्र-वास्तु आदि दशों प्रकार के चेतन-अचेतन परिग्रहोंको तथा अति दुःखसे छोड़े जानेवाले मिथ्यात्व आदि चौदह प्रकारके अन्तरंग परिग्रहोंको एवं वस्त्र, आभूषण और माला आदिको शरीरादिमें निःस्पृह और स्वात्मीय सुखमें सस्पृह होते हुए मोहके नाश करनेके लिए मन-वचन-कायकी शुद्धिपूर्वक सर्वदाके लिए परित्याग कर दिया ॥९३-९४॥ तत्पश्चात् पद्मासनसे बैठकर तथा सिद्धोंको नमस्कार कर मोह-पाशके समान अपने केश-समूहको पाँच मुट्ठियोंसे उखाड़कर फेंक दिया और मन-वचन-कायके द्वारा सर्व सावद्यों (हिंसादि पापों) का परित्याग कर सर्व गुणोंके आधारस्वरूप सारभूत अट्ठाईस परम मूल गुणोंको, आतापन आदि योगोंसे उत्पन्न होनेवाले नाना प्रकारके उत्तर गुणोंको, पंच महाव्रतोंको, पंच समितियोंको और तीनों गुप्तियोंको वीर जिनराजने स्वीकार करके सर्वत्र समताभावको प्राप्त होकर सर्व दोषोंसे

इत्यसौ मार्गशीर्षस्य कृष्णपक्षेऽप्यपराह्णके । हस्तोत्तरर्क्षयोर्मध्यभागं चन्द्रे समाश्रिते ॥९९॥
दशम्यां सुमुहूर्तादौ मुक्तिकान्तासखीं पराम् । एकाकी ह्याददे जैनीं दीक्षां मुक्त्यै सुदुर्लभाम् ॥१००॥
केशान् भगवतो मूर्ध्नि चिरवासात्पवित्रितान् । मत्वा प्रतीक्ष्य देवेशो निधाय पाणिना स्वयम् ॥१०१॥
स्फुरद्रत्नपटल्यां हि मुदाभ्यर्च्य पिधाय च । दिव्यांशुकेन नीत्वा सा सुरै रम्यैर्महोत्सवैः ॥१०२॥
क्षीरोदाब्धेः पवित्रस्य निसर्गेण शुचौ जले । न्यक्षिपत् परया भूत्या बहुमानशुभाप्तये ॥१०३॥
यद्यहो कालवालौघाः पूजां प्राप्ता जिनाश्रयात् । तर्हि तस्मान्न किं पुंसां जायते स्वेष्टसाधनम् ॥१०४॥
लभन्तेऽत्र यथा यक्षा जिनांह्रयब्जाश्रयान्महम् । तथा नीचजनाः पूजां दुर्लभां चार्हदाश्रिताः ॥१०५॥
जातरूपस्तदा ह्येष तप्तकाञ्चनभावपुः । निसर्गैः कान्तिदीप्त्याद्यैस्तेजोराशिरिवाबभौ ॥१०६॥
ततस्तुष्टाः सुराधीशाः स्तोतुमारेभिरे मुदा । इत्युच्चैस्तद्गुणग्रामैः श्रीवीरं परमेष्ठिनम् ॥१०७॥
त्वं देव परमात्मात्र जगतां गुरुरूर्जितः । गुणाकरो जगन्नाथो निर्जितारिः सुनिर्मलः ॥१०८॥
ये गुणा गणनातीता अशक्याः स्तोतुमद्भुताः । देव ते श्रीगणेन्द्राद्यैः सर्वेऽसाधारणा भुवि ॥१०९॥
स्तूयन्ते ते कथं ह्यस्मद्विधैरल्पधियान्वितैः । मत्वेति नो मनो दोलायतेऽत्यन्तं भवत्स्तुतौ ॥११०॥
तथापि निर्भरा यैका भक्तिरस्ति तवोपरि । सैवेश त्वत्स्तवेऽत्रास्मान्मुखरीकुरुते हठात् ॥१११॥
बहिरन्तर्मलापायान्निर्मला गुणराशयः । स्फुरन्ति तेऽद्य योगीश निर्मेघेन करा इव ॥११२॥

रहित और सर्व गुणोंका आकर ऐसा सामायिक नामका सारभूत संयम अंगीकार किया ॥९५–९८॥ इस प्रकार मार्गशीर्षमासके कृष्णपक्षकी दशमीके दिन अपराह्णकालमें उत्तरा और हस्त नक्षत्रके मध्यभागमें चन्द्रमाके आश्रित होनेपर उत्तम मुहूर्तमें वीरप्रभुने अकेले ही मुक्तिकान्ताकी परम सखी और अतिदुर्लभ ऐसी जैनी दीक्षाको मुक्ति-प्राप्तिके लिए धारण किया ॥९९-१००॥ भगवान्‌के मस्तकपर चिरकाल तक निवास करनेसे केशोंको अति पवित्र मानकर देवेन्द्रने उन्हें स्वयं उठाकर हर्षसे उनकी पूजा कर और प्रकाशमान रत्नोंकी पिटारीमें रखकर तथा उसे दिव्य वस्त्रसे ढककर देवोंके साथ रमणीक महोत्सव करते हुए उस रत्न-पिटारीको पवित्र क्षीरसागरके स्वभावतः पवित्र जलमें परम विभूतिसे बहु सम्मान्य पुण्यकी प्राप्तिके लिए निक्षेपण किया ॥१०१–१०३॥ अहो, यदि जिनेश्वरके आश्रयसे ये काले अचेतन बालोंका समूह पूजाको प्राप्त हुआ, तो सचेतन पुरुषोंको उनसे क्या इष्ट साधन नहीं होगा? अर्थात् जिनेश्वरके आश्रयसे मनुष्योंको सभी इष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होंगी ॥१०४॥ जिस प्रकार इस लोकमें यक्ष देव जिनदेवमें चरण-कमलोंके आश्रयसे सम्मानको पाते हैं, उसी प्रकार अर्हन्त देवका आश्रय लेनेवाले नीचजन भी दुर्लभ पूजाको प्राप्त करते हैं ॥१०५॥

उस समय सन्तप्त सुवर्ण कान्तिवाले शरीरके धारक यथा जातरूपवाले वीर भगवान् नैसर्गिक कान्ति और दीप्ति आदिके द्वारा तेजोराशिके समान शोभित हुए ॥१०६॥ तब परम सन्तोषको प्राप्त हुए देवेन्द्रोंने हर्षसे उनके गुण-ग्रामों द्वारा श्री वीर परमेष्ठीकी इस प्रकार उच्च स्वरसे स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥१०७॥ हे देव, इस संसारमें तुम ही परमात्मा हो, तुम ही तीनों जगत्‌के महान् गुरु हो, तुम ही गुणोंके सागर हो, जगन्नाथ हो, शत्रुओंके जीतनेवाले हो और अति निर्मल हो ॥१०८॥ हे देव, आपके जो गणनातीत (असंख्यात) गुण हैं, वे अद्भुत हैं, संसारमें वे असाधारण हैं, उनकी स्तुति करनेके लिए श्री गणधर देवादि भी अशक्य हैं, तो फिर अल्प बुद्धिसे युक्त हमारे-जैसे लोगोंके द्वारा उनकी कैसे स्तुति की जा सकती है, यह समझकर हमारा मन आपकी स्तुति करनेमें झूलाके समान झोंके खा रहा है ॥१०९-११०॥ तथापि हे ईश, आपके ऊपर हमारी जो एक निश्चल भक्ति है, वही हमें आपकी स्तुति करनेके लिए हठात् वाचालित कर रही है ॥१११॥ हे योगीश, बाह्य और आन्तरिक मलके विनाशसे आपकी यह निर्मल गुणोंकी

आद्यन्तदुःखसन्मिश्रं चलं वैषयिकं सुखम् । त्यक्त्वेहतः स्वात्मजं सौख्यं परं ते क्व निरीहता ॥११३॥
पूतिगन्धे कुरामाङ्गे संगं मुक्त्वा प्रकुर्वतः । मुक्तिनार्यां महारागं कथं ते रागविच्युतिः ॥११४॥
हेयादेयं स्फुटं ज्ञात्वा त्यक्त्वा हेयं निजात्मगम् । आदेयं भजतो नाथ कुतस्ते समभावना ॥११५॥
दृषदो रत्नसंज्ञान् विहायानर्घ्यमहामणीन् । दृष्ट्यादीन् दधतो देव लोभमुक्तिः कथं तव ॥११६॥
क्षणध्वंस्यघदं राज्यं हत्वा नित्यं च्युतोपमम् । इच्छतस्त्रिजगद्राज्यं क्वार्च्यते निःस्पृहं मनः ॥११७॥
चलां लक्ष्मीं परित्यज्य परां लोकाग्रजां श्रियम् । ईहतस्ते कुतो लोकेऽत्राशामुक्तिर्जगत्प्रभो ॥११८॥
विवातान्मदनाराते रतिप्रीत्योः प्रकुर्वतः । वैधव्यं ब्रह्मबाणैस्ते क्व देव हृदये कृपा ॥११९॥
कृत्स्नकर्मारिसंतानं घ्नतो ध्यानमहेषुभिः । मोहभूपतिना सार्धं क्व ते नाथ दया हृदि ॥१२०॥
त्यक्त्वा बन्धून्निजान् स्वल्पान् जगतां बन्धुतां पराम् । कुर्वतः स्वगुणैर्देव कथं ते बन्धुविच्युतिः ॥१२१॥
भोगान् भुजङ्गभोगाभांस्त्यक्त्वा दक्ष प्रकुर्वतः । शुक्लध्यानसुधापानं कुतस्ते प्रोषधव्रतम् ॥१२२॥
विध्यापितजगत्तापा पुण्यधारेव पावनी । त्वदीयेयं महादीक्षा नः पुनातु बुधार्चिता ॥१२३॥
प्रव्रज्यां जगतां शुद्धां पवित्रीकरणक्षमाम् । त्रिशुद्ध्या दधते तुभ्यं नमो मुक्तिस्पृहयालवे ॥१२४॥
निःस्पृहायाङ्गशर्मादौ सस्पृहाय शिवाध्वनि । तपःश्रीसंजुषे त्यक्तद्विधासङ्गाय ते नमः ॥१२५॥
सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्ररत्नत्रितयभूषणैः । अनर्घ्यैर्भूषितायेश नमो निर्भूषणात्मने ॥१२६॥

राशि आज मेघ-रहित सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशमान हो रही है ॥११२॥ हे भगवन्, आदि और अन्तमें दुःखोंसे मिश्रित, चंचल विषय-जनित सुखको छोड़कर स्वात्मज उत्कृष्ट सुखकी इच्छा करनेवाले आपके निःस्पृहपना कहाँ सम्भव है ॥११३॥ अत्यन्त दुर्गन्धियुक्त स्त्रियोंके खोटे शरीरमें रागको छोड़कर मुक्तिरमणीमें महारागको करनेवाले आपके राग-रहित (वीतराग) कैसे माना जाये ॥११४॥ हेय और उपादेयको स्पष्ट जानकर हेयको छोड़कर उपादेय निज आनन्दको स्वीकार करनेवाले आपके हे नाथ, समभावना कहाँ है ॥११५॥ रत्न नामधारी पत्थरोंको छोड़कर सम्यग्दर्शनादि अमूल्य महामणियोंको ग्रहण करनेवाले आपके हे देव, लोभ-मुक्ति कैसे मानी जाये ॥११६॥ क्षण-भंगुर, और पाप-वर्धक इस लौकिक राज्यको छोड़कर नित्य और अनुपम तीन जगत्के साम्राज्य की इच्छा करनेवाले आपका मन निःस्पृह कैसे माना जा सकता है ॥११७॥ हे जगत्प्रभो, लौकिक चंचल लक्ष्मीको छोड़कर सर्वोत्कृष्ट लोकाग्रनिवासिनी मुक्ति लक्ष्मीको चाहनेवाले आपके संसारमें आशा-रहितपना कैसे सम्भव है ॥११८॥ कामदेवरूपी शत्रुको ब्रह्मचर्यरूप बाणोंके द्वारा मार देनेसे रति और प्रीतिको विधवा बनानेवाले आपके हृदयमें हे देव, दया कहाँ है ॥११९॥ ध्यानरूपी महाबाणोंके द्वारा समस्त कर्मशत्रुओंकी सन्तानका मोह-भूपतिके साथ विनाश करनेवाले आपके हृदयमें हे नाथ, करुणा कहाँ है ॥१२०॥ अपने थोड़े-से बन्धुओंको छोड़कर अपने गुणोंके द्वारा सारे जगत्के जीवोंके साथ परम बन्धुताको करनेवाले आपके हे देव, बन्धु-वियुक्तता कैसे सम्भव है ॥१२१॥ हे दक्ष, सर्पफणाके सदृश विषयुक्त भोगोंको छोड़ करके शुक्लध्यानरूपी अमृतपानको करते हुए आपके प्रोषधव्रत कैसे सम्भव है ॥१२२॥ पुण्यधाराके समान जगत्के सन्तापोंको शान्त करनेवाली, पवित्र और विद्वत्पूजित आपकी यह महादीक्षा हम सब लोगोंको पवित्र करे ॥१२३॥ तीनों लोकोंको पवित्र करनेमें समर्थ ऐसी शुद्ध दीक्षाको मन-वचन-कायकी शुद्धिसे धारण करनेवाले और मुक्तिके इच्छुक आपके लिए नमस्कार है ॥१२४॥ शारीरिक सुखादिमें निःस्पृह और शिवमार्गमें सस्पृह, तपःश्रीसे संयुक्त और द्विविध परिग्रहके त्यागी हे भगवन्, आपको नमस्कार है ॥१२५॥ अनमोल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय-आभूषणोंसे भूषित हे ईश, निर्भूषण आत्मस्वरूपवाले तुम्हारे लिए नमस्कार

निरस्ताखिलवस्त्राय दिगम्बरधराय च । नमस्तुभ्यं महैश्वर्यसाधनोद्यतचेतसे ॥१२७॥
सर्वसङ्गविमुक्ताय युक्ताय गुणसंपदा । महते मुक्तिकान्ताय नमस्तुभ्यं जिनेश्वर ॥१२८॥
नमोऽक्षातीतशर्माक्तमानसाय विरागिणे । उपोषिताय ते नाथ शुक्लध्यानामृताशिने ॥१२९॥
नमोऽद्य दीक्षितायार्च्य ते चतुर्ज्ञानचक्षुषे । स्वयंबुद्धाय तीर्थेशे सद्बालब्रह्मचारिणे ॥१३०॥
विमुखायाखिलाक्षादौ सम्मुखाय चिदात्मनि । निश्चिन्ताय नमस्तुभ्यं मुक्तौ चिन्ताविधायिनि ॥१३१॥
नमः कर्मारिसंतानघातिने गुणसिन्धवे । नमस्तुभ्यं महाक्षान्त्यादिसुलक्षणशालिने ॥१३२॥
अनेन स्तवनेनेड्य जगदाशाप्रपूरण । नार्थयामो जगल्लक्ष्मीं त्वां वयं किं तु देव नः ॥१३३॥
भवदीयामिमां शक्तिं तपोदीक्षाविधायिनीम् । बालत्वे त्वद्गुणैः सार्धं देहि मुक्त्यै भवे भवे ॥१३४॥
इति स्तुत्वा तमभ्यर्च्य मुहुर्नत्वा सुराधिपाः । उपार्ज्य बहुधा पुण्यं नमःपूजास्तवादिभिः ॥१३५॥
कृतकार्याः सुरैः सार्धं सर्वे धर्मात्तमानसाः । स्वस्वास्पदं मुदा जग्मुस्तत्कल्याणकथारताः ॥१३६॥
अथासौ कर्मशत्रुघ्नं ध्यानं योगनिरोधकम् । निश्चलाङ्गो विधायोच्चैस्तस्थौ ह्यश्मोत्थमूर्तिवत् ॥१३७॥
तदैव तेन योगेन चतुर्थज्ञानमूर्जितम् । प्रादुरासीद्विभोर्नूनं केवलज्ञानसूचकम् ॥१३८॥
इति विगतविकारो राज्यभोगादिलक्ष्मीं नरसुरगतिजातां योऽत्र बाल्ये विरक्त्या ।
तृणमिव खलु हित्वा मङ्क्षु जग्राह दीक्षां तमसमगुणकीर्त्या वीरनाथं स्तुवेऽहम् ॥१३९॥

नमस्कार है ॥१२६॥ समस्त प्रकारके वस्त्रोंके त्यागी और दिशारूप अम्बर (वस्त्र) के धारक, तथा महान् ऐश्वर्यके साधनमें उद्यत चित्तवाले आपके लिए नमस्कार है ॥१२७॥ सर्वसंगसे विमुक्त, गुण सम्पदासे युक्त, मुक्तिके महाकान्त हे जिनेश्वर,आपके लिए नमस्कार है ॥१२८॥ अतीन्द्रिय सुखसे युक्त चित्तवाले, विरागी, उपवासी और शुक्लध्यानामृतभोजी आपके लिए हे नाथ, नमस्कार है ॥१२९॥ हे पूज्य, आजके दीक्षित, चार ज्ञानरूप नेत्रके धारक, स्वयंबुद्ध, तीर्थके स्वामी और उत्तम बालब्रह्मचारी, समस्त इन्द्रियसुखोंसे विमुख, चैतन्य आत्माके सम्मुख, निश्चिन्त और मुक्ति प्राप्तिमें चिन्ता करनेवाले, आपके लिए नमस्कार है ॥१३०-१३१॥ कर्म शत्रुओंकी सन्तानका घात करनेवाले, गुणोंके सागर, उत्तमक्षमादि दश लक्षण धर्मके धारण करनेवाले, आपको नमस्कार है ॥१३२॥ हे पूज्य, हे जगदाशाप्रपूरक, इस स्तवनके द्वारा हम आपसे किसी सांसारिक लक्ष्मीकी प्रार्थना नहीं करते हैं। किन्तु हे देव, बालपनेमें भी तपोदीक्षाविधायिनी अपनी इस शक्तिको अपने गुणोंके साथ मुक्तिके लिए भव-भवमें हमें दीजिए ॥१३३-१३४॥

इस प्रकार वे देवोंके स्वामी वीर प्रभुकी स्तुति करके, पूजा करके और बार-बार नमस्कार करके नमन, पूजन और स्तवनादिके द्वारा बहुत प्रकारका पुण्य उपार्जन करके कर्तव्य कार्यको पूर्ण करनेवाले, धर्ममें संलग्न चित्तवाले, और भगवान्‌के दीक्षा-कल्याणककी कथामें निरत वे सभी इन्द्र देवोंके साथ अपने-अपने स्थानोंको चले गये ॥१३५-१३६॥

अथानन्तर वे वीर प्रभु निश्चल अंग होकर, कर्मशत्रुओंका विनाशक, योग-निरोधक ध्यानको धारण करके पाषाणमें उत्कीर्ण मूर्तिके समान ध्यानस्थ हो गये ॥१३७॥ उसी समय ही उस ध्यानयोगके द्वारा वीर प्रभुके उत्कृष्ट चतुर्थ मनःपर्यय ज्ञान प्रकट हुआ जो कि निश्चयसे केवलज्ञानकी प्राप्तिका सूचक है ॥१३८॥

इस प्रकार विकारोंसे रहित जिस वीर प्रभुने बालकालमें ही विरक्त होकर मनुष्य और देवगतिमें उत्पन्न हुई राज्य और भोग आदिकी लक्ष्मीको निश्चयसे तृणके समान छोड़कर शीघ्र ही दीक्षाको ग्रहण किया उस वीरनाथकी मैं अनुपम गुणोंके कीर्तन द्वारा स्तुति करता हूँ ॥१३९॥

वीरो वीरगणाग्रणीर्गुणनिधिर्वीरं हि वीराः श्रिताः
वीरेणाशु समाप्यते वरसुखं वीराय भक्त्या नमः ।
वीरान्नास्त्यपरोऽत्र वीरपुरुषो वीरस्य वीरा गुणाः
वीरे ध्यानमहं भजेऽप्यनुदिनं मां वीर वीरं कुरु ॥१४०॥

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते श्रीवीरवर्धमानचरिते भगवद्दीक्षाकल्याणवर्णनो नाम द्वादशोऽधिकारः ॥१२॥

वीर प्रभु वीर जनोंमें अग्रणी हैं, गुणोंके निधान हैं, ऐसे वीरनाथको वीर पुरुष ही आश्रित होते हैं, वीरके द्वारा शीघ्र ही उत्तम सुख प्राप्त होता है, ऐसे वीर प्रभुके लिए भक्तिसे मेरा नमस्कार है। इस संसारमें वीरनाथसे भिन्न और कोई पुरुष नहीं है, उस वीरके गुण भी वीर ही हैं, ऐसे वीर जिनेन्द्रमें मैं अपना प्रतिदिन ध्यान लगाता हूँ, हे वीर प्रभो, मुझे वीर करो ॥१४०॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्तिविरचित श्री वीरवर्धमान चरितमें भगवान्की दीक्षा-कल्याणकका वर्णन करनेवाला बारहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ ॥१२॥

त्रयोदशोऽधिकारः

निःसङ्गं विगतावाधं मुक्तिकान्तासुखोत्सुकम् । ध्यानारूढं महावीरं वन्दे वीरगुणाप्तये ॥१॥
अथैषोऽतीव शक्तोऽपि षण्मासादितपोविधौ । तथाप्यन्यमुनीनां सच्चर्यामार्गप्रवृत्तये ॥२॥
पारणाहनि योगीन्द्रो धृतिधैर्यवलाधिकः । निरीहोऽत्यन्तभोगादौ मतिं चक्रे तनुस्थितौ ॥३॥
ततो व्रजन् प्रयत्नेन स्वीर्यापथात्तलोचनः । निर्धनोऽयं धनी चैष मनाग् हृदीत्यचिन्तयन् ॥४॥
भावयन् त्रिकसंवेगं कुर्वंस्तोषं सुदानिनाम् । कृतादिदूरमाहारं शुद्धमन्वेषयन् स्वयम् ॥५॥
नातिमन्दं न शीघ्रं च न्यसन् पादं दयार्द्रधीः । क्रमादसौ पुरं रम्यं प्राविशत्कूलसंज्ञकम् ॥६॥
तत्र कूलाभिधो राजा वीक्ष्य पात्रोत्तमं जिनम् । निधानमिव दुष्प्राप्यं प्राप्यानन्दं परं हृदि ॥७॥
त्रिःपरीत्य प्रणम्याशु धृत्वाङ्गपञ्चकं भुवि । तिष्ठ तिष्ठ मुदेत्युक्त्वा प्रतिजग्राह धर्मधीः ॥८॥
ततस्तमुपवेश्योच्चैः स्थानं प्रासुकमूर्जितम् । तत्पादपङ्कजौ शुद्धजलैः प्रक्षाल्य तज्जलम् ॥९॥
पवित्रममिवन्द्याशु प्रपूज्याष्टविधार्चनैः । भक्तिभारेण भूपोऽसौ ननाम शिरसा ततः ॥१०॥
अद्याहं सुकृतीभूतो गार्हस्थ्यं सफलं च मे । पात्रलाभाद्विचिन्त्येति मनःशुद्धिं चकार सः ॥११॥
धन्योऽहं देव नाथाद्य संपवित्रीकृतस्त्वया । स्वागमेन गृहश्चेदमुक्त्वा शुद्धिं व्यधाद् गिरः ॥१२॥

सर्व प्रकारके परिग्रहसे रहित, बाधाओंसे रहित, मुक्तिकान्ताके सुख पानेके लिए उत्सुक और ध्यानावस्थित श्री महावीरको मैं वीर-जैसे गुणोंकी प्राप्तिके लिए वन्दन करता हूँ ॥१॥ अथानन्तर यह महावीर स्वामी छहमासी उपवास आदि तपोंके करनेमें अतीव समर्थ थे, तो भी अन्य मुनियोंको उत्तम चर्यामार्ग बतलानेके लिए पारणाके दिन धृति और धैर्यसे बलशाली, शरीर-भोगादिमें अत्यन्त निःस्पृह उन योगीन्द्र महावीरने शरीर-स्थितिमें बुद्धि की अर्थात् गोचरीके लिए उद्यत हुए ॥२-३॥ तब प्रयत्नके साथ उत्तम ईर्यापथपर दृष्टि रखकर 'यह निर्धन है, और यह धनी है' ऐसा मनमें जरा भी चिन्तवन नहीं करते, संसार, शरीर और भोग इन तीनोंमें संवेग भाते, उत्तम दानियोंको सन्तोष करते, कृत, कारित, उद्दिष्ट आदि दोषोंसे रहित शुद्ध आहारका स्वयं अन्वेषण करते, न अति मन्द और न अति शीघ्र पाद-विन्यास रखते वे दयार्द्र चित्त महावीर प्रभु क्रमसे विचरते हुए कूल नामक रमणीक पुरमें पहुँचे ॥४-६॥ वहाँपर कूल नामक धर्मबुद्धि राजाने सर्व पात्रोंमें श्रेष्ठ वीर जिनको देखकर दुष्प्राप्य निधानको पानेके समान हृदयमें परम आनन्द मानकर उन्हें तीन प्रदक्षिणा देकर और शीघ्र पंच अंगोंको भूमिपर रखते हुए नमस्कार करके 'हे भगवन्, तिष्ठ तिष्ठ' ऐसा कहकर अतिहर्षित होते हुए उन्हें पडिगाहा ॥७-८॥ तत्पश्चात् उस राजाने भगवान्‌को प्रासुक, श्रेष्ठ उच्चस्थान पर बैठाकर शुद्ध जलसे उनके चरण-कमलोंको प्रक्षालन करके उस जलको पवित्र मानकर उसे मस्तकपर लगाया और भक्तिभारसे आठ द्रव्योंके द्वारा उनकी पूजा की और उन्हें नमस्कार किया ॥९-१०॥ पुनः उसने 'हे भगवन्, आपके पदार्पणसे मैं पवित्र हो गया हूँ,' मेरा यह गार्हस्थ्य जीवन सफल हो गया है, पात्रके लाभसे मैं धन्य हूँ, इस प्रकार विचार करते हुए अपनी मनःशुद्धि की ॥११॥ पुनः उसने 'हे देव, मैं धन्य हूँ, हे नाथ, आज आपने मुझे पवित्र कर दिया और आपके आगमनसे यह घर पवित्र हो गया' ऐसा कहकर

पवित्रमद्य गात्रं ये सफलौ करसत्तमौ । पात्रदानेन मत्वेति वपुःशुद्धिं दधे नृपः ॥१३॥
कृतादिदोषनिर्मुक्तामेषणाशुद्धिमूर्जिताम् । प्रासुकान्नभवां सारां योग्यां चक्रे स निर्मलाम् ॥१४॥
इत्येतैर्विधिभेदैः सत्पुण्यार्जननिबन्धनैः । नवभिस्तत्क्षणं भूपो महत्पुण्यमुपार्जयत् ॥१५॥
मद्भाग्येनात्र संपूर्णं पात्रदानं सुदुर्लभम् । इदं जातु विचिन्त्येति श्रद्धां दाने परां व्यधात् ॥१६॥
स्वशक्तिं प्रकटीकृत्य पात्रदाने स उद्ययौ । श्रीरत्नवृष्टिकीर्त्यादींस्तद्दानान्मुक्तयेऽत्यजत् ॥१७॥
शुश्रूषाज्ञायरागाद्यैस्तद्भक्तितत्परोऽजनि । त्यक्त्वाखिलान्यकार्याणि धर्मसिद्धयै नृपोत्तमः ॥१८॥
अयं प्रासुक आहारो दानवेलेयमूर्जिता । विधिनानेन दानं देयं ज्ञानमाप चेत्यसौ ॥१९॥
बहूपवाससंक्लेशान् सहतेऽसौ कथं यमी । विचार्येति कृपां सोऽधात्परया क्षमया समम् ॥२०॥
इति दातृगुणान् सप्तमहाफलकरान् परान् । गृहस्थानां तदा राजा स्वीचकार विशारदः ॥२१॥
ततस्तस्मै सुपात्राय हिताय दातृदेहिनाम् । त्रिशुद्धया विधिना भक्त्या क्षीरान्नदानमूर्जितम् ॥२२॥
प्रासुकं मधुरं भूपः सरसं दोषदूरगम् । तपोवृद्धिकरं शुद्धं ददौ क्षुत्तृड्विनाशकम् ॥२३॥
तदा तद्दानतस्तुष्टा निर्जराः शुभयोगतः । राजाङ्गणे नभोमागाद्रत्नवृष्टिं परां व्यधुः ॥२४॥
अनर्घ्यमणिकोटीनां स्थूलैर्धारावजैर्घनैः । अखण्डैः पुष्पगन्धोदकमिश्रैश्च तमोपहैः ॥२५॥
दुन्दुभीनां निनादा जजृम्भिरे गगने तदा । घोषयन्त इवानेका दातुः पुण्यं यशो महत् ॥२६॥
परं पात्रमिदं दातुस्तारकं भो भवाम्बुधेः । अयं दाता महान् धन्यो यद्गृहमागतो जिनेट् ॥२७॥

उसने अपनी वचनशुद्धि की ॥१२॥ आज मेरा शरीर आपके चरण-स्पर्शसे पवित्र हो गया, पात्रदानसे मेरे ये दोनों श्रेष्ठ हाथ सफल हो रहे हैं, ऐसा मानकर उस राजाने कायशुद्धि की ॥१३॥ पुनः उसने यह कहते हुए आहारशुद्धि प्रकट की कि यह भोजन कृत आदि दोषोंसे रहित है, प्रासुक अन्नसे निष्पन्न हुआ है, सार, योग्य और निर्मल है ॥१४॥ इस प्रकार उत्तम पुण्यके उपार्जनके कारणभूत इन नव प्रकारके भक्तिभेदोंके द्वारा राजाने उस समय महान् पुण्यका उपार्जन किया ॥१५॥ मेरे भाग्यसे आज यहाँ पर यह अत्यन्त दुर्लभ सम्पूर्ण पात्र दानका सुअवसर प्राप्त हुआ है, जो कि अन्यत्र कदाचित् सम्भव नहीं, ऐसा विचार कर उस राजाने दान देनेमें परम श्रद्धा प्रकट की ॥१६॥ अपनी शक्तिको प्रकट करके वह पात्रदानमें उद्यत हुआ। मुक्तिके लिए दान देनेके भावसे उसने लौकिक लक्ष्मी, रत्नवृष्टि और कीर्ति आदिकी इच्छाको छोड़ दिया ॥१७॥ उस समय धर्म-सिद्धिके लिए अन्य समस्त कार्योंको छोड़कर शुश्रूषा, आज्ञा-पालन, पुण्य-राग आदिके द्वारा वह उत्तम राजा भगवान्की भक्तिमें तत्पर हुआ ॥१८॥ यह आहार प्रासुक है, यह उत्तम दान-वेला है, इस विधिसे मुझे दान देना चाहिए, इस प्रकारके आहारदान देनेके ज्ञानको वह राजा प्राप्त हुआ ॥१९॥ संयमी साधु अनेक उपवास-जनित क्लेशको कैसे सहन करते हैं? इस प्रकार विचार कर उस राजाने परम क्षमाके साथ कृपाको धारण किया ॥२०॥ इस प्रकार गृहस्थोंके महाफल-कारक इन उत्तम सात दातारके गुणोंको उस विद्वान् राजाने अंगीकार किया ॥२१॥ तत्पश्चात् उस राजाने वीर प्रभु-जैसे उत्तम सुपात्रके लिए दाताजनोंके हितार्थ मन-वचन-कायकी शुद्धिपूर्वक विधिसे भक्तिके साथ उत्तम, प्रासुक, मधुर, सरस, निर्दोष, तपकी वृद्धि करनेवाला और क्षुधा-तृषाका विनाशक क्षीरान्नका उत्कृष्ट दान दिया ॥२२-२३॥ उस समय उस दानसे सन्तुष्ट हुए देवोंने पुण्ययोगसे राजाके अंगणमें अन्धकार-नाशक अनमोल करोड़ों मणियोंकी स्थूल, अखण्ड, सघन, धारा-समूहोंसे, फूलोंकी सुगन्धिसे मिश्रित जलवर्षाके साथ आकाशसे भारी रत्नवर्षा की ॥२४-२५॥ उस समय दाताके महापुण्य यशकी घोषणा करते हुए अनेक दुन्दुभियोंका शब्द आकाशमें व्याप्त हो गया ॥२६। अहो, दाताको संसार-समुद्रसे तारनेवाले यह जिनेन्द्र परम पात्र हैं, और यह महान् दाता धन्य है, कि जिसके घर जिनराज पधारे

एतद्दानं परं पुंसां स्वर्गमुक्तिनिबन्धनम् । इत्यूचुः सद्गिरो देवा जयादिघोषणैः समम् ॥२८॥
अहो यथेह लभ्यन्ते पात्रदानेन भूतले । रत्नानां कोट्योऽनर्घ्याः शुभ्राः कीर्त्यादयः पराः ॥२९॥
तथामुत्र श्रियोऽनर्घ्याः स्वर्गभोगधरादिषु । नूनं बह्व्यश्च जायन्ते महाभोगादिसंपदः ॥३०॥
तदा राजाङ्गणं सर्वं पूरितं रत्नराशिभिः । विलोक्य निपुणाः केचिदित्थमाहुः परस्परम् ॥३१॥
अहो पश्येदमत्रैव दानस्य प्रवरं फलम् । येनाद्य पूरितं राजमन्दिरं रत्नवर्षणैः ॥३२॥
तच्छ्रुत्वान्ये विदः प्राहुः कियन्मात्रमिदं फलम् । किन्तु स्वर्मुक्तिसौख्याद्या लभ्यन्ते दानतः पराः ॥३३॥
आकर्ण्य तद्वचः केचित्प्रत्यक्षं वीक्ष्य तत्फलम् । पात्रदाने मतिं चक्रुः स्वर्गश्रीभोगदायिनि ॥३४॥
श्रीवर्धमानतीर्थेशो वीतरागहृदा तदा । रागादीन् दूरतस्त्यक्त्वा पाणिपात्रेण संस्थितः ॥३५॥
तनुःस्थित्यै तदाहारं गृहीत्वातो ययौ वनम् । पवित्रं तद्गृहं भूपं कृत्वा दानफलेन च ॥३६॥
तत्सुदानेन भूपोऽपि स्वस्य जन्म गृहाश्रमम् । धनं च सफलं मेने महापुण्यकरं परम् ॥३७॥
तस्य दानानुमोदेन बहवो दानिनोऽपरे । दातृपात्रस्तवाद्यैश्च तत्समं पुण्यमार्जयन् ॥३८॥
जिनेशोऽपि बहून् देशान् नानाग्रामपुराटवीः । वायुवद्विहरन्नित्यं निर्ममत्वः प्रयत्नतः ॥३९॥
एकाकी सिंहवद् रात्रावसद् ध्यानादिसिद्धये । गिरिकन्दरदुर्गश्मशानेषु निर्जनेषु च ॥४०॥
बहून् षष्ठाष्टमादींश्च षण्मासान्तांस्तपोविधीन् । कुर्याद्देवोऽवमोदर्यं कदाचित्पारणाहनि ॥४१॥
सद्वृत्तिपरिसंख्यानं क्वचिद्धत्ते तपोऽद्भुतम् । अलाभायाघहान्यै चतुःपथादिप्रतिज्ञया ॥४२॥

हैं ॥२७॥ यह परमदान पुरुषोंको स्वर्ग और मोक्ष का कारण है, इस प्रकार देवोंने जय-जयकारकी घोषणाके साथ सद् वचन कहे ॥२८॥ अहो, जैसे इस भूतलपर पात्रदानसे अनमोल रत्नोंकी कोटियाँ प्राप्त होती हैं और उत्तम निर्मल कीर्ति आदि प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार परलोकमें भी स्वर्ग और भोगभूमि आदिमें निश्चयसे अनेक अनमोल महाभोगादि सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं ॥२९-३०॥ उस समय रत्नोंकी राशियोंसे सारे राजांगणको पूरित देखकर कितने ही निपुण पुरुष परस्परमें इस प्रकार कहने लगे ॥३१॥ अहो, दानका उत्कृष्ट फल यहींपर ही देखो कि आज यह राजभवन रत्नोंकी वर्षासे परिपूर्ण हो रहा है ॥३२॥ इस बातको सुनकर अन्य ज्ञानीजन बोले—अरे, यह कितना-सा दानका फल है ? दानसे तो स्वर्ग और मोक्षके परम सुखादिक प्राप्त होते हैं ॥३३॥ उनके ये वचन सुनकर और दानके प्रत्यक्ष फलको देखकर कितने ही पुरुषोंने स्वर्गलक्ष्मीके भोगोंको देनेवाले पात्रदानमें अपनी बुद्धिको किया। अर्थात् पात्रदान देनेका निश्चय किया ॥३४॥ उस समय श्रीवर्धमान तीर्थेश रागादिको दूरसे ही छोड़कर वीतराग हृदयसे अवस्थित रहते हुए शरीरकी स्थितिके लिए पाणिपात्र द्वारा आहारको ग्रहण कर और दानके फलसे राजाको और उसके घरको पवित्र करके वनको चले गये ॥३५-३६॥ इस उत्तम दानसे राजाने भी अपना जन्म, अपना गृहाश्रम और महापुण्यकारी अपना धन सफल माना ॥३७॥ उसके दानकी अनुमोदनासे अन्य बहुतसे दानियोंने दाता और पात्रके स्तवन, गुण-गान आदिके द्वारा राजाके समान ही पुण्यका उपार्जन किया ॥३८॥

अथानन्तर वीर जिनेश नाना ग्राम, पुर, अटवी और अनेक देशोंमें वायुके समान निर्ममत्व होकर प्रयत्नके साथ (जीव रक्षा करते) और नित्य विहार करते हुए विचरने लगे ॥३९॥ वे वीर जिन ध्यानादिकी सिद्धिके लिए भयंकर गिरि-गुफा, दुर्ग, श्मशान आदिमें और निर्जन वन-प्रदेशोंमें सिंहके समान एकाकी रात्रिमें निवास करते थे ॥४०॥ वे जिनदेव बेला-तेलाको आदि लेकर छह मास तकके उपवासोंको करने लगे। कभी पारणाके दिन अवमोदर्य (ऊनोदर) तप करते, कभी अलाभ परीषहको जीतनेके लिए चतुष्पथ आदिकी प्रतिज्ञा करके

रसत्यागं तपो दध्यान्निर्विकृत्यादिना क्वचित् । ध्यानाय वनादौ च विविक्तं शयनासनम् ॥४३॥
प्रावृट्काले विधत्तेऽसौ झंझावातादिसंकुले । महायोगं तरोर्मूले धृतिकम्बलवेष्टितः ॥४४॥
चतुष्पथे सरित्तीरे शीतकाले स्थितिं भजेत् । ध्यानाग्निध्वस्तशीतौघः शीतदग्धद्रुमव्रजे ॥४५॥
भानुतीक्ष्णांशुसंतप्ते पर्वताग्रशिलातले । उष्णकाले प्रभुस्तिष्ठेत्सिक्तो ध्यानामृताम्बुभिः ॥४६॥
कायक्लेशं भजन्नेवं शरीरसुखहानये । इत्यसौ षड्विधं चक्रे तपो बाह्यं सुदुस्सहम् ॥४७॥
प्रायश्चित्तातिगो देवो निःप्रमादो जितेन्द्रियः । निर्विकल्पं मनः कृत्वा कायोत्सर्गं विधाय च ॥४८॥
सर्वत्र स्वात्मनो ध्यानं कृत्स्नकर्मवनानलम् । कुर्यात्कर्मारिघाताय परमानन्दकारणम् ॥४९॥
अभ्यन्तरं तपः सर्वं संपूर्णं तस्य जायते । तेनात्मध्यानयोगेन विश्वास्रवनिरोधनात् ॥५०॥
इति तेपे चिरं वीरः सत्तपांसि पराणि च । स्ववीर्यं प्रकटीकृत्य द्वादशैव प्रयत्नतः ॥५१॥
आसीत्क्षमागुणेनासावकम्पः पृथिवीसमः । प्रसन्नेन स्वभावेन निर्मलोऽच्छाम्बुवत्सदा ॥५२॥
दुष्कर्मारण्यदाहे स ज्वलदग्निनिभोऽभवत् । दुर्जयः शत्रुतुल्यश्च कषायाक्षारिघातने ॥५३॥
धर्मबुद्ध्या भजेन्नित्यं महाधर्मविधायिनः । इहामुत्र सुखाब्धीन् स क्षान्त्यादीन् दशलक्षणान् ॥५४॥
क्षुत्तृषादिभवान् सर्वान् जयेद् घोरान् परीषहान् । वनस्थोपद्रवान् शक्त्या वीरोऽतुलपराक्रमः ॥५५॥
महाव्रतानि पञ्चैव भावनासहितानि सः । अतीचाराद्दते दक्षो महाज्ञानाय पालयेत् ॥५६॥

अद्भुत वृत्तिपरिसंख्यान तपको करते, कभी निर्विकृति आदिकी प्रतिज्ञा करके रसपरित्याग तपको करते और कभी ध्यानके लिए वनादि निर्जन प्रदेशोंमें विविक्तशयनासन तपको करते थे ॥४१-४३॥ वे वीरजिन वर्षाकालमें झंझावात आदिसे व्याप्त वृक्षके मूलमें धैर्यरूप कम्बलसे वेष्टित होकर निवास करते, कभी शीतकालमें चौराहोंपर और नदीके किनारे ध्यानरूपी अग्निके द्वारा शीत पुंजको ध्वस्त करते हुए निवास करते थे, जिस शीतकालमें कि प्रचण्ड शीतके द्वारा वृक्षोंके समूह जल जाते थे ॥४४-४५॥ उष्णकालमें वीर प्रभु सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे सन्तप्त पर्वतके शिखरपर अवस्थित शिलातलपर ध्यानामृतरूप जलसे सिंचित रहकर ठहरते थे ॥४६॥ इस प्रकार शारीरिक सुखको दूर करनेके लिए वीर-जिनेन्द्र कायक्लेश तपको धारण करते थे। इन उपर्युक्त छहों प्रकारके सुदुःसह बाह्य तपोंको वीर प्रभुने किया ॥४७॥ वीर जिनेन्द्र सदा प्रमाद-रहित होकर इन्द्रियोंको जीतते थे, अतः प्रायश्चित्त लेनेकी उन्हें कभी आवश्यकता नहीं थी। वे मनको सर्व प्रकारके संकल्प-विकल्पोंसे रहित करके और कायोत्सर्ग करके सर्वकर्मरूप वनको जलानेके लिए अग्निके समान अपनी आत्माका सर्वत्र ध्यान करते थे। इस प्रकार कर्म शत्रुके विघातके लिए परम आनन्दका कारणभूत सर्व प्रकारका अभ्यन्तर तप आत्मध्यानके योगसे और समस्त आस्रवोंके निरोधसे उनके सदा होता रहता था ॥४८-५०॥ इस प्रकार वीर भगवान्ने अपने वीर्यको प्रकट करके प्रयत्नपूर्वक बारहों ही उत्तम तपोंको चिरकाल तक तपा ॥५१॥

उत्तम क्षमागुणके द्वारा वे वीर भगवान् पृथिवीके समान सदा अकम्प रहते थे। और प्रसन्न स्वभावके द्वारा वे सदा स्वच्छ जलके समान निर्मल चित्त रहते थे ॥५२॥ दुष्कर्मरूप वनको जलानेमें वे जलती हुई अग्निके समान थे, कषाय और इन्द्रिय-शत्रुओंको घात करनेमें वे दुर्जय शत्रुके तुल्य थे ॥५३॥ वे भगवान् धर्मबुद्धिसे सदा परमधर्मका आचरण करते थे और इस लोक तथा परलोकमें सुखके सागर ऐसे क्षमादि दश लक्षणधर्मको धारण करते थे ॥५४॥ वे अतुल पराक्रमी वीर प्रभु अपनी शक्तिसे क्षुधा-तृषादि-जनित सर्व घोर परीषहोंको तथा वनमें होनेवाले सभी उपद्रवोंको सहन करते थे ॥५५॥ वे दक्ष प्रभु भावनाओंके साथ, अतीचार-रहित पाँचों ही महाव्रतोंको परम केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिए पालन करते थे ॥५६॥

मातृः प्रवचनस्यैष श्रयेदष्टौ मुदान्वहम् । समित्याद्या हि गुप्त्यन्ताः कर्मपांशुविनाशिनीः ॥५७॥
विश्वोत्तरगुणैः सार्धं सर्वान्मूलगुणान् सुधीः । अतन्द्रितो नयेन्नैव स्वप्नेऽपि मलसंनिधिम् ॥५८॥
इत्यादिपरमाचारालंकृतो विहरन्महीम् । उज्जयिन्याः श्मशानं देवोऽतिमुक्तकाख्यमागमत् ॥५९॥
तत्र रौद्रे श्मशानेऽसौ त्यक्त्वा कायं शिवाप्तये । प्रतिमायोगमाधाय वीरोऽस्थादचलोपमः ॥६०॥
परात्मध्यानसंलीनं मेरुशृङ्गनिभं जिनम् । स्थाणुनामान्तिमो रुद्रोऽधोगामी वीक्ष्य पापधीः ॥६१॥
दौष्ट्यात्तद्धैर्यसामर्थ्यं परीक्षितुमधान्मतिम् । उपसर्गे जिनेन्द्रस्य पापपाकेन तत्क्षणम् ॥६२॥
विकृत्य स्थूलवेतालरूपाण्येपोऽप्यनेकशः । स्वविद्यया जिनं ध्यानाच्चालयितुं समुद्ययौ ॥६३॥
तैर्भयानकरूपाद्यैस्तर्जयद्भिर्दुरीक्षणैः । अट्टहासैः स्फुरद्ध्वानैर्नृत्यद्भिर्विविधैर्लयैः ॥६४॥
व्यात्ताननैश्च तीक्ष्णास्त्रपलहस्तैर्गुरोर्निशि । ध्यानध्वंसकरं चक्रे ह्युपसर्गं सुदुःकरम् ॥६५॥
तस्मिन्नुपद्रवे वीरो मेरुशृङ्ग इवाभवत् । न मनाक् चलितो ध्यानात्तैरुपद्रवकोटिभिः ॥६६॥
ततः पापी स विज्ञाय ह्यचलं श्रीजिनाधिपम् । परैः फणीन्द्रसिंहेभमरुद्वह्न्यादिकैः शठः ॥६७॥
स्वकृतैर्वर्धमानस्य व्यधात्कातरभीतिदम् । उपसर्गं महाघोरमन्यैर्वाक्यैर्भयंकरैः ॥६८॥
तदापि न मनाग्देवः स्वस्वरूपाच्चचाल सः । तरां निजात्मनो ध्यानमालम्ब्यास्थान्महीन्द्रवत् ॥६९॥
ततस्तं धीरतापन्नं ज्ञात्वा दुष्टो महाधियम् । परीषहांश्चकारास्य पापार्जनैकपण्डितः ॥७०॥
किरातसैन्यरूपाद्यैः शस्त्रहस्तैर्भयानकैः । दुःसहैर्विविधाकारैरन्यैः कातरभीतिदैः ॥७१॥

वे कर्म-पाशकी विनाशक पाँच समिति और तीन गुप्ति रूप आठों प्रवचन-माताओंका सदा ही हर्षसे आश्रय ले रहे थे ॥५७॥ वे महाबुद्धिमान् वीर भगवान् समस्त उत्तर गुणोंके साथ सर्व मूलगुणोंको अप्रमादी होकर पालन करते थे और स्वप्नमें भी कभी मलों (अतीचारों) को पास नहीं आने देते थे ॥५८॥ इत्यादि परम आचारसे अलंकृत वीर जिनेन्द्र पृथ्वीपर विहार करते हुए उज्जयिनीके अतिमुक्तक नामके श्मशानमें आये ॥५९॥ उस रौद्र श्मशानमें वीर जिनेश शिव-प्राप्तिके लिए कायका त्याग कर और प्रतिमायोगको धारण कर पर्वतके समान अचल होकर ध्यानस्थ हो गये ॥६०॥ परम आत्मध्यानमें संलीन, मेरु शिखरके समान स्थिर जिनराजको देखकर अधोगामी और पापबुद्धिवालों—स्थाणु नामक अन्तिम रुद्रने दुष्टताके कारण उनके धैर्यके सामर्थ्यकी परीक्षाके लिए पापके उदयसे उसी क्षण उनके ऊपर उपसर्ग करनेका विचार किया ॥६१-६२॥ तब वह अपनी विद्यासे अनेक प्रकारके विशाल वेताल रूपोंको बनाकर जिनदेवको ध्यानसे चलानेके लिए उद्यत हुआ ॥६३॥ उन भयानक रूपादिके द्वारा, तर्जना करनेसे, खोटी दृष्टिसे देखनेसे, अट्टहासोंसे, घोर ध्वनि करनेसे, विविध प्रकार से लययुक्त नृत्योंसे, फाड़े हुए मुखोंसे, तीक्ष्ण शस्त्र और मांसको लिये हुए हाथोंसे उस रात्रिमें उसने जगद्-गुरुके ध्यानको नष्ट करनेवाला अति दुष्कर उपसर्ग किया ॥६४-६५॥ उस उपद्रवके समय वीर जिनेन्द्र मेरु शिखरके समान अचल रहे और उसके उन करोड़ों उपद्रवोंके द्वारा ध्यानसे रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए ॥६६॥ तब उस पापी शठ रुद्रने श्री जिनराजको अविचल जानकर अपनी विक्रियासे बनाये हुए बड़े-बड़े फणावाले साँपोंसे, सिंहोंसे, हाथियोंसे, प्रचण्ड वायुसे और जलती हुई ज्वालाओंसे, इसी प्रकारके अन्य भयंकर रूपोंसे और दुष्ट वाक्योंसे कायरोंको भयभीत करनेवाला महाघोर उपसर्ग श्री वर्धमान जिनेन्द्रके ऊपर किया ॥६७-६८॥ तो भी वीर जिनदेव अपने ध्यानावस्थित स्वरूपसे रंचमात्र भी चल-विचल नहीं हुए। किन्तु निज आत्माके ध्यानका आलम्बन करके सुमेरुके समान अचल बने रहे ॥६९॥ तब पाप-उपार्जन करनेमें अति पण्डित वह दुष्ट रुद्र धीरता युक्त महावीरको जानकर अनेक प्रकारके परीषह और उपसर्गोंको करने लगा ॥७०॥ उसने अपनी विक्रियासे भीलोंकी विकराल सेना बनायी, जिनके हाथोंमें भयानक शस्त्र थे, जो दुःसह और

इत्याद्युपद्रवैर्घोरैर्वेष्टितोऽपि जगत्पतिः । तथापि न मनाक् क्लेशं मनसागान्नगेन्द्रवत् ॥७२॥
चलत्यचलमालेयमहो दैवात् क्वचिद्भुवि । न जातु योगिनां चित्तं ध्यानाद् घोरैरुपद्रवैः ॥७३॥
धन्यास्त एव लोकेऽस्मिन् येषां याति न विक्रियाम् । मनाग्मनः स्थितं ध्याने ह्युपसर्गशतादिभिः॥७४॥
ततो ज्ञात्वा महावीरमचलाकृतिमूर्जितम् । लज्जापन्नः स एवेत्थं तत्स्तुतिं कर्तुमुद्ययौ ॥७५॥
देव त्वमेव लोकेऽस्मिन् वीर्यशाली जगद्गुरुः । वीराग्रणीर्महावीरो महाध्यानी महातपाः ॥७६॥
महातेजा जगन्नाथो जिताशेषपरीषहाः । निःसङ्गो वायुवद्धीरो ह्यचलोऽत्र कुलाद्रिवत् ॥७७॥
क्षमया भूसमो दक्षो गम्भीर इव सागरः । स्वच्छाम्बुवत्प्रसन्नात्मा कर्मारण्येऽनलोपमः ॥७८॥
वर्धमानस्त्वमेवात्र वर्धमानाज्जगत्त्रये । सन्मतिः सार्थकस्त्वं च परमात्मा महाबलः ॥७९॥
अत्र नाथ नमस्तुभ्यमचलाकृतिधारिणे । नमः परात्मने नित्यं प्रतिमायोगशालिने ॥८०॥
इति कृत्वा स्तुतिं तस्य मुहुर्नत्वा पदाम्बुजौ । स महातिमहावीराख्यां विधाय ह्यमत्सरः ॥८१॥
उमयाकान्तया सार्धं नर्तित्वानन्दनिर्भरः । चारित्रचलितो रुद्रो जगाम निजमाश्रयम् ॥८२॥
दुर्जना अप्यहो वीक्ष्य साहसं महतां महत् । तुष्यन्ति योगजं नूनं भूतले का कथा सताम् ॥८३॥
अथ चेटकराजस्य चन्दनाख्यां सुतां सतीम् । वनक्रीडासमासक्तां कश्चित्कामातुरः खगः ॥८४॥
वीक्ष्योपायेन नीत्वाशु गच्छन् पापपरायणः । पश्चाद्भीत्वा स्वभार्याया महाटव्यां व्यसर्जयत् ॥८५॥

अनेक प्रकारके भयावह आकारोंको धारण किये हुए थे, और कायरजनोंको डरानेवाले थे। उनके द्वारा उस रुद्रने भगवान्‌के ऊपर घोर उपद्रव कराये। किन्तु उनके द्वारा सर्व ओरसे वेष्टित भी जगत्पति वीरनाथ मनसे जरा भी क्लेशको नहीं प्राप्त हुए किन्तु सुमेरुके समान स्थिर बने रहे ॥७१-७२॥ आचार्य कहते हैं कि अहो, संसारमें दैवयोगसे क्वचित् कदाचित् पर्वतमाला भले ही चलायमान हो जाये, किन्तु योगियोंका चित्त घोर उपद्रवोंके द्वारा ध्यानसे कभी विचलित नहीं होता है ॥७३॥ इस लोकमें वे पुरुष ही धन्य हैं, जिनका ध्यानमें स्थित मन सैकड़ों-हजारों उपसर्गोंके द्वारा भी रंचमात्र विकारको नहीं प्राप्त होता है ॥७४॥ तब वह रुद्र महावीरको अत्यन्त अचलाकार जान करके लज्जाको प्राप्त होता हुआ इस प्रकारसे उनकी स्तुति करनेके लिए उद्यत हुआ ॥७५॥

हे देव, आप ही इस लोकमें परम वीर्यशाली हैं, जगद्-गुरु हैं, वीर पुरुषोंमें अग्रणी हैं, महान् वीर हैं, महाध्यानी हैं, महान् तपस्वी हैं, महातेजस्वी हैं, जगत्‌के नाथ हैं, समस्त परीषहोंके विजेता हैं, वायुके समान निःसंग हैं, धीर-वीर हैं और कुलाचलके समान अचल हैं ॥७६-७७॥ आप क्षमासे पृथ्वीके समान हैं, दक्ष हैं, सागरके समान गम्भीर हैं, स्वच्छ जलके समान प्रसन्न आत्मा हैं, और कर्मरूप वनको जलानेके लिए अग्निके समान हैं ॥७८॥ आप तीनों लोकोंमें अपने गुणोंसे बढ़ रहे हैं, अतः आप ही यथार्थमें वर्धमान हैं, उन्नत बुद्धिको धारण करते हैं, अतः आप 'सन्मति' इस सार्थक नामवाले हैं, आप ही परमात्मा हैं और महाबली हैं ॥७८-७९॥ हे पूज्य स्वामिन्, अविचल देहके धारण करनेवाले आपके लिए मेरा नमस्कार है, नित्य प्रतिमायोगशाली आप परमात्माके लिए मेरा नमस्कार है ॥८०॥ इस प्रकार वर्धमान जिनकी स्तुति करके और बार-बार उनके चरण-कमलोंको नमस्कार करके 'महतिमहावीर' इस नामको रखकर मत्सर-रहित होकर अपनी उमा कान्ताके साथ आनन्द-निर्भर हो नृत्य करके चारित्रसे चलायमान हुआ वह रुद्र अपने स्थानको चला गया ॥८१-८२॥ आचार्य कहते हैं कि अहो, दुर्जन पुरुष भी महापुरुषोंके योग-जनित महान् साहसको देख करके जब सन्तुष्ट होते हैं, तब भूतलपर सज्जनोंकी तो कथा ही क्या है? अर्थात् वे तो और भी अधिक सन्तोषको प्राप्त होते हैं ॥८३॥

अथानन्तर चेटक राजाकी वनक्रीड़ामें आसक्त, चन्दना नामकी सती पुत्रीको देखकर

मातृः प्रवचनस्यैष अयेदष्टौ मुदान्वहम् । समित्याद्या हि गुप्त्यन्ताः कर्मपांशुविनाशिनीः ॥५७॥
विश्वोत्तरगुणैः सार्धं सर्वान्मूलगुणान् सुधीः । अतन्द्रितो नयन्नैव स्वप्नेऽपि मलसंनिधिम् ॥५८॥
इत्यादिपरमाचारालंकृतो विहरन्महीम् । उज्जयिन्याः श्मशानं देवोऽतिमुक्तकाख्यमागमत् ॥५९॥
तत्र रौद्रे श्मशानेऽसौ त्यक्त्वा कायं शिवाप्तये । प्रतिमायोगमाधाय वीरोऽस्थादचलोपमः ॥६०॥
परात्मध्यानसंलीनं मेरुश्रृङ्गनिभं जिनम् । स्थाणुनामान्तिमो रुद्रोऽधोगामी वीक्ष्य पापधीः ॥६१॥
दौष्ट्यात्तद्धैर्यसामर्थ्यं परीक्षितुमधान्मतिम् । उपसर्गे जिनेन्द्रस्य पापपाकेन तत्क्षणम् ॥६२॥
विकृत्य स्थूलवेतालरूपाण्येषोऽप्यनेकशः । स्वविद्यया जिनं ध्यानाच्चालयितुं समुद्ययौ ॥६३॥
तैर्भयानकरूपाद्यैस्तर्जयद्भिर्दुरीक्षणैः । अट्टहासैः स्फुरद्ध्वानैर्नृत्यद्भिर्विविधैर्लयैः ॥६४॥
व्यात्ताननैश्च तीक्ष्णास्त्रपलहस्तैर्गुरोर्निशि । ध्यानध्वंसकरं चक्रे ह्युपसर्गं सुदुःकरम् ॥६५॥
तस्मिन्नुपद्रवे वीरो मेरुश्रृङ्ग इवाभवत् । न मनाक् चलितो ध्यानात्तैरुपद्रवकोटिभिः ॥६६॥
ततः पापी स विज्ञाय ह्यचलं श्रीजिनाधिपम् । परैः फणीन्द्रसिंहेभमरुद्वह्न्यादिकैः शठः ॥६७॥
स्वकृतैर्वर्धमानस्य व्यधात्कातरभीतिदम् । उपसर्गं महाघोरमन्यैर्वाक्यैर्भयंकरैः ॥६८॥
तदापि न मनाग्देवः स्वस्वरूपाच्चचाल सः । तरां निजात्मनो ध्यानमालम्ब्यास्थान्महीन्द्रवत् ॥६९॥
ततस्तं धीरतापन्नं ज्ञात्वा दुष्टो महाधियम् । परीषहांश्चकारास्य पापार्जनैकपण्डितः ॥७०॥
किरातसैन्यरूपाद्यैः शस्त्रहस्तैर्भयानकैः । दुःसहैर्विविधाकारैरन्यैः कातरभीतिदैः ॥७१॥

वे कर्म-पाशकी विनाशक पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप आठों प्रवचन-माताओंका सदा ही हर्षसे आश्रय ले रहे थे ॥५७॥ वे महाबुद्धिमान् वीर भगवान् समस्त उत्तर गुणोंके साथ सर्व मूलगुणोंको अप्रमादी होकर पालन करते थे और स्वप्नमें भी कभी मलों (अतीचारों) को पास नहीं आने देते थे ॥५८॥ इत्यादि परम आचारसे अलंकृत वीर जिनेन्द्र पृथ्वीपर विहार करते हुए उज्जयिनीके अतिमुक्तक नामके श्मशानमें आये ॥५९॥ उस रौद्र श्मशानमें वीर जिनेश शिव-प्राप्तिके लिए कायका त्याग कर और प्रतिमायोगको धारण कर पर्वतके समान अचल होकर ध्यानस्थ हो गये ॥६०॥ परम आत्मध्यानमें संलीन, मेरु शिखरके समान स्थिर जिनराजको देखकर अधोगामी और पापबुद्धिवालों—स्थाणु नामक अन्तिम रुद्रने दुष्टताके कारण उनके धैर्यके सामर्थ्यकी परीक्षाके लिए पापके उदयसे उसी क्षण उनके ऊपर उपसर्ग करनेका विचार किया ॥६१-६२॥ तब वह अपनी विद्यासे अनेक प्रकारके विशाल वेताल रूपोंको बनाकर जिनदेवको ध्यानसे चलानेके लिए उद्यत हुआ ॥६३॥ उन भयानक रूपादिके द्वारा, तर्जना करनेसे, खोटी दृष्टिसे देखनेसे, अट्टहासोंसे, घोर ध्वनि करनेसे, विविध प्रकारसे लययुक्त नृत्योंसे, फाड़े हुए मुखोंसे, तीक्ष्ण शस्त्र और मांसको लिये हुए हाथोंसे उस रात्रिमें उसने जगद्-गुरुके ध्यानको नष्ट करनेवाला अति दुष्कर उपसर्ग किया ॥६४-६५॥ उस उपद्रवके समय वीर जिनेन्द्र मेरु शिखरके समान अचल रहे और उसके उन करोड़ों उपद्रवोंके द्वारा ध्यानसे रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए ॥६६॥ तब उस पापी शठ रुद्रने श्री जिनराजको अविचल जानकर अपनी विक्रियासे बनाये हुए बड़े-बड़े फणावाले साँपोंसे, सिंहोंसे, हाथियोंसे, प्रचण्ड वायुसे और जलती हुई ज्वालाओंसे, इसी प्रकारके अन्य भयंकर रूपोंसे और दुष्ट वाक्योंसे कायरोंको भयभीत करनेवाला महाघोर उपसर्ग श्री वर्धमान जिनेन्द्रके ऊपर किया ॥६७-६८॥ तो भी वीर जिनदेव अपने ध्यानावस्थित स्वरूपसे रंचमात्र भी चल-विचल नहीं हुए। किन्तु निज आत्माके ध्यानका आलम्बन करके सुमेरुके समान अचल बने रहे ॥६९॥ तब पाप-उपार्जन करनेमें अति पण्डित वह दुष्ट रुद्र धीरता युक्त महावीरको जानकर अनेक प्रकारके परीषह और उपसर्गोंको करने लगा ॥७०॥ उसने अपनी विक्रियासे भीलोंकी विकराल सेना बनायी, जिनके हाथोंमें भयानक शस्त्र थे, जो दुःसह और

इत्याद्युपद्रवैर्घोरैर्वेष्टितोऽपि जगत्पतिः । तथापि न मनाक् क्लेशं मनसागान्नगेन्द्रवत् ॥७२॥
चलत्यचलमालेयमहो दैवात् क्वचिद्भुवि । न जातु योगिनां चित्तं ध्यानाद् घोरैरुपद्रवैः ॥७३॥
धन्यास्त एव लोकेऽस्मिन् येषां याति न विक्रियाम् । मनाग्मनः स्थितं ध्याने ह्युपसर्गशतादिभिः॥७४॥
ततो ज्ञात्वा महावीरमचलाकृतिमूर्जितम् । लज्जापन्नः स एवेत्थं तत्स्तुतिं कर्तुमुद्ययौ ॥७५॥
देव त्वमेव लोकेऽस्मिन् वीर्यशाली जगद्गुरुः । वीराग्रणीर्महावीरो महाध्यानी महातपाः ॥७६॥
महातेजा जगन्नाथो जिताशेषपरीषहाः । निःसङ्गो वायुवद्धीरो ह्यचलोऽत्र कुलाद्रिवत् ॥७७॥
क्षमया भूसमो दक्षो गम्भीर इव सागरः । स्वच्छाम्बुवत्प्रसन्नात्मा कर्मारण्येऽनलोपमः ॥७८॥
वर्धमानस्त्वमेवात्र वर्धमानाज्जगत्त्रये । सन्मतिः सार्थकस्त्वं च परमात्मा महाबलः ॥७९॥
अत्र नाथ नमस्तुभ्यमचलाकृतिधारिणे । नमः परात्मने नित्यं प्रतिमायोगशालिने ॥८०॥
इति कृत्वा स्तुतिं तस्य मुहुर्नत्वा पदाम्बुजौ । स महातिमहावीराख्यां विधाय ह्यमत्सरः ॥८१॥
उमयाकान्तया सार्धं नर्तित्वानन्दनिर्भरः । चारित्रचलितो रुद्रो जगाम निजमाश्रयम् ॥८२॥
दुर्जना अप्यहो वीक्ष्य साहसं महतां महत् । तुष्यन्ति योगजं नूनं भूतले का कथा सताम् ॥८३॥
अथ चेटकराजस्य चन्दनाख्यां सुतां सतीम् । वनक्रीडासमासक्तां कश्चित्कामातुरः खगः ॥८४॥
वीक्ष्योपायेन नीत्वाशु गच्छन् पापपरायणः । पश्चाद्भीत्वा स्वभार्याया महाटव्यां व्यसर्जयत् ॥८५॥

अनेक प्रकारके भयावह आकारोंको धारण किये हुए थे, और कायरजनोंको डरानेवाले थे। उनके द्वारा उस रुद्रने भगवान्के ऊपर घोर उपद्रव कराये। किन्तु उनके द्वारा सर्व ओरसे वेष्टित भी जगत्पति वीरनाथ मनसे जरा भी क्लेशको नहीं प्राप्त हुए किन्तु सुमेरुके समान स्थिर बने रहे ॥७१-७२॥ आचार्य कहते हैं कि अहो, संसारमें दैवयोगसे क्वचित् कदाचित् पर्वतमाला भले ही चलायमान हो जाये, किन्तु योगियोंका चित्त घोर उपद्रवोंके द्वारा ध्यानसे कभी विचलित नहीं होता है ॥७३॥ इस लोकमें वे पुरुष ही धन्य हैं, जिनका ध्यानमें स्थित मन सैकड़ों-हजारों उपसर्गोंके द्वारा भी रंचमात्र विकारको नहीं प्राप्त होता है ॥७४॥ तब वह रुद्र महावीरको अत्यन्त अचलाकार जान करके लज्जाको प्राप्त होता हुआ इस प्रकारसे उनकी स्तुति करनेके लिए उद्यत हुआ ॥७५॥

हे देव, आप ही इस लोकमें परम वीर्यशाली हैं, जगद्-गुरु हैं, वीर पुरुषोंमें अग्रणी हैं, महान् वीर हैं, महाध्यानी हैं, महान् तपस्वी हैं, महातेजस्वी हैं, जगत्के नाथ हैं, समस्त परीषहोंके विजेता हैं, वायुके समान निःसंग हैं, धीर-वीर हैं और कुलाचलके समान अचल हैं ॥७६-७७॥ आप क्षमासे पृथ्वीके समान हैं, दक्ष हैं, सागरके समान गम्भीर हैं, स्वच्छ जलके समान प्रसन्न आत्मा हैं, और कर्मरूप वनको जलानेके लिए अग्निके समान हैं ॥७८॥ आप तीनों लोकोंमें अपने गुणोंसे बढ़ रहे हैं, अतः आप ही यथार्थमें वर्धमान हैं, उत्तम बुद्धिको धारण करते हैं, अतः आप 'सन्मति' इस सार्थक नामवाले हैं. आप ही परमात्मा हैं और महाबली हैं ॥७८-७९॥ हे पूज्य स्वामिन्, अविचल देहके धारण करनेवाले आपके लिए मेरा नमस्कार है, नित्य प्रतिमायोगशाली आप परमात्माके लिए मेरा नमस्कार है ॥८०॥ इस प्रकार वर्धमान जिनकी स्तुति करके और बार-बार उनके चरण-कमलोंको नमस्कार करके 'महतिमहावीर' इस नामको रखकर मत्सर-रहित होकर अपनी उमा कान्ताके साथ आनन्द-निर्भर हो नृत्य करके चारित्रसे चलायमान हुआ वह रुद्र अपने स्थानको चला गया ॥८१-८२॥ आचार्य कहते हैं कि अहो, दुर्जन पुरुष भी महापुरुषोंके योग-जनित महान् साहसको देख करके जब सन्तुष्ट होते हैं, तब भूतलपर सज्जनोंकी तो कथा ही क्या है? अर्थात् वे तो और भी अधिक सन्तोषको प्राप्त होते हैं ॥८३॥

अथानन्तर चेटक राजाकी वनक्रीड़ामें आसक्त, चन्दना नामकी सती पुत्रीको देखकर

स्वैनःकर्मोदयं ज्ञात्वा सा तत्रैव महासती । जपन्ती सन्नमस्कारान् धर्मध्यानपराभवत् ॥८६॥
वनेचरपतिः कश्चित्तामालोक्य धनेच्छया । नीत्वा वृषभसेनस्य समर्पयद्वणिक्पतेः ॥८७॥
श्रेष्ठिभार्या सुभद्राख्या दृष्ट्वा तद्रूपसंपदः । भविता मे सपत्नीयमिति शङ्कां व्यधाद् हृदि ॥८८॥
ततस्तद्रूपहान्यै सा पुराणं कोद्रवोदनम् । आरनालेन सम्मिश्रं शरावे निहितं सदा ॥८९॥
ददती चन्दनायाश्च शृङ्खलाबन्धनं व्यधात् । तत्रापि सा सती दक्षा नात्यजद्धर्मभावनाम् ॥९०॥
अन्येद्युर्वत्सदेशेऽत्र तकौशाम्बीपुरं परम् । कायस्थित्यै महावीरः प्राविशद्रागदूरगः ॥९१॥
पात्रोत्तमं तमालोक्य विच्छिन्नबन्धनाभवत् । तद्दानाय तदा प्रत्युद्व्रजन्ती चन्दना शुभात् ॥९२॥
ततो नीलालिमाकेशभारस्त्रग्भूषणाङ्किता । गत्वा सा विधिना नत्वा प्रतिजग्राह सन्मतिम् ॥९३॥
शीलमाहात्म्यतस्तस्या अभवत्कोद्रवोदनम् । शाल्यन्नं तच्छरावं च पृथुकाञ्चनभाजनम् ॥९४॥
अहो पुण्यविधिः पुंसां विश्वानघटितानपि । घटयत्येव दूरस्थान् मनोऽभीष्टान्न संशयः ॥९५॥
ततोऽस्मै परया भक्त्या तदन्नदानमूर्जितम् । नवप्रकारपुण्याढ्या ददौ सा विधिना मुदा ॥९६॥
तत्क्षणार्जितपुण्येन सा चापाश्चर्यपञ्चकम् । संयोगं बन्धुभिः सार्धं दानात्किं नाप्यतेऽत्र भोः ॥९७॥
जगद्व्यापि यशस्तस्या अभवच्छशिनिर्मलम् । इष्टबन्ध्वादिवस्तूनां सङ्गमोऽभूत्सुदानतः ॥९८॥
अथासौ भगवान् वर्धमानोऽपि विहरन्महीम् । छद्मस्थेन क्रमान्मौनी नीत्वा द्वादशवत्सरान् ॥९९॥

कोई कामातुर और पाप-परायण विद्याधर किसी उपायसे उसे शीघ्र ले उड़ा और आकाश मार्गसे जाते हुए उसने अपनी भार्याके भयसे पीछे किसी महाअटवीमें उसे छोड़ दिया ॥८४-८५॥ तब वह महासती अपने पापकर्मोदयको जानकर पंचनमस्कार मन्त्रको जपती हुई उसी अटवीमें धर्मध्यानमें तत्पर होकर रहने लगी ॥८६॥ वहाँपर किसी भीलोंके राजाने उसे देखकर धन-प्राप्तिकी इच्छासे ले जाकर वृषभसेन नामके वैश्यपतिको सौंप दी ॥८७॥ सुभद्रा नामकी उस सेठकी स्त्री ने उसकी रूप-सम्पदाको देखकर 'यह मेरी सौत बनेगी' ऐसी शंकाको मनमें धारण किया ॥८८॥ तब उसने उसके रूपसौन्दर्यकी हानिके लिए (उसके केश मुँड़ा दिये और) साँकलसे बाँधकर (उसे एक कालकोठरीमें बन्द कर दिया ।) तथा आरनाल (कांजी) से मिश्रित कोदोंका भात मिट्टीके सिकोरेमें रखकर उसे नित्य खानेको देने लगी । ऐसी अवस्थामें भी उस सतीने अपनी धर्मभावनाको नहीं छोड़ा ॥८९-९०॥

किसी एक दिन उन महावीर प्रभुने रागसे रहित होकर शरीर-स्थितिके लिए वत्स-देशकी इस कौशाम्बीपुरीमें प्रवेश किया ॥९१॥ उन उत्तमपात्र महावीर प्रभुको देखकर चन्दनाके भाव दान देनेके हुए। पुण्योदयसे उसके बन्धन तत्काल टूट गये । सिर काले भौंरों-के समान केशभारसे, और शरीर माला-आभूषणोंसे युक्त हो गया । तब उसने सामने जाकर और उन्हें नमस्कार कर सन्मति प्रभुको पडिगाह लिया ॥९२-९३॥ उसके शीलके माहात्म्यसे कोदोंका भात शालि चावलोंका हो गया और वह मिट्टीका सिकोरा विशाल सुवर्णपात्र बन गया ॥९४॥ आचार्य कहते हैं कि अहो, यह पुण्य कर्म पुरुषोंको समस्त अघटित और दूरवर्ती भी अभीष्ट मनोरथोंको स्वयमेव घटित कर देता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥९५॥ तब उस चन्दना सतीने परम भक्तिके साथ नव प्रकारके पुण्योंसे युक्त होकर अर्थात् नवधा भक्तिपूर्वक विधिसे हर्षित होते हुए श्री महावीर प्रभुको वह उत्तम अन्नदान दिया ॥९६॥ इस महान् दानके प्रभावसे उसी समय उपार्जित पुण्यके द्वारा वह पंचाश्चर्योंको प्राप्त हुई और तभी बन्धुओंके साथ उसका संयोग भी हो गया । अहो, पुण्यसे क्या नहीं प्राप्त होता है ॥९७॥ उस चन्दनाका सुदानके प्रभावसे चन्द्रमाके समान निर्मल यश जगत्में व्याप्त हो गया और इष्ट बन्धुजनों और इष्ट वस्तुओंका भी संगम हो गया ॥९८॥

अथानन्तर वर्धमान भगवान् भी महीतलपर विहार करते हुए मौन धारण कर

जृम्भिकाग्रामबाह्यस्थे मनोहरवनान्तरे । ऋजुकूलानदीतीरे महारत्नशिलातले ॥१००॥
प्रतिमायोगमाधायाधोभागे शालभूरुहः । व्यधाद् ध्यानं हृदा षष्ठोपवासी ज्ञानसिद्धये ॥१०१॥
अष्टादशसहस्रौघशीलसन्नाहवर्मितः । भूषितो द्विद्विचत्वारिंशल्लक्षगुणभूषणैः ॥१०२॥
महाव्रताद्यनुप्रेक्षाभावनांशुकमण्डितः । संवेगेभेन्द्रमारूढश्चारित्ररणभूस्थितः ॥१०३॥
रत्नत्रयमहाबाणतपश्चापकराङ्कितः । ज्ञानदृक्कृतसंधानो गुप्त्यादिसैन्यवेष्टितः ॥१०४॥
इत्याद्यपरसामग्र्यालङ्कृतोऽयं महाभटः । कर्मारातीन् बहून् रौद्रानुद्ययौ हन्तुमञ्जसा ॥१०५॥
तत्रादौ कर्महन्तॄणां सिद्धानां निष्कलात्मनाम् । इत्यष्टौ तद्गुणान् ध्यायेत्तद्गुणार्थी शिवाप्तये ॥१०६॥
सम्यक्त्वं क्षायिकं ज्ञानं दर्शनं केवलं परम् । अनन्तं च महद्वीर्यं सूक्ष्मत्वं ह्यवगाहनम् ॥१०७॥
ततोऽगुरुलघुत्वं तथाव्याबाधगुणोत्तमम् । इत्यत्राष्टौ गुणा ध्येया नित्यं सिद्धगुणार्थिभिः ॥१०८॥
पुनर्निर्मलचित्तेन सदाज्ञाविचयादिकान् । धर्मध्यानान्महोत्कृष्टान् ध्यातुमारब्धवान् सुधीः ॥१०९॥
आद्याः कषायचत्वारो मिथ्यात्वप्रकृतित्रयम् । तिर्यगायुश्च देवायुर्नरकायुरमी दश ॥११०॥
कर्मारयोऽस्य भीत्याश्वयत्नान्नाशमगुः स्वयम् । तिष्ठतो हि चतुर्थाद्यप्रमत्तान्तगुणे क्वचित् ॥१११॥
तस्माल्लब्धजयो देवो बृहत्कर्मारिघातनात् । भटोत्तम इवात्यन्तं शुक्लध्यानमहायुधः ॥११२॥
द्रुतं सत्क्षपकश्रेणीं निःश्रेणीं मुक्तिधामनि । आरुरोह महावीरः कर्मारिहननोद्यतः ॥११३॥
स्त्यानगृद्धयाख्यदुष्कर्मनिद्रानिद्राविधिस्ततः । प्रचलाप्रचला श्वभ्रगतिस्तिर्यग्गतिस्तथा ॥११४॥
एकाक्षद्वित्रितुर्येन्द्रियचतुर्जातयोऽशुभाः । श्वभ्रतिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्व्ये तथातपः ॥११५॥

छद्मस्थभावके साथ क्रमसे बारह वर्ष बिताकर जृम्भिका ग्रामके बाहर स्थित मनोहर वनके मध्यमें ऋजुकूलानदीके किनारे महारत्नशिलातलपर शालवृक्षके नीचे प्रतिमायोगको धारण कर, वेलाका नियम लेकर ज्ञानकी सिद्धिके लिए ध्यानावस्थित हुए ॥९९-१०१॥ उस समय अट्ठारह हजार शीलोंके समूहरूप कवचको धारण कर, चौरासी लाख उत्तम सद्-गुणरूप भूषणोंसे भूपित होकर, महाव्रतादि अनुप्रेक्षाभावनारूप वस्त्रसे मण्डित होकर, संवेगरूपी गजेन्द्रपर आरूढ़ होकर, चारित्ररूपी रणभूमिमें अवस्थित होकर, रत्नत्रयरूप महाबाणोंको और तपरूप धनुपको हाथमें लेकर, ज्ञान-दर्शनके द्वारा सन्धानको साधकर, गुप्ति आदि सेनासे वेष्टित होकर, इसी प्रकारकी अन्य सर्व सामग्रीसे अलंकृत हो वे महासुभट महावीर प्रभु अति रौद्र कर्म-शत्रुओंको शीघ्र विनाश करनेके लिए उद्यत हुए ॥१०२-१०५॥ उस समय उन्होंने सर्वप्रथम मोक्षप्राप्तिके लिए सिद्धोंके गुणोंके इच्छुक होकर कर्म-शत्रुओंके हनन करनेवाले निष्कल परमात्मा सिद्धोंके क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त महावीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाध इन आठ उत्तम महागुणोंका ध्यान करना प्रारम्भ किया। जो जीव सिद्धोंके उक्त गुणोंको प्राप्त करनेके इच्छुक हैं, उन्हें नित्य ही उक्त गुणोंका ध्यान करना चाहिए ॥१०६-१०८॥ पुनः महाबुद्धिशाली महावीरने निर्मल चित्तसे आज्ञाविचय आदि परम उत्कृष्ट धर्मध्यानके भेदोंका चिन्तन करना प्रारम्भ किया ॥१०९॥ उस समय उनके आद्य अनन्तानुबन्धी चार कषाय, दर्शन मोहनीयकी मिथ्यात्व आदि तीन प्रकृतियाँ, तिर्यगायु, देवायु और नरकायु ये दश प्रकृतिरूप कर्मशत्रु डर करके ही मानो बिना प्रयत्नके स्वयं ही शीघ्र विनाशको प्राप्त हो गये। जब कि वीरजिन चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातवें गुणस्थान तक किसी एक गुणस्थानमें विराजमान थे ॥११०-१११॥ उक्त दश कर्मप्रकृतियोंके जीतनेसे विजयको प्राप्त वे महावीर भगवान् उत्तम सुभटके समान अत्यन्त पवित्र शुक्लध्यानरूप महान् आयुधको धारण कर शेष कर्मशत्रुओंको हनन करनेके लिए उद्यत होते हुए मोक्ष-महलमें पहुँचनेके लिए नसैनी स्वरूप क्षपकश्रेणीपर शीघ्र चढ़े ॥११२-११३॥ क्षपकश्रेणीपर चढ़ते ही वीरजिनने स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्रा, प्रचला-

उद्योतः स्थावरः सूक्ष्मः साधारण इमाः खलाः । षोडशप्रकृतीर्वीरो जघानेवारिसंचयान् ॥११६॥
सुभटोत्तमवच्चाद्यशुक्लध्यानासिना स्वयम् । अनिवृत्तिकरणस्थानस्याद्ये भागे स्थितो महान् ॥११७॥
भागेऽस्यैव द्वितीयेऽष्टौ कषायान् वृत्तघातिनः । तृतीये क्लीववेदं च चतुर्थे स्त्रीवेदमात्मवान् ॥११८॥
पञ्चमे किल हास्यादिषट्कं भागे च द्वित्रिके । पुंवेदं सप्तमे संज्वलनक्रोधमथाष्टमे ॥११९॥
मानं संज्वलनं वै नवमे मायां तथान्तिमाम् । शुक्लायुधेन तेनैवाहन्नारातीनिर्वाजितः ॥१२०॥
ततो निहतकर्मारिसंतानो बलवान् जिनः । जयभूमिं परां चाप्य गुणस्थानं द्विपञ्चमम् ॥१२१॥
निहत्य सूक्ष्मलोभं सूक्ष्मसाम्परायसंयमी । तुर्यवृत्तेन सोऽभूत्क्षीणकषायी तदाद्भुतः ॥१२२॥
इति मोहमहारातिं कर्मणां पतिमूर्जितम् । हत्वा तत्सेनया सार्धं सोऽभाच्छूराग्रणीरिव ॥१२३॥
अथोत्पत्य गुणस्थानं प्राप्य द्वादशमं जिनेट् । केवलज्ञानसाम्राज्यं स्वीकर्तुमुद्ययौ तराम् ॥१२४॥
निद्रां च प्रचलां सोऽक्षपयद्द्विसमयेऽन्तिमे । गुणस्थानस्य तस्यैव द्वितीयशुक्लयोगतः ॥१२५॥
ज्ञानावरणकर्माणि पटतुल्यानि पञ्चधा । दर्शनावरणान्येव शेषचत्वारि पञ्चधा ॥१२६॥
अन्तराया इमा घातिप्रकृतीश्च चतुर्दश । द्वितीयशुक्लबाणेन जघान त्रिजगद्गुरुः ॥१२७॥
द्विषट्गुणस्थानस्यान्तिमे समये जिनः । इति त्रिषष्टिकर्मप्रकृतीर्हत्वाप केवलम् ॥१२८॥
ज्ञानमन्तातिगं लोकालोकतत्त्वप्रकाशकम् । अनन्तमहिमोपेतं मुक्तिसाम्राज्यकारणम् ॥१२९॥
वैशाखशुक्लपक्षस्य दशम्यामपराह्णके । हस्तोत्तरान्तरं याते चन्द्रे योगादिके शुभे ॥१३०॥

प्रचला, नरकगति, तिर्यग्गति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन अरिसंचयस्वरूप सोलह अशुभ दुष्ट प्रकृतियोंको अनिवृत्तिकरण नामक नवम गुणस्थानके प्रथम भागमें स्थित रहते हुए उत्तम सुभटके समान प्रथम शुक्लध्यानरूपी खड्गके द्वारा एक साथ ही स्वयं नाश कर दिया ॥११४–११७॥ पुनः उन्होंने इसी नवम गुणस्थानके द्वितीय भागमें चारित्रकी घात करनेवाली दूसरी अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और तीसरी प्रत्याख्यानावरण चतुष्क इन आठ कषायोंको विनष्ट किया। पुनः तीसरे भागमें नपुंसकवेदको, चौथे भागमें स्त्रीवेदको, पाँचवें भागमें हास्यादि छह नोकषायोंको, छठे भागमें पुरुषवेदको, सातवें भागमें संज्वलन क्रोधको, आठवें भागमें संज्वलन मानको और नवें भागमें संज्वलन मायाको उन समर्थ आत्मस्वरूपके धारक वीर प्रभुने उसी प्रथम शुक्लध्यानरूप आयुधके द्वारा विनष्ट किया ॥११८–१२०॥ तत्पश्चात् कर्म शत्रुओंकी उक्त सन्तानके विनाश करनेसे बलवान् वीरजिनने परम विजयभूमिके समान दशम गुणस्थानको प्राप्त होकर सूक्ष्म साम्पराय संयमी होते हुए संज्वलन सूक्ष्म लोभका भी विनाश कर चौथे संयमके द्वारा वे क्षीणकषायी हो गये ॥१२१-१२२॥ इस प्रकार अद्भुत पराक्रमशाली वीरजिन कर्मोंके स्वामी प्रबल मोह महाशत्रुका उसकी सेनाके साथ विनाश कर शूराग्रणीके समान शोभाको प्राप्त हुए ॥१२३॥ इसके पश्चात् वे जिनराज क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानमें चढ़कर केवलज्ञानरूपी साम्राज्यको प्राप्त करनेके लिए उद्यत हुए ॥१२४॥ तब उन्होंने इस बारहवें गुणस्थानके चरम समयमें निद्रा और प्रचला इन दो कर्मप्रकृतियोंका द्वितीय शुक्लध्यानसे क्षय किया ॥१२५॥ पुनः ज्ञानके ऊपर वस्त्रके समान आवरण डालनेवाली पाँचों ज्ञानावरण प्रकृतियोंको, चक्षुदर्शनावरणादि शेष चार दर्शनावरण प्रकृतियोंको और पाँचों अन्तरायोंको इन चौदह कर्मप्रकृतियोंको बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें द्वितीय शुक्लध्यानके द्वारा तीन जगत्के गुरु महावीर प्रभुने एक साथ विनष्ट किया और इस प्रकार तिरेसठ कर्मप्रकृतियोंका विनाश करके लोकालोकके तत्त्वोंका प्रकाशक, अनन्त महिमासे युक्त, और मुक्तिरूप साम्राज्यकी प्राप्तिका कारण अनन्त केवलज्ञान वैशाख मासकी शुक्लपक्षकी दशमीके अपराह

सम्यक्त्वं क्षायिकं मोक्षदं यथाख्यातसंयमम् । अनन्तं केवलज्ञानं दर्शनं दानमुत्तमम् ॥१३१॥
लाभभोगोपभोगा वीर्यं चेमा हि च्युतोपमाः । नवकेवललब्धीः स स्वीचकार जिनाग्रणीः ॥१३२॥
इति भगवति वृत्ताग्निर्जितारौ तदैव नभसि जयनिनादो देवसंघैर्जजृम्भे ।
सुरपटहरवौघैरुद्धमासीत्खलोकं भुवनपतिविमानैश्छादितं यात्रयास्य ॥१३३॥
घनकुसुमवृष्टिश्चापतत्खात्सुरेन्द्राः असमपरमभक्त्या श्रीपतिं प्राणमंस्तम् ।
विगतमलविकाराः संबभूवुर्दिशोऽष्टौ गगनममलमासीत् केवलश्रीप्रभावात् ॥१३४॥
मृदुशिशिरतरोऽस्मान्मातरिश्वा ववौ च सकलसुरपतीनां कम्पिरे विष्टराणि ।
समवशरणभूतिं यक्षराडाशु चक्रे ह्यसमगुणनिधे श्रीवर्धमानस्य भक्त्या ॥१३५॥

इत्थं योऽत्र निहत्य घातिकुरिपून् कैवल्यराज्यश्रियं
स्वीचक्रेऽनुपमैः परैर्गुणगणैः अन्तातिगैः क्षायिकैः ।
तन्वन् विश्वसतां प्रमोदमतुलं भव्यैकचूडामणिं
तं लोकत्रयतारणैकचतुरं तद्भूतये संस्तुवे ॥१३६॥

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते श्रीवीरवर्धमानचरिते केवलज्ञानोत्पत्ति-
वर्णनं नाम त्रयोदशोऽधिकारः ॥१३॥

कालमें हस्त और उत्तरा नक्षत्रके मध्यमें शुभचन्द्रयोगके समय शुभलग्न योगादिके होनेपर उन्होंने प्राप्त किया ॥१२६–१३०॥ उसी समय मोक्षको देनेवाला क्षायिक सम्यक्त्व, यथाख्यात संयम, अनन्त केवलज्ञान, अनन्त केवलदर्शन, उत्तम अनन्त दान लाभ भोग उपभोग और अनन्तवीर्य इन उपमारहित नव केवललब्धियोंको जिनोंमें अग्रणी वीरप्रभुने स्वीकार किया ॥१३१-१३२॥

इस प्रकार चारित्रके प्रभावसे भगवान्‌के कर्मशत्रुओंके जीत लेनेपर आकाशमें उसी समय देवसमूहके द्वारा जय-जयकार शब्द व्याप्त हो गया। तथा देवदुन्दुभियोंके शब्दोंसे आकाश व्याप्त हो गया। भगवान्‌की दर्शन-यात्रार्थ आनेवाले भुवनपति-देवोंके विमानोंसे आकाश आच्छादित हो गया ॥१३३॥ केवललक्ष्मीके प्रभावसे आकाशसे सघन पुष्पवृष्टि होने लगी और देवेन्द्रोंने आकर उन श्रीपति महावीर जिनेन्द्रको अनुपम परम भक्तिसे नमस्कार किया। उस समय आठों ही दिशाएँ मल-विकारसे रहित (निर्मल) हो गयीं और आकाश भी निर्मल हो गया ॥१३४॥ उस समय मृदु शीतल समीर मन्द-मन्द बहने लगी और सभी देवेन्द्रोंके आसन कम्पायमान हुए। तभी यक्षराजने आकर अनन्त गुणोंके निधान श्रीवर्धमान जिनेन्द्रकी भक्तिसे शीघ्र समवसरण विभूतिकी रचना की ॥१३५॥

इस प्रकार यहाँ पर जिन्होंने खोटे घातिया कर्मशत्रुओंको मार करके अनुपम, अनन्त क्षायिक गुण-समूहके साथ कैवल्यराज्य-लक्ष्मीको प्राप्त किया, जो संसारके समस्त सज्जनोंके अतुल आनन्दके विस्तारनेवाले हैं, भव्य जनोंमें अद्वितीय चूडामणिरत्नके समान हैं, तीनों लोकोंके तारनेमें एक मात्र कुशल हैं, ऐसे श्रीवीरजिनेन्द्रकी मैं उनकी विभूति पानेके लिए स्तुति करता हूँ ॥१३६॥

इति श्रीभट्टारक सकलकीर्तिविरचित श्रीवीरवर्धमानचरितमें केवलज्ञानकी उत्पत्तिका
वर्णन करनेवाला तेरहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥१३॥

चतुर्दशोऽधिकारः

श्रीवीरं त्रिजगन्नाथं केवलज्ञानभास्करम् । अज्ञानध्वान्तहन्तारं वन्दे विश्वार्थदर्शिनम् ॥१॥
अथ तत्केवलोत्पत्तिप्रभावादभवत्स्वयम् । नादो जिताब्धिनिर्घोषो घण्टोत्थो मधुरोऽद्भुतः ॥२॥
पुष्करैः स्वैस्तथोत्क्षिप्तपुष्करार्घाः सुरद्विपाः । सानन्दा ननृतुः स्वर्गे चलन्तः पर्वता इव ॥३॥
पुष्पाञ्जलीनिवातेनुः पुष्पवृष्टीः सुराङ्घ्रिपाः । रजस्त्यक्ता दिशोऽभूवन्नम्बरं निर्मलं ह्यभूत् ॥४॥
विष्टराणि सुरेशानां सहसा प्रचकम्पिरे । अक्षमाणीव तद्गर्वं सोढुं श्रीकेवलोत्सवे ॥५॥
मौलयो नाकिनाथानां नम्रीभावमगुस्तराम् । इत्यासन् स्वयमाश्चर्याः नाके तत्सूचका इव ॥६॥
विज्ञायैतैः परैश्चिह्नैरिन्द्रास्तत्केवलोदयम् । मुदोत्थायासनान्नम्रास्तद्भक्त्यासन् वृषोत्सुकाः ॥७॥
ज्योतिर्लोके तदैवासीन्महान् सिंहस्वरोऽद्भुतः । बभूवुः स्वर्गवत्सिंहासनकम्पादयोऽखिलाः ॥८॥
शङ्खध्वनिरभूद्दीर्घो भावनाधिपधामसु । अभूवन् सकलाश्चर्या मौल्यासनचलादयः ॥९॥
भेरीरवः परो जातः स्वयं व्यन्तरवेश्मसु । आश्चर्यममवत्सर्वं तद्दृक्तज्ज्ञानसूचकम् ॥१०॥
इत्याश्चर्यैर्विबुध्यैनं प्राप्तकेवललोचनम् । नत्वा मूर्ध्नाखिलाः शक्रास्तत्कल्याणे मतिं व्यधुः ॥११॥
अथ तज्ज्ञानपूजायै निश्चक्रामामरैर्वृतः । प्रयाणपटहैरुच्चैः प्रध्वनत्स्वादिकल्पराट् ॥१२॥
तदा बलाहकाकारं विमानं कामकाभिधम् । जम्बूद्वीपप्रमं रम्यं मुक्तालम्बनशोभितम् ॥१३॥
नानारत्नमयं दिव्यं तेजसा व्याप्तदिग्मुखम् । किङ्किणीस्वनवाचालं चक्रे देवो बलाहकः ॥१४॥

तीन जगत्के नाथ, अज्ञानरूप अन्धकारके नाशक, केवलज्ञानरूप सूर्यसे समस्त पदार्थोंके दर्शक श्रीवीर भगवान् की मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर वीरप्रभुके केवलज्ञानकी उत्पत्तिके प्रभावसे देवलोकमें समुद्रकी गर्जनाको भी जीतनेवाला, घण्टाओंसे स्वयं उत्पन्न हुआ अद्भुत मधुर नाद हुआ ॥२॥ देवगज अपनी सूंडोंमें कमलोंको लेकर और उन्हें आधी ऊपर उठाकर चलते हुए पर्वतके समान स्वर्गमें सानन्द नाचने लगे ॥३॥ देवलोकके कल्पवृक्षोंने पुष्पांजलिके समान पुष्पवृष्टि की। सर्व दिशाएँ रज-रहित हो गयीं और आकाश निर्मल हो गया ॥४॥ भगवान्की केवलोत्पत्तिके उत्सवमें इन्द्रोंके गर्वको सहनेमें असमर्थ होकर मानो देवेन्द्रोंके सिंहासन सहसा काँपने लगे ॥५॥ सुरेन्द्रोंके मुकुट स्वयं ही नम्रीभूत हो गये। इस प्रकार स्वर्गमें भगवान्के केवलोत्पत्तिके सूचक आश्चर्य हुए ॥६॥ इन तथा इसी प्रकारके अन्य चिह्नोंसे भगवान्के केवलज्ञानके उदयको जानकर इन्द्रगण अपने-अपने आसनोंसे उठकर हर्षित होते हुए धर्मोत्सुक हो भगवद्-भक्तिसे नम्रीभूत हो गये ॥७॥ उस समय ज्योतिष्क लोकमें महान् अद्भुत सिंहनाद हुआ। तथा स्वर्गके समान सिंहासनोंका कम्पन आदि सर्व आश्चर्य हुए ॥८॥ भवनवासी देवोंके भवनोंमें शंखोंकी महाध्वनि हुई और मुकुट नम्रीभूत होना तथा आसनोंका कँपना आदि शेष समस्त आश्चर्य हुए ॥९॥ व्यन्तरोंके निलयोंमें भेरियोंका भारी शब्द स्वयं होने लगा और भगवान्के केवलज्ञानकी प्राप्तिके सूचक शेष सर्व आश्चर्य हुए ॥१०॥ इन सब आश्चर्योंसे सर्व देव और इन्द्रगणोंने वीरप्रभुके केवलज्ञानरूप नेत्रको प्राप्त हुआ जानकर ज्ञानकल्याणक मनानेका विचार किया ॥११॥ तब आदि सौधर्मकल्पका स्वामी शक्रेन्द्र प्रस्थान-भेरियोंको उच्च स्वरसे बजवाकर सर्व देवोंसे आवृत हो भगवान्के केवलज्ञानकी पूजाके लिए निकला ॥१२॥ तब बलाहक नामक आभियोग्य जातिके देवने जम्बूद्वीपप्रमाण एक लाख योजन विस्तृत, रमणीक, मुक्तामालाओंसे शोभित, किंकिणी (छोटी घण्टियों) के

तुङ्गवंशं महाकायं सुवृत्तोन्नतमस्तकम् । सात्त्विकं बलिनं युक्तं दिव्यैर्व्यञ्जनलक्षणैः ॥१५॥
तिर्यग्लोकायितस्थूलदीर्घानेकमहाकरम् । वृत्तगात्रं महोत्तुङ्गं कामगं कामरूपिणम् ॥१६॥
सुगन्धिदीर्घनिःश्वासं दीर्घोष्ठं दुन्दुभिस्वनम् । कल्याणप्रकृतिं रम्यं कर्णचामरशोभितम् ॥१७॥
महाघण्टाद्वयोपेतं ग्रैवेयमालयाङ्कितम् । नक्षत्रदामशोभाढ्यं हेमकक्षं वरासनम् ॥१८॥
जम्बूद्वीपप्रभं दीप्तं श्वेतिताखिलदिग्मुखम् । मदनिर्झरलिप्ताङ्गं चलन्तमिव पर्वतम् ॥१९॥
विक्रियर्द्धिमयं विक्रियर्द्ध्या चैरावताह्वयम् । नागदत्ताभियोग्येशो व्यधान्नागेन्द्रमूर्जितम् ॥२०॥
द्वात्रिंशत्तन्मुखान्यस्य मुखं प्रति रदाष्टकम् । दन्तं प्रतिसरो रम्यमेकं पूर्णं जलैः पृथक् ॥२१॥
सरः प्रत्यब्जिनी चैका ह्यब्जिनीमब्जिनीं प्रति । द्वात्रिंशत्कमलान्येव प्रत्येकं कमलं प्रति ॥२२॥
द्वात्रिंशदस्यपत्राणि पृथक् तेष्वायतेषु वै । द्वात्रिंशद्देवनर्तक्यो दिव्यरूपा मनोहराः ॥२३॥
नृत्यन्ति सलयस्मेरमुखाब्जा ललितभ्रुवः । मृदङ्गगीततालाद्यैर्विक्रियाङ्गैः रसोत्कटाः ॥२४॥
इत्यादिवर्णनोपेतं तं गजेन्द्रमधिष्ठितः । शच्या सहातिपुण्यात्मा सौधर्मेन्द्रो व्यभात्तराम् ॥२५॥
निधिवत्तेजसां भूत्या स्वाङ्गभूषणरश्मिभिः । गच्छन् श्रीवर्धमानस्य कैवल्यार्चादिहेतवे ॥२६॥
प्रतीन्द्रोऽपि महाभूत्या ह्यारुह्य निजवाहनम् । भक्त्या स्वपरिवारेण शक्रेण सह निर्ययौ ॥२७॥
आज्ञैश्वर्यादृते शक्रसमाः सामान्यकाः गुणैः । निर्ययुर्द्विचत्वारिंशत्सहस्रप्रमा (८४०००) मुदा ॥२८॥

शब्दोंसे मुखरित, तेजसे सर्व दिशाओंके मुखोंको व्याप्त करनेवाला, सर्वमनोरथोंका पूरक ऐसा नानारत्नमयी वलाहकाकार दिव्य विमान बनाया ॥१२-१४॥ उसी समय नागदत्त नामके आभियोग्य देवोंके स्वामीने एक विशाल ऐरावत हाथीको बनाया, जो उन्नतवंशका था, विशाल कायवाला था, जिसका मस्तक गोलाकार और उन्नत था, जो सात्त्विक प्रकृतिका था, बलशाली था, दिव्य व्यंजन और लक्षणों से युक्त था, तिर्यग्लोक जैसे लम्बे, मोटे, विशाल अनेक करों (शुण्डादण्डों) को धारण करनेवाला था, गोल शरीरवाला, महाउत्तुंग, इच्छानुसार गमन करनेवाला, इच्छानुसार अनेक रूप बनानेवाला था। जिसका सुगन्धित दीर्घ श्वासोच्छ्वास था, दीर्घ ओठ थे, दुन्दुभिके समान शब्द करनेवाला था, रमणीक था, जिसके दोनों कानोंपर चामर शोभित हो रहे थे, जिसके दोनों ओर महाघण्टा लटक रहे थे, जिसके गलेमें सुन्दर माला अंकित थी, नक्षत्रमालाकी शोभासे युक्त था, सुवर्णमयी सिंहासनसे शोभित था, जम्बूद्वीप प्रमाण विस्तृत था, देदीप्यमान था, अपने श्वेत वर्णसे समस्त दिशाओंके मुखोंको श्वेत कर रहा था, मद झरनेसे जिसका सर्व अंग लिप्त था, जो चलते हुए पर्वतके समान ज्ञात होता था, ऐसा विक्रियाऋद्धिमय ऐरावत नामक ओजस्वी नागेन्द्रको उसने अपनी विक्रिया ऋद्धिसे बनाया ॥१५-२०॥

उस ऐरावत गजके बत्तीस मुख थे, एक-एक मुखमें आठ-आठ दन्त थे, एक-एक दन्तके प्रति जलसे पूर्ण एक-एक सरोवर था, एक-एक सरोवरमें एक-एक कमलिनी थी, एक-एक कमलिनीमें बत्तीस-बत्तीस कमल खिल रहे थे, प्रत्येक कमलमें बत्तीस बत्तीस पत्र थे, उन विस्तृत पत्रोंपर दिव्यरूप धारिणी मनोहर, लयके साथ स्मितमुख और ललित भ्रुकुटिवाली, मृदङ्ग, गीत, ताल आदिके साथ, विक्रियात्मक अंगोंसे रस-पूरित बत्तीस-बत्तीस देव-नर्तकियाँ नृत्य कर रही थीं ॥२१-२४॥ इत्यादि वर्णनसे युक्त उस गजराजपर इन्द्राणीके साथ बैठा अपने शरीरके भूषणोंकी किरणोंसे और विभूतिसे तेजके निधानके समान श्रीवर्धमानस्वामीके केवलज्ञानकी पूजाके हेतु जाता हुआ वह अतिपुण्यात्मा सौधर्मेन्द्र अत्यन्त शोभाको प्राप्त हो रहा था ॥२५-२६॥ प्रतीन्द्र भी अपने वाहनपर आरूढ़ होकर अपने परिवारसे संयुक्त हो महाविभूति और महाभक्तिसे सौधर्मेन्द्रके साथ निकला ॥२७॥ जो आज्ञा और ऐश्वर्यके सिवाय शेष सब गुणोंमें इन्द्रके समान हैं, ऐसे चौरासी हजार

त्रयस्त्रिंशत्समाख्यास्त्रिंशद्देवाः शुभाप्तये । पुरोधोमन्त्र्यमात्यानां समा इन्द्रान्तमाययुः ॥२९॥
द्विषट्सहस्र (१२०००) देवाढ्याभ्यन्तरा परिषत्परा । चतुर्दशसहस्रामरैः संयुक्ता च मध्यमा ॥३०॥
निर्जरैरन्विता बाह्याः सहस्रषोडशप्रमैः । इति त्रिपरिषद्देवा ववरिरे तं सुरेशिनम् ॥३१॥
शिरोरक्षासमा आत्मरक्षास्तत्क्षणं निधिं ययुः । त्रिलक्षाधिकषट्त्रिंशत्सहस्रसंख्यकास्तदा ॥३२॥
दुर्गपालनिभा लोकपाला लोकान्तपालकाः । ववरिरे तं च सर्वांशं स्वपरीवारमण्डिताः ॥३३॥
चतुष्टयाधिकाशीतिलक्षसंख्या वृषोत्तमाः । दिव्यरूपाः पुरः शक्रस्याद्येऽनीके च निर्ययौ ॥३४॥
आद्याद् द्विगुणसंख्याना द्वितीये वृषभाः पराः । तेभ्यो द्विगुणसंख्यातास्तृतीये सासना वृषाः ॥३५॥
एवं सप्तवृषानीका द्विगुणद्विगुणप्रमाः । नानावर्णाः सुरैर्युक्ताः पुरो जग्मुः सुरेशिनः ॥३६॥
तत्समास्तुरगास्तुङ्गाः सप्तानीकान्विताः पृथक् । रथा मणिमया दीप्रा अद्र्याभा दन्तिनः परा ॥३७॥
उद्यमेन प्रगच्छन्तः शीघ्रगामिपदातयः । दिव्यकण्ठाश्च गन्धर्वा गायन्तः श्रीजिनोत्सवम् ॥३८॥
नृत्यन्त्यः सुरनर्तक्यो गीतैर्वाद्यैर्जिनोद्भवैः । प्रत्येकं सप्तकक्षाद्याः क्रमादस्याग्रतो ययुः ॥३९॥
पौरैश्च संनिभा देवा गतसंख्याः प्रकीर्णकाः । आभियोग्याभिधास्तद्वद्दासकर्मकरोपमाः ॥४०॥
प्रजाबाह्यसमाना बहवः किल्विषिकामराः । सौधर्मेन्द्रेण भक्त्यामा निर्गतास्तन्महोत्सवे ॥४१॥
अश्ववाहनमारूढ ऐशानेन्द्रोऽपि धर्मधीः । तत्समं निर्ययौ भक्त्या स्वविभूतिविराजितः ॥४२॥
मृगेन्द्रवाहनारूढः सनत्कुमारनायकः । माहेन्द्रः सर्वसामग्र्या दिव्यवृषभमाश्रितः ॥४३॥
दीप्तसारसमारूढो ब्रह्मेन्द्रश्चामरैर्वृतः । हंसवाहनमारूढो लान्तवेन्द्रो महर्द्धिकः ॥४४॥

सामानिक देव भी हर्षसे निकले ॥२८॥ पुरोहित, मन्त्री और अमात्योंके समान तैंतीस त्रायस्त्रिंश देव भी पुण्य-प्राप्तिके लिए इन्द्रके समीप आये ॥२९॥ बारह हजार देवोंसे युक्त आभ्यन्तर परिषद्, चौदह हजार देवोंसे संयुक्त मध्यम परिषद् और सोलह हजार देवों सहित बाह्य परिषद्ने आकर उस सुरेन्द्र सौधर्मेन्द्रको घेर लिया। अर्थात् तीनों सभाओंके उक्त संख्यावाले सभी देव ज्ञानकल्याणककी पूजा करनेके लिए सौधर्मेन्द्रके समीप आये ॥३०-३१॥ शिरोरक्षकके समान तीन लाख छत्तीस हजार आत्मरक्षक देव उसी समय सौधर्मेन्द्रके समीप आये ॥३२॥ दुर्गपालके समान लोकान्त तक स्वर्गकी पालना करनेवाले लोकपाल देव भी अपने परिवारके साथ सर्व दिशाओंको मण्डित करते हुए उसको चारों ओरसे घेरकर आ खड़े हुए ॥३३॥ इन्द्रकी प्रथम वृषभसेनाके चौरासी लाख दिव्यरूपके धारक उत्तम बैल इन्द्रके आगे चलने लगे ॥३४॥ इनसे दूने बैल वृषभोंकी दूसरी सेनामें थे, उनसे दूने बैल वृषभोंकी तीसरी सेनामें थे। इस प्रकार सातवीं वृषभ सेना तक दूने-दूने प्रमाणवाले, नाना वर्णोंके धारक सुन्दर बैल इन्द्रके आगे चलने लगे ॥३५-३६॥ बैलोंकी सातों सेनाओंकी संख्याके समान ही प्रमाणवाली घोड़ोंकी सात सेनाएँ उनके पीछे-पीछे चलीं। उनके पीछे मणिमयी दीप्तियुक्त रथ, पर्वतके समान विशाल गज, उद्यमके साथ चलनेवाले शीघ्रगामी पैदल सैनिक, दिव्य कण्ठवाले और श्रीजिनोत्सवके गीत गानेवाले गन्धर्व, और जिनेन्द्र सम्बन्धी गीत-वाद्योंके साथ नाचती हुई देव-नर्तकियाँ ये सब क्रमसे अपनी-अपनी उक्त संख्यावाली सात-सात कक्षाओंके साथ आगे-आगे चलने लगे ॥३७-३९॥ पुरवासी लोगोंके सदृश असंख्यात प्रकीर्णक देव, दासके समान कार्य करनेवाले आभियोग्य जातिके देव और प्रजासे बाहर रहनेवाले बहुत-से किल्विषिक देव भक्तिसे सौधर्मेन्द्रके साथ उस महोत्सवमें आगे-आगे चल रहे थे ॥४०-४१॥ धर्मबुद्धिवाला ऐशानेन्द्र भी भक्तिके साथ अपनी विभूतिसे युक्त होकर अश्ववाहनपर आरूढ़ हो सौधर्मेन्द्रके साथ निकला ॥४२॥ मृगराज (सिंह) के वाहनपर चढ़कर सनत्कुमारेन्द्र और दिव्य वृषभपर चढ़कर माहेन्द्र भी सर्व सामग्रीके साथ निकला ॥४३॥ कान्ति युक्त सारसपर आरूढ होकर देवोंसे घिरा हुआ ब्रह्मेन्द्र, हंसवाहनपर आरूढ़ होकर महर्द्धिक लान्तवेन्द्र,

दीप्ताङ्गगरुडारूढः शुक्रेन्द्रो निजैर्वृतः । सामान्यकादिकैः स्त्रीभिस्तत्पूजायै च निर्ययौ ॥४५॥
स्वाभियोग्यसुरोत्पन्नमयूरवाहनान्वितः । सामरः सकलत्रश्च शतारेन्द्रोऽपि निर्गतः ॥४६॥
आनतेन्द्रादयः शेषाश्चत्वारः कल्पनायकाः । विमानपुष्पकारूढास्तत्कल्याणाय निर्ययौ ॥४७॥
इति द्वादश कल्पेन्द्राः स्वस्वभूतिविराजिताः । द्विषट्प्रतीन्द्रसंयुक्ताः स्वस्ववाहनमाश्रिताः ॥४८॥
पटहादिमहाध्वानैः पूरयन्तो दिशोऽखिलाः । तन्वन्तः सुरचापानि स्वाङ्गभूषांशुमिश्च खे ॥४९॥
छादयन्तो नभोभागं ध्वजछत्रादिकोटिभिः । जय-जीवादिशब्दौघैर्बधिरीकृतदिग्मुखाः ॥५०॥
गीतनर्तनवाद्यादिमहोत्सवशतैः समम् । ज्योतिषां पटलं प्रापुरवतीर्य दिवः शनैः ॥५१॥
चन्द्राः सूर्या ग्रहाः सर्वे नक्षत्रास्तारकामराः । स्वस्ववाहनमारुह्य स्वस्वभूतिविमण्डिताः ॥५२॥
असंख्याताः स्वदेवाढ्या धर्मरागरसाङ्किताः । जिनकल्याणसंसिद्ध्यै जग्मुस्तैः सह भूतलम् ॥५३॥
चमरः प्रथमोऽथेन्द्रो विरोचनो द्वितीयकः । भूतेशो धरणानन्दो वेण्वाख्यो वेणुधार्यथ ॥५४॥
शक्रः पूर्णोऽवशिष्टश्च जलाभो जलकान्तिमान् । हरिषेणोऽमरेन्द्रो हरिकान्तोऽग्निशिखी ततः ॥५५॥
अग्निवाहननामामितगत्यमितवाहनौ । इन्द्रौ घोषो महाघोषो वेलाञ्जनप्रभञ्जनौ ॥५६॥
अमी विंशतिदेवेन्द्राः प्रतीन्द्राश्च तथाविधाः । भवनामरजातीनामसुरादिदशात्मनाम् ॥५७॥
स्वस्ववाहनभूत्याद्यैः स्वदेवीभिरलंकृताः । धरामुद्भिद्य चाजग्मुस्तत्पूजायै महीतलम् ॥५८॥
किन्नरः प्रथमश्चेन्द्रस्ततः किंपुरुषाभिधः । शक्रः सत्पुरुषाख्योऽथ महापुरुषनामकः ॥५९॥
अतिकायो महाकाय इन्द्रो गीतरतिस्ततः । सुरेन्द्रो रतिकीर्तिर्मणिभद्रः पूर्णभद्रकः ॥६०॥
भीमनामा महाभीमः सुरूपः प्रतिरूपकः । इन्द्रः कालो महाकाल इतीन्द्राः षोडशाद्भुताः ॥६१॥

दीप्त शरीरवाले गरुड़पर आरूढ़ और देवोंसे घिरा हुआ शुक्रेन्द्र भी अपने सामानिकादि देवोंसे तथा देवियोंसे युक्त होकर भगवान्‌की पूजाके लिए निकले ॥४४-४५॥ अपने आभियोग्य देवसे निर्मित मयूर वाहनपर चढ़कर शतारेन्द्र भी अपने देव और देवी-परिवारके साथ निकला ॥४६॥ आनतेन्द्र आदि शेष चार कल्पोंके स्वामी इन्द्र भी अपने-अपने देव-परिवारोंके साथ पुष्पक विमानपर आरूढ़ होकर भगवान्‌के ज्ञानकल्याणकके लिए निकले ॥४७॥ इस प्रकार बारह कल्पोंके इन्द्र अपने बारहों प्रतीन्द्रोंसे संयुक्त होकर अपनी-अपनी विभूतिके साथ अपने-अपने वाहनोंपर चढ़कर भेरी आदिके महानादोंसे समस्त दिशाओंको पूरित करते, अपने भूषणोंकी कान्तिपुंजसे आकाशमें इन्द्रधनुषकी शोभाको विस्तारते, कोटि-कोटि ध्वजा और छत्रोंसे नभोभागको आच्छादित करते, जय-जीव आदि शब्द-समूहोंसे दिशाओंको बधिर करते स्वर्गसे धीरे-धीरे उतरकर गीत नृत्य वादित्र आदिके साथ सैकड़ों उत्सवोंको करते हुए ज्योतिषी देवोंके पटलको प्राप्त हुए ॥४८-५१॥ तब ज्योतिष्क पटलके सभी असंख्यात चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारागण अपनी-अपनी विभूतिसे मण्डित होकर धर्मानुरागके रससे व्याप्त हो, अपनी-अपनी देवियोंसे युक्त हो जिनकल्याणकी सिद्धिके लिए उक्त कल्पवासी देवोंके साथ भूतलकी ओर चले ॥५२-५३॥ इसी समय असुरकुमारादि दश जातिके भवनवासी देवोंके १ चमर, २ वैरोचन, ३ भूतेश, ४ धरणानन्द, ५ वेणुदेव, ६ वेणुधारी, ७ पूर्ण, ८ अवशिष्ट, ९ जलप्रभ, १० जलकान्ति, ११ हरिषेण, १२ हरिकान्त, १३ अग्निशिखी, १४ अग्निवाहन, १५ अमितगति, १६ अमितवाहन, १७ घोष, १८ महाघोष, १९ वेलंजन, और २० प्रभंजन ये बीस इन्द्र और बीस ही उनके प्रतीन्द्र अपनी-अपनी विभूति-वाहनोंसे तथा अपनी-अपनी देवियोंसे संयुक्त होकर भूमिको भेदन कर भगवान्‌की पूजाके लिए इस महीतलपर आये ॥५४-५८॥ इसी समय किन्नर आदि आठों जातिके व्यन्तर देवोंके १ किन्नर, २ किम्पुरुष, ३ सत्पुरुष, ४ महापुरुष, ५ अतिकाय, ६ महाकाय, ७ गीतरति, ८ रति-कीर्ति (गीतयश), ९ मणिभद्र, १० पूर्णभद्र, ११ भीम, १२ महाभीम, १३ सुरूप, १४ प्रतिरूप,

तावन्तो हि प्रतीन्द्राश्च स्वस्ववाहनसंस्थिताः । व्यन्तराखिलयोनीनां किन्नराद्यष्टधात्मनाम् ॥६२॥
परया स्वस्वसामग्र्या भूषिता निर्जरावृताः । तत्कल्याणाय भूभागमुद्भिद्यागुस्तदाशु हि ॥६३॥
एते चतुर्णिकायेशाः शचीगीर्वाणभूषिताः । निमेषोज्झितसन्नेत्राः परमानन्दशालिनः ॥६४॥
कुड्मलीकृतपाण्यब्जाः श्रीवीरं द्रष्टुमुत्सुकाः । जयनन्दादिसद्ध्वानमुखराः शीघ्रगामिनः ॥६५॥
ददृशुर्दूरतो दीप्रं विभोरास्थानमण्डलम् । विश्वर्द्धिगणसंपूर्णं रत्नांशुव्याप्तदिग्मुखम् ॥६६॥
धनदादिमहाशिल्पिनिर्मितस्य जगद्गुरोः । तस्य मुक्त्वा गणेन्द्रं को रचनां गदितुं क्षमः ॥६७॥
तथापि भव्यसार्थानां धर्मप्रीत्यादिसिद्धये । करोमि वर्णनं किंचित्स्वशक्त्या समवसृतेः ॥६८॥
एकयोजनविस्तीर्णं सुवृत्तं भ्राजते तराम् । सुरेन्द्रनीलरत्नौघैस्तस्याद्यं पीठमूर्जितम् ॥६९॥
भो विंशतिसहस्राङ्कमणिसोपानराजितम् । मुक्त्वा सार्धद्विगव्यूतिं भूमेर्नभसि संस्थितम् ॥७०॥
तस्य पर्यन्तभूभागमलंचक्रेऽतिदीप्तिमान् । धूलीशालपरिक्षेपो रत्नपांशुमयो महान् ॥७१॥
क्वचिद्-विद्रुमरम्याभः क्वचित्काञ्चनसंनिभः । क्वचिदञ्जनपुञ्जाभः क्वचिच्छुकच्छदच्छविः ॥७२॥
नानासुवर्णरत्नोत्थपांसुतेजश्चयैः क्वचित् । तन्वन्निवेन्द्रचापानि हसन् वा खे स राजते ॥७३॥
चतुर्दिक्ष्वस्य दीप्त्याढ्या हेमस्तम्भाग्रलम्बिताः । तोरणा मकरास्फोटमणिमाला विभान्त्यहो ॥७४॥
ततोऽन्तरान्तरं किंचिद्गत्वार्चाम्बुपवित्रिताः । स्युश्चतस्रो जगत्यो हि वीथीनां मध्यभूमिषु ॥७५॥
चतुर्गोपुरसंयुक्तप्राकारत्रयवेष्टिताः । हेमषोडशसोपानयुता दीप्रा मनोहराः ॥७६॥

---

१५ काल और १६ महाकाल ये सोलह अद्भुतरूपधारी इन्द्र अपने सोलहों प्रतीन्द्रोंके साथ अपने-अपने वाहनोंपर आरूढ़ होकर अपनी-अपनी परम सामग्रीसे भूषित और अपने-अपने देव-देवी परिवारसे आवृत होकर भूभागको भेदन करके ज्ञानकल्याणक करनेके लिए इस भूतलपर आये ॥५९-६३॥ ये चारों देवनिकायोंके स्वामी, अपनी इन्द्राणियों और देवोंसे भूषित, निमेष-रहित उत्तम नेत्रोंके धारक, परम आनन्दशाली, कर-कमलोंको जोड़े, जय, नन्द आदि मांगलिक शब्दोंको बोलते श्रीवीर प्रभुको देखनेके लिए उत्सुक अतएव शीघ्र गमन करते हुए यहाँपर आये ॥६४-६५॥ और उन्होंने समस्त ऋद्धियोंसे परिपूर्ण, रत्न किरणोंसे दिङ्मुख-को व्याप्त करनेवाले, देदीप्यमान ऐसे भगवान्‌के समवशरण मण्डलको दूरसे देखा ॥६६॥

कुबेर आदि महाशिल्पियोंके द्वारा निर्मित जगद्गुरुके उस समवशरणकी रचनाको कहनेके लिए गणधरदेवको छोड़कर और कौन समर्थ हो सकता है ॥६७॥ तो भी भव्य जीवोंके धर्म-प्रेमकी सिद्धिके लिए अपनी शक्तिके अनुसार उस समवशरणका कुछ वर्णन करता हूँ ॥६८॥ वह समवशरण गोलाकार एक योजन विस्तारवाला था, उसका प्रथमपीठ उत्तम इन्द्रनीलमणियोंसे रचा गया था, अतः वह अत्यन्त शोभायमान हो रहा था ॥६९॥ हे भव्यो, वह बीस हजार मणिमयी सोपानों (सीढ़ियों) से विराजित था और भूतलसे अढ़ाई कोश ऊपर आकाशमें अवस्थित था ॥७०॥ उसके किनारेके भूभागके सर्व ओर अतिदीप्तिमान्, रत्नधूलिसे निर्मित विशाल धूलिशाल नामका पहला परकोटा था ॥७१॥ वह कहींपर विद्रुम (मूँगा) की सुन्दर कान्तिवाला था, कहीं सुवर्ण आभावाला था, कहीं अंजन पुंजके समान काली आभावाला था और कहींपर शुक (तोता) के पंखोंके समान हरे रंगवाला था ॥७२॥ कहींपर नाना प्रकारके रत्न और सुवर्णोत्पन्न धूलिके तेज-पुंजसे आकाश में इन्द्रधनुषोंकी शोभाको विस्तारता अथवा हँसता हुआ शोभित हो रहा था ॥७३॥ उसकी चारों दिशाओंमें दीप्ति-युक्त सुवर्णस्तम्भोंके अग्र भागपर मकराकृति मणिमालावाले चार तोरणद्वार सुशोभित हो रहे थे ॥७४॥ उसके भीतर कुछ दूर चलकर वीथियोंकी मध्य-भूमिमें पूजन-सामग्रीसे पवित्रित चार वेदियाँ थीं ॥७५॥ वे चार गोपुरद्वारोंसे संयुक्त, तीन प्राकारों (कोटों) से वेष्टित, सुवर्णमयी सोलह सीढ़ियोंसे भूषित, देदीप्यमान और मनको

तासां मध्येषु भान्त्युच्चैस्तत्प्रमाः पीठिकाः पराः । जिनेन्द्रप्रतिमायुक्ता मणितेजोऽर्चनादिभिः ॥७७॥
पीठिकानां च मध्येषु चतुःपीठानि सच्छ्रिया । त्रिमेखलानि दिव्यानि राजन्ते मणिदीप्तिभिः ॥७८॥
तेषां मध्येषु राजन्ते कनत्काञ्चननिर्मिताः । मध्यभागजिनार्चाढ्या मूर्ध्नि छत्रत्रयान्विताः ॥७९॥
तुङ्गाः सार्थकनामानो दुर्दृशां मानखण्डनात् । मानस्तम्भा ध्वजैर्घण्टागीतनृत्यप्रकीर्णकैः ॥८०॥
तेषां पर्यन्तपृथ्वीषु सन्ति वाप्यः सहोत्पलाः । दिशं प्रति चतस्रो मणिसोपानमनोहराः ॥८१॥
नन्दोत्तरादिनामानस्ता नृत्यन्त इवोर्जिताः । ऊर्मिहस्तैर्विभान्त्युच्चैर्गायन्त्यो वालिगुञ्जनैः ॥८२॥
तासां तटेषु विद्यन्ते कुण्डान्यम्बुभृतानि च । तद्यात्रागतभव्यानां पादप्रक्षालनाय च ॥८३॥
स्तोकान्तरं ततोऽतीत्य वीथीं वीथीं च तां धराम् । चिताम्बुखातिका वव्रे द्विरेफैः कमलाकरैः ॥८४॥
भाति सा वातसंघट्टोत्थतरङ्गैः रवोत्करैः । नृत्यन्तीव मुदा गायन्तीव वा तन्महोत्सवे ॥८५॥
तदन्तःस्थं महीभागमवृणोत्सल्लतावनम् । वल्लीगुल्मद्रुमौघोत्थसर्वर्तुकुसुमान्वितम् ॥८६॥
रम्याः क्रीडाद्रयो यत्र सशय्याश्च लतालयाः । पुष्पप्रकरसंकीर्णा धृतये देवयोषिताम् ॥८७॥
चन्द्रकान्तशिला यत्र लताभवनमध्यगाः । शीतला नाकिनाथानां विश्रामाय मनोहराः ॥८८॥
तद्वनं राजतेऽतीव सुन्दरं सफलं प्रियम् । अशोकाद्यैर्महावृक्षैस्तुङ्गैर्द्विरेफगुञ्जनैः ॥८९॥
ततोऽध्वानं कियन्तं परित्यज्य महीतलम् । प्राकारः प्रथमो वव्रे तुङ्गो हिरण्मयो महान् ॥९०॥

हरण करनेवाली थीं ॥७६॥ उन वेदियोंके मध्यभागमें जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमासहित, मणियोंकी कान्ति और पूजनसामग्रीसे युक्त चार ऊँचे पीठ (सिंहासन) शोभायमान थे ॥७७॥ उन पीठोंके मध्यमें चार और छोटे पीठ थे जो उत्तम शोभासे, मणियोंकी कान्तिसे और दिव्य तीन मेखला-(कटिनी-) युक्त शोभित हो रहे थे ॥७८॥ उनके मध्यमें चमचमाते सुवर्णसे निर्मित, मध्यभागमें जिनप्रतिमासे युक्त, शिखरपर तीन छत्रोंसे शोभित, ध्वजा, घण्टा आदिसे युक्त, उन्नत, मिथ्यादृष्टियोंके मान-खण्डनसे सार्थक नामवाले चारों दिशाओंकी वेदियोंपर चार मानस्तम्भ थे, जिनके समीप देव-देवांगनाएँ गीत-नृत्य करती हुई चामर ढोर रही थीं ॥७९-८०॥

उन मानस्तम्भोंके समीपवाली भूमिपर चारों दिशामें मणिमयी सीढ़ियोंसे मनोहर, जलभरी और कमलोंसे युक्त ऐसी चार वापियाँ थीं ॥८१॥ उन वापियोंके नन्दा, नन्दोत्तरा आदि नाम थे, वे अपने जल-तरंगरूपी हाथोंसे नाचती हुई-सी, और कमलोंपर भौरोंकी गुंजारसे गाती हुईके समान अत्यन्त शोभित हो रही थीं ॥८२॥ उन वापियोंके किनारोंपर जलसे भरे हुए कुण्ड विद्यमान थे, जो भगवान्की वन्दना-यात्राके लिए आनेवाले भव्य जीवोंके पाद-प्रक्षालनके लिए बनाये गये थे ॥८३॥ वहाँसे थोड़ी दूर आगे चलकर वीथी (गली) थी और वीथी-धराको घेरकर अवस्थित, जलसे भरी, कमलोंके समूहों और भौरोंसे व्याप्त खाईं थी ॥८४॥ वह खाईं पवनके आघातसे उत्पन्न हुई तरंगोंसे और तरंग-जनित शब्दोंसे भगवान्के ज्ञानकल्याणकके महोत्सवमें नृत्य करती और गाती हुई-सी शोभित हो रही थी ॥८५॥ उसके भीतरके भूभागको उत्तम लताओंका वन घेरे हुए था और वह लतावन अनेक प्रकारकी वेलों, गुल्मों और वृक्षोंमें लगे हुए सर्व ऋतुओंके फूलोंसे संयुक्त था ॥८६॥ वहाँपर रमणीक अनेक क्रीड़ा करनेके पर्वत थे, जो उत्तम शय्याओंसे, लतामण्डपोंसे और पुष्प-समूहसे व्याप्त थे और जो देवांगनाओंके क्रीड़ा-कौतूहल एवं विश्रामके लिए बनाये गये थे ॥८७॥ उन पर्वतोंपर लताभवनोंके भीतर देवेन्द्रोंके विश्रामके लिए शीतल और मनोहर चन्द्रकान्तमयी शिलाएँ रखी हुई थीं ॥८८॥ उन पर्वतोंपर अशोक आदिके ऊँचे महावृक्षोंसे और उनके पुष्पोंपर भौरोंकी गुंजारोंसे युक्त फलशाली, अतीव सुन्दर, प्रियवन शोभायमान था ॥८९॥ उसके आगे कुछ दूर चलकर महीतलको घेरे हुए, सुवर्णमयी महान् उन्नत प्रथम

स्वाङ्गोपरितलेऽन्तर्बहिर्लग्नमौक्तिकादिभिः । तारासंततिशङ्कां स दधच्छ्रीमान् मनोहरः ॥९१॥
क्वचिद्विद्रुमकान्त्याढ्यः क्वचिन्नवघनच्छविः । क्वचिच्च सुरगोपाभ इन्द्रनीलच्छविः क्वचित् ॥९२॥
क्वचिद्विचित्ररत्नांशुरचितेन्द्रधनुर्महान् । विद्युदा पिञ्जरोऽनेकवर्णांशुभिर्बभौ तराम् ॥९३॥
स हसन्निव द्विपव्याघ्रसिंहहंसादिदेहिनाम् । वल्लीनां नृमयूराणां युग्मरूपैश्चितोऽखिलः ॥९४॥
महान्ति गोपुराण्यस्य शोभन्ते दिक्चतुष्टये । राजितानि त्रिभूमानि प्रहसन्तीव तेजसा ॥९५॥
पद्मरागमयैस्तुङ्गैः शिखरैर्व्योमलङ्घिभिः । शृङ्गाणीव महामेरोर्गोपुराणि बभुस्तराम् ॥९६॥
तीर्थेशस्य गुणानेषु गायन्ति देवगायनाः । केचिच्छृण्वन्ति नृत्यन्ति केचिदाराधयन्ति च ॥९७॥
भृङ्गारकलशाब्दाद्या मङ्गलद्रव्यभूतयः । प्रत्येकं गोपुरेष्वासन्नष्टोत्तरशतप्रमाः ॥९८॥
रत्नाभरणनानाभाविचित्रीकृतखाङ्गणाः । प्रत्येकं तोरणास्तेषु शतसंख्या विभान्त्यहो ॥९९॥
निसर्गभास्वरे काये विभोः स्वानवकाशताम् । मत्वेवाभरणान्यस्थुर्निरुध्य तोरणानि भोः ॥१००॥
द्वारोपान्तेषु राजन्ते शङ्खाद्या निधयो नव । वैराग्येण जिनेन्द्रेण तिष्ठन्तीवावधीरिताः ॥१०१॥
तेषामन्तर्महावीथ्या द्वयोः सत्पार्श्वयोर्भवेत् । प्रत्येकं च चतुर्दिक्षु नाट्यशालाद्वयं महत् ॥१०२॥
तिसृभिर्भूमिभिस्तुङ्गौ भातस्तौ नाट्यमण्डपौ । मुक्तेस्त्रिधात्मकं मार्गं सतां वक्तुमिवोद्यतौ ॥१०३॥
हिरण्मयबृहत्स्तम्भौ शुद्धस्फाटिकभित्तिकौ । तेषु मण्डपरङ्गेषु नृत्यन्ति स्माप्सरोवराः ॥१०४॥

प्राकार था ॥९०॥ उस प्राकारके ऊपर, नीचे और मध्यभागमें मोती लगे हुए थे, जिनके द्वारा शोभायुक्त वह मनोहर प्राकार ताराओंकी परम्पराकी शंकाको धारण कर रहा था ॥९१॥ वह प्राकार कहींपर विद्रुमकी कान्तिसे युक्त था, कहींपर नवीन मेघकी छविको धारण कर रहा था, कहींपर इन्द्रगोप-जैसी लाल शोभासे युक्त था और कहींपर इन्द्रनीलमणिकी नीली कान्तिको धारण कर रहा था ॥९२॥ कहीं पर नाना प्रकारके रत्नोंकी किरणोंसे महान् इन्द्र-धनुषकी शोभाको विस्तार रहा था और कहींपर अनेक वर्णवाले रत्नोंकी किरणोंसे युक्त होकर बिजलीकी शोभा दिखा रहा था ॥९३॥ वह समस्त प्राकार हाथी, व्याघ्र, सिंह, हंस आदि प्राणियों, मनुष्यों और मयूरोंके जोड़ोंसे, तथा वेलोंके समूहोंसे हँसते हुएके समान शोभायमान था ॥९४॥ इस प्राकारकी चारों दिशाओंमें तीन भूमियों (खण्डों) वाले विशाल रजतमयी चार गोपुर शोभित थे, जो अपने तेजसे हँसते हुएके समान प्रतीत हो रहे थे ॥९५॥ वे गोपुर पद्मरागमयी, ऊँचे आकाशको उल्लंघन करनेवाले शिखरोंसे ऐसे शोभित हो रहे थे मानो महामेरुके उन्नत शिखर ही हों ॥९६॥ उन शिखरोंपर कितने ही गन्धर्व देव तीर्थेश्वरके गुणोंको गा रहे थे, कितने ही उन गुणोंको सुन रहे थे, कितने ही नृत्य कर रहे थे और कितने ही तीर्थंकर देवकी आराधना कर रहे थे ॥९७॥ प्रत्येक गोपुरपर भृङ्गार, कलश, दर्पण आदि आठों जातिके मंगलद्रव्य एक सौ आठ-एक सौ आठकी संख्यामें विराजमान थे ॥९८॥ प्रत्येक गोपुर द्वारपर नाना प्रकारके रत्नोंकी कान्तिसे गगनांगणको चित्र-विचित्र करनेवाले सौ-सौ तोरण शोभायमान हो रहे थे ॥९९॥ उन तोरणोंमें लगे हुए आभूषण ऐसे प्रतीत होते थे, मानो स्वभावसे ही प्रकाशमान प्रभुके शरीरमें रहनेके लिए अवकाशको न पाकर वे अब तोरणोंको व्याप्त करके अवस्थित हैं ॥१००॥ उन द्वारोंके समीप रखी हुई शंख आदि नवों निधियाँ ऐसी जान पड़ती थीं, मानो जिनेन्द्रदेवके द्वारा वैराग्यसे तिरस्कृत होकर द्वारपर ही ठहरकर भगवान्‌की सेवा कर रही हैं ॥१०१॥ इन गोपुर द्वारोंके भीतर एक-एक महावीथी थी, जिसके दोनों पार्श्वभागोंमें दो-दो नाट्यशालाएँ थीं। इस प्रकार चारों दिशाओंमें दो-दो महानाट्यशालाएँ थीं ॥१०२॥ तीन भूमियों (खण्डों) से युक्त, ऊँचे वे नाट्यमण्डप ऐसे शोभित हो रहे थे, मानो सज्जनोंको मुक्तिका रत्नत्रयस्वरूप त्रिधात्मक मार्ग कहनेके लिए उद्यत हैं ॥१०३॥ उन नाट्यमण्डपोंके विशाल स्तम्भ सुवर्णमयी थे, उनकी भित्तियाँ निर्मल

वीणया सह गायन्ति काश्चिच्च विजयं विभोः । दिव्यकण्ठाश्च गन्धर्वाः कैवल्यादिभवान् गुणान् ॥१०५॥
ततो धूपघटौ द्वौ द्वौ वीथीनामुभयोर्दिशोः । धूपधूमैस्ततामोदैः सुगन्धीकृतखाङ्गणौ ॥१०६॥
तत्र वीथ्यन्तरेष्वासंश्चतस्रो वनवीथयः । सर्वर्तुफलपुष्पाढ्या नन्दनाद्या इवापराः ॥१०७॥
अशोकसप्तपर्णाख्यचम्पकाम्रमहीरुहाम् । वनानि तानि भान्त्युच्चैरुत्तुङ्गैः पादपव्रजैः ॥१०८॥
वनानां मध्यभागेषु क्वचिद्वाप्यो लसज्जलाः । त्रिकोण्यश्च चतुष्कोणाः पुष्करिण्यः क्वचित्पराः ॥१०९॥
क्वचिद्धर्म्याणि रम्याणि क्वचिदाक्रीडमण्डपाः । क्वचित्प्रेक्षालयास्तुङ्गाश्चित्रशालाः क्वचिच्छुभाः ॥११०॥
एकशाला द्विशालाद्या दीप्राः प्रासादपङ्क्तयः । क्वचित्क्रीडाप्रदेशाः स्युः क्वचिच्च कृतकाद्रयः ॥१११॥
अशोकवनमध्ये स्यादशोकश्चैत्यपादपः । पीठं त्रिमेखलं हैमं रम्यं तुङ्गमधिष्ठितः ॥११२॥
चतुर्गोपुरसंबद्धत्रिशालपरिवेष्टितः । त्रयछत्राङ्कितो मूर्ध्नि रणद्घण्टोऽतिसुन्दरः ॥११३॥
ध्वजचामरमाङ्गल्यद्रव्यश्रीप्रतिमादिभिः । भाति देवार्चनैः सोऽत्र जम्बूवृक्ष इवोन्नतः ॥११४॥
चतुर्दिक्ष्वस्य या सन्ति दीप्राः श्रीजिनमूर्तयः । ताः सुरेन्द्राः स्वपुण्याय पूजयन्ति महार्चनैः ॥११५॥
एवं शेषवनेषु स्युश्चैत्यवृक्षाः सुरार्चिताः । सप्तपर्णादयो रम्याश्छत्रार्हत्प्रतिमादिभिः ॥११६॥
मालाशुकमयूराब्जहंसानां गरुडात्मनाम् । मृगेशवृषभेभेन्द्रचक्राणां दिव्यरूपिणाम् ॥११७॥
दशभेदा ध्वजास्तुङ्गाः स्युर्मोहारिजयार्जिताः । प्रभोस्त्रिजगदैश्वर्यमेकीकर्तुमिवोद्यताः ॥११८॥

स्फटिक मणिमयी थीं। उन मण्डपोंके भीतर उत्तम अप्सराएँ नृत्य कर रही थीं ॥१०४॥ कितनी ही देवियाँ वीणाके साथ प्रभुके विजयका गान कर रही थीं और कितने ही दिव्य कण्ठवाले गन्धर्व भगवान्‌के कैवल्यप्राप्तिसे उत्पन्न हुए गुणोंको गा रहे थे ॥१०५॥ उन वीथियोंकी दोनों दिशाओंमें दो-दो धूपघट थे, जिनके धूपकी सुगन्धीको विस्तारनेवाले धुएँके द्वारा गगनांगण सुगन्धित हो रहा था ॥१०६॥ उसके आगे कुछ दूर चलकर वीथियोंके मध्यमें चार वनवीथियाँ थीं, जो सर्व ऋतुके फल-फूलोंसे युक्त दूसरे नन्दनादि वनोंके समान मालूम पड़ती थीं ॥१०७॥ उन वनवीथियोंमें अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्रवृक्षोंके वन थे, जो कि अति उन्नत वृक्षसमूहोंसे शोभित हो रहे थे ॥१०८॥ उन वनोंके मध्यभागमें जलसे भरी हुई वापियाँ थीं और कहींपर तिकोन और चतुष्कोनवाली पुष्करिणियाँ थीं ॥१०९॥ उन वनोंमें कहींपर सुन्दर भवन थे, कहींपर सुन्दर क्रीडामण्डप थे, कहींपर दर्शनीय प्रेक्षागृह थे और कहींपर उन्नत शोभायुक्त चित्रशालाएँ थीं ॥११०॥ कहींपर एक खण्डवाले और कहीं-पर दो खण्डवाले देदीप्यमान प्रासादोंकी पंक्तियाँ थीं, कहींपर क्रीडास्थल थे और कहींपर कृत्रिम पर्वत थे ॥१११॥ वहाँ अशोक वनके बीचमें अशोक नामका चैत्यवृक्ष था, जिसका पीठ रम्य, सुवर्णमयी तीन मेखलाओंवाला था और वह चैत्यवृक्ष बहुत ऊँचा था ॥११२॥ चैत्यवृक्ष तीन शालों (कोटों) से वेष्टित था, प्रत्येक शालमें चार-चार गोपुर द्वार थे। वह चैत्यवृक्ष तीन छत्रोंसे युक्त था और उसके शिखरपर शब्द करता हुआ अतिसुन्दर घण्टा अवस्थित था ॥११३॥ वह चैत्यवृक्ष ध्वजा, चामर आदि मंगल द्रव्योंसे और श्री जिनदेवकी प्रतिमा आदिसे युक्त था, देवगण जहाँपर पूजन कर रहे थे और वह जम्बूवृक्षके समान उन्नत था ॥११४॥ इस चैत्यवृक्षके ऊपर चारों दिशाओंमें दीप्तियुक्त श्री जिनमूर्तियाँ थीं, जहाँपर आकर अपने पुण्योपार्जनके लिए देवेन्द्र महान् द्रव्योंसे उनकी पूजा कर रहे थे ॥११५॥ इसी प्रकार शेष वनोंमें भी देवोंसे पूजित, छत्र-चामर और अर्हत्प्रतिमाओंसे युक्त रमणीय सप्तपर्णादि चैत्यवृक्ष थे ॥११६॥ माला, शुक, मयूर, कमल, हंस, गरुड़, सिंह, वृषभ, हाथी और चक्र इन दश चिह्नोंसे युक्त दिव्य रूपवाली ऊँची ध्वजाएँ फहराती हुई ऐसी ज्ञात होती थीं मानो मोह-शत्रुको जीतनेसे उपार्जित प्रभुके तीन लोकके ऐश्वर्यको एकत्रित करनेके लिए उद्यत हुई हों ॥११७-११८॥

एकैकस्यां दिशि ज्ञेयाः प्रत्येकं पालिकेतवः । अष्टोत्तरशतं रम्यास्तरङ्गा इव खाम्बुधेः ॥११९॥
मरुदान्दोलितवस्त्रैस्तेषां खे भ्रमन्नंशुकोत्करः । व्याजुहूर्षुरिवाभाति जिनार्चायै जगज्जनान् ॥१२०॥
स्रक्केतुषु स्रजो रम्याः सौमनस्यो ललम्बिरे । वस्त्रध्वजेषु दिव्यानि सूक्ष्मवस्त्राणि च स्फुटम् ॥१२१॥
इति बर्हादिकेत्वेषु ध्वजेषु सुरशिल्पिभिः । राजन्ते निर्मिता दिव्या मयूराद्याः सुमूर्तयः ॥१२२॥
अशीत्यग्रं सहस्रं स्युर्दिश्येकस्यां च पिण्डिताः । चतुर्दिक्षु नभोद्वित्रिचतुरङ्कप्रमा ध्वजाः ॥१२३॥
ततोऽभ्यन्तरभूभागे शालोऽस्ति द्वितीयो महान् । श्रीमानर्जुननिर्माणः प्राक्शालवर्णनासमः ॥१२४॥
पूर्ववद्गोपुराण्यस्य राजतानि भवन्ति वै । तेष्वाभरणविन्यस्ततोरणानि महान्ति च ॥१२५॥
निधयो मङ्गलद्रव्या नाट्यशालाद्वयं भवेत् । तद्वद्धूपघटौ द्वौ द्वौ महावीथ्युभयं तयोः ॥१२६॥
स्यान्नाट्यशालयोर्गीतनर्तनादिकदम्बकम् । शेषोऽत्रापि विधिर्ज्ञेय आद्यशालसमोऽखिलः ॥१२७॥
ततो वीथ्यन्तरेष्वस्यां कक्षायां भास्वरं वनम् । नानारत्नप्रभोत्कर्षैरासीत्कल्पमहीरुहाम् ॥१२८॥
रम्याः कल्पद्रुमास्तुङ्गाः सच्छायाः सफला वराः । दिव्यस्रग्वस्त्रभूषाढ्या राजायन्तेऽत्र संपदा ॥१२९॥
देवोदक्कुरवोऽत्रेशमागता इव सेवितुम् । शोभन्ते दशभेदैः स्वैः सहालं कल्पशाखिभिः ॥१३०॥
नेपथ्यानि फलान्येषां पल्लवा अंशुकानि च । मालाः शाखाग्रलम्बिन्यो दीप्ताः प्रारोहयष्टयः ॥१३१॥
ज्योतिष्काः ज्योतिरङ्गेषु दीपाङ्गेषु च नाकजाः । भावनेन्द्राः स्रगङ्गेषु धृतिं क्रीडां प्रकुर्वते ॥१३२॥
अस्मिन् वनान्तरेऽभूवन् दिव्याः सिद्धार्थपादपाः । सिद्धार्चाधिष्ठिताश्छत्रचामरादिविराजिताः ॥१३३॥

एक-एक दिशामें प्रत्येक चिह्नवाली एक सौ आठ रमणीय ध्वजाएँ जानना चाहिए। वे ऐसी प्रतीत होती थीं, मानो आकाशरूप समुद्रकी तरंगें ही हों ॥११९॥ उन ध्वजाओंके पवनसे हिलते और चारों ओर घूमते हुए वस्त्र ऐसे मालूम होते थे मानो जिनराजके पूजनके लिए जगत्के जनोंको बुला ही रहे हों ॥१२०॥ उन दश चिह्नवाली ध्वजाओंमें-से माला चिह्नवाली ध्वजाओंमें रमणीक फूलोंकी मालाएँ लटक रही थीं। वस्त्र-चिह्नवाली ध्वजाओंमें सूक्ष्म चिकने वस्त्र लटक रहे थे ॥१२१॥ इसी प्रकार मयूर आदि चिह्नवाली ध्वजाओंमें देव-शिल्पियों द्वारा निर्मित सुन्दर मूर्तिवाले मयूर आदि शोभित हो रहे थे ॥१२२॥ वे ध्वजाएँ एक-एक दिशामें एक हजार अस्सी (१०८०) थीं और चारों दिशाओंकी मिलाकर चार हजार तीन सौ बीस (४३२०) थीं ॥१२३॥ उससे आगे चलकर भीतरी भूभागमें चाँदीसे बना हुआ, लक्ष्मीयुक्त दूसरा महान् शाल (कोट) था, जिसका वर्णन प्रथम शालके समान ही जानना चाहिए ॥१२४॥ इस शालमें भी पूर्वशालके समान ही रजतमयी गोपुर द्वार थे और वहाँपर आभूषणोंसे युक्त बड़े-बड़े तोरण थे ॥१२५॥ यहाँपर भी पूर्वके समान नवनिधियाँ, अष्ट-प्रकारके मंगलद्रव्य, दो-दो नाट्यशालाएँ और दो-दो धूपघट महावीथीके दोनों ओर थे ॥१२६॥ उन दोनों नाट्यशालाओंमें गीत-नृत्य आदि तथा शेष समस्त विधि भी प्रथम शालके समान जानना चाहिए ॥१२७॥ इससे आगे वीथीके अन्तरालमें नाना प्रकारके रत्नोंकी प्रभासे शोभित कल्पवृक्षोंका एक देदीप्यमान वन था। जिसमें दिव्य माला, वस्त्र, आभूषण आदिकी सम्पदासे युक्त ऊँचे, फलवाले, और उत्तम छायावाले रमणीक कल्पवृक्ष शोभायमान हो रहे थे ॥१२८-१२९॥ उन्हें देखकर ऐसा ज्ञात होता था मानो देवकुरु और उत्तरकुरु ही अपने दश जातिके कल्पवृक्षोंके साथ भगवान्की सेवा करनेके लिए यहाँपर आये हैं ॥१३०॥ उन कल्पवृक्षोंके फल आभूषणोंके समान, पत्ते वस्त्रोंके समान, और शाखाओंके अग्रभागपर लटकती हुई देदीप्यमान मालाएँ वट-वृक्षकी जटाओंके समान प्रतीत होती थीं ॥१३१॥ इन कल्पवृक्षोंमें-से ज्योतिरंग कल्पवृक्षोंके नीचे ज्योतिष्क देव, दीपांग कल्पवृक्षोंके नीचे कल्पवासी देव, और मालांग कल्पवृक्षोंके नीचे भवनवासी इन्द्र क्रीड़ा करते हुए विश्राम कर रहे थे ॥१३२॥ इन कल्पवृक्षोंके वनके मध्यमें दिव्य सिद्धार्थ वृक्ष थे, जो कि सिद्ध प्रतिमाओंसे

पूर्वोक्ता वर्णना चैत्यवृक्षेष्वत्रापि योज्यताम् । किं कल्पाङ्घ्रिपा एते संकल्पितसुभोगदाः ॥१३४॥
पर्यन्तेऽथ वनानां सद्रम्यास्ति वनवेदिका । चामीकरमयै रत्नैः खचिताङ्गी प्रभास्वराः ॥१३५॥
राजतानि विराजन्ते तस्यां सद्गोपुराणि वै । मुक्ताऽम्बनदामौघैर्घण्टाजालप्रलम्बनैः ॥१३६॥
सङ्गीतातोद्यनृत्तैश्च पुष्पमालाष्टमङ्गलैः । उत्तुङ्गशिखरैर्दीप्रैः रत्नाभरणतोरणैः ॥१३७॥
ततो वीथ्यन्तरालस्थां विविधा ध्वजपङ्क्तयः । परां महीमलंचक्रुर्हेमस्तम्भाग्रलम्बिताः ॥१३८॥
मणिपीठेषु सुस्थास्ते शोभन्ते स्वोन्नतिश्रिया । कर्मारिविजयं भर्तुः पुंसां वक्तुमिवोद्यताः ॥१३९॥
अष्टाशीत्यङ्गुलान्येषां रुन्द्रत्वं गणिभिर्मतम् । पञ्चविंशतिचापानि स्तम्भानामन्तरं विदुः ॥१४०॥
मानस्तम्भा ध्वजास्तम्भाः सिद्धार्थचैत्यपादपाः । स्तूपाः सतोरणाः सर्वे प्राकारा वनवेदिकाः ॥१४१॥
प्रोक्तास्तीर्थकरोत्सेधादुत्सेधेन द्विषड्गुणाः । आयामयोग्यमेतेषां विस्तारं ज्ञानिनो विदुः ॥१४२॥
वनानां सर्वहर्म्याणां पर्वतानां तथैव च । तुङ्गत्वमेतदेवोक्तं द्वादशाङ्गाब्धिपारगैः ॥१४३॥
विस्तीर्णा अद्रयः सन्ति स्वोच्छ्रायादष्टसंगुणम् । स्तूपानां रौन्द्रमुत्सेधात्सातिरेकं भवेद् ध्रुवम् ॥१४४॥
वदन्ति वेदिकादीनामुत्सेधाच्च चतुर्थकम् । विस्तारं विश्वतत्त्वज्ञा गणाधीशाः सुरार्चिताः ॥१४५॥
क्वचिन्नद्यः क्वचिद्वाप्यः क्वचित्सैकतमण्डलम् । क्वचित्सभागृहादीनि भवन्त्यत्र वनान्तरे ॥१४६॥
वनवीथीमिमामन्तर्वप्रेऽसौ वनवेदिका । कलधौतमयी तुङ्गा चतुर्गोपुरभूषिता ॥१४७॥
अस्यास्तोरणमाङ्गल्यद्रव्याभरणसंपदः । गीतनर्तनवाद्याद्या विज्ञेयाः पूर्ववर्णिताः ॥१४८॥

अधिष्ठित और छत्र-चामरादि विभूतिसे विराजित थे ॥१३३॥ पूर्वमें जो चैत्यवृक्षोंका वर्णन किया गया है वह इन सिद्धार्थ वृक्षोंमें भी समझना चाहिए। किन्तु ये कल्पवृक्ष संकल्पित सभी उत्तम भोगोंको देनेवाले थे ॥१३४॥ इन कल्पवृक्षोंके वनोंके चारों ओर एक रमणीक वनवेदिका थी जो कि सुवर्ण-निर्मित, रत्नोंसे जड़ी हुई और अति प्रभायुक्त थी ॥१३५॥ उस वनवेदिकामें मोतियोंकी लटकती हुई मालाओंके पुंजसे और लटकते हुए घण्टा-समूहसे युक्त रजतमयी चार उत्तम गोपुर द्वार थे ॥१३६॥ वे सब संगीत, वादित्र और नृत्योंसे, पुष्पमाला आदि अष्टमंगलद्रव्योंसे, ऊँचे शिखरोंसे तथा देदीप्यमान रत्नोंके आभूषणवाले तोरणोंसे शोभित थे ॥१३७॥ उससे आगे वीथीके अन्तरालमें सोनेके स्तम्भोंके अग्रभागपर फहराती हुई अनेक प्रकारकी ध्वजा-पंक्तियाँ वहाँकी श्रेष्ठ भूमिको अलंकृत कर रही थीं ॥१३८॥ मणिमयी पीठोंपर अवस्थित वे ध्वजस्तम्भ अपनी उन्नत शोभासे ऐसे शोभित हो रहे थे, मानो स्वामीकी कर्म-शत्रुकी जीतको पुरुषोंसे कहनेके लिए ही उद्यत हो रहे हैं ॥१३९॥ इन ध्वजास्तम्भोंकी मोटाई अठासी (८८) अंगुल और स्तम्भोंका पारस्परिक अन्तराल पच्चीस (२५) धनुष गणधरोंने बताया है। समवशरणमें स्थित सर्व मानस्तम्भ, ध्वजास्तम्भ, सिद्धार्थ-वृक्ष, चैत्यवृक्ष, स्तूप, तोरण-सहित प्राकार और वनवेदिकाएँ तीर्थंकरके शरीरकी ऊँचाईसे बारह गुनी ऊँचाईवाली कही गयी हैं। इनका आयाम और विस्तार ज्ञानियोंको इनके योग्य जान लेना चाहिए ॥१४०–१४२॥ समवशरणमें स्थित वनोंकी, सर्व भवनोंकी तथा पर्वतोंकी ऊँचाई भी इतनी ही द्वादशांग श्रुत-सागरके पारगामी गणधर देवोंने कही है ॥१४३॥ पर्वत अपनी ऊँचाईसे आठ गुणित विस्तीर्ण हैं, और स्तूपोंकी मोटाई उनकी ऊँचाईसे निश्चयतः कुछ अधिक है ॥१४४॥ विश्वतत्त्वोंके ज्ञाता, देव-पूजित गणधरदेव वनवेदिकादिकी मोटाई ऊँचाईसे चौथाई कहते हैं ॥१४५॥ इस वनके मध्यमें कहीं नदियाँ, कहीं वापियाँ, कहीं सिकता-(बालुका-) मण्डल, और कहींपर सभागृह आदि थे ॥१४६॥ इन वनवीथियोंको घेरे हुए सुवर्णमयी, उन्नत और चार गोपुर द्वारोंसे भूषित वनवेदिका थी ॥१४७॥ इसके तोरणद्वार, मांगलिक द्रव्य, आभूषण सम्पदा, और गीत-नृत्य वादित्रादिकी शोभा पूर्वोक्त वर्णनके समान ही जाननी चाहिए ॥१४८॥

अथोल्लङ्घ्य प्रतोलीं तां परितः परिवीथ्यभूत् । नानाप्रासादपङ्क्तिभिर्निर्मिता देवशिल्पिभिः ॥१४९॥
हिरण्मयमहास्तम्भा वज्राधिष्ठानबन्धिताः । चन्द्रकान्तशिला दिव्यभित्तयो मणिचित्रिताः ॥१५०॥
सहर्म्यद्वितलाः केचित्केचिच्च त्रिचतुस्तलाः । चन्द्रशालयुताः केचिद्वलभिच्छन्दशोभिताः ॥१५१॥
प्रासादा भान्ति ते तुङ्गाः स्वतेजोम्बुधिमध्यगाः । दीप्रा उत्तुङ्गकूटाग्रैर्ज्योत्स्नया निर्मिता इव ॥१५२॥
कूटागारसभागेहप्रेक्षशाला बभुः क्वचित् । शय्यासनयुतास्तुङ्गाः सोपानाः इवेतिताम्बराः ॥१५३॥
सगन्धर्वाः सुरा व्यन्तरा ज्योतिष्काः खगेश्वराः । पन्नगाः किन्नरैः सार्धं रमन्ते तेषु चान्वहम् ॥१५४॥
केचित्तद्गीतगानैश्च केचिद्वादित्रवादनैः । नृत्तधर्मादिगोष्ठीभिर्जिनमाराधयन्ति ते ॥१५५॥
पद्मरागमयास्तुङ्गाश्चिताः स्तूपा नवोद्ययुः । वीथीनां मध्यभूभागे सिद्धार्हत्प्रतिमाव्रजैः ॥१५६॥
स्तूपानामन्तरेष्वेषां मणितोरणमालिकाः । विचित्रितनभोभागा भान्तीवेन्द्रधनुर्निभाः ॥१५७॥
द्विधार्चाभिर्ध्वजच्छत्रसर्वमङ्गलसंपदा । धर्ममूर्तय एवैव राजन्ते ते स्वतेजसा ॥१५८॥
तत्राभिषिच्य संपूज्य भव्यास्ता प्रतिमाः पराः । ततः प्रदक्षिणीकृत्य स्तुत्वाऽर्जयन्ति सद्वृषम् ॥१५९॥
स्तूपहर्म्यावलीरुद्धामुल्लङ्घ्य तां महीं ततः । नभःस्फटिकशालोऽभूत्स्फुरज्ज्योत्स्नात्तदिक्तटः ॥१६०॥
विभ्राजन्तेऽस्य शालस्य दिव्यानि गोपुराणि च । पद्मरागमयान्युच्चैर्भव्यरागमयानि च ॥१६१॥
अत्रापि पूर्ववज्ज्ञेया मङ्गलद्रव्यसंपदः । नेपथ्यतोरणाः सर्वे निधयो नर्तनादयः ॥१६२॥

इसके पश्चात् इस प्रतोलीको उल्लंघन करके उससे आगे सर्व ओर एक और वीथी थी जो देव-शिल्पियोंसे निर्मित नाना प्रकारके प्रासाद-(भवन)-पंक्तियोंसे शोभित हो रही थी ॥१४९॥ उन प्रासादोंके सुवर्णमयी महास्तम्भ थे, उनका वज्रमय अधिष्ठान बन्धन था, चन्द्रकान्तमणिमयी शिलावाली उनकी दिव्य भित्तियाँ थीं और वे नाना प्रकारकी मणियोंसे जड़ी हुई थीं ॥१५०॥ उस प्रासाद-पंक्तिमें कितने ही भवन दो खण्डवाले, कितने ही तीन खण्डवाले और कितने चार खण्डवाले थे। कितने ही चन्द्रशाला (छत) से युक्त थे और कितने ही वलभी (छज्जा और गेलेरी) से शोभित थे ॥१५१॥ देदीप्यमान, ऊँचे कूटाग्रोंसे शोभित, अपने तेजकान्तिरूपी समुद्रके मध्यमें अवस्थित वे प्रासाद ऐसे शोभा दे रहे थे, मानो चन्द्रकी चन्द्रिकासे ही निर्मित हुए हों ॥१५२॥ वे प्रासाद कूटागार, सभागृह, प्रेक्षणशाला, शय्या और आसनोंसे युक्त एवं उत्तुंग थे। उनके सोपान अपनी धवलिमासे आकाशको धवलित कर रहे थे ॥१५३॥ उनमें गन्धर्व, व्यन्तर, ज्योतिष्क और पन्नगदेव, तथा विद्याधर किन्नरोंके साथ सदा क्रीड़ा कर रहे थे ॥१५४॥ उनमें से कितने ही गीत-गायनोंसे, कितने ही वादित्र बजानेसे, कितने ही नृत्योंसे और कितने ही धर्मगोष्ठी आदिके द्वारा जिनभगवान्की आराधना कर रहे थे ॥१५५॥ उन वीथियोंके मध्य भूभागमें पद्मराग मणिमयी, नौ ऊँचे स्तूप थे जो सिद्ध और अरहन्तदेवकी प्रतिमाओंके समूहसे युक्त थे ॥१५६॥ इन स्तूपोंके अन्तरालमें नभोभागको चित्र-विचित्रित करनेवाली मणिमयी तोरणमालिकाएँ इन्द्रधनुषके समान शोभित हो रही थीं ॥१५७॥ वे अर्हन्त-सिद्धोंकी प्रतिमासमूहसे, ध्वजा-छत्रादि सर्व सम्पदासे और अपने तेजसे धर्ममूर्तियोंके समान शोभायमान हो रही थीं ॥१५८॥ वहाँपर जाकर भव्य जीव उन उत्तम प्रतिमाओंका अभिषेक कर, पूजन कर, प्रदक्षिणा देकर और स्तुति करके उत्तम धर्मका उपार्जन कर रहे थे ॥१५९॥ इस स्तूप और प्रासादोंकी पंक्तिसे व्याप्त वीथीवाली भूमिका उल्लंघन कर उससे कुछ आगे अपनी स्फुरायमान शुभ्र ज्योत्स्नासे दिग्भागको आलोकित करनेवाला, आकाशके समान स्वच्छ स्फटिकमणिमयी एक शाल (प्राकार) था। इस शालके पद्मरागमणिमयी, ऊँचे दिव्य गोपुरद्वार शोभित हो रहे थे, जो ऐसे प्रतीत होते थे, मानो भव्य जीवोंका धर्मानुराग ही एकत्रित हो गया है ॥१६०-१६१॥ यहाँपर भी पूर्वके समान ही मंगलद्रव्यसम्पदा, आभूषणयुक्त तोरण, नवों निधियाँ और गीत-वादित्र-नर्तन

भान्ति चामरतालाब्दध्वजछत्रैः सहोर्जिताः । सुप्रतिष्ठिकभृङ्गारकलशा गोपुरं प्रति ॥१६३॥
द्वारेषु त्रिकशालानां गदादिपाणयः सुराः । द्वारपालाः क्रमादासन् भौमभावननाकजाः ॥१६४॥
तत्राच्छस्फटिकाच्छालादापीठान्तं समायताः । भित्तयः षोडशाभूवन् महावीथ्यन्तराश्रिताः ॥१६५॥
तासां स्फटिकभित्तीनां मूर्ध्नि श्रीमण्डपोऽभवत् । वियद्रत्नमयस्तुङ्गो रत्नस्तम्भैः समुद्धृतः ॥१६६॥
सत्यं श्रीमण्डपोऽत्रायं जगच्छ्रीमन्दिराभृतः । यत्रार्हद्ध्वनिना भव्या लभन्ते द्युशिवश्रियम् ॥१६७॥
तन्मध्ये राजते तुङ्गा प्रथमा पीठिका तराम् । वैडूर्यरत्ननिर्माणा तेजसा व्याप्तदिग्मुखा ॥१६८॥
तस्याः षोडशसोपानमार्गाः स्युः षोडशान्तराः । चतुर्दिक्षु द्विषट्कोष्ठप्रवेशेषु च विस्तृताः ॥१६९॥
पीठिकां तामलंचक्रुरष्टौ मङ्गलभूतयः । यक्षैश्च धर्मचक्राणि प्रोद्धृतानि स्वमूर्धभिः ॥१७०॥
सहस्राराणि तान्युच्चैर्वदन्तीवांशुवाक्चयैः । धर्मं जगत्सतां भान्ति जिनाश्रयाद्धसन्ति वा ॥१७१॥
तस्या उपरि सत्पीठमभवद्द्वितीयं परम् । तुङ्गं हिरण्मयं कान्त्या जितादित्येन्दुमण्डलम् ॥१७२॥
चक्रेभेन्द्रवृषाम्भोजदिव्यांशुकमृगेशिनाम् । गरुडस्य च माल्यस्य ध्वजा अष्टौ मनोहराः ॥१७३॥
तस्योपरितले तुङ्गा राजन्ते दीप्रविग्रहैः । दिक्ष्वष्टासु सुपीठस्य सिद्धाष्टगुणसंनिभाः ॥१७४॥
तस्योपरि स्फुरद्रत्नरोचिर्विध्वस्तमश्चयम् । सर्वरत्नमयं ह्यासीत्तृतीयं पीठमूर्जितम् ॥१७५॥

आदि सब साज-बाज थे ॥१६२॥ प्रत्येक गोपुर द्वारपर चामर, तालवृन्त, दर्पण, ध्वजा, और छत्रोंके साथ प्रकाशमान सुप्रतिष्ठिक, भृंगार और कलश ये अष्ट मंगलद्रव्य शोभित हो रहे थे ॥१६३॥

उक्त तीनों ही शालोंके द्वारोंपर गदा आदिको हाथोंमें लिये हुए व्यन्तर, भवनवासी और कल्पवासी देव क्रमसे द्वारपाल बनकर खड़े हुए थे ॥१६४॥ वहाँपर उक्त स्वच्छ स्फटिक मणिमयी शालसे लेकर पीठ-पर्यन्त लम्बी, चारों महावीथियोंके अन्तरालके आश्रित सोलह भित्तियाँ थीं ॥१६५॥

उन स्फटिकमणिमयी भित्तियोंके शिखरपर रत्नमयी स्तम्भोंसे उठाया हुआ, निर्मल रत्न-निर्मित, उत्तुंग श्रीमण्डप था ॥१६६॥ यह सत्यार्थमें श्रीमण्डप ही था, क्योंकि यह तीन जगत्‌की सर्वोत्कृष्ट श्री (लक्ष्मी) से भर-पूर था और जहाँपर आकर भव्यजीव अर्हन्तदेवकी दिव्यध्वनिसे स्वर्ग और मोक्षकी श्रीको प्राप्त करते थे ॥१६७॥ उस श्रीमण्डपके मध्यमें ऊँची प्रथम पीठिका अति शोभित हो रही थी, जो कि वैडूर्यरत्नोंसे निर्माण की गयी थी और अपने तेजसे सर्व दिशाओंके मुखोंको व्याप्त कर रही थी ॥१६८॥

उस प्रथम पीठिकाके सर्व ओर सोलह अन्तराल-युक्त सोलह सोपानमार्ग थे। जिनमें से चार सोपानमार्ग तो चारों दिशाओंमें थे और बारह सोपानमार्ग बारह कोठोंके प्रवेशद्वारोंकी ओर फैले हुए थे ॥१६९॥

इस प्रथम पीठिकाको आठों मंगलद्रव्य अलंकृत कर रहे थे और यक्षदेव अपने मस्तकोंपर धर्मचक्रोंको धारण किये हुए खड़े थे। वे धर्मचक्र एक-एक हजार आरोंवाले थे और ऐसे शोभायमान हो रहे थे, मानो अपनी किरणरूप वचन-समूहसे जगत्‌के सज्जनोंको धर्मका स्वरूप ही कह रहे हों, अथवा जिनदेवके आश्रयसे हँस ही रहे हों ॥१७०-१७१॥

इस प्रथम पीठके ऊपर हिरण्यमयी अति उन्नत द्वितीय पीठ था, जो अपनी कान्तिसे चन्द्रमण्डलको जीत रहा था ॥१७२॥ इस दूसरे पीठके उपरिम तलपर चक्र, गजराज, वृषभ, कमल, दिव्यांशुक, सिंह, गरुड़ और मालाकी आठ मनोहर ऊँची ध्वजाएँ आठों दिशाओंमें शोभायमान हो रही थीं, जो अपने प्रदीप्त आकारोंसे सिद्धोंके आठ गुणोंके सदृश प्रतीत हो रही थीं ॥१७३-१७४॥ इस द्वितीय पीठके ऊपर अपनी स्फुरायमान रत्नकिरणोंसे [illegible]

भाति तत्परमं पीठं जित्वा तेजांसि नाकिनाम् । स्वांशुभिर्हसतीवात्रानेकमङ्गलसंपदा ॥१७६॥
तस्योपरि जगत्सारां पृथ्वीं गन्धकुटीं पराम् । रैराड् निवेशयामास तेजोमूर्तिमिवाद्भुताम् ॥१७७॥
भाति सार्थकनाम्नी सा सुगन्धीकृतखाङ्गणा । दिव्यगन्धमहाधूपनानास्रक्पुष्पवर्षणैः ॥१७८॥
तस्या यां यक्षराट्चक्रे दिव्यां हि रचनां पराम् । नानाभरणविन्यासैर्मुक्ताजालैर्गतोपमैः ॥१७९॥
हैमैर्जालैस्तरां स्थूलैः स्फुरद्रत्नैस्तमोपहैः । तां को वर्णयितुं शक्तो बुधः श्रीगणिनं विना ॥१८०॥
तस्या मध्ये व्यधाद् रैदः परार्घ्यमणिभूषितम् । हैमं सिंहासनं दिव्यं स्वप्रभाजितभास्करम् ॥१८१॥
विष्टरं तदलंचक्रे कोट्यादित्याधिकप्रभः । भगवान् श्रीमहावीरस्त्रिजगद्भव्यवेष्टितः ॥१८२॥
अनन्तमहिमारूढो विश्वाङ्ग्युद्धरणक्षमः । चतुर्भिरङ्गुलैः स्वेन महिम्नाऽस्पृष्टतत्तलः ॥१८३॥
इत्थं श्रीजिनपुङ्गवो बुधनुतो विश्वैकचूडामणिः संप्राप्तः परमां विभूतिमतुलां बाह्यां सुरैः कल्पिताम् । अन्तातीतगुणैः समं निरुपमैः कैवल्यभूत्या च यस्तं लोकैकपितामहं गुणगणैः श्रीवर्धमानं स्तुवे ॥१८४॥

यो लोकत्रयतारणैकचतुरः कर्मारिविध्वंसक
आस्ते दिव्यसभागणैः परिवृतो धर्मोपदेशोद्यतः ।
नो निष्कारणबान्धवस्त्रिजगति श्रीवीरनाथो महां-
ल्लब्ध्वानन्तचतुष्टयः स्वशिरसा तद्भूतये नौमि तम् ॥१८५॥

अन्धकारके समूहको विध्वस्त करनेवाला, सर्वरत्नमयी तेजस्वी तृतीय पीठ था ॥१७५॥ यह परम पीठ अपनी उज्ज्वल किरणोंके द्वारा और अनेक मांगलिक सम्पदासे देवोंके तेजोंको जीतकर हँसता हुआ शोभित हो रहा था ॥१७६॥ इस तीसरे पीठके ऊपर कुबेरराजने जगत्में सारभूत उत्कृष्ट गन्धकुटी नामकी पृथ्वीको रचा था जो कि अद्भुत तेजोमूर्तिके समान थी ॥१७७॥

वह दिव्य सुगन्धीवाले धूपोंसे, और नाना प्रकारके पुष्पोंकी वर्षासे गगनांगणको सुगन्धित करती हुई अपना 'गन्धकुटी' यह नाम सार्थक कर रही थी ॥१७८॥ यक्षराजने उस गन्धकुटीकी दिव्य रचना नाना प्रकारके आभरण-विन्यासोंसे, उपमा-रहित मुक्ताजालोंसे, सुवर्ण-जालोंसे, स्थूल, स्फुरायमान और अन्धकार-विनाशक रत्नोंसे की थी, उसकी शोभाका वर्णन करनेके लिए श्री गणधरदेवके विना और कौन बुद्धिमान् समर्थ है ॥१७९-१८०॥

उस गन्धकुटीके मध्यमें यक्षराजने अनमोल उत्कृष्ट मणियोंसे भूषित, अपनी प्रभासे सूर्यकी प्रभाको जीतनेवाला, स्वर्णमयी दिव्य सिंहासन बनाया था ॥१८१॥ उस सिंहासनको कोटिसूर्यकी प्रभासे अधिक प्रभावाले और तीन लोकके भव्यजीवोंसे वेष्टित श्री महावीर प्रभु अलंकृत कर रहे थे ॥१८२॥

उसपर अनन्त महिमाशाली, विश्वके सर्वप्राणियोंके उद्धार करनेमें समर्थ, और अपनी महिमासे सिंहासनके तलभागको चार अंगुलोंसे नहीं स्पर्श करते हुए भगवान् अन्तरिक्षमें विराजमान थे ॥१८३॥

इस प्रकार विद्वज्जनोंसे नमस्कृत, विश्वके एकमात्र चूडामणि, जिनश्रेष्ठ श्रीवीरप्रभुने देवों द्वारा रचित बाहरी अतुल उत्कृष्ट समवशरण विभूतिको, तथा अनुपम अनन्त गुणोंके साथ केवल विभूतिको प्राप्त किया, उन लोकके अनुपम पितामह श्री वर्धमान जिनेन्द्रकी मैं गुणगणोंके द्वारा स्तुति करता हूँ ॥१८४॥ जो श्री वीरनाथ तीनों लोकोंके तारनेमें कुशल हैं, कर्म-शत्रुओंके विध्वंसक हैं, दिव्य सभागणोंसे परिवृत हैं, धर्मोपदेश देनेके लिए उद्यत हैं, जो तीन जगत्के जीवोंके अकारण बन्धु हैं, और अनन्त चतुष्टयको जिन्होंने प्राप्त किया है और जो महान् हैं, ऐसे श्री महावीर प्रभुको मैं उनकी विभूति पानेके लिए अपना मस्तक

असमगुणनिधानं केवलज्ञाननेत्रं त्रिभुवनपतिसेव्यं विश्वलोकैकबन्धुम् ।
निहतसकलदोषं धर्मचित्तीर्थकर्तारमिह शिवगुणाप्त्यै संस्तुवे वीरनाथम् ॥१८६॥

इति श्रीभट्टारकसकलकीर्तिविरचिते श्रीवीरवर्धमानचरिते देवागमन-
भगवत्समवशरणरचनावर्णनो नाम चतुर्दशोऽधिकारः ॥१४॥

झुकाकर नमस्कार करता हूँ ॥१८५॥ जो अनुपम गुणोंके निधान हैं, केवलज्ञानरूप नेत्रके धारक हैं, त्रिभुवनके स्वामियों द्वारा सेवित हैं, समस्त विश्वके एकमात्र बन्धु हैं, सर्व दोषोंके नाशक हैं, इस भूतलपर धर्मतीर्थके कर्ता हैं, ऐसे श्री वीरनाथकी मैं शिवके गुणोंकी प्राप्तिके लिए स्तुति करता हूँ ॥१८६॥

इति श्री भट्टारक सकलकीर्ति-विरचित श्री वीरवर्धमानचरितमें देवोंका आगमन और भगवान्‌के
समवशरण-रचनाका वर्णन करनेवाला चौदहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥१४॥

पञ्चदशोऽधिकारः

श्रीमते केवलज्ञानसाम्राज्यपदशालिने। नमो वृताय भव्योघैर्धर्मतीर्थप्रवर्तिने ॥१॥
परितस्तं जिनाधीशं व्याप्य स्वास्थानभूतलम्। सर्वं कुसुमवृष्टीः प्रकुर्वन्ति सुरवारिदाः ॥२॥
आयान्ती सा नमोभागाद्गन्धाकृष्टालिगुञ्जनैः। गायन्तीव जगन्नाथं भाति दिव्या तताम्बरा ॥३॥
सार्थकाख्याधरस्तुङ्गो जगच्छोकापनोदनात्। आसीदशोकवृक्षोऽत्र जिनाभ्यासेऽतिदीधिमान् ॥४॥
विचित्रैर्मणिपुष्पैर्मरकतादिसुपल्लवैः। चलच्छाखैर्महान् भाति भव्यानाह्वयतीव सः ॥५॥
विभोः शिरसि दीप्राङ्गं मुक्तालम्बनभूषितम्। नानारत्नव्रजैर्दिव्यैः पिनद्धदण्डमूर्जितम् ॥६॥
श्वेतछत्रत्रयं दीप्त्या जितचन्द्रं विराजते। त्रैलोक्याधिपतित्वं हि सतां सूचयतीव भोः ॥७॥
क्षीराब्धिवीचिसादृश्यैश्चतुःषष्टिप्रकीर्णकैः। यक्षपाण्यार्पितैर्दिव्यैर्वीज्यमानो जगद्गुरुः ॥८॥
त्रिजगद्भव्यमध्यस्थो लक्ष्म्याऽलंकृतविग्रहः। वरोत्तम इवाभाति मुक्तिनार्यः सुरूपवान् ॥९॥
सार्धद्वादशकोटिप्रमा जिताम्बुदगर्जनाः। देवदुन्दुभयो देवकरैराताडिताः पराः ॥१०॥
तर्जयन्त इवानेककर्मारातीन् जगत्सताम्। कुर्वन्ति विविधान् शब्दान् सुजिनोत्सवसूचकान् ॥११॥
दिव्यौदारिकदेहोत्थं दीप्रं भामण्डलं प्रभोः। कान्तं विराजते रम्यं कोटिसूर्याधिकप्रभम् ॥१२॥
निराबाधं निरौपम्यं प्रियं विश्वाङ्गिचक्षुषाम्। यशसां पुञ्ज एवेव निधिर्वा तेजसां परम् ॥१३॥
जिनेन्द्रश्रीमुखाद्दिव्यध्वनिर्विश्वहितंकरः। निर्याति प्रत्यहं सर्वतत्त्वधर्मादिसूचकः ॥१४॥

केवलज्ञानरूप साम्राज्यपदके भोक्ता, भव्य जीवोंसे वेष्टित, और धर्मतीर्थके प्रवर्तक श्रीमान् महावीर स्वामीके लिए नमस्कार है ॥१॥ जिस गन्धकुटीमें भगवान् विराजमान थे उस स्थानके सर्व भूभागको व्याप्त कर देवरूपी मेघ पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे ॥२॥ गगन-मण्डलसे आती हुई वह दिव्य पुष्पवृष्टि अपनी सुगन्धिसे आकृष्ट हुए भ्रमरोंकी गुंजारसे जगत्के नाथ वीर जिनेश्वरके गुणोंको गाती हुई-सी प्रतीत हो रही थी ॥३॥ जिनदेवके समीपमें अति उन्नत दीप्तिमान् अशोकवृक्ष था, जो कि जगत्के जीवोंके शोकको दूर करनेसे अपने नामको सार्थक कर रहा था ॥४॥ वह महान् अशोकवृक्ष मणिमयी विचित्र पुष्पोंसे, मरकतमणि-जैसे वर्णवाले उत्तम पत्तोंसे, तथा हिलती हुई शाखाओंसे भव्य जीवोंको बुलाता-सा प्रतीत होता था ॥५॥ प्रभुके शिरपर दीप्त कान्तिवाला, मुक्तामालाओंसे भूपित, दिव्य नाना रत्न-समूहसे जटित दण्डवाला, और अपनी कान्तिसे चन्द्रमाकी कान्तिको जीतनेवाला छत्रत्रय सज्जनोंको भगवान्के तीन लोकके स्वामीपनेकी सूचना देते हुएके समान शोभित हो रहा था ॥६-७॥ क्षीरसागरकी तरंगोंके सदृश शुभ्र वर्णवाले, यक्षोंके हस्तों द्वारा चौसठ चामरोंसे वीज्यमान, तीन लोकके भव्य जीवोंके मध्यमें स्थित, और लक्ष्मीसे अलंकृत शरीर-वाले, उत्तम रूपवाले जगद्-गुरु श्री वर्धमान स्वामी मुक्तिरमाके उत्तम वरके समान शोभित हो रहे थे ॥८-९॥ मेघोंकी गर्जनाको जीतनेवाली, देवोंके हाथोंसे बजायी जाती हुई साढ़े बारह करोड़ उत्तम देव-दुन्दुभियाँ अनेक कर्म-शत्रुओंकी तर्जना करती हुई और जगत्के सज्जनोंको उत्तम जिनोत्सवकी सूचना करती हुई नाना प्रकारके शब्दोंको कर रही थीं ॥१०-११॥ भगवान्के दिव्य औदारिक शरीरसे उत्पन्न हुआ देदीप्यमान कोटि सूर्यसे भी अधिक प्रभावाला रम्य भामण्डल शोभित हो रहा था ॥१२॥ वह भामण्डल सर्वबाधाओंसे रहित, अनुपम, सर्व प्राणियोंके नेत्रोंको प्रिय, यशोंका पुंज अथवा तेजोंका निधान-सा ही प्रतीत हो रहा था ॥१३॥ वीरजिनेन्द्रके श्रीमुखसे निकलनेवाली, विश्वहित-कारिणी, सर्व-

एकरूपो यथा मेघजलौघः पात्रयोगतः । चित्ररूपो द्रुमादीनां जायते फलभेदकृत् ॥१५॥
तथा दिव्यध्वनिश्चादावेकरूपोऽप्यनक्षरः । नानाभाषामयो व्यक्तरूपोऽक्षरमयो महान् ॥१६॥
जायतेऽनेकदेशोत्पन्नानां नृणां च नाकिनाम् । पशूनां धर्मचिद्वक्ता विश्वसंदेहनाशकृत् ॥१७॥
रत्नपीठत्रयाग्रस्थं सिंहासनमनुत्तरम् । आरूढो जगतां नाथो धर्मराजेव भात्यहो ॥१८॥
इत्यनर्घ्यैर्महादिव्यैः प्रातिहार्याष्टभिः परैः । अलंकृतो महावीरो सभायां राजते तराम् ॥१९॥
विभोः प्राग्दिशमारभ्य सत्कोष्ठे प्रथमे शुभे । गणीन्द्राद्या मुनीशौघाः स्थितिं चक्रे शिवाप्तये ॥२०॥
द्वितीये कल्पनार्यश्चाथेन्द्राणीप्रमुखाश्चिदे । तृतीये चार्यिकाः सर्वाः श्राविकाभिः समं मुदा ॥२१॥
चतुर्थे ज्योतिषां देव्यः पञ्चमे व्यन्तराङ्गनाः । षष्ठे भावनदेवानां पद्मावत्यादिदेवताः ॥२२॥
सप्तमे धरणेन्द्राद्याः सर्वे च भावनामराः । अष्टमे व्यन्तराः सेन्द्राः नवमे ज्योतिषां सुराः ॥२३॥
चन्द्रसूर्यादयः सेन्द्रा दशमे कल्पवासिनः । एकादशसत्कोष्ठे च खगेशप्रमुखा नराः ॥२४॥
कोष्ठे द्वादशमे तिर्यञ्चोऽहिसिंहमृगादयः । इति द्वादशकोष्ठेषु परीत्य त्रिजगद्गुरुम् ॥२५॥
द्विषड्भेदा गणा भक्त्या कृताञ्जलिपुटाः शुभाः । तिष्ठन्त्यग्निदाहार्ताः पातुं तद्वचनामृतम् ॥२६॥
वेष्टितस्तैर्जगद्भर्ता भासतेऽत्यन्तसुन्दरः । सर्वेषां धर्मिणां मध्ये धर्ममूर्तिरिवोच्छ्रितः ॥२७॥
अथ ते सामरा देवाधीशा धर्मरसोत्कटाः । भाले कृतकराब्जा जयजयादिप्रघोषकाः ॥२८॥

तत्त्व और धर्मको प्रकट करनेवाली दिव्य ध्वनि प्रतिदिन प्रकट होती थी ॥१४॥ जैसे मेघोंसे बरसा हुआ एक रूपवाला, जलसमूह वृक्षादिकोंके पात्र-योगसे विविध प्रकारके फलोंका उत्पन्न करनेवाला होता है, उसी प्रकार भगवान्‌की एक रूपवाली भी अनक्षरी दिव्यध्वनि नाना भाषामयी और व्यक्त अक्षरवाली होकर अनेक देशोंमें उत्पन्न हुए मनुष्यों, पशुओं और देवोंके समस्त सन्देहोंका नाश करनेवाली और धर्मका स्वरूप कथन करनेवाली थी ॥१५-१७॥ तीन रत्नपीठोंके अग्रभागपर स्थित अनुपम सिंहासनपर विराजमान ऐसे तीन जगत्‌के नाथ वीरजिनेन्द्र धर्मराजाके समान शोभित हो रहे थे ॥१८॥ इस प्रकार इन अमूल्य उत्कृष्ट आठ महाप्रातिहार्योंसे अलंकृत भगवान् महावीर समवशरण-सभामें अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे ॥१९॥

इस समवशरण-सभामें बारह कोठे थे। उनमें-से भगवान्‌की पूर्वदिशासे लेकर प्रथम शुभ प्रकोष्ठमें गणधरादि मुनीश्वरोंका समूह शिवपदकी प्राप्तिके लिए विराजमान था ॥२०॥ दूसरे कोठेमें इन्द्राणी आदि कल्पवासिनी देवियाँ विराजमान थीं। तीसरे कोठेमें सर्व आर्यिकाएँ श्राविकाओंके साथ हर्षसे बैठी हुई थीं ॥२१॥ चौथे कोठेमें ज्योतिषी देवोंकी देवियाँ बैठी थीं। पाँचवें कोठेमें व्यन्तर देवोंकी देवियाँ और छठे कोठेमें भवनवासी देवोंकी पद्मावती आदि देवियाँ बैठी थीं ॥२२॥ सातवें कोठेमें धरणेन्द्र आदि सभी भवनवासी देव बैठे थे। आठवें कोठेमें अपने इन्द्रोंके साथ व्यन्तर देव बैठे थे। नवें कोठेमें चन्द्र-सूर्यादि ज्योतिषी देव बैठे थे ॥२३॥

दशवें कोठेमें कल्पवासी देव बैठे थे। ग्यारहवें कोठेमें विद्याधर आदि मनुष्य बैठे थे और बारहवें कोठेमें सर्प, सिंह, मृगादि तिर्यंच बैठे थे। इस प्रकार बारह कोठोंमें बारह गणवाले जीव भक्तिसे हाथोंकी अंजलि बाँधे हुए, संसारतापकी अग्निसे पीड़ित होनेसे उसकी शान्तिके लिए भगवान्‌के वचनामृतका पान करनेके उत्सुक होकर त्रिजगद्-गुरुको घेरकर बैठे हुए थे ॥२४-२६॥ उक्त बारह गणोंसे वेष्टित, अत्यन्त सुन्दर, जगद्-भर्ता श्री वर्धमान भगवान् सर्वधर्मीजनोंके मध्यमें उन्नत धर्ममूर्तिके समान शोभायमान हो रहे थे ॥२७॥

अथानन्तर धर्मरूप रसके पान करनेके उत्कट अभिलाषी वे सौधर्मादि इन्द्र आनन्द-

त्रिः परीत्य जिनास्थानमण्डलं शरणं सताम् । प्रविशन् परया भक्त्या द्रष्टुकामा जगद्गुरुम् ॥२९॥
मानस्तम्भमहाचैत्यद्रुमस्तूपेषु संस्थितान् । जिनेन्द्रसिद्धबिम्बौघान् पूजयन्तो महार्चनैः ॥३०॥
लोकयन्तो निरौपम्यां दिव्यां तद्रचनां पराम् । देवैः कृतां क्रमाच्छक्रास्तत्सभां विविशुर्मुदा ॥३१॥
तत्रोत्तुङ्गपदारूढं तुङ्गसिंहासनाश्रितम् । तुङ्गकायं महातुङ्गमुत्तुङ्गैर्गुणकोटिभिः ॥३२॥
चतुर्वक्त्रं महावीरं वीज्यमानं प्रकीर्णकम् । ददृशुः परया भूत्या शक्राः विस्फारितेक्षणाः ॥३३॥
ततस्तं त्रिःपरीत्योच्चैर्भक्तिभारवशीकृताः । भक्त्या विन्यस्य भूभागे स्वजानून् कर्महानये ॥३४॥
भुवनत्रयसंसेव्यौ जिनेन्द्रस्य पदाम्बुजौ । नाकिनाथा स्फुरन्मूर्ध्ना प्रणेमुर्निर्जरैः समम् ॥३५॥
शच्याद्याः सकला देव्यः स्वाप्सरोभिः समं मुदा । पञ्चाङ्गं सत्प्रणामं त्रिजगन्नाथाय चक्रिरे ॥३६॥
तत्प्रणामे सुरेन्द्राणां रत्नशेखररश्मिभिः । विचित्रिताविबाभातां जिनेन्द्रचरणाम्बुजौ ॥३७॥
अकृच्छायामराधीशास्तद्गुणग्रामरञ्जिताः । परया दिव्यसामग्र्या तत्पूजां कर्तुमुद्ययुः ॥३८॥
कनत्काञ्चनभृङ्गारनालेभ्यः स्वच्छवारिजाः । धाराः स्वाघविशुद्धयै ते तत्क्रमाग्रे न्यपातयन् ॥३९॥
तथार्चयन् महाभक्त्या दिव्यगन्धैर्विलेपनैः । इन्द्रा भगवतो रम्यं पीठाग्रं भुक्तिमुक्तये ॥४०॥
मुक्ताफलमयैर्दिव्यैरक्षतैः श्वेतिताम्बरैः । व्यधुः पञ्चोन्नतान् पुञ्जांस्तदग्रेऽक्षयशर्मणे ॥४१॥
दिव्यैः कल्पद्रुमोद्भूतैः पुष्पमालादिकोटिभिः । चक्रुस्ते महतीं पूजां विभोः सर्वार्थसाधिनीम् ॥४२॥
सुधापिण्डजनैवेद्यान् रत्नथालार्पितान् सुराः । प्रभोः पादाम्बुजे भक्त्याऽऽढौकयन् स्वसुखाप्तये ॥४३॥

अपने देव-परिवारके साथ मस्तकपर कर-कमलोंको रखे और जय-जय आदि घोषणा करते हुए समवशरणमें प्रविष्ट हुए। उन्होंने सज्जनोंको शरण देनेवाले उस समवशरण मण्डलकी तीन प्रदक्षिणाएँ दीं। पुनः जगद्-गुरु श्री वीरजिनेन्द्रके दर्शनोंके इच्छुक उन देवेन्द्रादिकोंने परम भक्तिके साथ मानस्तम्भ, महाचैत्यवृक्ष और स्तूपोंमें विराजमान जिनेन्द्र और सिद्ध भगवन्तोंके बिम्ब-समूहकी महान् द्रव्योंसे पूजा की। पुनः समवशरणकी देवों द्वारा रचित अनुपम दिव्य रचनाको देखते हुए वे हर्षके साथ उस सभामें प्रविष्ट हुए ॥२८–३१॥ वहाँपर उत्तुंग स्थानपर रखे हुए उन्नत सिंहासनपर विराजमान, अति उत्तम कोटि-कोटि गुणोंसे उत्तुंग कायवाले, चार मुखोंके धारक, चामरोंसे वीज्यमान महावीर भगवान्को विस्फारित नेत्रवाले इन्द्रादिकोंने परम विभूतिके साथ देखा ॥३२-३३॥ तब भक्तिभारसे नम्रीभूत होकर उन सबने अति भक्तिके साथ भगवान्की तीन प्रदक्षिणाएँ देकर भूमि-भागपर अपनी जानुओं (घुटनों)को रखकर कर्मोंके नाश करनेके लिए तीन लोकके जीवोंसे सेवित जिनेन्द्रदेवके चरण-कमलोंको इन्द्रोंने समस्त देवोंके साथ मस्तकसे नमस्कार किया ॥३४-३५॥ शची आदि सभी देवियोंने अपनी-अपनी अप्सराओंके साथ त्रिजगदीश्वरको अति हर्षसे पंचांग नमस्कार किया ॥३६॥ उनके नमस्कार करते समय इन्द्रोंके रत्नमयी मुकुटोंकी किरणोंसे चित्र-विचित्र शोभाको धारण करते हुए जिनेन्द्रदेवके चरण-कमल अत्यन्त शोभायमान हो रहे थे ॥३७॥ जिनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती है, ऐसे वे देवोंके स्वामी इन्द्रादिक भगवान्के गुण-ग्रामसे अनुरंजित होकर उत्कृष्ट दिव्य सामग्रीके द्वारा वीरजिनेन्द्रकी पूजा करनेके लिए उद्यत हुए ॥३८॥ उन्होंने चमकते हुए सुवर्ण-निर्मित भृंगार नालोंसे स्वच्छ जलकी धारा अपने पापोंकी विशुद्धिके लिए भगवान्के चरणोंके आगे छोड़ी ॥३९॥ पुनः महाभक्तिसे उन इन्द्रोंने भुक्ति और मुक्तिकी प्राप्तिके लिए भगवान्के रमणीक पीठके आगे दिव्य गन्ध-विलेपनसे पूजा की ॥४०॥ पुनः अपनी स्वच्छतासे आकाशको धवल करनेवाले मुक्ताफलमयी दिव्य अक्षतोंसे उन्होंने अक्षय सुख पानेके लिए भगवान्के आगे पाँच उन्नत पुंज बनाये ॥४१॥ पुनः कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए दिव्य कोटि-कोटि पुष्पमालादिसे सर्व अर्थोंको सिद्ध करनेवाली भगवान्की महापूजा की ॥४२॥ पुनः उन देवोंने रत्नोंके थालोंमें रखे हुए अमृत

स्फुरद्रत्नमयैर्दीपैर्विश्वोद्योतनकारणैः । तेऽद्योतयन् जगन्नाथक्रमाब्जौ स्वचिदाप्तये ॥४४॥
कालोगुर्वादिसद्‌द्रव्यजातैर्धूमोत्करैर्वरैः । ततामोदैर्जिनाङ्घ्री तेऽधूपयन् धर्मसिद्धये ॥४५॥
कल्पशाखिभवैर्नानाफलैर्नेत्रप्रियैर्वरैः । तेऽपूजयन् जिनेन्द्राङ्घ्री महाफलप्रसिद्धये ॥४६॥
पूजान्ते ते सुराधीशाः कुसुमाञ्जलिकोटिभिः । पुष्पवृष्टिं मुदा चक्रुः परितस्तं जगद्‌गुरुम् ॥४७॥
पञ्चरत्नोद्भवैश्चूर्णैर्विचित्रं बलिमूर्जितम् । स्वहस्तेनालिखद्भक्त्या विभोरग्रे शची तदा ॥४८॥
ततः प्रणम्य तीर्थेशं तुष्टास्ते देवनायकाः । ईषन्नम्रा महाभक्त्या स्वहस्तकुड्मलीकृताः ॥४९॥
दिव्यवाचा जिनेन्द्रस्य गुणैरन्तातिगैः परैः । आरेभिरे स्तुतिं कर्तुमित्थं तद्‌गुणहेतवे ॥५०॥
त्वं देव जगतां नाथो गुरूणां त्वं महागुरुः । पूज्यानां त्वं महापूज्यो वन्द्यस्त्वं वन्द्यनाकिनाम् ॥५१॥
योगिनां त्वं महायोगी व्रतिनां त्वं महाव्रती । ध्यानिनां त्वं महाध्यानी धीमतां त्वं महासुधीः ॥५२॥
ज्ञानिनां त्वं महाज्ञानी यतीनां त्वं जितेन्द्रियः । स्वामिनां त्वं परः स्वामी जिनानां त्वं जिनोत्तमः ॥५३
ध्येयानां त्वं सदा ध्येयः स्तुत्यः स्तुत्यात्मनां विभो । दातॄणां त्वं महादाता गुणिनां त्वं महागुणी ॥५४॥
धर्मिणां त्वं परो धर्मी हितानां त्वं परो हितः । त्राता त्वं भवभीरूणां हन्ता त्वं स्वान्यकर्मणाम् ॥५५॥
शरण्यो निःशरण्यानां सार्थवाहः शिवाध्वनि । निःकारणमहाबन्धुरबन्धूनां त्वं जगद्धितः ॥५६॥
लोभिनां त्वं महालोभी त्रिजगाग्रराज्यकाङ्क्षणात् । रागिणां त्वं महारागी मुक्तिस्त्रीसङ्गचिन्तनात् ॥५७॥

पिण्डमयी नैवेद्यको अपने सुखकी प्राप्तिके लिए भक्तिके साथ प्रभुके चरण-कमलोंमें चढ़ाया ॥४३॥ पुनः स्फुरायमान रत्नमयी, विश्वके प्रकाश करनेमें कारणभूत दीपोंके द्वारा अपने चैतन्यस्वरूपकी प्राप्तिके लिए उन इन्द्रोंने जगत्‌के नाथ वीरजिनेन्द्रके चरण-कमलोंको प्रकाशित किया ॥४४॥ तत्पश्चात् उन इन्द्रोंने कालागुरु आदि उत्तम द्रव्योंसे निर्मित, सुगन्धित श्रेष्ठ धूप-समूहसे जिनदेवके चरण-कमलोंको धूपित किया ॥४५॥ तदनन्तर कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न हुए, नेत्र-प्रिय, श्रेष्ठ अनेक महाफलोंसे उन्होंने मुक्तिरूप महाफलकी सिद्धिके लिए जिनेन्द्रके चरण-कमलोंकी पूजा की ॥४६॥ इस प्रकार अष्टद्रव्योंसे पूजा करनेके अन्तमें उन इन्द्रोंने कोटि-कोटि कुसुमांजलियोंसे जगद्-गुरुके सर्व ओर हर्षित होकर पुष्पवृष्टि की ॥४७॥ तत्पश्चात् इन्द्राणीने प्रभुके आगे पाँच जातिके रत्नोंके चूर्णों द्वारा अपने हाथसे भक्तिके साथ अनेक प्रकारके उत्तम सांथिया आदिको लिखा ॥४८॥ तदनन्तर पूजा करनेसे अति सन्तुष्ट हुए उन देवोंके नायक इन्द्रोंने कुछ नम्रीभूत होकर महाभक्तिसे अपने हाथोंको जोड़कर तीर्थंकर प्रभुको नमस्कार कर दिव्य वचनोंसे जिनेन्द्रदेवके अन्त-रहित (अनन्त) गुणोंके द्वारा उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए इस प्रकार स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥४९-५०॥

हे देव, तुम सारे जगत्‌के नाथ हो, तुम गुरुजनोंके महागुरु हो, पूज्योंके महापूज्य हो, वन्दनीय देवेन्द्रोंके भी तुम वन्दनीय हो ॥५१॥ तुम योगियोंमें महायोगी हो, व्रतियोंमें महाव्रती हो, ध्यानियोंमें महाध्यानी हो, और बुद्धिमानोंमें तुम महाबुद्धिमान् हो ॥५२॥ ज्ञानियोंमें तुम महाज्ञानी हो, यतियोंमें तुम जितेन्द्रिय हो, स्वामियोंके तुम परम स्वामी हो और जिनोंमें तुम उत्तम जिन हो ॥५३॥

ध्यान करने योग्य पुरुषोंके तुम सदा ध्येय हो, स्तुति करने योग्य पुरुषोंके तुम स्तुत्य हो, दाताओंमें तुम महादाता हो और हे प्रभो, गुणीजनोंमें तुम महागुणी हो ॥५४॥ धर्मीजनोंमें तुम परमधर्मी हो, हितकारकोंमें तुम महान् हितकारक हो, भव-भीरुजनोंके तुम त्राता (रक्षक) हो और अपने तथा अन्य जीवोंके कर्मोंके नाश करनेवाले हो ॥५५॥ अशरणोंको आप शरण देनेवाले हैं, शिवमार्गमें सार्थवाह हैं, अबन्धुओंके आप अकारण बन्धु हैं और जगत्‌के हितकर्ता हैं ॥५६॥ लोभीजनोंमें आप महालोभी हैं, क्योंकि त्रिजगत्‌के अग्रभागपर स्थित मुक्तिसाम्राज्यकी आकांक्षासे युक्त हैं। रागियोंमें आप महारागी हैं, क्योंकि मुक्ति स्त्रीके

सग्रन्थानां सुसग्रन्थो दृगादिरत्नसंग्रहात् । हन्तॄणां त्वं महाहन्ता कर्मारातिनिकन्दनात् ॥५८॥
जेतॄणां त्वं महाजेता कषायाक्षारिनिर्जयात् । निरीहस्त्वं स्वकायादौ विश्वाग्रश्रीसमीहकः ॥५९॥
देवीनिकरमध्यस्थो ब्रह्मचारी परोऽसि च । एकवक्त्रोऽपि देवस्त्वं चतुर्वक्त्रो विलोक्यते ॥६०॥
श्रिया विश्वातिशायिन्याऽलंकृतस्त्वं जगद्गुरो । महानिर्ग्रन्थराडत्राद्वितीयोऽसि गणाग्रणीः ॥६१॥
अद्य देव वयं धन्याः सफलं नोऽद्य जीवितम् । कृतार्थाश्चरणा अद्य त्वद्यात्रागमनाद्विभो ॥६२॥
अद्य नः सफला हस्तास्तवेशार्चनतो गुरो । सफलान्यद्य नेत्राणि त्वत्पादाम्बुजवीक्षणात् ॥६३॥
सार्थकानि शिरांस्यद्य त्वत्क्रमाब्जप्रणामतः । पवित्राण्यद्य गात्राणि नो मत्पादसेवनात् ॥६४॥
सफला अद्य नो वाण्यो देव ते गुणभाषणात् । मनांसि निर्मलान्यद्य नाथ ते गुणचिन्तनात् ॥६५॥
देव ते या महत्योऽत्र ह्यनन्ता गुणराशयः । अशक्याः स्तोतुमत्यर्थं गौतमादिगणेशिनम् ॥६६॥
स्तुत्यास्ताः कथमस्माभिः परमा गुणखानयः । मत्वेति त्वत्स्तुतौ नाथ न कृतः श्रम ऊर्जितः ॥६७॥
अतो देव नमस्तुभ्यं नमोऽनन्तगुणात्मने । नमो विश्वाग्रभूताय नमस्ते गुरवे सताम् ॥६८॥
नमः परात्मने तुभ्यं नमो लोकोत्तमाय ते । केवलज्ञानसाम्राज्यभूषिताय नमोऽस्तु ते ॥६९॥
अनन्तदर्शिने तुभ्यं नमोऽनन्तसुखात्मने । नमस्तेऽनन्तवीर्याय मित्राय त्रिजगत्सताम् ॥७०॥
नमः श्रीवर्धमानाय विश्वमांगल्यकारिणे । नमः सन्मतये तुभ्यं महावीराय ते नमः ॥७१॥

संगमका चिन्तन करते हैं ॥५७॥ सग्रन्थों (परिग्रहीजनों) में आप महासग्रन्थ हैं, क्योंकि आपने सम्यग्दर्शनादि रत्नोंका संग्रह किया है। घातकजनोंमें आप महाघातक हैं, क्योंकि आपने कर्मरूपी महाशत्रुओंका घात किया है ॥५८॥ विजेताजनोंमें आप महाविजेता हैं, क्योंकि आपने कषाय और इन्द्रियरूपी शत्रुओंको जीत लिया है। अपने शरीरादिमें इच्छा-रहित हो करके भी आप विश्वके अग्रभागपर स्थित मुक्तिलक्ष्मीके वांछक हैं ॥५९॥ चतुर्निकाय-वाली देवियोंके समूहके मध्यमें स्थित हो करके भी आप परम ब्रह्मचारी हैं तथा एक मुखवाले हो करके भी आप चार मुखवाले दिखाई देते हैं ॥६०॥ हे जगद्गुरो, आप विश्वातिशायिनी लक्ष्मीसे अलंकृत हैं, आप महान् निर्ग्रन्थराज हैं, आपके समान संसारमें कोई दूसरा नहीं है और आप गणके अग्रणी हैं ॥६१॥ हे देव, आज हम लोग धन्य हैं, आज हमारा जीवन सफल हुआ है, और हे प्रभो, आज आपके दर्शनार्थ यात्रामें आनेसे हमारे चरण कृतार्थ हो गये हैं ॥६२॥ हे गुरो, आपका पूजन करनेसे आज हमारे हाथ सफल हो गये हैं और आपके चरण-कमलोंको देखनेसे हमारे नेत्र भी सफल हुए हैं ॥६३॥ आपके चरण-कमलोंको प्रणाम करनेसे हमारे ये शिर सार्थक हो गये हैं और आपके चरणोंकी सेवासे हमारे ये शरीर आज पवित्र हुए हैं ॥६४॥ हे देव, आपके गुणोंको कहनेसे हमारी वाणी आज सफल हुई है और हे नाथ, आपके गुणोंका चिन्तवन करनेसे हमारे मन आज निर्मल हो गये हैं ॥६५॥ हे देव, आपकी जो अनन्त महागुणराशि है, उसकी सम्यक् प्रकारसे स्तुति करनेके लिए गौतमादि गणधरदेव भी अशक्य हैं, तब हम-जैसे अल्पज्ञानियोंके द्वारा आपकी परम गुणराशि कैसे स्तवनीय हो सकती है। ऐसा समझकर हे नाथ, आपकी स्तुतिमें हमने अधिक श्रम नहीं किया है ॥६६-६७॥ इसलिए हे देव, आपको नमस्कार है, अनन्त गुणशाली, आपको नमस्कार है, विश्वके शिरोमणि, आपके लिए नमस्कार है और सन्तजनोंके गुरु, आपके लिए हमारा नमस्कार है ॥६८॥ हे परमात्मन्, आपके लिए नमस्कार है, हे लोकोत्तम, आपके लिए नमस्कार है, हे केवलज्ञान साम्राज्यसे विभूषित भगवन्, आपके लिए हमारा नमस्कार है ॥६९॥ हे अनन्तदर्शिन्, आपके लिए नमस्कार है, हे अनन्त सुखात्मन्, आपके लिए नमस्कार है, हे अनन्तवीर्यशालिन्, आपके लिए नमस्कार है, और तीन लोकके सन्तोंके मित्र आपके लिए हमारा नमस्कार है ॥७०॥ संसारका मंगल करनेवाले श्री वर्धमान स्वामीके लिए नमस्कार है, हे सन्मते आपके

नमो जगत्त्रयीनाथ स्वामिनां स्वामिनेऽनिशम् । नमोऽतिशयपूर्णाय दिव्यदेहाय ते नमः ॥७२॥
नमो धर्मात्मने तुभ्यं नमः सद्धर्ममूर्तये । धर्मोपदेशदात्रे च धर्मचक्रप्रवर्तिने ॥७३॥
इति स्तुतिनमस्कारभक्त्याद्यर्जितपुण्यतः । त्वत्प्रसादाज्जगन्नाथ सकला गुणराशयः ॥७४॥
त्वदीया द्रुतमस्माकं सन्तु त्वत्पदसिद्धये । यान्तु कर्मारयो नाशं सन्मृत्याद्या भवन्तु च ॥७५॥
इति स्तुत्वा जगन्नाथं मुहुर्नत्वा चतुर्विधाः । कृत्वेष्टप्रार्थनां भक्त्या सामरा वासवास्तदा ॥७६॥
ते धर्मश्रवणाय स्वस्वकोष्ठेषु ह्युपाविशन् । जिनेन्द्रसन्मुखा भव्या देव्योऽपि च हिताप्तये ॥७७॥
प्रस्तावेऽस्मिन् विलोक्याशु गणान् द्वादशसंख्यकान् । स्वस्वकोष्ठेषु चासीनान् सद्धर्मश्रवणोत्सुकान् ॥
यामत्रये गतेऽप्यस्यार्हतो न ध्वनिनिर्गमः । हेतुना केन जायेतादीन्द्रो हृदीत्यचिन्तयत् ॥७९॥
ततः स्वावधिना ज्ञात्वा गणेशाचरणाक्षमम् । मुनिवृन्दं पुनश्चेत्थं देवेन्द्रश्चिन्तयेत्सुधीः ॥८०॥
अहो मध्ये मुनीशानां मुनीन्द्रः कोऽपि तादृशः । नास्ति योऽर्हन्मुखोद्भूतान् विश्वतत्त्वार्थसंचयान् ॥८१॥
श्रुत्वा सकृत्करोत्यत्र द्वादशाङ्गश्रुतात्मनाम् । सम्पूर्णां रचनां शीघ्रं योग्यो गणभृतः पदे ॥८२॥
विचिन्त्येत्यनुविज्ञाय गौतमं विप्रमूर्जितम् । गणेन्द्रपदयोग्यं च गोतमान्वयभूषणम् ॥८३॥
केनोपायेन सोऽप्यत्रागमिष्यति द्विजोत्तमः । इति चिन्तां चकारोच्चैः सौधर्मेन्द्रः प्रसन्नधीः ॥८४॥
अहो एष मयोपायो ज्ञात आनयनं प्रति । विद्यादिगर्वितस्यास्य किंचित्पृच्छामि दुर्घटम् ॥८५॥
काव्यादिमङ्क्षु गत्वाहं पुरं ब्रह्माभिधं किल । तदज्ञानात्स वादार्थी स्वयमत्रागमिष्यति ॥८६॥

लिए हमारा नमस्कार है, हे महावीर, आपके लिए नमस्कार है ॥७१॥ हे जगत्त्रयी नाथ, आपके लिए नमस्कार है, हे स्वामियोंके स्वामिन्, आपके लिए नमस्कार है, हे अतिशय सम्पन्न आपके लिए नमस्कार है, और हे दिव्य देहके धारक, आपके लिए हमारा नमस्कार है ॥७२॥ हे धर्मात्मन्, आपके लिए नमस्कार है, हे सद्धर्ममूर्ते, आपके लिए नमस्कार है, हे धर्मोपदेशदातः, आपके लिए नमस्कार है, और हे धर्मचक्रके प्रवर्तन करनेवाले भगवन्, आपके लिए हमारा नमस्कार है ॥७३॥ हे जगन्नाथ, इस प्रकार स्तुति करने, नमस्कार और भक्ति आदिके करनेसे उपार्जित पुण्यके द्वारा आपके प्रसादसे आपकी यह सकल गुणराशि आपके पदकी सिद्धिके लिए शीघ्र ही हमें प्राप्त हो, हमारे कर्मशत्रुओंका नाश हो और हमें समाधिमरण, वोधिलाभ आदिकी प्राप्ति हो ॥७४-७५॥

इस प्रकार वे चतुर्निकायके इन्द्र अपने-अपने देवोंके साथ जगन्नाथ श्री वीरप्रभुकी स्तुति करके वार-वार नमस्कार करके और भक्तिके साथ इष्ट प्रार्थना करके धर्मोपदेश सुननेके लिए अपने-अपने कोठोंमें जिनेन्द्रकी ओर मुख करके जा बैठे तथा अन्य भव्य जीव और देवियाँ भी अपनी हितकी प्राप्तिके लिए इसी प्रकार अपने-अपने कोठोंमें जिनेन्द्रके सम्मुख जा बैठे ॥७६-७७॥ इसी अवसरमें सम्यक् धर्मको सुननेके लिए उन्मुक और अपने-अपने कोठोंमें बैठे हुए बारह गणोंको शीघ्र देखकर, तथा तीन प्रहरकाल बीत जानेपर भी इन अर्हन्तदेवकी दिव्यध्वनि किस कारणसे नहीं निकल रही है, इस प्रकारसे इन्द्रने अपने हृदयमें चिन्तवन किया ॥७८-७९॥ तब अपने अवधिज्ञानसे बुद्धिमान् इन्द्रने गणधरपदका आचरण करनेमें असमर्थ मुनिवृन्दको जानकर इस प्रकार विचार किया ॥८०॥ अहो, इन मुनीन्द्रोंके मध्यमें ऐसा कोई भी मुनीन्द्र नहीं है, जो कि अर्हन्मुख कमल-विनिर्गत सर्व तत्त्वार्थसमूहको एक बार सुनकर द्वादशांग श्रुतकी सम्पूर्ण रचनाको शीघ्र कर सके और गणधरके पदके योग्य हो ॥८१-८२॥ ऐसा विचार कर गौतमगोत्रसे विभूषित गौतमविप्रको उत्तम एवं गणधर पदके योग्य जानकर किस उपायसे वह द्विजोत्तम गौतम यहाँपर आवेगा, इस प्रकार प्रसन्नबुद्धि सौधर्मेन्द्रने गम्भीरतापूर्वक चिन्तवन किया ॥८३-८४॥ कुछ देर तक चिन्तवन करनेके पश्चात् वह मन ही मन बोला—अहो, इसके लानेके लिए मैंने यह उपाय जान लिया है कि किसी

इत्यालोच्य हृदा धीमान् यष्टिकान्वितसत्करम् । वृद्धब्राह्मणवेषं स कृत्वा तन्निकटं ययौ ॥८७॥
विद्यामदोद्धतं वीक्ष्य गौतमं प्रत्युवाच सः । विप्रोत्तमात्र विद्वांस्त्वं मत्काव्यैकं विचारय ॥८८॥
मद्गुरुश्रीवर्धमानाख्यो मौनालम्बी स विद्यते । ब्रूते मया समं नाहं काव्यार्थार्थी त्विहागतः ॥८९॥
काव्यार्थो नात्र जायेताजीविका मम पुष्कला । उपकारश्च भव्यानां तव ख्यातिर्भविष्यति ॥९०॥
तदाकर्ण्य द्विजः प्राह वृद्ध त्वत्काव्यमञ्जसा । यदि व्याख्याम्यहं सत्यं ततस्त्वं किं करिष्यसि ॥९१॥
ततः शक्रो जगावित्थं विप्र त्वं यदि निश्चितम् । याथातथ्येन मत्काव्यं व्याख्यास्याशु ततः स्फुटम् ॥९२॥
तव शिष्यो भवाम्येवं नो चेत्त्वं किं करिष्यसि । ततोऽवादीत्स रे वृद्ध श्रृणु मे निश्चितं वचः ॥९३॥
व्याख्यामि यद्यहं न त्वत्काव्यार्थं मद्भुवहो स्फुटम् । तर्ह्यहं त्वद्गुरोः शिष्यो भविष्यामि न संशयः ॥९४॥
एतैः पञ्चशतैः शिष्यैः स्वभ्रातृभ्यां सह द्रुतम् । अधुनैव जगत्ख्यातस्त्यक्त्वा वेदादिजं मतम् ॥९५॥
अस्यां मम प्रतिज्ञायां साक्ष्येतत्पुरपालकः । काश्यपाख्यो द्विजोऽमी च साक्षिणो निखिला जनाः ॥९६॥
तच्छ्रुत्वा तेऽवदन् सर्वे क्वचिद्दैवाच्चलेदहो । मन्दरो नास्य सद्वाक्यं सन्मतेरिव चार्हतः ॥९७॥
इत्यन्योन्यमहो वाचो जाते सति निबन्धने । तयोरिन्द्रस्ततो दिव्यगिरेदं काव्यमाह सः ॥९८॥

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं सकलगतिगणाः सत्पदार्था नवैव
विश्वं पञ्चास्तिकाया व्रतसमितिचिदः सप्ततत्त्वानि धर्माः ।

आदिके गर्वसे युक्त उससे कुछ दुर्घट (अति कठिन) काव्यादिके अर्थको शीघ्र उस ब्राह्मणके आगे जाकर पूछूँ ? उस काव्यके अर्थको नहीं जाननेसे वह वाद (शास्त्रार्थ) का इच्छुक होकर स्वयं ही यहाँपर आ जायेगा ॥८५-८६॥ हृदयमें ऐसा विचारकर वह बुद्धिमान् सौधर्मेन्द्र लकड़ी हाथमें लिये हुए वृद्ध ब्राह्मणका वेष बना करके उस गौतमके निकट गया ॥८७॥ विद्याके मदसे उद्धत गौतमको देखकर उसने उनसे कहा—हे विप्रोत्तम, आप विद्वान् हैं, अतः मेरे इस एक काव्यका अर्थ विचार करें ॥८८॥ मेरे गुरु श्री वर्धमान स्वामी हैं, वे इस समय मौन धारण करके विराज रहे हैं और मेरे साथ नहीं बोल रहे हैं। अतः काव्यके अर्थको जाननेकी इच्छावाला होकर मैं आपके पास यहाँ आया हूँ ॥८९॥ काव्यका अर्थ जान लेनेसे यहाँ मेरी बहुत अच्छी आजीविका हो जायेगी, भव्य जनोंका उपकार भी होगा और आपकी ख्याति भी होगी ॥९०॥

उसकी इस बातको सुनकर गौतम विप्र बोला—हे वृद्ध, यदि तेरे काव्यकी मैं शीघ्र सत्य अर्थ-व्याख्या कर दूँ, तो तुम क्या करोगे ॥९१॥ तब इन्द्रने यह कहा—हे विप्र, यदि तुम निश्चित यथार्थरूपसे शीघ्र मेरे काव्यकी स्पष्ट अर्थ-व्याख्या कर दोगे, तब मैं तुम्हारा शिष्य हो जाऊँगा। और यदि ठीक अर्थ-व्याख्या नहीं कर सके तो तुम क्या करोगे ? यह सुनकरके गौतम बोला—रे वृद्ध, तू मेरे निश्चित वचन सुन—'यदि मैं तेरे काव्यके अर्थकी स्पष्ट व्याख्या न कर सकूँ, तो जगत्प्रसिद्ध मैं गौतम अपने इन पाँच सौ शिष्योंके तथा अपने इन दोनों भाइयोंके साथ शीघ्र ही वेदादिके मतको छोड़कर अभी तत्काल ही तेरे गुरुका शिष्य हो जाऊँगा, इसमें कोई संशय नहीं है ॥९२-९५॥ मेरी इस प्रतिज्ञामें इस नगरका पालक यह काश्यप नामक द्विज साक्षी है और ये समस्त लोग भी साक्षी हैं ॥९६॥ गौतमकी यह बात सुनकर वे सब उपस्थित लोग बोले—अहो, क्वचित्-कदाचित् दैववश सुमेरु चल जावे, किन्तु इसके सद्वचन सन्मति अर्हन्तके समान कभी नहीं चल सकते हैं ॥९७॥ इस प्रकार उन दोनोंमें परस्पर प्रतिज्ञा-बद्ध वचनालाप होने पर उस इन्द्रने दिव्य वाणीसे यह काव्य कहा ॥९८॥

"त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं सकलगतिगणाः सत्पदार्था नवैव,
विश्वं पञ्चास्तिकाया व्रतसमितिचिदः सप्ततत्त्वानि धर्माः ।

सिद्धेर्मार्गः स्वरूपं विधिजनितफलं जीवषट्कायलेश्या
एतान् यः श्रद्धाति जिनवचनरतो मुक्तिगामी स भव्यः ॥९९॥
तदाकर्ण्यैष साश्चर्यस्तदर्थं ज्ञातुमक्षमः । मानभङ्गभयादित्थं मानसे हि वितर्कयेत् ॥१००॥
मोरिदं दुर्घटं काव्यं नास्यार्थो ज्ञायते मनाक् । त्रैकाल्यं किं भवेदत्र दिनोत्थं वाब्दसंभवम् ॥१०१॥
अथ कालत्रयोत्पन्नं यत्तज्जानाति सर्ववित् । वा यस्तदागमज्ञः स नान्यो मादृग्जनः क्वचित् ॥१०२॥
षड्द्रव्याः केऽत्र कथ्यन्ते कस्मिन् शास्त्रे निरूपिताः । सकला गतयः का भोस्तासां किं लक्षणं भुवि ॥१०३
ये पदार्था न श्रुताः पूर्वमेतान् को ज्ञातुमर्हति । विश्वं किं कथ्यते सर्वं त्रैलोक्यं वा न वेद्म्यहम् ॥१०४॥
केऽत्र पञ्चास्तिकाया हि व्रतानि कानि भूतले । का भोः समितयो ज्ञानं केनोक्तं तस्य किं फलम् ॥१०५॥
कानि सप्तैव तत्त्वानि के धर्मा वात्र कीदृशाः । सिद्धेश्च कार्यनिष्पत्तेर्वात्र मार्गोऽप्यनेकधा ॥१०६॥
किं स्वरूपं विधिः कोऽत्र किं तस्य जनितं फलम् । के षड्जीवनिकायाः काः षड्लेश्या न श्रुताः क्वचित् ॥
एतेषां लक्षणं जातु न श्रुतं प्राग्मया मनाक् । नास्मच्छास्त्रेषु वेदे वा स्मृत्यादिषु निरूपितम् ॥१०८॥
अहो मन्येऽहमत्रैवं सर्वं सिद्धान्तवारिधेः । रहस्यं दुर्घटं यत्तत्सर्वं पृच्छति मामयम् ॥१०९॥
मन्यते मन्मनोऽत्रेदं काव्यं गूढं विनोर्जितम् । सर्वज्ञं वा हि तच्छिष्यं व्याख्यातुं कोऽपि न क्षमः ॥११०॥
अधुना यद्यनेनामा विवादं वितनोम्यहम् । ततो मे मानभङ्गः स्यात्सामान्यद्विजवादतः ॥१११॥

सिद्धेर्मार्गः स्वरूपं विधिजनितफलं जीवषट्कायलेश्या
एतान् यः श्रद्धाति जिनवचनरतो मुक्तिगामी स भव्यः ॥९९॥"

इस काव्यको सुनकर आश्चर्ययुक्त हो और उसके अर्थको जाननेमें असमर्थ होकर वह गौतम मान-भंगके भयसे मनमें इस प्रकार विचारने लगा ॥१००॥ अहो, यह काव्य बहुत कठिन है, इसका जरा-सा भी अर्थ ज्ञात नहीं होता है। इस काव्यमें सर्वप्रथम जो 'त्रैकाल्य' पद है, सो उससे दिनमें होनेवाले तीन काल अभीष्ट हैं, अथवा वर्ष सम्बन्धी तीन काल अभीष्ट हैं? ॥१०१॥ यदि भूत, भविष्यत् और वर्तमान सम्बन्धी तीन काल अभीष्ट हैं, तो जो इन तीनों कालोंमें उत्पन्न हुई वस्तुओंको जानता है, वही सर्वज्ञ है और वही उसके आगमका ज्ञाता हो सकता है, मुझ सरीखा कोई जन कभी उसका ज्ञाता नहीं हो सकता ॥१०२॥ काव्यमें जो षड्द्रव्योंका उल्लेख है, सो वे छह द्रव्य कौनसे कहे जाते हैं, और वे किस शास्त्रमें निरूपण किये गये हैं? समस्त गतियाँ कौन-सी हैं, और उनका क्या लक्षण है? संसारमें अरे, जिन नौ पदार्थोंका नाम भी नहीं सुना है, उन्हें जाननेके लिए कौन योग्य है? विश्व किसे कहते हैं, सबको या तीन लोकको, यह भी मैं नहीं जानता हूँ ॥१०३-१०४॥ इस काव्यमें पठित पाँच अस्तिकाय कौन-से हैं, इस भूतलमें कौन-से पाँच व्रत हैं, और कौन-सी पाँच समितियाँ हैं? ज्ञान किसके द्वारा कहा गया है और उसका क्या फल है ॥१०५॥ सात तत्त्व कौन-से हैं, दश धर्म कौन-से हैं, और उनका कैसा स्वरूप है? सिद्धि और कार्य-निष्पत्तिका मार्ग भी संसारमें अनेक प्रकारका है ॥१०६॥ विधिका क्या स्वरूप है और उसका क्या फल उत्पन्न होता है? छह जीवनिकाय कौन-से हैं? छह लेश्याएँ तो कभी कहीं पर सुनी भी नहीं हैं ॥१०७॥ काव्योक्त इन सबका लक्षण मैंने पहले कभी जरा-सा भी नहीं सुना है और न हमारे वेदमें, शास्त्रोंमें अथवा स्मृति आदिमें इनका कुछ निरूपण ही किया गया है ॥१०८॥ अहो, मैं समझता हूँ कि इस काव्यमें सिद्धान्तसमुद्रका सारा कठिन रहस्य भरा हुआ है, और उसे ही यह बुड्ढा ब्राह्मण मुझसे पूछ रहा है ॥१०९॥ मेरा मन यह मानता है कि यह काव्य गूढ़ अर्थवाला है, उसे सर्वज्ञके अथवा उनके उत्तमज्ञानी शिष्यके बिना अन्य कोई भी मनुष्य अर्थ-व्याख्यान करनेके लिए समर्थ नहीं है ॥११०॥ अब यदि मैं इसके साथ विवाद करता हूँ तो साधारण ब्राह्मणके साथ बात करनेसे मेरा मान भंग होगा?

अतो गत्वा करोम्याशु विवादं गुरुणा सह । त्रिजगत्स्वामिनास्यैव चमत्कारकरं भुवि ॥११२॥
तेनोत्तमविवादेन महाख्यातिर्मेविष्यति । सर्वथा न मनाग्हानिर्मे जगद्गुरुसंश्रयात् ॥११३॥
विचिन्त्येति स कालादिलब्धिप्रेरित आह वै । वादं विप्र त्वया सार्धं न कुर्वे त्वद्गुरुं विना ॥११४॥
इत्युक्त्वासौ सभामध्ये शिष्यैः पञ्चशतैर्वृतः । भ्रातृभ्यां च ततो वेगान्निर्ययौ सन्मतिं प्रति ॥११५॥
क्रमात्सुधीर्व्रजन् मार्गे हृदये चिन्तयेदिति । असाध्योऽयमहो विप्रो गुरुः साध्योऽस्य मे कथम् ॥११६॥
अथवा महती योगाद्भावि यत्तन्ममास्तु भोः । किन्तु वृद्धिर्न हानिर्मे श्रीवर्धमानसंश्रयात् ॥११७॥
इत्थं स चिन्तयन् दूरान्मानस्तम्भान्महोन्नतान् । ददर्श पुण्यपाकेन जगदाश्चर्यकारिणः ॥११८॥
तेषां दर्शनवज्रेण मानाद्रिः शतचूर्णताम् । अगात्तस्य शुभो भावः प्रादुरासीच्च मार्दवः ॥११९॥
ततोऽतिशुद्धभावेन पश्यन् साश्चर्यमानसः । विभूतिं महतीं दिव्यां प्राविशत्तत्सभां द्विजः ॥१२०॥
तत्रान्तःस्थं जगन्नाथं विश्वर्धिगणवेष्टितम् । दिव्यविष्टरमासीनमपश्यत्स द्विजोत्तमः ॥१२१॥
ततोऽसौ परया भक्त्या त्रिः परीत्य जगद्गुरुम् । स्वकरौ कुड्मलीकृत्य नत्वा तच्चरणाम्बुजौ ॥१२२॥
मूर्ध्ना भक्तिभरेणैव नामाद्यैः षड्विधैः परैः । सार्थकैः स्तुतिनिक्षेपैः स्वसिद्ध्यै स्तोतुमुद्ययौ ॥१२३॥
भगवंस्त्वं जगन्नाथः सार्थैर्नामभिरूर्जितैः । अष्टोत्तरसहस्रैः संभूषितो नामकर्मभित् ॥१२४॥
नाम्नैकेनाखिलार्थज्ञो यस्त्वां स्तौति मुदा सुधीः । सोऽचिरात्त्वत्समानानि नामान्याप्नोति तत्फलात् ॥

अतः इसके त्रिजगत्स्वामी गुरुके समीप शीघ्र जाकर संसारमें चमत्कार करनेवाले विवादको करूँगा। उस उत्तम विवादसे मेरी महाप्रसिद्धि होगी और जगद्-गुरुके आश्रय लेनेसे मेरी मान-हानि भी कुछ नहीं होगी ॥१११–११३॥

इस प्रकार विचारकर और काललब्धिसे प्रेरित हुआ वह गौतम बोला—हे विप्र, निश्चयसे तेरे गुरुके विना मैं तेरे साथ वाद-विवाद नहीं करता हूँ। अर्थात् तेरे गुरुके साथ ही बात करूँगा ॥११४॥ इस प्रकार सभाके मध्यमें कहकर अपने पाँच सौ शिष्यों और दोनों भाइयोंसे घिरा हुआ वह गौतम विप्र सन्मति प्रभुके समीप जानेके लिए वहाँसे वेगपूर्वक निकला ॥११५॥ वह बुद्धिमान् क्रमशः मार्गमें जाते हुए हृदयमें इस प्रकार सोचने लगा कि जब यह बूढ़ा ब्राह्मण ही असाध्य है, तब इसके गुरु मेरे लिए साध्य कैसे हो सकता है ॥११६॥ अथवा महापुरुषके योगसे जो कुछ होनेवाला है, वह मेरे होवे। किन्तु श्री वर्धमानस्वामीके आश्रयसे मेरी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं हो सकती है ॥११७॥ इस प्रकार चिन्तवन करते और जाते हुए गौतमने दूसरे ही संसारमें आश्चर्य करनेवाले अति उन्नत मानस्तम्भोंको पुण्योदयसे देखा ॥११८॥ उनके दर्शनरूप वज्रसे उसका मानसरूपी पर्वत शतधा चूर्ण-चूर्ण हो गया और उसके हृदयमें शुभ मृदुभाव उत्पन्न हुआ ॥११९॥ तब वह गौतम आश्चर्ययुक्त चित्तवाला होकर अति शुद्ध भावसे महान् दिव्य विभूतिको देखता हुआ उस समवशरणसभामें प्रविष्ट हुआ ॥१२०॥ वहाँपर सभाके मध्यमें स्थित, समस्त ऋद्धि-गणसे वेष्टित, और दिव्य सिंहासनपर विराजमान श्री वर्धमानस्वामीको उस द्विजोत्तम गौतमने देखा ॥१२१॥

तब वह परम भक्तिसे जगद्-गुरुकी तीन प्रदक्षिणा देकर और अपने दोनों हाथोंको जोड़कर उनके चरण-कमलोंको मस्तकसे नमस्कार कर भक्तिभारसे अवनत हो नाम, स्थापना आदि छह प्रकारके सार्थक स्तुति-निक्षेपोंके द्वारा अपनी सिद्धिके अर्थ स्तुति करनेके लिए उद्यत हुआ ॥१२२–१२३॥ हे भगवन्, आप जगत्के नाथ हैं, उत्तम, सार्थक एक हजार आठ नामोंसे विभूषित हैं और नामकर्मके विनाशक हैं ॥१२४॥ सब नामोंके अर्थोंको जाननेवाला जो बुद्धिमान् पुरुष आपके एक नामसे भी हर्षके साथ आपकी स्तुति करता है, वह उसके फलसे आपके समान ही एक हजार आठ नामोंको शीघ्र प्राप्त कर

मत्वेति देव भक्त्याहं त्वन्नामार्थी सुनामभिः। करोमि ते स्तवं भक्त्या ह्यष्टोत्तरशतप्रमैः ॥१२६॥
धर्मराड् धर्मचक्री त्वं धर्मी धर्मक्रियाग्रणीः। धर्मतीर्थंकरो धर्मनेता धर्मपदेश्वरः ॥१२७॥
धर्मकर्ता सुधर्माढ्यो धर्मस्वामी सुधर्मवित्। धर्म्याराध्यश्च धर्मीशो धर्मीड्यो धर्मबान्धवः ॥१२८॥
धर्मिज्येष्ठोऽतिधर्मात्मा धर्मभर्ता सुधर्मभाक्। धर्मभागी सुधर्मज्ञो धर्मराजोऽतिधर्मधीः ॥१२९॥
महाधर्मी महादेवो महानादो महेश्वरः। महातेजा महामान्यो महापूतो महातपाः ॥१३०॥
महात्मा च महादान्तो महायोगी महाव्रती। महाध्यानी महाज्ञानी महाकारुणिको महान् ॥१३१॥
महाधीरो महावीरो महार्चार्ह्यो महेशता। महादाता महात्राता महाकर्मा महीधरः ॥१३२॥
जगन्नाथो जगद्भर्ता जगत्कर्ता जगत्पतिः। जगज्ज्येष्ठो जगन्मान्यो जगत्सेव्यो जगन्नुतः ॥१३३॥
जगत्पूज्यो जगत्स्वामी जगदीशो जगद्गुरुः। जगद्बन्धुर्जगज्जेता जगन्नेता जगत्प्रभुः ॥१३४॥
तीर्थकृत्तीर्थभूतात्मा तीर्थनाथः सुतीर्थवित्। तीर्थंकरः सुतीर्थात्मा तीर्थेशस्तीर्थकारकः ॥१३५॥
तीर्थनेता सुतीर्थज्ञः तीर्थार्ह्यस्तीर्थनायकः। तीर्थराजः सुतीर्थाङ्कस्तीर्थभृत्तीर्थकारणः ॥१३६॥
विश्वज्ञो विश्वतत्त्वज्ञो विश्वव्यापी च विश्ववित्। विश्वाराध्यो हि विश्वेशो विश्वलोकपितामहः ॥१३७॥
विश्वाग्रणीर्हि विश्वात्मा विश्वार्च्यो विश्वनायकः। विश्वनाथो हि विश्वेड्यो विश्वधृद्विश्वधर्मकृत् ॥१३८॥
सर्वज्ञः सर्वलोकज्ञः सर्वदर्शी च सर्ववित्। सर्वात्मा सर्वधर्मेशः सार्वः सर्वबुधाग्रणीः ॥१३९॥
सर्वदेवाधिपः सर्वलोकेशः सर्वकर्महृत्। सर्वविद्येश्वरः सर्वधर्मकृत्सर्वशर्मभाक् ॥१४०॥
एतैर्भूतार्थनामौघैः स्तुतस्त्वं त्रिजगत्पते। स्तोतारं मां स्वकारुण्यात्त्वन्नामसदृशं कुरु ॥१४१॥

लेता है, अर्थात् आप-जैसा बन जाता है ॥१२५॥ ऐसा मानकर हे देव, आपके नामोंको पानेका इच्छुक मैं भक्तिसे एक सौ आठ उत्तम नामोंके द्वारा आपका स्तवन करता हूँ ॥१२६॥

हे भगवन्, आप धर्मराजा, धर्मचक्री, धर्मी, धर्मक्रियामें अग्रणी, धर्मतीर्थके प्रवर्तक, धर्मनेता और धर्मपदके ईश्वर हैं ॥१२७॥ आप धर्मकर्ता, सुधर्माढ्य, धर्मस्वामी, सुधर्मवेत्ता, धर्मीजनोंके आराध्य, धर्मीजनोंके ईश्वरधर्मी जनोंके पूज्य और सर्वप्राणियोंके धर्मबन्धु हैं ॥१२८॥ आप धर्मीजनोंमें ज्येष्ठ हैं, अतिधर्मात्मा हैं, धर्मके स्वामी हैं और सुधर्मके धारक एवं पोषक हैं। धर्मभागी हैं, सुधर्मज्ञ हैं, धर्मराज हैं और अति धर्मबुद्धिवाले हैं ॥१२९॥ महाधर्मी हैं, महादेव हैं, महानाद, महेश्वर, महातेजस्वी, महामान्य, महापवित्र और महातपस्वी हैं ॥१३०॥ आप महात्मा हैं, महादान्त (जितेन्द्रिय), महायोगी, महाव्रती, महाध्यानी, महाज्ञानी, महाकारुणिक (दयालु) और महान् हैं ॥१३१॥ आप महाधीर, महावीर, महापूजाके योग्य और महान् ईशत्वके धारक हैं। आप महादाता, महात्राता, महान् कर्मशील और महीधर हैं ॥१३२॥ आप जगन्नाथ, जगद्-भर्ता, जगत्कर्ता, जगत्पति, जगज्ज्येष्ठ, जगन्मान्य, जगत्सेव्य और जगन्नमस्कृत हैं ॥१३३॥ आप जगत्पूज्य, जगत्स्वामी, जगदीश, जगद्गुरु, जगद्बन्धु, जगज्जेता, जगन्नेता और जगत्के प्रभु हैं ॥१३४॥ आप तीर्थकृत्, तीर्थस्वरूपात्मा, तीर्थनाथ, सुतीर्थवेत्ता, तीर्थंकर, सुतीर्थात्मा, तीर्थेश और तीर्थकारक हैं, ॥१३५॥ आप तीर्थनेता, सुतीर्थज्ञ, तीर्थ-पूज्य, तीर्थनायक, तीर्थराज, सुतीर्थाङ्क, तीर्थभृत् और तीर्थकारण हैं ॥१३६॥ आप विश्वज्ञ, विश्वतत्त्वज्ञ, विश्वव्यापी, विश्ववेत्ता, विश्वके आराध्य, विश्वके ईश और विश्व (समस्त) लोकके पितामह हैं ॥१३७॥ आप विश्वके अग्रणी हैं, विश्वस्वरूप हैं, विश्वपूज्य, विश्वनायक, विश्वनाथ, विश्वार्च्य, विश्वधृत् और विश्वधर्मकृत् हैं ॥१३८॥ हे भगवन्, आप सर्वज्ञ हैं, सर्व लोकके ज्ञाता हैं, सर्वदर्शी और सर्ववेत्ता हैं। आप सर्वात्म-स्वरूप हैं, सर्वधर्मके ईश हैं, सार्व (सबके कल्याणकारी) हैं और सर्व बुधजनोंमें अग्रणी हैं ॥१३९॥ आप सर्वदेवोंके अधिपति हैं, सर्वलोकके ईश हैं, सर्वकर्मोंके हर्ता हैं, सर्वविद्याओंके ईश्वर हैं, सर्वधर्मके कर्ता और सर्व सुखोंके भोक्ता हैं ॥१४०॥ हे त्रिजगत्पते, इन यथार्थ

एतान्यथ प्रतिबिम्बानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि च । हेमरत्नाश्मजातानि यानि सन्ति जगत्त्रये ॥१४२॥
तानि सर्वाणि वन्देऽहं भक्तिरागवशीकृतः । स्तुवेऽर्चयेऽनिशं भक्त्या भवत्स्मरणहेतवे ॥१४३॥
त्वदीयाः प्रतिमा देव येऽर्चयन्ति स्तुवन्ति च । नमन्ति भक्तिभारेण ते स्युर्लोकत्रयाधिपाः ॥१४४॥
साक्षात्त्वां मूर्तिमन्तं ये नुतिस्तुत्यर्चनादिभिः । सेवन्तेऽहर्निशं तेषां फलसंख्यां न वेद्म्यहम् ॥१४५॥
यावन्तः सन्ति लोकेऽस्मिन् शुभाः स्निग्धाः पराणवः । तैर्विनिर्मितः कायो देव दिव्योऽतिसुन्दरः ॥१४६
यतस्तेऽङ्गं निरौपम्यं राजते जगतां प्रियम् । कोटीनाधिकतेजोभिर्द्योतितदिगन्तरम् ॥१४७॥
प्रदीप्तं साम्यतापन्नं वक्त्रं ते विक्रियातिगम् । आत्यन्तिकीं मनःशुद्धिं वदतीवेश भासते ॥१४८॥
भवत्पादाम्बुजाभ्यां याश्रिता भूमिर्जगद्गुरो । सात्रैव तीर्थतां प्राप्ता वन्द्यासीन्मुनिनाकिभिः ॥१४९॥
क्षेत्राणि तानि पूज्यानि पवित्रितानि यानि भोः । त्वया जन्मादिकल्याणैर्नाथ प्राप्तानि तीर्थताम् ॥१५०॥
कालः स एव धन्योऽत्र यत्र प्रादुरभूच्च ते । विभो गर्भादिकल्याणं निःक्रान्तिः केवलोदयः ॥१५१॥
अनन्तं केवलज्ञानं त्वदीयं विश्वदीपकम् । लोकालोकनमोव्याप्य ज्ञेयाभावात्स्थितं विभो ॥१५२॥
अतस्त्वं त्रिजगत्स्वामी सर्वज्ञः सर्वतत्त्ववित् । विश्वव्यापी जगन्नाथो देवात्र सम्मतः सताम् ॥१५३॥
केवलं दर्शनं स्वामिन्नन्तातीतं जगन्नुतम् । लोकालोकं विलोक्येश तवास्थाऽज्ञानवत्तराम् ॥१५४॥

नामोंके समूहसे आपकी स्तुति की है, अतः स्तुति करनेवाले मुझे भी अपनी करुणासे आप अपने नामके सदृश कीजिए ॥१४१॥

हे नाथ, तीन लोकसे जितनी भी सुवर्ण, रत्न और पाषाणमयी कृत्रिम-अकृत्रिम जिन-प्रतिमाएँ हैं उन सबकी मैं भक्तिरागके वश होकर वन्दना करता हूँ और आपके स्मरणके लिए नित्य भक्तिसे पूजन करता हूँ ॥१४२-१४३॥ हे देव, जो लोग भक्तिभावसे आपकी इन प्रतिमाओंकी पूजा करते हैं, स्तुति करते हैं और नमस्कार करते हैं, वे तीन लोकके स्वामी होते हैं ॥१४४॥ और जो मूर्तिमान् आपकी नमस्कार, स्तवन और पूजनादिसे साक्षात् अहर्निश (रात-दिन) सेवा करते हैं, उनको प्राप्त होनेवाले फलोंकी संख्या को मैं नहीं जानता हूँ ॥१४५॥

हे भगवन्, इस लोकमें जितने भी शुभ और स्निग्ध परमाणु हैं, उनके द्वारा ही आपका यह अतिसुन्दर दिव्य देह रचा गया है ॥१४६॥ क्योंकि आपका यह उपमा-रहित और जगत्प्रिय शरीर अति शोभायमान हो रहा है। आपका तेज कोटि सूर्योंके तेजसे भी अधिक है और समस्त दिशाओंके अन्तरालको प्रकाशित कर रहा है ॥१४७॥ हे ईश, आपका सर्व विकारोंसे रहित साम्यताको प्राप्त और प्रदीप्त यह मुख आपकी आत्यन्तिक हृदय-शुद्धिको कहते हुएके समान प्रतीत हो रहा है ॥१४८॥ हे जगद्-गुरो, आपके चरण-कमलोंसे जो भूमि आश्रित हुई और हो रही है, वह यहाँपर ही तीर्थपनेको प्राप्त हुई है और मुनिजन एवं देवगणसे वन्दनीय हो रही है ॥१४९॥ हे नाथ, आपके गर्भ-जन्मादि कल्याणकोंके द्वारा जो क्षेत्र पवित्र हुए हैं, वे सब तीर्थपनेको प्राप्त हुए हैं, अतः पूज्य हैं ॥१५०॥ हे प्रभो, वही काल धन्य है, जिस कालमें आप पैदा हुए, गर्भ-कल्याणक हुआ, निष्क्रमण (दीक्षा) कल्याणक हुआ और केवलज्ञानका उदय हुआ है ॥१५१॥ हे विभो, आपका यह अनन्त केवलज्ञान विश्वका दीपक है, क्योंकि वह लोकाकाश और अलोकाकाशको व्याप्त करके अवस्थित है, उसके जानने योग्य पदार्थका अभाव है, अर्थात् आपके ज्ञानने जानने योग्य सभी पदार्थोंको जान लिया है ॥१५२॥ इसलिए हे देव, आप तीन जगत्के स्वामी हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वतत्त्ववेत्ता हैं, विश्वव्यापी हैं, और सन्तजनोंने आपको जगन्नाथ माना है ॥१५३॥ हे स्वामिन्, आपका अन्त-रहित और जगत्से नमस्कृत यह केवलदर्शन लोकालोकको अवलोकन करके अवस्थित है, अतः हे ईश, वह आपके ज्ञानके समान ही अत्यन्त शोभाको प्राप्त हो रहा है ॥१५४॥

वीर्यं तेऽन्तातिगं नाथ सति विश्वार्थदर्शने । सर्वदोषविनिःक्रान्तं निरौपम्यं विराजते ॥१५५॥
अनन्तं परमं सौख्यं निराबाधं च्युतोपमम् । अत्यक्षं तेऽभवद्देवागोचरं विश्वदेहिनाम् ॥१५६॥
अनन्यविषया एते ते दिव्यातिशयाः पराः । सर्वासाधारणा वीर विभ्राजन्ते महोदयाः ॥१५७॥
एतास्ते निःस्पृहस्याष्ट प्रातिहार्यविभूतयः । कृत्स्नविश्वातिशायिन्यः शोभन्तेऽत्र च्युतोपमाः ॥१५८॥
अन्ये ते गणनातीता गुणा लोकत्रयाग्रणाः । निरौपम्याश्च शक्यन्ते स्तोतुं मादृग्विधैः कथम् ॥१५९॥
मेघधारानभस्तारावार्ध्यूर्म्यनतदेहिनाम् । यथा न ज्ञायते संख्या तथा ते गुणवारिधेः ॥१६०॥
मत्वेति त्वत्स्तुतौ देव मया नातिकृतः श्रमः । भाषणे ते गुणानां चागोचराणां गणेशिनाम् ॥१६१॥
अतो देव नमस्तुभ्यं नमस्ते दिव्यमूर्तये । सर्वज्ञाय नमस्तुभ्यं नमोऽनन्तगुणात्मने ॥१६२॥
नमस्ते हतदोषाय नमोऽबान्धवबन्धवे । नमो मङ्गलभूताय नमो लोकोत्तमाय ते ॥१६३॥
नमो विश्वशरण्याय नमस्ते मन्त्रमूर्तये । नमस्ते वर्धमानाय महावीराय ते नमः ॥१६४॥
नमः सन्मतये तुभ्यं नमो विश्वहितात्मने । त्रिजगद्गुरवे देव नमोऽनन्तसुखाधये ॥१६५॥
इति स्तवननमस्कारभक्तिरागोत्थधर्मतः । दातारं परमं त्वां न याचे लोकत्रयश्रियम् ॥१६६॥
किन्तु देहि भवद्भूतिं सर्वां कर्मक्षयोद्भवाम् । मेऽनन्तशर्मकर्त्रीं च नाथ नित्यां जगन्नुताम् ॥१६७॥
यतस्त्वं परमो दाताऽत्राहं लोभी महान् भुवि । अतो मे सफलैषास्तु प्रार्थना त्वत्प्रसादतः ॥१६८॥

हे नाथ, सर्वदोषोंसे रहित आपका अनुपम यह अनन्तवीर्य विश्वके समस्त पदार्थोंके देखनेमें समर्थ हो रहा है ॥१५५॥ हे देव, आपका बाधारहित, अनुपम और अतीन्द्रिय अनन्त परम सुख विश्वके समस्त प्राणियोंके अगोचर हैं ॥१५६॥ हे वीर प्रभो, दूसरोंमें नहीं पाये जानेवाले ऐसे असाधारण ये सर्व दिव्य और महान् उदयवाले परम अतिशय आपमें शोभायमान हो रहे हैं ॥१५७॥

हे भगवन्, सर्वविश्वातिशायिनी, उपमा-रहित ये आठ प्रातिहार्य-विभूतियाँ सर्व इच्छाओंसे रहित आपके शोभित हो रही हैं ॥१५८॥ इनके अतिरिक्त अन्य जो आपमें गणनातीत और त्रिलोक के अग्रगामी अनन्त निरुपम गुण हैं, उनकी स्तुति करने के लिए मेरे समान जन कैसे समर्थ हो सकते हैं ॥१५९॥ हे गुणसमुद्र, जैसे मेघधाराकी बिन्दुएँ, आकाशके तारे, समुद्रकी तरंगें और अनन्त प्राणियोंकी संख्या हमारे-जैसोंके द्वारा नहीं जानी जा सकती है, उसी प्रकार आपके गुण-समुद्र की संख्या नहीं जानी जा सकती है ॥१६०॥ ऐसा मानकर हे देव, आपकी स्तुति करनेमें और गणधरोंके भी अगोचर आपके गुणोंके कहनेमें मैंने अधिक श्रम नहीं किया है ॥१६१॥ अतः हे देव, आपको नमस्कार है, हे दिव्य मूर्तिवाले, आपको नमस्कार है, हे सर्वज्ञ, आपको नमस्कार है और हे अनन्तगुणशालिन्, आपको नमस्कार है ॥१६२॥

दोषोंके नाशक आपको नमस्कार है, अबान्धवोंके बन्धु हे भगवन्, आपको नमस्कार है, हे लोकोत्तम, आपको नमस्कार है ॥१६३॥ विश्वको शरण देनेवाले आपको मेरा नमस्कार है, हे मन्त्रमूर्ति, आपको नमस्कार है, हे वर्धमान, आपको नमस्कार है, हे सन्मते, आपको नमस्कार है, हे विश्वात्मन्, आपको नमस्कार है, हे त्रिजगद्-गुरो, आपको नमस्कार है और अनन्त सुखके सागर हे देव, आपको मेरा नमस्कार है ॥१६४-१६५॥ इस प्रकार स्तवन, नमस्कार और भक्तिरागसे उत्पन्न हुए धर्मके द्वारा हे भगवन्, मैं आपसे तीन लोककी लक्ष्मीको नहीं माँगता हूँ, किन्तु हे नाथ, कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेवाली, अनन्त सुखकारी, जगन्नमस्कृत, अपनी नित्य विभूतिको मुझे दीजिए, क्योंकि आप इस संसारमें परमदाता हैं और मैं महान् लोभी हूँ। अतः आपके प्रसादसे मेरी यह प्रार्थना सफल ही होवे ॥१६६-१६८॥

त्वं देव त्रिदशेश्वरार्चितपदस्त्वं धर्मतीर्थोद्धर-
　　स्त्वं कर्मारिनिकन्दनोऽतिसुभटस्त्वं विश्वदीपोऽमलः ।
त्वं लोकत्रयतारणैकचतुरस्त्वं सद्गुणानां निधिः
　　संसाराम्बुधिमज्जनाज्जिनपते त्वं रक्ष मां सर्वथा ॥१६९॥
इति विबुधपतीड्यो दृष्टिचिद्रत्नमासो
　　निहतकुमतशत्रुर्ज्ञातसद्धर्ममार्गः ।
जिनपतिपदपद्मौ गौतमः संप्रणम्य
　　स्तवनकरणभक्त्या स्वं कृतार्थं च मेने ॥१७०॥
वीरो वीरजिनाग्रणीर्गुणनिधिर्वीरं भजन्ते बुधा
　　वीरेणैवमवाप्यते शिवपदं वीराय शुद्ध्यै नमः ।
वीरान्नास्त्यपरः परार्थजनको वीरस्य तथ्यं वचो
　　वीरेऽहं विदधे मनः स्वसदृशं मां वीर शीघ्रं कुरु ॥१७१॥

इति भट्टारक-श्रीसकलकीर्तिविरचिते श्रीवीरवर्धमानचरिते श्रीगौतमागमन-
स्तुतिकरणवर्णनो नाम पञ्चदशोऽधिकारः ॥१५॥

हे देव, आप स्वर्गके अधीश्वर इन्द्रोंके द्वारा पूजित पदवाले हैं, आप धर्मतीर्थके उद्धारक हैं, कर्म-शत्रुके विध्वंसक हैं, अतः आप महासुभट हैं, आप विश्वके निर्मल दीपक हैं, आप तीनों लोकोंको तारनेमें अद्वितीय चतुर हैं और सद्गुणोंके निधान हैं, अतएव हे जिनपते, संसार सागरमें डूबनेसे आप मेरी सर्व प्रकारसे रक्षा कीजिए ॥१६९॥ इस प्रकार विद्वानोंके अधिपतियोंसे पूज्य, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूप रत्नको प्राप्त, मिथ्यामतरूप शत्रुके नाशक और सद्-धर्मके मार्गके ज्ञाता गौतमने जिनेन्द्रदेवके चरणकमलोंको नमस्कार करके और स्तुति करनेकी भक्तिसे अपने आपको कृतार्थ माना ॥१७०॥

वीर भगवान् वीर जिनोंमें अग्रणी हैं, गुणोंके निधान हैं, ऐसे वीर जिनेन्द्रकी ज्ञानीजन सेवा करते हैं। वीरके द्वारा ही शिवपद प्राप्त होता है, ऐसे वीरके लिए आत्म-शुद्ध्यर्थ नमस्कार है। वीरसे अतिरिक्त अन्य कोई मनुष्य परमार्थका जनक नहीं है, वीर के वचन सत्य हैं, ऐसे वीर जिनेशमें मैं अपने मनको धरता हूँ, हे वीर, मुझे अपने सदृश शीघ्र करो ॥१७१॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्ति-विरचित श्रीवीर-वर्धमानचरितमें श्री गौतमके आने और स्तुति करनेका वर्णन करनेवाला यह पन्द्रहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥१५॥

षोडशोऽधिकारः

श्रीमते विश्वनाथाय केवलज्ञानभानवे । अज्ञानध्वान्तहन्त्रेऽत्र नमो विश्वप्रकाशिने ॥१॥
अथासौ गौतमस्वामी प्रणम्य शिरसा मुदा । हितं जगत्सतामिच्छन् स्वस्य श्रीतीर्थनायकम् ॥२॥
अज्ञानोच्छित्तये ज्ञानप्राप्त्यै सर्वज्ञगोचराम् । प्रश्नमालामिमामप्राक्षीद्विश्वाङ्गिहितां पराम् ॥३॥
देवादेर्जीवतत्त्वस्य लक्षणं कीदृशं भुवि । कावस्था च कियन्तो हि गुणा भेदा द्विधात्मकाः ॥४॥
के पर्यायाः कियन्तो वा सिद्धसंसारिगोचराः । अजीवस्यापि तत्त्वस्य के प्रकारा गुणादयः ॥५॥
शेषास्रवादितत्त्वानां के दोषगुणकारणाः । कस्य तत्त्वस्य कः कर्त्ता किं फलं लक्षणं च किम् ॥६॥
केन तत्त्वेन किं वात्र साध्यते कार्यमञ्जसा । कीदृशैश्च दुराचारैर्नरकं यान्ति पापिनः ॥७॥
केन दुष्कर्मणा मूढास्तिर्यग्योनिं च दुष्कराम् । कीदृशैश्च सदाचारैः स्वर्गं गच्छन्ति धर्मिणः ॥८॥
शुभेन कर्मणा केन नृगतिं श्रीसुखाश्रिताम् । केन दानेन वा यान्ति भोगभूमिं शुभाशयाः ॥९॥
केन चाचरणेनात्र स्त्रीलिङ्गं जायते नृणाम् । पुंवेदः पुण्यनारीणां क्लीवत्वं वा दुरात्मनाम् ॥१०॥
पङ्गवो बधिराश्चान्धा मूका विकलमूर्तयः । केन पापेन जायन्ते प्राणिनो व्यसनाकुलाः ॥११॥
रोगिणो रोगहीनाश्च रूपिणोऽतिकुरूपिणः । सुभगा दुर्भगाः केन विधिनात्र भवन्ति च ॥१२॥
सुधियो दुर्धियो मूर्खा नरा विद्वांस एव च । शुभाशयाश्च दुश्चित्रा भवेयुः केन कर्मणा ॥१३॥
धर्मिणः पापिनो भोगभागिनो भोगवर्जिताः । धनिनो निर्धनाः स्युश्च कीदृशाचरणोत्करैः ॥१४॥

विश्वके नाथ, अज्ञानान्धकारके विनाशक और जगत्के प्रकाशक ऐसे केवलज्ञानरूप सूर्य श्रीवर्धमानस्वामीके लिए नमस्कार है ॥१॥

अथानन्तर उन गौतमस्वामीने तीर्थनायक श्री महावीरप्रभुको हर्षके साथ सिरसे प्रणाम करके अपने और जगत्के सन्तजनोंके हितार्थ अज्ञानके विनाश और ज्ञानकी प्राप्तिके लिए समस्त प्राणियोंका हित करनेवाली यह सर्वज्ञ-गम्य उत्तम प्रश्नावली पूछी ॥२-३॥ हे देव, सात तत्त्वोंमें जो संसारमें जीवतत्त्व है उसका कैसा लक्षण है, कैसी अवस्था है, कितने गुण हैं, उनके विभागात्मक कितने भेद हैं, कितनी पर्याय हैं, सिद्ध और संसारी-विषयक उसके कितने भेद हैं ? इसी प्रकार अजीवतत्त्वके भी कितने भेद, गुण और पर्याय आदि हैं ॥४-५॥ तथा आस्रवादि शेष तत्त्वोंके दोष और गुणोंके कारण कौन हैं ? किस तत्त्व-का कौन कर्ता है, उसका क्या लक्षण है, क्या फल है और किस तत्त्वके द्वारा इस संसारमें निश्चयसे क्या कार्य सिद्ध किया जाता है ? किस प्रकारके दुराचारोंसे पापी लोग नरकमें जाते हैं, किस दुष्कर्मसे मूढ लोग दुःखकारी तिर्यग्योनिको जाते हैं, और किस प्रकारके सदाचरणोंसे धर्मीजन स्वर्ग जाते हैं ॥६-८॥ किस शुभकर्मसे जीव लक्ष्मी और सुखसे सम्पन्न मनुष्यगतिको जाते हैं और किस दानसे उत्तम भाववाले जीव भोगभूमिको जाते हैं ॥९॥ किस प्रकारके आचरणसे इस संसारमें मनुष्योंके पुरुषवेद, पुण्यशीला नारियोंके स्त्रीवेद और पापाचारी दुरात्माओंके नपुंसक वेद होता है ॥१०॥ किस पापसे प्राणी लँगड़े, बहरे, अन्धे, गूँगे, विकलाङ्ग और अनेक प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित होते हैं ॥११॥ किस प्रकारके कर्म करनेसे जीव यहाँ पर रोगी-निरोगी, सुरूपी-कुरूपी, सौभाग्यवान् और दुर्भागी होते हैं ॥१२॥ किस कर्मसे मनुष्य सुबुद्धि-कुबुद्धि, विद्वान्-मूर्ख, शुभाशय और दुराशयवाले होते हैं ॥१३॥ किस प्रकारके आचरण करनेसे मनुष्य धर्मात्मा-पापात्मा, भोगशाली-भोगविहीन, धनी और

लभ्यन्ते कर्मणा केन वियोगाः स्वजनादिभिः । संयोगाश्चेष्टबन्ध्वाद्यैः समं वेहितवस्तुभिः ॥१५॥
दातृत्वं कृपणत्वं च गुणित्वं गुणहीनताम् । परकिङ्करतां स्वामित्वं श्रयेत् केन कर्मणा ॥१६॥
न जीवन्ति नृणां पुत्रा विधिना केन भूतले । वन्ध्यत्वं वा भवेन्निन्द्यं स्युः सुताश्चिरजीविनः ॥१७॥
कातरत्वं च धीरत्वं निन्द्यत्वं निर्मलं यशः । प्राप्यते विधिना केन निःशीलत्वं सुशीलता ॥१८॥
सत्सङ्गश्चातिदुःसङ्गो विवेकित्वं च मूढता । कुलश्रेष्ठं जनैर्निन्द्यं लभ्यते केन हेतुना ॥१९॥
मिथ्यामार्गानुरागित्वं जिनधर्मातिरक्तताम् । दृढं कायं च निःशक्तं लभन्ते केन कर्मणा ॥२०॥
मुक्तेः को मार्ग एवात्र फलं किं वा सुलक्षणम् । यतीनां कः परो धर्मः कोऽन्यो वा गृहमेधिनाम् ॥२१॥
तयोः किं सत्फलं पुंसां कानि वा कारणान्यपि । धर्मोत्पत्तिविधातॄणि शुभान्याचरणानि च ॥२२॥
द्विषट्कालस्वरूपं च कीदृशं कीदृशी स्थितिः । त्रैलोक्यस्य शलाकाः पुरुषाः के स्युर्महीतले ॥२३॥
किमत्र बहुनोक्तेन भूतं भावि च साम्प्रतम् । त्रिकालविषयं ज्ञानं द्वादशाङ्गभवं च यत् ॥२४॥
तत्सर्वं त्वं कृपानाथ दिव्येन ध्वनिना दिश । भव्यानामुपकाराय स्वर्गमुक्तिवृषाप्तये ॥२५॥
इति प्रश्नवशाद्देवो विश्वभव्यहितोद्यतः । तत्त्वादिप्रश्नराशीनां सद्भावं च तदीप्सितम् ॥२६॥
दिव्येन ध्वनिना तीर्थेट् स्वर्गमुक्तिसुखाप्तये । प्रारंभे वक्तुमित्थं च मुक्तिमार्गप्रवृत्तये ॥२७॥
शृणु धीमन् मनः कृत्वा स्थिरं सर्वगणैः समम् । प्रोच्यमानमिदं सर्वं त्वदभिप्रेतसाधनम् ॥२८॥
प्रोक्तुर्विभोर्मनाग् नासीदोष्ठादिस्पन्दविक्रिया । मुखाब्जे साम्यतापन्ने तथापि तन्मुखाम्बुजात् ॥२९॥

निर्धन होते हैं ॥१४॥ किस कर्मसे जीव अपने इष्ट जनादिकोंसे वियोग पाते हैं और किस कर्मसे इष्ट-बन्धु आदिके तथा अभीष्ट वस्तुओंके साथ संयोग प्राप्त करते हैं ॥१५॥ किस कर्मसे मनुष्य दानशीलता, कृपणता, गुणशालिता-गुणहीनता, स्वामित्व और परदासत्वको प्राप्त होता है ॥१६॥ किस कर्मसे इस संसारमें मनुष्योंके पुत्र नहीं जीते हैं और किस कर्मसे चिरजीवी पुत्र उत्पन्न होते हैं ? तथा कैसे कर्म करनेसे स्त्रियोंके निन्द्य वन्ध्यापन होता है ॥१७॥ किस कर्मसे जीवोंके कायरता-धीरता, अपयश-निर्मल यश और कुशीलता-सुशीलता प्राप्त होती है ॥१८॥ किस कारणसे जीव सत्संग-कुसंग, विवेकिता-मूढता, श्रेष्ठकुल और निन्द्यकुल प्राप्त करते हैं ॥१९॥ किस कर्मसे मनुष्य मिथ्यामार्गानुरागी और जिनधर्मानुरक्त होते हैं, तथा दृढ़ (सबल) काय और निर्बल कायको पाते हैं ॥२०॥ इस संसारमें मुक्तिका क्या मार्ग है, उसका क्या लक्षण और क्या फल है ? साधुओंका परम धर्म कौन सा है और गृहस्थोंका अपर धर्म क्या है ॥२१॥ पुरुषोंको इन दोनों धर्मोंके सेवनसे क्या सत्फल प्राप्त होता है ? धर्मकी उत्पत्ति करनेवाले कौनसे कारण हैं और शुभ आचरण कौनसे हैं ॥२२॥ उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके छहों कालोंका क्या स्वरूप है, उसकी स्थिति कैसी है, और इस महीतलपर तीन लोकमें प्रसिद्ध शलाका (गण्य-मान्य) कौन होते हैं ॥२३॥ इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या ? हे कृपानाथ, जो पहले हो चुका है, वर्तमानमें हो रहा है और आगे होगा ? ऐसा त्रिकाल-विषयक द्वादशाङ्गश्रुतजनित जो ज्ञान है, वह सब कृपा करके भव्य-जीवोंके उपकारके लिए और उन्हें स्वर्गमुक्तिके कारणभूत धर्मकी प्राप्तिके लिए अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा उपदेश दीजिए ॥२४-२५॥

इस प्रकार गौतमस्वामीके प्रश्नके वशसे संसारके समस्त भव्य जीवोंके हित करनेके लिए उद्यत, तीर्थंकर वर्धमानदेवने मुक्तिमार्गकी प्रवृत्तिके लिए सप्त तत्त्वादि-विषयक समस्त प्रश्न-समूहोंका सद्भाव और उनका अभीष्ट अभिप्राय जीवोंको स्वर्ग और मोक्षके सुख प्राप्त करानेके लिए दिव्य ध्वनिसे इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया ॥२६-२७॥ भगवान्ने कहा— हे धीमन्, सर्वगणके साथ मनको स्थिर करके तुम्हारे सर्व अभीष्ट-साधक मेरा यह वक्ष्यमाण (उत्तर)—सुनो ॥२८॥ जब भगवान्ने उत्तर देना प्रारम्भ किया, तब बोलते समय प्रभुके

निर्ययौ भारती रम्या सर्वसंशयनाशिनी । मन्दराद्रिगुहोत्पन्नप्रतिच्छन्दनिभा शुभा ॥३०॥
अहो तीर्थेशिनामेषा योगजा शक्तिरुर्जिता । यया जगत्सतामत्रोपकारः क्रियते महान् ॥३१॥
हे गौतमात्र याथात्म्यं तथ्यं यत्प्रोच्यते बुधैः । सर्वज्ञोक्तपदार्थानां तत्तत्त्वं विद्धि निश्चितम् ॥३२॥
द्वेधा जीवा भवन्त्यत्र मुक्तसंसारिभेदतः । मुक्ता भेदविनिःक्रान्ता बहुभेदा भवाध्वगाः ॥३३॥
अष्टकर्माङ्गनिर्मुक्ता गुणाष्टकविभूषिताः । एकभेदा जगद्ध्येया समानसुखसागराः ॥३४॥
सर्वदुःखातिगा ज्ञेया सिद्धा लोकाग्रवासिनः । अनन्ता विगताबाधा ज्ञानदेहाश्च्युतोपमाः ॥३५॥
द्वेधा संसारिणो जीवाः स्थावरत्रससंज्ञकाः । विकलैकाक्षपञ्चाक्षभेदैस्त्रेधाङ्गिनो मताः ॥३६॥
चतुर्धा देहिनो नूनं गतिभेदेन कीर्तिताः । एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियैः पञ्चविधाश्च ते ॥३७॥
त्रसस्थावरभेदाभ्यां षड्विधाः प्राणिनः स्मृताः । सतां षड्जीवरक्षायै जिनेनातिदयालुना ॥३८॥
पृथ्व्याद्याः स्थावराः पञ्च विकलाक्षाङ्गिराशयः । पञ्चाक्षा इति विज्ञेयाः सप्तधा जीवजातयः ॥३९॥
पञ्चधा स्थावरा एकभेदा विकलदेहिनः । संज्ञिनोऽसंज्ञिनोऽत्रेति ह्यष्टधा जीवयोनयः ॥४०॥
पञ्चैव स्थावरा द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाङ्गिनः । इति स्युर्नवधा जीवप्रकाराः श्रीजिनागमे ॥४१॥
पृथ्व्यप्तेजोमरुत्प्रत्येकसाधारणदेहिनः । द्वित्रितुर्याक्षपञ्चाक्षा इत्यत्र दशधाङ्गिनः ॥४२॥

साम्यताको प्राप्त मुख-कमलमें रंचमात्र भी ओष्ठ आदि चलनेकी विक्रिया (विशेष-क्रिया) नहीं हुई । तथापि उनके मुख-कमलसे सर्व संशयोंका नाश करनेवाली मन्दराचलकी गुफामेंसे निकली प्रतिध्वनिके समान गम्भीर, शुभ और रमणीय वाणी निकली ॥२९-३०॥ आचार्य कहते हैं कि अहो, तीर्थंकरोंकी यह योग-जनित ऊर्जस्विनी शक्ति है कि जिसके द्वारा इस संसारमें समस्त सज्जनोंका महान् उपकार होता है ॥३१॥ भगवान् बोले—हे गौतम, इस संसारमें ज्ञानी जन जिसे यथार्थ सत्य कहते हैं, वह सर्वज्ञोक्त पदार्थोंका वास्तविक स्वरूप है, वही तत्त्व कहलाता है, यह तू निश्चित समझ ॥३२॥ उस प्रयोजनभूत तत्त्वके सात भेद हैं। उनमें प्रथम जीवतत्त्व है। संसारी और मुक्तके भेदसे जीव दो प्रकारके हैं। मुक्त जीव भेदोंसे रहित हैं, अर्थात् सभी एक प्रकारके हैं। किन्तु भव-भ्रमण करनेवाले संसारी जीव अनेक भेदवाले हैं ॥३३॥ इनमें मुक्त (सिद्ध) जीव आठ कर्मरूप शरीरसे रहित हैं, सम्यक्त्वादि आठ गुणोंसे विभूपित हैं, एक भेदवाले हैं, जगत्के भव्य जीवोंके ध्येय हैं, समान सुखके सागर हैं, सर्वदुःखोंसे रहित हैं, लोकके अग्रभागपर निवास करते हैं, सर्वबाधाओंसे विमुक्त हैं, ज्ञानशरीरी हैं, सर्व उपमाओंसे रहित हैं और उनकी अनन्त संख्या है। ऐसे संसारसे मुक्त हुए जीवोंको सिद्ध जानना चाहिए ॥३४-३५॥ त्रस और स्थावर नामके भेदसे संसारी जीव दो प्रकारके हैं, विकलेन्द्रिय, एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रियके भेदसे वे तीन प्रकारके माने गये हैं ॥३६॥

नरक आदि चार गतियोंके भेदसे वे निश्चयतः चार प्रकारके कहे गये हैं, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रियके भेदसे वे पाँच प्रकारके हैं ॥३७॥ पृथिवीकायादि पाँच स्थावर और त्रसकायके भेदसे संसारी प्राणी छह प्रकारके कहे गये हैं, अतिदयालु जिनेन्द्रोंने इन छह कायके जीवोंकी रक्षाके लिए सज्जनोंको उपदेश दिया है ॥३८॥ पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिसे पाँच स्थावरकाय, विकलेन्द्रिय जीवराशि और पंचेन्द्रिय इस प्रकार सात भेदरूप जीव-जातियाँ जानना चाहिए ॥३९॥ पाँच प्रकारके स्थावर, एक भेदरूप विकलेन्द्रिय और संज्ञी-असंज्ञीरूप दो प्रकारके पंचेन्द्रिय, इस प्रकार इस संसारमें आठ जातिकी जीवयोनियाँ हैं ॥४०॥ पाँचों ही स्थावर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ये तीन विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव, इस प्रकार श्री जिनागममें संसारी जीव नौ प्रकारके कहे गये हैं ॥४१॥ पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, प्रत्येक और

सूक्ष्मवादरभेदाभ्यां दशधा स्थावरास्तथा । त्रसाः सर्वे बुधैर्ज्ञेया इत्येकादश देहिनः ॥४३॥
दशधा स्थावराः सूक्ष्मवादराभ्यां च वर्गिताः । विकलाक्षा हि पञ्चाक्षा अमी जीवा द्विषड्विधाः ॥४४॥
भूजलाग्निसमीराः सर्वे वनस्पतयोऽखिलाः । सूक्ष्मवादरभेदाभ्यां दशधा स्थावरास्तथा ॥४५॥
विकलाङ्गभृतः पञ्चेन्द्रिया हृदयवर्जिताः । संज्ञिनोऽत्रेति मन्तव्यास्त्रयोदशविधाङ्गिनः ॥४६॥
समनस्का मनोहीना द्वित्रितुर्येन्द्रियास्तथा । एकाक्षा वादराः सूक्ष्मा एते सप्तविधाङ्गिनः ॥४७॥
पर्याप्तेतरभेदाभ्यां ते सर्वे गुणिता बुधैः । ज्ञातव्यास्तद्दयायै जीवसमासाश्चतुर्दश ॥४८॥
अष्टानवतिभेदादिबहुधा जीवजातयः । श्रीवीरस्वामिना प्रोक्ता गौतमाद्यान् गणान् प्रति ॥४९॥
भूम्यप्तेजोमरुत्काया नित्येतरनिगोदकाः । प्रत्येकं सप्तलक्षाश्च दशलक्षा महीरुहाः ॥५०॥
षड्लक्षा विकलाक्षाणां द्विषड्लक्षाश्च योनयः । तिर्यङ्नारकदेवानां नृणां लक्षाश्चतुर्दश ॥५१॥
एवं चतुरशीतिप्रमलक्षा जीवजातयः । समं च कुलकोटीभिः प्रोक्ता देवेन तान् प्रति ॥५२॥
चतुर्धा गतयः पञ्चविधा इन्द्रियमार्गणाः । षट्काया हि तथा पञ्चदशयोगाश्च विस्तरात् ॥५३॥
त्रिधा वेदाः कषायाश्च पञ्चविंशतिसंख्यकाः । अष्टौ ज्ञानानि सप्तैव संयमाश्च शुभेतराः ॥५४॥
चत्वारि दर्शनान्येव षड्लेश्या हि वरेतराः । भव्येतरा द्विधा जीवाः सम्यक्त्वं षड्विधं तथा ॥५५॥

पंचेन्द्रिय, इस प्रकार संसारमें दश प्रकारके जीव हैं ॥४२॥ पाँच प्रकारके स्थावर जीव सूक्ष्म और वादरके भेदसे दश प्रकारके हैं, तथा द्वीन्द्रियादि सर्व त्रसकाय, इस प्रकार ग्यारह जातिके संसारी प्राणी ज्ञानियोंको जानना चाहिए ॥४३॥ सूक्ष्म-वादरके भेदसे वर्गीकृत दश प्रकारके स्थावर जीव, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय (सकलेन्द्रिय) ये सब मिलकर वारह प्रकार-के संसारी जीव होते हैं ॥४४॥ पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और सर्व वनस्पति, ये सब स्थावर जीव सूक्ष्म-वादरके भेदसे दश प्रकारके हैं, तथा विकलेन्द्रिय, मान-रहित असंज्ञी पंचेन्द्रिय और मन-सहित संज्ञी पंचेन्द्रिय इस प्रकारसे संसारी जीव तेरह प्रकारके समझना चाहिए ॥४५-४६॥ समनस्क (संज्ञी) पंचेन्द्रिय मन-रहित असनस्क (असंज्ञी) पंचेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय, वादर एकेन्द्रिय और सूक्ष्म एकेन्द्रिय, ये सात प्रकारके प्राणी पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे गुणित होकर चौदह प्रकारके हो जाते हैं। ये ही चौदह जीव-समास उनकी दया (रक्षा) करनेके लिए ज्ञानियोंको जाननेके योग्य हैं ॥४७-४८॥ इस प्रकार विवक्षा-भेदसे उत्तरोत्तर वढ़ते हुए अट्ठानवे आदि अनेक भेद रूप वहुत प्रकार की जीव जातियाँ श्रीवीर स्वामीने गौतमादि सर्व गणोंके लिए कहीं ॥४९॥

पुनः वर्धमानदेवने गौतमादि सर्व गणोंको चौरासी लाख योनियोंका वर्णन इस प्रकार-से किया—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, साधारण वनस्पति रूप नित्यनिगोद, इतरनिगोद इन छहों जातिके जीवोंकी सात-सात लाख योनियाँ हैं (६×७=४२) प्रत्येक वनस्पतिरूप वृक्षोंकी दश लाख योनियाँ हैं। विकलेन्द्रियोंकी छह लाख योनियाँ हैं, तिर्यंच, नारक और देवोंकी वारह लाख योनियाँ हैं और मनुष्योंकी चौदह लाख योनियाँ हैं। इस प्रकार भगवान्ने कुल कोटियोंके साथ चौरासी लाख प्रमाण जीव जातियाँ कहीं ॥५०-५२॥

पुनः भगवान्ने जीवोंकी जातियोंके अन्वेषण करानेवाली चौदह मार्गणाओंका वर्णन करते हुए वतलाया—गति मार्गणा चार प्रकार की है, इन्द्रियमार्गणा पाँच प्रकार की है, कायमार्गणा छह प्रकारकी है, योगमार्गणा विस्तारसे पन्द्रह प्रकारकी है (और संक्षेपसे तीन प्रकारकी है।) ॥५३॥ वेदमार्गणा तीन प्रकारकी है, कपायमार्गणा (संक्षेपसे क्रोधादि चार भेदरूप है और विस्तारसे) पच्चीस भेदवाली है। ज्ञानमार्गणा आठ प्रकारकी है, संयम-मार्गणा शुभ और अशुभ (असंयम) के भेदसे सात प्रकारकी है, दर्शनमार्गणा चार भेद रूप है, लेश्यामार्गणा तीन शुभ और तीन अशुभके भेदसे छह प्रकारकी है, भव्यमार्गणा भव्य और

संज्ञ्यसंज्ञ्यभिधा जीवा द्विधाहारकदेहिनः । इत्युक्तास्तीर्थनाथेन मार्गणा हि चतुर्दश ॥५६॥
मृग्याः संसारिणो जीवा आशुमार्गणकोविदैः । चतुर्गतिगता यत्नाज्ज्ञानाय दृग्विशुद्धये ॥५७॥
मिथ्यासासादनौ मिश्रोऽविरतो देशसंयतः । प्रमत्ताख्योऽप्रमत्ताभिधोऽपूर्वकरणाह्वयः ॥५८॥
गुणस्थानोऽनिवृत्त्यादिकरणो नवमस्ततः । सूक्ष्मादिसाम्परायाख्यो ह्युपशान्तकषायकः ॥५९॥
ततः क्षीणकषायः सयोग्ययोगिजिनाविति । चतुर्दशगुणस्थाना व्यासेनोक्ताश्चतुर्दश ॥६०॥
निर्वाणं ये गता भव्या यान्ति यास्यन्ति भूतले । केवलं ते गुणैरेतांश्चारुह्य नान्यथा क्वचित् ॥६१॥
यतोऽत्रैकादशाङ्गार्थविदोऽभव्यस्य सर्वदा । दीक्षितस्यैक एवाहो गुणस्थानो न चापरः ॥६२॥
यथा कालोरगः शर्करादुग्धं च पिबन् विषम् । नं मुञ्चति तथाभव्यो मिथ्यात्वं चागमामृतम् ॥६३॥
अतोऽत्रासन्नभव्यानां गुणस्थानास्त्रयोदश । भवन्त्येव न चान्येषां दूरभव्यात्मनां क्वचित् ॥६४॥
इत्याख्यायादिमं तत्त्वं वीरश्चागमभाषया । पुनः प्रोक्तुं समारेभे सतामध्यात्मभाषया ॥६५॥
बहिरात्मान्तरात्मा तु परमात्मातिनिर्मलः । इति त्रिधाङ्गिनो दक्षैः कथ्यन्ते गुणदोषतः ॥६६॥
विचारविकलो योऽत्र तत्त्वातत्त्वे गुणागुणे । सद्गुरौ कुगुरौ धर्मे पापे मार्गे शुभाशुभे ॥६७॥
जिनसूत्रे कुशास्त्रे च देवादेवे विचारणे । हेयादेये परीक्षादौ बहिरात्मा स उच्यते ॥६८॥

अभव्यके भेदसे दो प्रकारकी है, सम्यक्त्वमार्गणा छह प्रकार की है, संज्ञामार्गणाकी अपेक्षा जीव संज्ञी और असंज्ञीके भेदसे दो प्रकारकी है, तथा आहारमार्गणा आहारक-अनाहारकके भेदसे दो प्रकारकी है। इस प्रकार तीर्थ-नायक वीरनाथने चौदह मार्गणाओंका उपदेश दिया ॥५४-५६॥ मार्गणाओंके जानकार विद्वानोंको अपने ज्ञानकी वृद्धिके लिए तथा सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके लिए चारों गतियोमें रहनेवाले संसारी जीवोंका इन मार्गणाओंके द्वारा शीघ्र यत्नसे मार्गण (अन्वेषण) करना चाहिए ॥५७॥

पुनः जीवोंके क्रमशः विकासको प्राप्त होनेवाले चौदह गुणस्थानोंका उपदेश दिया। उनके नाम इस प्रकार हैं—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, देशसंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरणसंयत, नवम अनिवृत्तिकरणसंयत, सूक्ष्मसाम्परायसंयत, उपशान्त-कषायसंयत, क्षीणकषायसंयत, सयोगिजिन और अयोगिजिन। इन चौदहों गुणस्थानोंका भगवान्‌ने विस्तारसे वर्णन किया ॥५८-६०॥ जो भव्य जीव इस संसारमें निर्वाण (मोक्ष) को गये हैं, जा रहे हैं और भविष्यमें जावेंगे, वे इन गुणस्थानोंपर आरोहण करके ही गये, जा रहे और जावेंगे। यह नियम क्वचित् कदाचित् भी अन्यथा नहीं हो सकता है ॥६१॥ अभव्य-जीवके सदा केवल पहला ही गुणस्थान होता है, भले ही वह यहाँपर ग्यारह अंगोंका वेत्ता हो और दीर्घकालका दीक्षित हो। उसके पहलेके सिवाय अन्य गुणस्थान नहीं हो सकता ॥६२॥ जैसे काला साँप शक्कर-मिश्रित दूधको पीता हुआ भी अपने विषको नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार आगमरूप अमृतका पान करके भी अभव्यजीव मिथ्यात्वरूप विषको नहीं छोड़ता है ॥६३॥ इसलिए निकट भव्यजीवोंके ऊपरके तेरह गुणस्थान होते हैं, अभव्योंके और दूर भव्यजीवोंके कभी भी ये गुणस्थान नहीं होते हैं ॥६४॥

इस प्रकार वीर जिनेन्द्रने आगम भाषासे आदिके जीवतत्त्वको कहकर पुनः सज्जनों-को उसका उपदेश अध्यात्म भाषासे देना प्रारम्भ किया ॥६५॥ ज्ञान-कुशल जनोंने गुण और दोषके कारण प्राणियोंको तीन प्रकारका कहा है—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इनमें परमात्मा अति निर्मल है, (अन्तरात्मा अल्प निर्मल है और बहिरात्मा अति मलयुक्त है।) ॥६६॥ इनमेंसे जो जीव तत्त्व-अतत्त्वमें, गुण-अगुणमें, सुगुरु-कुगुरुमें, धर्म-अधर्ममें, शुभमार्ग-अशुभमार्गमें, जिनसूत्र-कुशास्त्रमें, देव-अदेवमें, और हेय-उपादेयके विचार करनेमें तथा उनकी परीक्षा आदि करनेमें विचार-रहित होता है, वह बहिरात्मा कहा जाता है

पदार्थान् स्वेच्छयादत्ते सत्येतरप्ररूपितान् । यो विचाराद्दृते मूढो बहिरात्माग्रिमोऽत्र सः ॥६९॥
हालाहलनिभं घोरं सुखं वैषयिकं शठः । योऽत्रोपादेयबुद्धया सेवते स बहिरात्मकः ॥७०॥
ऐक्यं जानाति यो मूढः संसर्गाद्देहदेहिनोः । जडचिन्मययोः सोऽत्र जडात्मा ज्ञानदूरगः ॥७१॥
तपःश्रुतव्रताढ्योऽपि ध्यानं यः स्वपरात्मनः । न वेत्ति बहिरात्मासौ स्वविज्ञानबहिःकृतः ॥७२॥
पापं पुण्यं परिज्ञाय बहिरात्मा कुबुद्धितः । कृत्वा क्लेशं च पुण्याय भ्रमेत्तेन भवाटवीम् ॥७३॥
मत्वेति सर्वथा हेयो बहिरात्मा कुमार्गगः । स्वप्नेऽप्यत्र न कर्तव्यस्तत्सङ्गो जातु धीधनैः ॥७४॥
तस्माद्यो विपरीतात्मा विवेकी जिनसूत्रवित् । स्फुटं वेत्ति विचारं च तत्त्वातत्त्वे शुभाशुभे ॥७५॥
देवादेवे मते सत्यासत्ये धर्मादियोगिषु । कुपथे मुक्तिमार्गादौ सोऽन्तरात्मा जिनैर्मतः ॥७६॥
हालाहलविषाद्योऽत्र वेत्ति वैषयिकं सुखम् । सर्वानर्थाकरीभूतं मुमुक्षुः सोऽन्तरात्मवान् ॥७७॥
कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः पृथग्भूतं गुणाकरम् । मोहाक्षद्वेषरागाङ्गादिभ्यः स्वात्मानमञ्जसा ॥७८॥
निष्कलं सिद्धसादृश्यं योगिगम्यं च्युतोपमम् । ध्यायेदभ्यन्तरे सोऽत्र ज्ञानी स्वात्मरतो महान् ॥७९॥
स्वात्मद्रव्यान्यदेहादिद्रव्याणामन्तरं महत् । यो जानाति महाप्राज्ञः सकलं सोऽन्तरात्मभाक् ॥८०॥
किमत्र विस्तरोक्तेन निकषग्रावसंनिभम् । सद्विचारे मनःसारं यस्यासौ ज्ञानवान् परः ॥८१॥
सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तसुखश्रीजिनवैभवम् । भजेत्सुचरणज्ञानादिभिश्चात्रान्तरात्मवान् ॥८२॥

॥६७-६८॥ जो जीव इस लोकमें दूसरोंके द्वारा प्ररूपित सत्य-असत्यका विचार न करके स्वेच्छासे यद्वा-तद्वा पदार्थोंको जानता है और उन्हें उसी प्रकारसे ग्रहण करता है, वह पहला बहिरात्मा है ॥६९॥ जो शठ पुरुष इन्द्रिय-विषय-जनित, हालाहल विष-सदृश भयंकर वैषयिक सुखको यहाँपर उपादेय बुद्धिसे सेवन करता है, वह बहिरात्मा है ॥७०॥ जो मूढ़ जड़ शरीर और चेतन आत्माको शरीरके संसर्गमात्रसे एक मानता है, वह सद्-ज्ञानसे रहित बहिरात्मा है ॥७१॥ तप, श्रुत और व्रतसे युक्त हो करके भी जो पुरुष स्व-पर आत्माके विवेकको नहीं जानता है, वह स्वविज्ञानसे बहिष्कृत बहिरात्मा है ॥७२॥ बहिरात्मा जीव पुण्य-पापको जानकर कुबुद्धिसे पुण्यके लिए क्लेश करके उसके फलसे भव-वनमें परिभ्रमण करता है ॥७३॥ ऐसा जानकर बुद्धिमानोंको कुमार्गमें ले जानेवाला बहिरात्मपना सर्वथा छोड़ देना चाहिए और उसकी संगति यहाँ स्वप्नमें भी कभी नहीं करनी चाहिए ॥७४॥

इस ऊपर बतलाये गये बहिरात्माके स्वरूपसे जो विपरीत स्वरूपका धारक है, अर्थात् देह और देहीका विवेकवाला है, जिनसूत्रका वेत्ता है, जो तत्त्व-अतत्त्व और शुभ-अशुभके विचारको स्पष्ट जानता है, देव-अदेवको, सत्य-असत्य मतको, धर्म-अधर्मयोगी कार्योंको, कुमार्ग और मुक्तिमार्ग आदिको भलीभाँतिसे जानता है, उसे जिनराजोंने अन्तरात्मा माना है ॥७५-७६॥ जो इन्द्रिय-विषयजनित सुखको हालाहल विषके समान सर्व अनर्थोंकी खानि मानता है और जो संसारके बन्धनोंसे छूटना चाहता है, वह अन्तरात्मा कहा जाता है ॥७७॥ जो निश्चयतः कर्मोंसे, कर्मोंके कार्योंसे, मोह, इन्द्रिय और राग-द्वेषादि अपनी अनन्तगुणाकर आत्माको पृथग्भूत (भिन्न) निष्कल (शरीर-रहित) सिद्ध-सदृश, योगि-गम्य और उपमा-रहित अपने भीतर ध्यान करता है, वह स्वात्म-रत ज्ञानी और महान् अन्तरात्मा है ॥७८-७९॥

जो अपने आत्मद्रव्य और देहादि अन्य द्रव्योंके सर्व महान् अन्तरको जानता है, वह महाप्राज्ञ अन्तरात्मा है ॥८०॥ इस विषयमें अधिक कहने से क्या, जिसका मन सद्-विचारमें कसौटीके पाषाण-तुल्य है, जो असार असद्-विचारका त्याग कर सद्-विचारको ही ग्रहण करता है, वह परम ज्ञानवान् अन्तरात्मा है ॥८१॥ यह अन्तरात्मा अपने उत्तम चारित्र और ज्ञानादिगुणोंके द्वारा इस संसारमें सर्वार्थसिद्धि तकके सुखोंको और जिनेन्द्रके

विज्ञायेति परित्यज्य मूढत्वं निखिलात्मसु । अन्तरात्मपदं ग्राह्यं परमात्मपदाप्तये ॥८३॥
सकलेतरभेदेन परमात्मा द्विधा भवेत् । सकलो दिव्यदेहस्थो निष्कलो देहवर्जितः ॥८४॥
यो घातिकर्मनिर्मुक्तो नवकेवललब्धिवान् । त्रिजगन्नृसुरैः सेव्यो ध्येयो नित्यं मुमुक्षुभिः ॥८५॥
धर्मोपदेशहस्ताभ्यां भव्यानुद्धर्तुमुद्यतः । भवाब्धौ पतनाद्दक्षः सर्वज्ञो महतां गुरुः ॥८६॥
धर्मतीर्थकरोऽन्यो वा केवली विश्ववन्दितः । दिव्यौदारिककायस्थः समस्तातिशयाङ्कितः ॥८७॥
धर्मामृतमयीं वृष्टिं कुर्वल्लोकेऽप्यनारतम् । स्वर्गमुक्तिफलाप्त्यै परमात्मा सकलो हि सः ॥८८॥
अयमेव जगन्नाथः सेव्यस्तत्पदकाङ्क्षिभिः । अनन्यशरणीभूय तत्पदाय जिनाग्रणीः ॥८९॥
कृत्स्नकर्माङ्गनिर्मुक्तोऽमूर्तो ज्ञानमयो महान् । त्रिजगच्छिखरावासो गुणाष्टकविभूषितः ॥९०॥
त्रिजगन्नाथसंसेव्यः सिद्धो वन्द्यो मुमुक्षुभिः । निष्कलः परमात्मा स जगच्चूडामणिर्महान् ॥९१॥
ध्येयोऽयं मुक्तिसिद्ध्यर्थं मनः कृत्वातिनिश्चलम् । सिद्धो विश्वाग्रिमो नित्यं परमेष्ठी शिवार्थिभिः ॥९२॥
यादृशं परमात्मानं ध्यायेद्योगी गतभ्रमः । तादृशं परमात्मानं शिवीभूतं लभेत भोः ॥९३॥
उत्कृष्टो बहिरात्मा गुणस्थाने प्रथमे मतः । द्वितीये मध्यमो दक्षैर्जघन्यस्तृतीये शठः ॥९४॥
जघन्योऽन्तरात्मा स्याद्गुणस्थाने चतुर्थके । ज्येष्ठो द्वादशमेऽनन्तकेवलज्ञानकारकः ॥९५॥
तयोर्मध्ये गुणस्थानाः सन्ति सप्तैव ये शुभाः । तेष्वनेकविधो मध्यमोऽन्तरात्मा शिवाध्वगः ॥९६॥

वैभवको भोगता है ॥८२॥ ऐसा जानकर सर्व आत्माओंमें मूढपना छोड़कर परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए अन्तरात्माका पद ग्रहण करना चाहिए ॥८३॥

सकल (शरीर-सहित) और निष्कल (शरीर-रहित) के भेदसे परमात्मा दो प्रकारका है। परमौदारिक दिव्य देहमें स्थित अरिहन्त सकल परमात्मा हैं और देह-रहित सिद्ध भगवन्त निष्कल परमात्मा हैं ॥८४॥ जो चार घातिया कर्मोंसे विमुक्त हैं, अनन्तज्ञान आदि नौ केवल-लब्धियोंके धारक हैं, तीन लोकके मनुष्य और देवोंसे सेव्य हैं, मुमुक्षुजनोंके द्वारा नित्य ध्यान किये जाते हैं, धर्मोपदेशरूपी हाथोंसे भव-सागरमें गिरते हुए भव्य जीवोंके उद्धार करनेके लिए उद्यत हैं, दक्ष हैं, सर्वज्ञ हैं, महात्माओंके गुरु हैं, धर्मतीर्थके स्थापक तीर्थंकर केवली हैं, अथवा सामान्य केवली हैं, विश्ववन्दित हैं, दिव्य औदारिकदेहमें स्थित हैं, समस्त अतिशयों-से युक्त हैं और जो भव्य जीवोंको स्वर्ग-मुक्तिका फल प्राप्त करानेके लिए लोकमें निरन्तर धर्मामृतमयी वृष्टिको करते रहते हैं, वे सकल परमात्मा हैं ॥८५-८८॥ यही जिनाग्रणी जगन्नाथ सकल परमात्मपदके आकांक्षी लोगोंके द्वारा उस पदकी प्राप्तिके लिए अनन्यशरण होकर सेवनीय हैं ॥८९॥

जो सर्व कर्मोंसे और शरीरसे रहित हैं, अमूर्त हैं, ज्ञानमय हैं, महान् हैं, तीन लोकके शिखरपर जिनका निवास है, क्षायिकसम्यक्त्व आदि आठ गुणोंसे विभूषित हैं, तीन लोकके अधीश्वरोंके द्वारा संसेव्य हैं, मुमुक्षु जनोंके द्वारा वन्द्य हैं और जगच्चूड़ामणि हैं, ऐसे महान् सिद्ध भगवान् निष्कल परमात्मा हैं ॥९०-९१॥ शिवार्थी जनोंको मुक्तिकी सिद्धिके लिए मनको अति निश्चल करके विश्वके अग्रणी यही सिद्ध परमेष्ठी नित्य ध्यान करनेके योग्य हैं ॥९२॥ हे गौतम, भ्रम-रहित होकर योगी पुरुष जैसे परमात्माका ध्यान करता है, वह उसी प्रकार शिवस्वरूप परमात्माको प्राप्त करता है ॥९३॥

जो शठ प्रथम गुणस्थानमें निवास करता है, वह उत्कृष्ट अर्थात् सबसे निकृष्ट बहिरात्मा है। जो द्वितीय गुणस्थानमें रहता है, वह मध्यम जातिका बहिरात्मा है। और जो तृतीय गुणस्थानमें वास करता है, उसे दक्ष पुरुषोंने जघन्य बहिरात्मा कहा है ॥९४॥ चौथे गुण-स्थानमें रहनेवाला जघन्य अन्तरात्मा है, बारहवें गुणस्थानमें रहनेवाला और अन्तर्मुहूर्तमें ही केवलज्ञानको उत्पन्न करनेवाला है, वह उत्कृष्ट अन्तरात्मा है। चौथे और बारहवें इन दोनों

विज्ञेयः परमात्मासौ गुणस्थानद्वयेऽन्तिमे । त्रिजगज्जनताराध्यः सयोग्ययोगिसंज्ञकः ॥९७॥
द्रव्यभावाभिधैः प्राणैर्यतोऽजीवच्च जीवति । जीविष्यति ततो जीवः कथ्यते सार्थनामकः ॥९८॥
पञ्चेन्द्रियाह्वयाः प्राणा मनो वाक्कायजास्त्रयः । आयुरुच्छ्वासनिःश्वासः प्राणा दशेतिसंज्ञिनाम् ॥९९॥
नव प्राणा मता सद्भिरसंज्ञिनां मनो विना । कर्णादृते भवन्त्यष्टौ चतुरिन्द्रियदेहिनाम् ॥१००॥
नयनेन विना सप्त प्राणास्त्रीन्द्रियजन्मिनाम् । नासिकामन्तरेण स्युः षड्प्राणाः द्वीन्द्रियात्मनाम् ॥१०१॥
एकाक्षाणां चतुःप्राणा वाङ्मुखाभ्यां विना स्मृताः । विज्ञेया आगमे पर्याप्तानां प्राणा अनेकधा ॥१०२॥
उपयोगमयो जीवश्चेतनालक्षणो महान् । अकर्ता कर्मनोकर्मबन्धमोक्षादिकर्मणाम् ॥१०३॥
असंख्यातप्रदेशी किलामूर्तः सिद्धसंनिभः । परद्रव्यातिगो दक्षैर्निश्चयेनात्र कथ्यते ॥१०४॥
अशुद्धनिश्चयेनासौ रागादिभावकर्मणाम् । कर्ता च तत्फलभोक्ता स्वात्मज्ञानबहिस्थितः ॥१०५॥
कर्मनोकर्मणां कर्ता स्यक्तोपचरितान्नयात् । व्यवहारादसद्भूतात्स्वात्मध्यानपराङ्मुखः ॥१०६॥
व्यवहारनयेनासद्भूतोपचरितात्मना । कर्ता घटपटादीनां संसारी स्वाक्षवञ्चितः ॥१०७॥
कायप्रमाण आत्मायं समुद्घातं विना भवेत् । युक्तः संहारविस्ताराभ्यां प्रदीप इवान्वहम् ॥१०८॥
वेदनाख्यः कषायाभिधो विकुर्वणनामकः । मारणान्तिकनामा तैजस आहारकाह्वयः ॥१०९॥
ततः केवलिसंज्ञोऽमी समुद्घाता हि सप्त च । त्रयस्ते योगिनां ज्ञेयाः शेषाः सर्वात्मनां मताः ॥११०॥

गुणस्थानोंके मध्यमें जो सात शुभ गुणस्थान हैं, उनमें रहनेवाले शिवमार्गगामी क्रमशः विकसित गुणवाले, अनेक प्रकारके मध्यम अन्तरात्मा हैं ॥९५-९६॥ अन्तिम दो गुणस्थानोंमें रहनेवाले परमात्मा जानना चाहिए। उनमें जो तेरहवें गुणस्थानवर्ती हैं, वे सयोगिजिन हैं और चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगिजिन कहलाते हैं। ये दोनों प्रकारके परमात्मा तीन लोककी जनताके आराध्य हैं ॥९७॥

यतः जीव द्रव्यप्राणों और भावप्राणोंसे भूतकालमें जीता था, वर्तमानकालमें जी रहा है और भविष्यकालमें जीवेगा, अतः उसका 'जीव' यह सार्थक नाम कहा जाता है ॥९८॥ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन, काय ये तीन योग, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश द्रव्यप्राण संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके होते हैं ॥९९॥ मनके विना शेष नौ उक्त प्राण असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंसे सन्त पुरुषोंने माने हैं। उक्त नौ प्राणोंमें-से कर्णेन्द्रियके विना शेष आठ प्राण चतुरिन्द्रिय जीवोंके होते हैं ॥१००॥ इनमेंसे नेत्रेन्द्रियके विना शेष सात प्राण त्रीन्द्रिय प्राणियोंके होते हैं। इनमेंसे घ्राणेन्द्रियके विना शेष छह प्राण द्वीन्द्रिय जीवोंके होते हैं ॥१०१॥ उनमेंसे रसनेन्द्रिय और वचनके विना शेष चार प्राण एकेन्द्रिय जीवोंके आगममें माने गये हैं। इस प्रकार पर्याप्त जीवोंके ये अनेक प्रकारके प्राण जानना चाहिए ॥१०२॥ ज्ञान और दर्शनरूप चेतना भावप्राण है। निश्चय नयसे जीव चेतना लक्षणवाला है, उपयोगमयी है, महान् है, कर्म नोकर्म और बन्ध-मोक्षादि कार्योंका अकर्ता है, असंख्यात प्रदेशी है, अमूर्त है, सिद्ध भगवान्के सदृश है और सर्व परद्रव्योंसे रहित है ऐसा दक्षपुरुष निश्चयनयकी अपेक्षासे कहते हैं ॥१०३-१०४॥ अशुद्धनिश्चयनयकी अपेक्षासे वह जीव रागादि भावकर्मोंका कर्ता और उनके फलका भोक्ता है और अपने आत्मीय ज्ञानसे बहिर्भूत है ॥१०५॥ अपने आत्मध्यानसे पराङ्मुख हुआ जीव उपचरित व्यवहारनयसे ज्ञानावरणादि कर्मोंका, और औदारिकादि शरीररूप नोकर्मोंका कर्ता है, तथा असद्भूतोपचरित व्यवहारनयसे यह अपनी इन्द्रियोंसे ठगाया हुआ संसारी जीव घट-पट आदि द्रव्योंका भी कर्ता कहा जाता है ॥१०६-१०७॥ समुद्घात-अवस्थाके सिवाय यह जीव सदा शरीर-प्रमाण रहता है। संकोच-विस्तारगुणके निमित्तसे यह छोटे-बड़े शरीरमें प्रदीपके समान निरन्तर अवगाहको प्राप्त होता रहता है ॥१०८॥ मूल शरीरको नहीं छोड़ते हुए कुछ आत्म-

स्वभावाख्या गुणा अस्य केवलावगमादयः । मतिज्ञानादयो ज्ञेया विभावाख्या विधिप्रजाः ॥१११॥
विभावाख्याश्च पर्याया नृनारकसुरादयः । शुद्धास्तस्य प्रदेशाः स्युः स्वभावाख्या वपुश्च्युताः ॥११२॥
विनाशः प्राक्शरीरस्य प्रादुर्भावोऽपरस्य च । ध्रौव्य एव स आत्मेति तस्योत्पादादयस्त्रयः ॥११३॥
इत्यादिबहुधा जीवतत्त्वं जिनेन्द्र आदिशत् । विचित्रैर्नयभङ्गाद्यैर्दृग्विशुद्ध्यै गणान् प्रति ॥११४॥
अथ पुद्गल एवात्र धर्मोऽधर्मो द्विधा नभः । कालश्च पञ्चधैवेत्यजीवतत्त्वं जगौ जिनः ॥११५॥
वर्णगन्धरसस्पर्शमयाश्चानन्तपुद्गलाः । पूरणाद्गलनादत्र संप्राप्तान्वर्थनामकाः ॥११६॥
अणुस्कन्धविभेदाभ्यां सामान्यात्पुद्गला द्विधा । अविभागी ह्यणुः स्कन्धा बहुभेदा सुविस्तरात् ॥११७॥
अथवा सूक्ष्मसूक्ष्मादिभेदैस्ते षड्विधा मताः । सूक्ष्मसूक्ष्मास्ततः सूक्ष्माः सूक्ष्मस्थूलाश्च पुद्गलाः ॥
स्थूलसूक्ष्मास्तथा स्थूलाः स्थूलस्थूला इति स्फुटम् । पुद्गलाः षड्विधा ज्ञेया स्निग्धसूक्ष्मगुणान्विताः ॥
एकोऽणुः सूक्ष्मसूक्ष्मः स्याददृश्यो जनचक्षुषाम् । अष्टकर्ममयाः स्कन्धाः सूक्ष्मा भवन्ति पुद्गलाः ॥१२०॥
शब्दाः स्पर्शा रसा गन्धाः सूक्ष्मस्थूलाख्यपुद्गलाः । विज्ञेयाः स्थूलसूक्ष्मास्ते छायाज्योत्स्नातपादयः ॥
जलज्वालादयोऽनेकशः स्थूलाः पुद्गला मताः । भूविमानाद्रिधामाद्याः स्थूलस्थूला हि रूपिणः ॥१२२॥
स्पर्शाद्या विंशतिर्ये स्युरणौ च निर्मला गुणाः । ते स्वभावाभिधाः स्कन्धे विभावाख्या गुणाः परे ॥१२३॥

प्रदेशोंके बाहर निकलनेको समुद्घात कहते हैं। वह सात प्रकारका है—१ वेदना, २ कषाय, ३ वैक्रियिक, ४ मारणान्तिक, ५ तैजस, ६ आहारक और ७ केवलिसमुद्घात। इन सात समुद्घातोंमेंसे अन्तके तीन समुद्घात योगियोंके जानना चाहिए और प्रारम्भके शेष चार समुद्घात सर्व संसारी जीवोंके माने गये हैं ॥१०९-११०॥ जीवके केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि स्वाभाविक गुण हैं और मतिज्ञानादि कर्म-जनित वैभाविक गुण जानना चाहिए ॥१११॥ मनुष्य नारक और देवादि वैभाविक पर्याय हैं और शरीर-रहित शुद्ध आत्मप्रदेश स्वाभाविक पर्याय है ॥११२॥ संसारी जीव जन्म-मरण करता रहता है, अतः मरण-समय पूर्व शरीरका विनाश होता है, जन्म लेते हुए नवीन शरीरका उत्पाद होता है और आत्मा तो दोनों ही अवस्थाओंमें वही का वही ध्रौव्यरूपसे रहती है, अतः जीवके उत्पाद व्यय और ध्रौव्य ये तीनों ही हैं ॥११३॥ इस प्रकारसे जिनेन्द्रदेवने अनेक नय-भंगादिकी विवक्षासे मनुष्य-देवादि गणोंको सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिके लिए जीवतत्त्वका अनेक प्रकारसे उपदेश दिया ॥११४॥

तत्पश्चात् जिनदेवने अजीवतत्त्वका उपदेश देते हुए कहा कि वह पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोक-अलोकरूप आकाश और कालके भेदसे पाँच प्रकारका है ॥११५॥ पुद्गल अनन्त हैं और वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शमय है। पूरण और गलन होनेसे यह 'पुद्गल' ऐसा सार्थक नामवाला है ॥११६॥ सामान्यतः अणु और स्कन्धके भेदसे पुद्गल दो प्रकारका है। पुद्गलके अविभागी अंशको अणु कहते हैं। दो या दो से अधिक अणुओंके समुदायको स्कन्ध कहते हैं। विस्तार की अपेक्षा वह अनेक भेदवाला है ॥११७॥ अथवा सूक्ष्मसूक्ष्म आदिके भेदसे पुद्गलके छह भेद माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं—१. सूक्ष्मसूक्ष्म, २. सूक्ष्म, ३. सूक्ष्मस्थूल, ४. स्थूलसूक्ष्म, ५. स्थूल और ६. स्थूलस्थूल। ये छहों प्रकारके पुद्गल स्निग्ध और रूक्ष गुणसे संयुक्त जानना चाहिए ॥११८-११९॥ एक अणु सूक्ष्मसूक्ष्म पुद्गल है, जो कि मनुष्योंकी आँखोंसे अदृश्य है। आठ कर्ममयी स्कन्ध सूक्ष्म पुद्गल हैं ॥१२०॥ शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध ये सूक्ष्मस्थूल पुद्गल हैं। छाया, चन्द्रिका, आतप आदि स्थूलसूक्ष्म पुद्गल हैं ॥१२१॥ जल, अग्निज्वाला आदि अनेक प्रकार स्थूल पुद्गल माने गये हैं और भूमि, विमान, पर्वत, मकान आदि स्थूलस्थूल पुद्गल जानना चाहिए ॥१२२॥ (पुद्गलमें जो स्पर्शादि चार गुण कहे गये हैं, उनमें स्पर्शके आठ भेद हैं, रसके पाँच, गन्धके दो और वर्णके पाँच भेद होते हैं।) स्पर्शादिके ये बीस गुण अणुमें निर्मल स्वाभाविक हैं और स्कन्धोंमें स्पर्शादि

शब्दोऽनेकविधो बन्धः सूक्ष्मः स्थूलो ह्यपेक्षया । संस्थानं षड्विधं भेदस्तमश्छायातपस्तथा ॥१२४॥
उद्योताद्या अमी स्युर्विभावपर्यायसंज्ञकाः । पुद्गलानां स्वभावाख्याः पर्याया अणुषु स्थिताः ॥१२५॥
शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः स्युः पुद्गलात्मनाम् । पर्यायेण भवन्त्येव देहिनां पञ्चेन्द्रियादयः ॥१२६॥
मृत्युजीवितशर्माशर्मादीननेकशोऽङ्गिनाम् । उपग्रहान् प्रकुर्वन्ति पुद्गला विविधा भुवि ॥१२७॥
एकाण्वपेक्षया न स्यात्कायोऽत्र पुद्गलात्मनाम् । बह्वण्वपेक्षया स्कन्धे ह्युपचारात्स उच्यते ॥१२८॥
जीवपुद्गलयोर्धर्मः सहकारी गतेर्मतः । अमूर्तो निष्क्रियो नित्यो मत्स्यानां जलवद्भुवि ॥१२९ ॥
स ह्यकर्ताप्यधर्मः स्याज्जीवपुद्गलयोः स्थितेः । नित्योऽमूर्तः क्रियाहीनश्छायेव पथिकाङ्गिनाम् ॥१३०॥
लोकालोकनभोभेदादाकाशोऽत्र द्विधा भवेत् । अवकाशप्रदः सर्वद्रव्याणां मूर्तिवर्जितः ॥१३१॥
धर्माधर्मयुताः कालपुद्गला जीवपूर्वकाः । खे यावत्यत्र तिष्ठन्ति लोकाकाशः स उच्यते ॥१३२॥
तस्माद्बहिरनन्तोऽस्त्याकाशोऽन्यद्रव्यवर्जितः । नित्योऽमूर्तः क्रियाहीनः सर्वज्ञदृष्टिगोचरः ॥१३३॥
नवजीर्णादिपर्यायैर्द्रव्याणां यः प्रवर्तकः । समयादिमयः कालो व्यवहाराभिधोऽस्ति सः ॥१३४॥
लोकाकाशप्रदेशे ह्येकैका अणवः स्थिताः । भिन्नभिन्नप्रदेशस्था रत्नानामिव राशयः ॥१३५॥
तेषामसंख्यकालाणूनां निष्क्रियमयात्मनाम् । जिनैर्निश्चयकालाख्यसंज्ञात्र कथ्यते सताम् ॥१३६॥
धर्माधर्मैकजीवानां लोकाकाशस्य कीर्तिताः । असंख्याताः प्रदेशाः किन्त्वतः कालस्य जातु न ॥१३७॥
अतः कालं विना ते पञ्चास्तिकाया भवन्ति च । कालेन सह षट्द्रव्याः कथ्यन्ते श्रीजिनागमे ॥१३८॥

विभावरूप गुण हैं ॥१२३॥ अनेक प्रकारका शब्द, स्थूल-सूक्ष्मकी अपेक्षासे दो प्रकारका बन्ध, छह प्रकारका संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप तथा उद्योत आदि पुद्गलकी विभाव संज्ञावाली पर्याय हैं, (जो कि स्कन्धोंमें होती हैं)। पुद्गलोंकी स्वभावपर्याय अणुओंमें होती है ॥१२४-१२५॥ शरीर, वचन, मन, श्वासोच्छ्वास, और पाँच इन्द्रियाँ आदि सब पुद्गलोंकी पर्याय हैं, जो कि प्राणियोंके होती हैं ॥१२६॥ ये पुद्गल संसारमें जीवोंके जीवन, मरण, सुख, दुःख आदि अनेक प्रकारके उपकारोंको करते हैं ॥१२७॥ एक अणुकी अपेक्षा संसारमें शरीर नहीं बन सकता है, किन्तु बहुत अणुओंकी अपेक्षासे शरीर बनता है, अतः स्कन्धमें अणुके उपचारसे शरीरको पुद्गलकी पर्याय कहा जाता है ॥१२८॥

धर्मास्तिकाय द्रव्य जीव और पुद्गलोंकी गतिका सहकारी कारण माना गया है। कर्ता या प्रेरक नहीं है। जैसे संसारमें जल मत्स्यकी गतिका सहकारी कारण माना जाता है। यह धर्मास्तिकाय अमूर्त, निष्क्रिय और नित्य है ॥१२९॥ अधर्मास्तिकाय द्रव्य जीव और पुद्गलोंकी स्थितिका सहकारी कारण है, जैसे पथिकजनोंके ठहरनेमें छाया सहकारी कारण मानी जाती है। यह अधर्मास्तिकाय द्रव्य भी स्थितिका कर्ता या प्रेरक नहीं है और नित्य अमूर्त और क्रियाहीन है ॥१३०॥ लोकाकाश और अलोकाकाशके भेदसे यहाँ आकाश दो प्रकारका है। यह सर्व द्रव्योंको ठहरनेके लिए अवकाश देता है। यह भी मूर्ति-रहित और निष्क्रिय है ॥१३१॥ जितने आकाशमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पुद्गल और जीव रहते हैं, वह लोकाकाश कहा जाता है ॥१३२॥ उससे बाहर जितना भी अनन्त आकाश है, वह अलोकाकाश कहलाता है। उसमें आकाशके सिवाय अन्य कोई द्रव्य नहीं पाया जाता है। यह दोनों भेदरूप आकाश नित्य, अमूर्त, क्रियाहीन और सर्वज्ञके दृष्टिगोचर है ॥१३३॥ जो द्रव्योंका नवीन जीर्ण आदि पर्यायोंके द्वारा परिवर्तन करता है, वह समयादिरूप व्यवहार-काल है ॥१३४॥ लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर रत्नोंकी राशिके समान जो एक-एक कालाणु भिन्न-भिन्न प्रदेशरूपसे स्थित हैं, उन निष्क्रिय स्वरूपवाले असंख्य कालाणुओंको सन्तोंके लिए जिनेन्द्रोंने 'निश्चयकाल' इस नामसे कहा है ॥१३५-१३६॥ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, एक जीव और लोकाकाश, इनके असंख्यात प्रदेश कहे गये हैं, किन्तु कालके प्रदेश कभी नहीं

यावानाकाश एवात्र व्याप्तो ह्येकाणुना बुधैः । तावानाकाश एकप्रदेशः प्रोक्तोऽवगाहदः ॥१३९॥
रागादिदूषितेनैव येन भावेन रागिणाम् । आस्रवन्त्यत्र कर्माणि स भावास्रव एव हि ॥१४०॥
दुर्भावकलिते जीवे पुद्गलानां य आगमः । प्रत्ययैः कर्मरूपेण द्रव्यास्रवो मतोऽत्र सः ॥१४१॥
विस्तरेणास्रवस्यास्य मिथ्यात्वाद्याश्च हेतवः । प्रागुक्ता एव विज्ञेया अनुप्रेक्षास्थले मया ॥१४२॥
चेतनापरिणामेन रागद्वेषमयेन च । येन कर्माणि वध्यन्ते भावबन्धः स एव हि ॥१४३॥
भावबन्धनिमित्तेन संश्लेषो जीवकर्मणोः । योऽसौ चतुःप्रकारोऽत्र द्रव्यबन्धो बुधैः स्मृतः १४४॥
प्रकृतिः स्थितिबन्धोऽनुभागः प्रदेशसंज्ञकः । इति चतुर्विधो बन्धः सर्वानर्थाकरोऽशुभः ॥१४५॥
प्रकृत्यादिप्रदेशाख्यौ बन्धौ योगैः प्रकीर्तितौ । कषायैर्मुनिभिः स्थित्यनुभागौ देहिनां खलौ ॥१४६॥
ज्ञानावरणकर्माणि मतिज्ञानादिसद्गुणान् । आच्छादयन्ति जीवानां देवास्यानि यथा पटाः ॥१४७॥
दर्शनावरणान्यत्र चक्षुरादिसुदर्शनान् । वारयन्ति स्वकार्यादौ द्वारपाला यथागतान् ॥१४८॥
मधुलिप्तासिधारेव वेदनीयविधिर्नृणाम् । सर्षपाभं सुखं दत्ते दुःखं मेरूसमं परम् ॥१४९॥
मद्यवद्विकलान् कुर्यान्मोहनीयं शठात्मनः । दृष्टिज्ञानविचारादौ चारित्रे धर्मकर्मणि ॥१५०॥
कायबन्दिगृहाज्जीवान् गन्तुमायुर्ददाति न । दुःखशोकादिसंपूर्णान् शृङ्खलेवाशुभाकरान् ॥१५१॥
चित्रकार इवानेकरूपान् कुर्याच्च जन्मिनाम् । नामकर्माहिमार्जारसिंहेभनृसुरादिकान् ॥१५२॥
गोत्रकर्मनृणां दध्याद् गोत्रं लोकत्रयार्चितम् । उत्तमं च जनैर्निन्द्यं कुम्भकार इवान्वहम् ॥१५३॥

होते हैं । अतएव कालके बिना शेष पाँच द्रव्य 'अस्तिकाय' कहलाते हैं । कालके साथ वे ही सब श्री जिनागममें षट्द्रव्य कहे गये हैं ॥१३७-१३८॥ इस लोकमें जितना आकाश एक अणुके द्वारा व्याप्त है, उतना आकाश ज्ञानियोंके द्वारा एक प्रदेश कहा गया है । वह एक प्रदेश भी अपनी अवगाहनाशक्तिसे समस्त परमाणुओंको अवगाह देने की शक्ति रखता है ॥१३९॥

रागी जनोंके रागादिसे दूषित जिस भावके द्वारा कर्म आत्माके भीतर आते हैं, वह भावास्रव है ॥१४०॥ दुर्भाव-संयुक्त जीवमें मिथ्यात्व आदि कारणोंसे पुद्गलोंका कर्मरूपसे जो आगमन होता है, वह जैनागममें द्रव्यास्रव माना गया है ॥१४१॥ इस आस्रवके मिथ्यात्व आदि कारण विस्तारसे मैंने पहले अनुप्रेक्षाके स्थलपर कहे हैं, उन्हें जान लेना चाहिए॥१४२॥ जीवके राग-द्वेषमयी जिस चेतन परिणामसे कर्म बँधते हैं, वह भावास्रव है ॥१४३॥ उस भावबन्धके निमित्तसे जीव और कर्मका जो परस्पर संश्लेष होता है, वह ज्ञानियोंके द्वारा द्रव्यबन्ध माना गया है। यह चार प्रकारका है—१. प्रकृतिबन्ध, २. स्थितिबन्ध, ३. अनुभागबन्ध और ४. प्रदेशबन्ध। यह चारों ही प्रकारका बन्ध अशुभ है और समस्त अनर्थोंकी खानि है ॥१४४-१४५॥ इनमेंसे प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योगोंसे होते हैं और स्थितिबन्ध तथा अनुभागबन्ध कषायोंसे होते हैं, ये सब प्राणियोंको दुःख देते हैं । ऐसा मुनिजनोंने कहा है ॥१४६॥ ज्ञानावरणकर्म जीवोंके मतिज्ञानादि सद्-गुणोंको आच्छादित करता है । जैसे कि वस्त्र देवमूर्तियोंके मुखोंको आच्छादित करते हैं ॥१४७॥ दर्शनावरणकर्म चक्षुदर्शन आदि दर्शनोंको रोकता है । जैसे कि द्वारपाल राजासे मिलनेके लिए आये हुए लोगोंको अपने कार्य आदि करनेमें रोकता है ॥१४८॥ मधुलिप्त खड्गधाराके समान वेदनीय कर्म मनुष्योंको सुख तो सरसोंके समान अल्प देता है और दुःख मेरुके समान भारी देता है ॥१४९॥ मोहनीयकर्म मूढ़जनोंको मदिराके समान सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और धर्म-कर्मादिके विचारमें विकल करता है ॥१५०॥ आयुकर्म शरीररूपी बन्दीगृहसे जीवोंको इच्छानुसार अभीष्ट स्थानपर नहीं जाने देता है और साँकलसे जकड़े हुए के समान दुःख शोक आदि समस्त अशुभ वेदनाओं-का आकर है ॥१५१॥ नामकर्म चित्रकारके समान जीवोंके साँप, मार्जार, सिंह, हाथी, मनुष्य और देवादिके अनेक रूपोंको करता है ॥१५२॥ गोत्रकर्म कुम्भकारके समान कभी जीव

दानलाभादिपञ्चानां पुंसां विघ्नं करोत्यहो । अन्तरायामिधं कर्म भाण्डागारीव सर्वदा ॥१५४॥
इत्याद्या बहुधा ज्ञेयाः स्वभावा अष्टकर्मणाम् । प्रतिक्षणभवा नृणां कर्मागमनहेतवः ॥१५५॥
दृक्चिदावृतिवेद्यानामन्तरायस्य चोत्तमा । स्यात्त्रिंशत्कोटिकोटी सागराणां प्रमिता स्थितिः ॥१५६॥
कोटीकोटिसमुद्राणां चोत्कृष्टा सप्ततिप्रमा । स्थितिर्दृङ्मोहनीयस्य विंशतिर्नामगोत्रयोः ॥१५७॥
त्रयस्त्रिंशत्पयोराशिरायुषः स्थितिरूर्जिता । इत्यष्टकर्मणामाह जिनेन्द्रः स्थितिमुत्तमाम् ॥१५८॥
वेदनीयस्य च द्वादशमुहूर्तप्रमा स्थितिः । जघन्याष्टमुहूर्तप्रमाणात्र नामगोत्रयोः ॥१५९॥
स्थितिरन्तर्मुहूर्तप्रमा शेषपञ्चकर्मणाम् । मध्यमा बहुधा ज्ञेया सर्वेषां कर्मणां नृणाम् ॥१६०॥
अशुभप्रकृतीनां स्यादनुभागश्चतुर्विधः । निम्बकाञ्जीरसादृश्यो विषहालाहलोपमः ॥१६१॥
शुभप्रकृतिसर्वासामनुभागः शुभो भवेत् । गुडखण्डसमः शर्करासुधासंनिभोऽङ्गिनाम् ॥१६२॥
इति क्षणक्षणोत्पन्नोऽनुभागोऽखिलकर्मणाम् । सुखदुःखादिदोऽनेकधा संसाराध्वगामिनाम् ॥१६३॥
सर्वेष्वात्मप्रदेशेषु संबन्धं यान्ति पुद्गलाः । अनन्तानन्तसंख्याः सूक्ष्माः प्रदेशावगाहिनः ॥१६४॥
रागिणोऽणुभृते ह्येकक्षेत्रे यं च निरन्तरम् । प्रदेशबन्ध एव स्यात् सोऽखिलाशर्मसागरः ॥१६५॥
इति चतुर्विधो बन्धो विश्वदुःखनिबन्धनः । हन्तव्यः शत्रुवद्दक्षैर्दृक्चिद्वृत्ततपःशरैः ॥१६६॥
चैतन्यपरिणामो यो रागद्वेषातिगो महान् । कर्मास्रवनिरोधस्य हेतुः स भावसंवरः ॥१६७॥

लोकपूजित उच्चगोत्रमें जीवोंको उत्पन्न करता है और कभी मनुष्योंसे निन्दित नीचकुलमें उत्पन्न करता है ॥१५३॥

अन्तरायकर्म भण्डारीके समान सदा ही जीवोंके दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य इन पाँचोंकी प्राप्तिमें विघ्न करता है ॥१५४॥ इत्यादि प्रकारसे आठों कर्मोंके अनेक जातिरूप स्वभाव जानना चाहिए। जीवोंके ये कर्मागमनके कारण प्रति समय होते रहते हैं, अतः जीव उनसे बँधता रहता है ॥१५५॥ (यह प्रकृतिबन्धका स्वरूप कहा। अब कर्मोंके स्थितिबन्धको कहते हैं)—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तरायकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर-प्रमाण है ॥१५६॥ दर्शनमोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर-प्रमाण है। नाम और गोत्रकर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस सागर-प्रमाण है। इस प्रकार जिनेन्द्र देवने आठों कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति कही ॥१५७-१५८॥ वेदनीय-कर्मकी जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त-प्रमाण है। नाम और गोत्र कर्मकी जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त-प्रमाण है और शेष पाँच कर्मोंकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त-प्रमाण है। मध्यमें स्थिति सर्व कर्मोंकी मनुष्योंके (जीवोंके) अनेक प्रकारकी जाननी चाहिए ॥१५९-१६०॥ (अब कर्मोंका अनुभागबन्ध कहते हैं—) अशुभ कर्म प्रकृतियोंका अनुभागबन्ध निम्ब-सदृश, कांजीर-सदृश, विष-सदृश और हालाहलके सदृश चार प्रकारका अशुभ होता है ॥१६१॥ सभी शुभकर्म प्रकृतियोंका अनुभागबन्ध गुड़-सदृश, खाँड-सदृश, शक्कर-सदृश और अमृतके सदृश प्राणियोंके शुभ होता है ॥१६२॥ इस प्रकार संसारी प्राणियोंको सुख-दुःखादिका देने-वाला सर्वकर्मोंका अनेक जातिवाला अनुभाग क्षण-क्षणमें उत्पन्न होता रहता है ॥१६३॥ (अब प्रदेशबन्ध कहते हैं—) रागी जीवके सर्व आत्म-प्रदेशों पर अनन्तानन्त संख्यावाले सूक्ष्म कर्म पुद्गल परमाणु सम्बन्धको प्राप्त होते हैं और वे परमाणुओंसे भरे हुए एक क्षेत्रमें निरन्तर एक प्रदेशावगाही होकर अवस्थित होते रहते हैं। यह प्रदेशबन्ध ही समस्त दुःखोंका सागर है ॥१६४-१६५॥ यह चारों प्रकारका कर्म-बन्ध सर्व दुःखोंका कारण है, अतः दक्ष पुरुषोंको चाहिए कि वे दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप बाणोंके द्वारा उसका शत्रुके समान विनाश करें ॥१६६॥

राग-द्वेषसे रहित जो महान् चैतन्य-परिणाम कर्मास्रवके विरोधका कारण है, वह

सर्वास्रवनिरोधो यः क्रियते तेन योगिभिः । महाव्रतादिसद्ध्यानैर्द्रव्याख्यः स सुखाकरः ॥१६८॥
संवरस्य मया पूर्वमुक्ता ये सद्व्रतादयः । परीषहजयाद्याश्च ज्ञेयास्ते हेतवो बुधैः ॥१६९॥
सविपाकाविपाकाभ्यां द्विधा स्यान्निर्जराङ्गिनाम् । अविपाका मुनीन्द्राणां सविपाकाखिलात्मनाम् ॥१७०॥
प्रागुक्तं निर्जरायाः प्रवर्णनं विस्तरेण च । पुनरुक्तादिदोषस्य भयात्करोमि नाधुना ॥१७१॥
सर्वेषां कर्मणां योऽत्र क्षयहेतुः शिवार्थिनः । परिणामोऽतिशुद्धः स भावमोक्षो जिनैर्मतः ॥१७२॥
कृत्स्नेभ्यः कर्मजालेभ्यो विश्लेषो यश्चिदात्मनः । चरमध्यानयोगेन द्रव्यमोक्षः स कथ्यते ॥१७३॥
आपादमस्तकान्तं च यथा बन्धनकोटिभिः । बद्धस्य मोचनात्सौख्यं परमं जायतेऽन्वहम् ॥१७४॥
तथा सर्वाङ्गबद्धस्य ह्यसंख्यैः कर्मबन्धनैः । मोक्षात्सौख्यं निराबाधमनन्तं जायतेतराम् ॥१७५॥
ततोऽत्रात्मा व्रजेदूर्ध्वस्वभावेनातिनिर्मलः । अमूर्तो ज्ञानवान् मोक्षं कृत्स्नकर्माङ्गनाशनात् ॥१७६॥
तत्र भुङ्क्ते निराबाधं निरौपम्यं निजात्मजम् । विषयातीमत्यर्थं सर्वद्वन्द्वपरिच्युतम् ॥१७७॥
वृद्धिह्रासादिनिष्क्रान्तं शाश्वतं सुखमुल्बणम् । अनन्तं सकलोत्कृष्टं सिद्धो ज्ञानवपुर्महान् ॥१७८॥
अहमिन्द्रादयो देवा नराश्चक्रिखगादयः । भोगभूमिभवाश्चार्याः पशवो व्यन्तरादयः ॥१७९॥
सर्वे यद्बुभुजुः सौख्यं परं भुञ्जन्ति चान्वहम् । मोक्ष्यन्ति विषयोत्पन्नं तत्सर्वं पिण्डितं भुवि ॥१८०॥
तस्मात् पिण्डीकृतात्सौख्यादनन्तं विषयातिगम् । एकस्मिन् समये भुङ्क्ते सिद्धः कर्माङ्गवर्जितः ॥१८१॥
मत्वेति धीधना मोक्षं साधयन्त्वप्रमादतः । अनन्तगुणशर्माप्त्यै तपोरत्नत्रयादिभिः ॥१८२॥

भावसंवर है ॥१६७॥ इसलिए योगी पुरुष महाव्रतादिके पालन और उत्तम ध्यानके द्वारा जो कर्मास्रवका निरोध करते हैं, वह सुखोंका आकर द्रव्यसंवर है ॥१६८॥ संवरके कारण जो व्रत समिति गुप्ति आदिक और परीषहजयादिक मैंने पहले कहे हैं, वे बुधजनोंके द्वारा जानने-के योग्य हैं ॥१६९॥ कर्मोंके आत्माके भीतरसे झड़नेको निर्जरा कहते हैं। वह जीवोंके सविपाक और अविपाकके भेदसे दो प्रकारकी होती है। इनमेंसे अविपाकनिर्जरा तपस्वी मुनियोंके होती है और सविपाकनिर्जरा सर्व प्राणियोंके होती है ॥१७०॥ निर्जराका विस्तारसे वर्णन पहले कहा है, अतः पुनरुक्तादि दोषके भयसे अब नहीं करता हूँ ॥१७१॥

शिवार्थी मनुष्यका जो अत्यन्त शुद्ध परिणाम सर्व कर्मोंके क्षयका कारण होता है, वह जिनेन्द्रोंके द्वारा भावमोक्ष माना गया है ॥१७२॥ अन्तिम शुक्लध्यानके योग-द्वारा सर्व कर्मजालोंसे आत्माका विश्लेष (सम्बन्धविच्छेद) होता है, वह द्रव्यमोक्ष कहा जाता है ॥१७३॥ जिस प्रकार पैरोंसे लगाकर मस्तक-पर्यन्त कोटि-कोटि बन्धनोंसे बँधे हुए जीवके बन्धनोंके विमोचनसे परम सुख होता है, उसी प्रकार असंख्य कर्म-बन्धनोंके द्वारा सर्वाङ्गमें बँधे हुए जीवके भी उनके विमोक्षसे निराबन्ध चरम सीमाको प्राप्त अनन्त सुख प्रति समय होता है ॥१७४-१७५॥ जब यह आत्मा समस्त कर्म-बन्धनोंसे विमुक्त होता है, तभी वह अमूर्त ज्ञानवान् और अति निर्मल आत्मा ऊर्ध्वगामी स्वभाव होनेसे ऊपरको जाता है, अर्थात् लोकान्तमें जाकर अवस्थित हो जाता है ॥१७६॥ वहाँपर वह महान् ज्ञानशरीरी मुक्तजीव आत्मोत्पन्न, निराबाध, निरुपम, विषयातीत, सर्व-द्वन्द्व-विमुक्त, आत्यन्तिक, वृद्धि-हानिसे रहित, शाश्वत और सर्वोत्कृष्ट सुखको भोगता है ॥१७७-१७८॥ इस संसारमें जो अहमिन्द्रादि देव हैं, चक्रवर्ती आदि मनुष्य हैं, भोगभूमिज आर्य और पशु हैं, तथा व्यन्तरादिक हैं, इन सबने जितना सुख आज तक भोगा है, वर्तमानमें प्रतिदिन भोग रहे हैं और भविष्यकालमें भोगेंगे, वह सब विषय-जनित सुख यदि एकत्र पिण्डित कर दिया जावे, तो उस पिण्डीकृत सुखसे अनन्त-गुणित विषयातीत सुखको कर्मशरीरसे रहित सिद्ध जीव एक समयमें भोगते हैं ॥१७९-१८१॥ ऐसा जानकर बुद्धिमान् लोग उस अनन्त गुणवाले सुखकी प्राप्तिके लिए तप और रत्नत्रयके द्वारा मोक्षकी प्रमाद-रहित होकर साधना करते हैं ॥१८२॥

इति शिवगतिहेतून् सप्ततत्त्वान् समग्रान् दृगवगमसुबीजान् भव्यजीवैकयोग्यान् ।
निखिलगुणगणानां दृग्विशुद्धयै जिनेन्द्रो नृखगसुरपतीड्यो दिव्यवाण्या समाख्यत् ॥१८३॥

यो देवेन्द्रनरेन्द्रवन्दितपदो ध्यायन्ति यं योगिनो
येनाप्ता प्रभुता जगत्त्रयनुता यस्मै नमन्तीश्वराः ।
यस्मान्नास्त्यपरो गुरुस्त्रिभुवने यस्याप्यनन्ता गुणा
यस्मिन् मुक्तिवधूः स्पृहां प्रकुर्वते तत्तद्विभूत्यै स्तुवे ॥१८४॥

इति भट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते श्रीवीरवर्धमानचरिते गौतमपृच्छा-
सप्ततत्त्ववर्णनो नाम षोडशोऽधिकारः ॥१६॥

इस प्रकार शिवगतिके कारणभूत सात तत्त्वोंको और भव्यजीवोंके योग्य दर्शन-ज्ञानके समग्र बीजोंको समस्त देव-मनुष्यादिगणोंकी दृग्विशुद्धिके लिए नरपति, खगपति और सुरपति से पूजित वीर जिनेन्द्रने दिव्यध्वनिसे कहा ॥१८३॥

जिनके चरण देवेन्द्रों और नरेन्द्रोंसे वन्दित हैं, योगीजन जिनका ध्यान करते हैं, जिनके द्वारा त्रिलोक-नमस्कृत प्रभुता प्राप्त की गयी है, जिसके लिए संसारके समस्त अधीश्वर नमस्कार करते हैं, जिससे बड़ा कोई दूसरा त्रिभुवनमें गुरु नहीं है, जिसके गुण अनन्त हैं, और जिसके विषयमें मुक्ति वधू इच्छा करती है उन वीर प्रभुको उनकी विभूति पानेके लिए मैं उनकी स्तुति करता हूँ ॥१८४॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्ति-विरचित श्रीवीरवर्धमानचरितमें गौतमके प्रश्न
और उनके उत्तरमें सात तत्त्वोंका वर्णन करनेवाला यह सोलहवाँ अधिकार
समाप्त हुआ ॥१६॥

सप्तदशोऽधिकारः

वन्दे जगत्त्रयीनाथं केवलश्रीविभूषितम् । विश्वतत्त्वाय वक्तारं वीरेशं विश्वबान्धवम् ॥१॥
अथ ते सप्ततत्त्वा हि पुण्यपापद्वयान्विताः । पदार्था नव कथ्यन्ते सम्यक्त्वज्ञानहेतवः ॥२॥
ततो व्यासेन तीर्थेशः सर्ववित्पुण्यपापयोः । हेतून् फलानि भव्यानां संवेगायेत्युवाच सः ॥३॥
मिथ्यात्वपञ्चभिः क्रूरैः कषायैश्चाप्यसंयमैः । प्रमादैः सकलैर्निन्द्यैर्योगैः कौटिल्यकर्मभिः ॥४॥
आर्तरौद्रातिदुर्ध्यानैर्दुर्लेश्याभिश्च दुर्धिया । शल्यदण्डत्रिकैर्मिथ्यागुरुदेवादिसेवनैः ॥५॥
धर्मादिकारणैः पापदेशनैः पापिनां सदा । अन्यैर्वात्र दुराचारैर्जायते पापमूर्जितम् ॥६॥
परस्त्रीधनवस्त्रादिलम्पटं रागदूषितम् । क्रोधमोहाग्निसंतप्तं निर्विचारं च निर्दयम् ॥७॥
मिथ्यात्ववासितं पापशास्त्रचिन्तापरं मनः । सूते घोरं नृणां पापं विषयैर्व्याकुलीकृतम् ॥८॥
परनिन्दापरं निन्द्यं स्वप्रशंसाकरं भुवि । असत्यदूषितं वाक्यं पापकर्मप्ररूपकम् ॥९॥
कुशास्त्राभ्यासससंलीनं तपोधर्मादिदूषकम् । जिनसूत्रातिगं पुंसां तनोति पापसंचयम् ॥१०॥
क्रूरकर्मकरः क्रूरो वधबन्धविधायकः । दुर्धरो विक्रियापन्नो दानपूजादिवर्जितः ॥११॥
स्वेच्छाचरणशीलश्च तपोव्रतपराङ्मुखः । जनयेत्पापिनां कायोऽघं महच्छ्वभ्रकारणम् ॥१२॥
जिनेन्द्रजिनसिद्धान्तनिर्ग्रन्थधर्मधारिणाम् । निन्दनैर्दुर्धियां निन्द्यं महापापं प्रजायते ॥१३॥

त्रिलोकके नाथ, केवलज्ञानरूपी लक्ष्मीसे विभूषित, समस्त तत्त्वोंके उपदेशक और विश्वके बन्धु ऐसे श्री वीरजिनेश की मैं वन्दना करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर वीरनाथने बतलाया कि ये जीवादि सात तत्त्व ही पुण्य और पाप इनसे संयुक्त होनेपर नौ पदार्थ कहे जाते हैं । ये पदार्थ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिके कारण हैं ॥२॥ तत्पश्चात् तीर्थेश सर्वज्ञ वीरनाथने विस्तारसे पुण्य-पापके कारण और फल भव्य जीवोंके संवेगकी प्राप्तिके लिए इस प्रकारसे कहे ॥३॥ एकान्त विपरीत आदि पाँच प्रकारके मिथ्यात्वोंसे, क्रोधादि चार क्रूर कषायोंसे-षट्कायिक जीवोंकी हिंसादि करने रूप असंयमोंसे, पन्द्रह प्रमादोंसे, सर्व निन्दनीय मन-वचन-कायरूप तीन योगोंसे, कुटिलकर्मोंसे, अति आर्त, रौद्ररूप दुर्ध्यानोंसे, कृष्णादि अशुभ लेश्याओंसे, तीन शल्योंसे, तीन दण्डोंसे, कुगुरु-कुदेवादिकी सेवा करनेसे, धर्मादिके कर्मोंको रोकनेसे और पापोंके करनेका उपदेश देनेसे, तथा इसी प्रकारके अन्य दुराचारोंसे इस लोकमें पापियोंमें सदा उत्कृष्ट पापकर्मोंका संचय होता रहता है ॥४-६॥

परस्त्री, परधन और परवस्त्रादिमें लम्पट, रागसे दूषित, क्रोधमोहरूप अग्निसे सन्तप्त, विवेक-विचारसे रहित, निर्दय, मिथ्यात्ववासनासे वासित, और कुशास्त्रोंका चिन्तवन करनेवाला और विषयोंसे व्याकुलित मन मनुष्योंके घोर पाप उत्पन्न करता है ॥७-८॥ संसारमें पर-निन्दाकारक, स्वप्रशंसाकारक, निन्दनीय, असत्यसे दूषित, पाप-प्ररूपक, कुशास्त्राभ्यास-संलग्न, तपोधर्मादि-दूषक और जिनागम-बाह्य वचन पुरुषोंके महापापका संचय करते हैं ॥९-१०॥ क्रूर, क्रूरकर्म-कारक, वध-बन्ध-विधायक, दुर्धर कार्य करनेवाला, विकारको प्राप्त, दान-पूजादिसे रहित, स्वेच्छाचरणशीलवाला, और व्रत-तपसे पराङ्मुख काय पापी जनोंके नरकके कारणभूत महापापको उपार्जन करता है ॥११-१२॥ जिनेन्द्र देव, जिन सिद्धान्त, और निर्ग्रन्थ धर्मधारक गुरुजनोंकी निन्दा करनेसे दुर्बुद्धि लोगोंके निन्द्य महापाप

इत्यादि निन्द्यकर्माणि प्रचुराणि जिनाधिपः । महापापनिमित्तानि प्रादिशद्भीतये नृणाम् ॥१४॥
क्रूरा भार्या जगन्निन्द्याः शत्रुतुल्याश्च बान्धवाः । सुता दुर्व्यसनोपेता स्वजनाः प्राणघातिनः ॥१५॥
रोगक्लेशदरिद्राद्या वधबन्धादयोऽखिलाः । पापोदयेन दुःखाद्या उत्पद्यन्ते च पापिनाम् ॥१६॥
अन्धा मूका कुरूपाश्च विकलाङ्गाः सुखातिगाः । पङ्गवो बधिराः कुब्जकाः दासाः परधामनि ॥१७॥
दीनाश्च दुर्धियो निन्द्याः क्रूराः पापपरायणाः । पापसूत्ररताः पापाद्भवन्ति प्राणिनो भुवि ॥१८॥
सप्तैव नरकाण्येव विश्वदुःखाकराणि च । सर्वदुःखखनीस्तिर्यग्योनीः जन्म सुखातिगम् ॥१९॥
मातङ्गादिकुलं निन्द्यं म्लेच्छजातिं ह्यघावनिम् । लभन्ते पापिनोऽमुत्र दुःखं वाचामगोचरम् ॥२०॥
अधोमध्योर्ध्वलोकेषु यत्किंचिद्दुःखमुल्बणम् । क्लेशदुर्गतिदुःखादि तत्सर्वं लभ्यते ह्यघात् ॥२१॥
इति पापफलं ज्ञात्वा प्राणान्तेऽपि कदाचन । सुखार्थिभिर्न तत्कार्यं कार्ये कोटिशते सति ॥२२॥
इत्थं पापफलादीन् स सभ्यानां भीतिहेतवे । व्याख्याय पुनरित्याह पुण्यस्य कारणादिकान् ॥२३॥
सर्वेभ्यः पापहेतुभ्योऽप्यन्यथाचरणैः शुभैः । सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रैरणुव्रतमहाव्रतैः ॥२४॥
कषायेन्द्रियंयोगानां निग्रहैर्नियमादिभिः । सद्दानपूजनैश्चार्हद्गुरुभक्त्यादिसेवनैः ॥२५॥
शुभभावनया ध्यानाध्ययनादिसुकर्मभिः । धर्मोपदेशनैः पुण्यं लभ्यते परमं बुधैः ॥२६॥
निर्वेदतत्परं धर्मवासितं पापदूरगम् । परचिन्तातिगं स्वात्मचिन्ताव्रतपरायणम् ॥२७॥
गुरुदेवाप्तशास्त्राणां परीक्षाकरणक्षमम् । कृपाक्रान्तं मनः पुंसां जनयेत्पुण्यमूर्जितम् ॥२८॥
परमेष्ठिजपस्तोत्रगुणख्यापनतत्परम् । स्वनिन्दाकरमन्येषां निन्दादूरं सुकोमलम् ॥२९॥

उत्पन्न होता है ॥१३॥ इत्यादि महापाप के निमित्तभूत प्रचुर निन्द्यकर्मोका श्री जिनेश्वर देवने मनुष्योंको पापोंसे डरनेके लिए उपदेश दिया ॥१४॥ पापकर्मके उदयसे ही क्रूर स्त्री, लोकनिन्द्य और शत्रुतुल्य बान्धव, दुर्व्यसनोंसे युक्त पुत्र, प्राण-घातक स्वजन, रोग-क्लेश-दरिद्रतादि तथा वध-बन्धनादि और सर्व प्रकारके दुःखादिक पापियोंके उत्पन्न होते हैं ॥१५-१६॥ पापकर्मके उदयसे ही प्राणी संसारमें अन्धे, गूँगे, कुरूप, विकलाङ्गी, सुख-रहित, पंगु, बहिरे, कुबड़े, पर-घरमें दास बनकर काम करनेवाले, दीन, दुर्बुद्धि, निन्द्य, क्रूर, पाप-परायण, और पापवर्धक शास्त्रोंमें निरत होते हैं ॥१७-१८॥ समस्त दुःखोंके भंडार जो सात नरक हैं, सर्व दुःखोंकी खानि जो तिर्यग्योनि है, मातंग आदिके जो नीच कुल हैं और पापोंकी भूमि जो म्लेच्छजाति है, पापी जीव परभवमें उनमें उत्पन्न होकर वचन-अगोचर दुःखोंको पाते हैं ॥१९-२०॥ अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व लोकमें जितने कुछ भी महान् दुःख हैं, क्लेश, दुर्गति-गमन और शारीरिक मानसिक आदि दुःख हैं, वे सब पापसे ही प्राप्त होते हैं ॥२१॥ इस प्रकारसे पाप कर्मके फलको जानकर सुखार्थीजनोंको कोटिशत कर्मोंके होने पर और प्राणोंके वियोग होने पर भी पापके कार्य कभी भी नहीं करना चाहिए ॥२२॥ इस प्रकार समवशरण सभामें विद्यमान सभ्योंको पापोंसे डरनेके लिए पापके फलादिका व्याख्यान करके पुनः पुण्यके कारणादिको इस प्रकार कहा ॥२३॥

जितने भी सभी पापके कारण हैं, उनसे विपरीत आचरण करनेसे, शुभ कार्योंके करनेसे, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसे, अणुव्रत और महाव्रतोंके पालनेसे, कषाय, इन्द्रिय और मनोयोगादिके निग्रह करनेसे, नियमादि धारण करनेसे, उत्तम दान देनेसे, पूजन करनेसे, अर्हद्-भक्ति, गुरुभक्ति आदि करनेसे, शुभ भावना रखनेसे, ध्यान-अध्ययन आदि उत्तम कार्योंसे और धर्मोपदेश देनेसे पण्डित जन परम पुण्यको प्राप्त करते हैं ॥२४-२६॥ वैराग्यमें तत्पर, धर्मवासनासे वासित, पापसे दूर रहनेवाला, पर-चिन्तासे विमुक्त, स्वात्म-चिन्ता और व्रतमें परायण, देव-गुरु-शास्त्रकी परीक्षा करनेमें समर्थ और करुणासे व्याप्त मन उत्कृष्ट पुण्यको उत्पन्न करता है ॥२७-२८॥ पंचपरमेष्ठीके जाप, स्तोत्र और गुण कथनमें तत्पर,

धर्मोपदेशदं मिष्टं सत्यसीमाद्यधिष्ठितम् । वचः सूते परं पुण्यं सतां चार्हत्पदादिजम् ॥३०॥
कायोत्सर्गासनापन्नं जिनेन्द्रयजनोद्यतम् । गुरुसेवापरं पात्रदानदं विक्रियातिगम् ॥३१॥
शुभकर्मकरं साम्यतापन्नं वपुरद्भुतम् । विश्वशर्मकरं पुण्यं जनयत्यत्र धीमताम् ॥३२॥
अनिष्टं यद्भवेत्स्वस्य तदन्येषां न जातु यः । चिन्तयेत्सर्वदा तस्य परं पुण्यं न संशयः ॥३३॥
पुण्यकारणभूतानि बहून्याख्याय तीर्थराट् । संवेगाय गणानां तत्फलमाहेत्यनेकधा ॥३४॥
कामिनीः कमनीयाङ्गाः कामदेवनिभान् सुतान् । स्वजनान्मित्रतुल्यांश्च कुटुम्बं शर्मकारणम् ॥३५॥
पर्वतामान् गजेन्द्रादीन् कविवाक्यातिगं सुखम् । महाभोगोपभोगांश्च वपुः कान्तं वचः शुभम् ॥३६॥
मानसं करुणाक्रान्तं रूपलावण्यसंपदः । लभन्ते पुण्यपाकेनात्रान्यद्वा दुःकरं जनाः ॥३७॥
जगत्त्रयस्थिता लक्ष्मीर्दुर्लभा पुण्यकारिणी । वशं याति स्वयं पुण्याद् गृहदासीव धर्मिणाम् ॥३८॥
त्रिजगन्नाथसेव्यार्च्यं परं सर्वज्ञवैभवम् । पुण्योदयेन जायेत सतां मुक्तिनिबन्धनम् ॥३९॥
विश्वामरगणाभ्यर्च्यं विश्वभोगैकमन्दिरम् । विश्वश्रीभूषितं पुण्याल्लभेतेन्द्रपदं कृती ॥४०॥
निधिरत्नादिसंपूर्णाः षट्खण्डप्रभवाः श्रियः । पुण्योदयेन जायन्ते पुण्यभाजां सुखाकराः ॥४१॥
यत्किंचिद् दुर्लभं लोके दुर्घटं वा जगत्त्रये । सारं सद्वस्तु सर्वं भोस्तत्क्षणं लभ्यते शुभात् ॥४२॥
इत्यादिविविधं ज्ञात्वा पुण्यस्य प्रवरं फलम् । शर्मकामाः प्रयत्नेन कुरुध्वं पुण्यमूर्जितम् ॥४३॥
इत्यमा पुण्यपापाभ्यां तत्त्वान्युक्त्वा जिनाग्रणीः । हेयादेयादिकर्तृणि तेषां प्राह गणान् प्रति ॥४४॥
मध्येऽत्र जीवराशीनां पञ्चैव परमेष्ठिनः । उपादेयाः सतां ज्ञेया विश्वभव्यहितोद्यताः ॥४५॥

स्वनिन्दाकारक, पर-निन्दासे दूर रहनेवाला, सुकोमल, धर्मका उपदेश देनेवाला, मिष्ट और सत्यकी सीमा आदिसे युक्त वचन अरिहन्तपद आदिको उत्पन्न करनेवाले पुण्यको सज्जनोंके उत्पन्न करता है ॥२९-३०॥ कायोत्सर्ग आसनको प्राप्त, जिनेन्द्र पूजनमें उद्यत, गुरुसेवामें तत्पर, पात्रदान करनेवाला, विकारसे रहित, शुभ कार्य करनेवाला और समता भावको प्राप्त काय बुद्धिमानोंके सर्व सुख उत्पन करनेवाले अद्भुत पुण्यको उत्पन्न करता है ॥३१-३२॥ जो बात अपना अनिष्ट करनेवाली है, उसे कभी भी, जो दूसरोंके लिए नहीं चिन्तवन करता है, उसके सर्वदा परम पुण्यका उपार्जन होता रहता है, इसमें कोई संशय नहीं है ॥३३॥ इस प्रकारसे तीर्थके सम्राट् वर्धमान स्वामीने पुण्यके कारणभूत बहुतसे कार्योंको कहकर द्वादशगणके जीवोंको संवेग-प्राप्तिके लिए पुनः उन्होंने पुण्यके अनेक प्रकारके फलोंको कहा ॥३४॥ पुण्यके फलसे जीव सुन्दर शरीरवाली स्त्रियोंको, कामदेवके समान सुपुत्रोंको, मित्र-तुल्य स्वजनोंको, सुन्दर शरीरको, मिष्ट शुभ वचनको, करुणासे व्याप्त मनको, और रूप-लावण्य-सम्पदाको तथा अन्य भी दुर्लभ वस्तुओंको प्राप्त करते हैं ॥३५-३७॥ पुण्यके उदयसे तीन लोकमें स्थित, पुण्यकारिणी लक्ष्मी गृहदासीके समान धर्मी पुरुषोंके वशमें होकर स्वयं प्राप्त होती है ॥३८॥ पुण्यके उदयसे सज्जनोंको मुक्तिका कारण तथा तीन लोकके स्वामियोंसे पूज्य उत्कृष्ट सर्वज्ञवैभव प्राप्त होता है ॥३९॥ पुण्यके उदयसे सुकृती पुरुष समस्त देवोंसे पूज्य, सर्व भोगोंका एक मात्र मन्दिर, और संसारकी श्रेष्ठ लक्ष्मीसे भूपित इन्द्रपद प्राप्त होता है ॥४०॥ पुण्यसेवी पुरुषोंके पुण्यके उदयसे नौ निधि और चौदह रत्नोंसे परिपूर्ण, षट्खण्ड भूमिमें उत्पन्न और सुखकी भण्डार ऐसी चक्रवर्ती की सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं ॥४१॥ संसारमें जो कुछ भी दुर्लभ अथवा दुर्घट सार उत्तम वस्तुएँ हैं, वे सब हे भव्यों, शुभ पुण्यसे तत्काल प्राप्त होती हैं ॥४२॥ इत्यादि विविध प्रकारके पुण्यके श्रेष्ट फलको जानकर सुखके इच्छुक जनोंको प्रयत्न पूर्वक उत्कृष्ट पुण्यका उपार्जन करना चाहिए ॥४३॥

इस प्रकारसे जिनाग्रणी जिनराजने पुण्य-पापके साथ सात तत्त्वोंको कहकर गणोंके लिए उनके हेय-उपादेयादि कारक कर्तव्योंको कहना प्रारम्भ किया ॥४४॥ इस संसारमें सर्व

ज्ञानवान् सिद्धसादृश्यो निजात्मा गुणसागरः । उपादेयो मुमुक्षूणां निर्विकल्पपदेक्षिणाम् ॥४६॥
अथवा निखिला जीवाः शुद्धनिश्चयतो बुधैः । उपादेयाः परिज्ञेयाः व्यवहारबहिःस्थितैः ॥४७॥
व्यवहारनयेनात्र हेया मिथ्यादृशोऽखिलाः । अभव्या विषयासक्ताः पापिनो जन्तवः शठाः ॥४८॥
अजीवतत्त्वमादेयं क्वचित्सरागदेहिनाम् । धर्मध्यानाय हेयं च विकल्पातिगयोगिनाम् ॥४९॥
पुण्यास्रवायबन्धौ क्वचिदादेयौ सरागिणाम् । दुःकर्मापेक्षया हेयौ मुमुक्षूणां च मुक्तये ॥५०॥
पापास्रवाघबन्धौ च विश्वदुःखनिबन्धनौ । अयत्नजनितौ निन्द्यौ सदा हेयौ हि सर्वथा ॥५१॥
सर्वयत्नेन सर्वत्रादेये संवरनिर्जरे । मोक्षः साक्षादुपादेयो ह्यनन्तसुखकारकः ॥५२॥
इति हेयमुपादेयं ज्ञात्वा हेयं प्रयत्नतः । निहत्य निपुणाः सर्वं गृह्णन्त्वादेयमूर्जितम् ॥५३॥
मुख्यवृत्त्या भवेत्कर्ता पुण्यास्रवायबन्धयोः । सम्यग्दृष्टिर्गृहस्थो वा व्रती सरागसंयमी ॥५४॥
पुण्यास्रवायबन्धौ च कुर्याद् भोगाप्तये क्वचित् । मिथ्यादृष्टिर्वपुःक्लेशाद्याति मन्दोदये सति ॥५५॥
मिथ्यादृष्टिर्विधाता स्यात्पापास्रवाघबन्धयोः । मुख्यवृत्त्या दुराचारी कुत्सिताचारकोटिभिः ॥५६॥
संवरादित्रितत्त्वानां कर्तारः केवलं भुवि । जिताक्षा योगिनो दक्षा रत्नत्रयविभूषिताः ॥५७॥
भव्यानां हेतवो ज्ञेयाः पञ्चात्र परमेष्ठिनः । निर्विकल्पनिजात्मानो वा संवरादिसिद्धये ॥५८॥
मिथ्यादृशो भवन्त्यत्र हेतुभूताश्च संसृतेः । पापास्रवाघबन्धाय स्वेषां चान्यजडात्मनाम् ॥५९॥
हेतुभूतं परिज्ञेयमजीवतत्त्वमञ्जसा । सम्यग्दृग्ज्ञानयोर्नूनं पञ्चधाखिलधीमताम् ॥६०॥
पुण्यास्रवायबन्धौ हेतुभूतौ दृष्टिशालिनाम् । तीर्थेशादिविभूतेश्च मिथ्यादृशांभवप्रदौ ॥६१॥

जीव-राशियोंके मध्य पाँचों ही परमेष्ठी सज्जनोंके उपादेय जानना चाहिए, क्योंकि ये समस्त भव्य जीवोंके हित करनेमें उद्यत हैं ॥४५॥ निर्विकल्पपदके इच्छुक मुमुक्षुजनोंको ज्ञानवान्, सिद्ध-सदृश, और गुणोंका सागर ऐसा अपना आत्मा ही उपादेय है ॥४६॥ अथवा शुद्ध निश्चयनयसे, व्यवहारसे परवर्ती ज्ञानियोंको सभी जीव उपादेय जानना चाहिए ॥४७॥ व्यवहारनयकी अपेक्षा इस संसारमें सभी मिथ्यादृष्टि, अभव्य, विषयासक्त, पापी और शठ जीव हेय हैं ॥४८॥ सरागी मनुष्योंको धर्मध्यानके लिए कहीं पर अजीवतत्त्व उपादेय है और विकल्प-त्यागी अर्थात् निर्विकल्प योगियोंके लिए अजीवतत्त्व हेय है ॥४९॥ सरागी जीवोंको क्वचित् कदाचित् पुण्यास्रव और पुण्य बन्ध दुष्कर्मों (पापों) की अपेक्षा उपादेय हैं और मुमुक्षु जनोंको मुक्तिकी प्राप्तिके लिए वे दोनों हेय हैं ॥५०॥ अयत्न-जनित पापास्रव और पापबन्ध समस्त दुःखोंके कारण हैं, निन्द्य हैं, अतः वे सर्वथा ही हेय हैं ॥५१॥ संवर और निर्जरा सर्वयत्नसे सर्वत्र उपादेय हैं ॥५२॥ इस हेय और उपादेय तत्त्वको जानकर निपुण पुरुष प्रयत्नपूर्वक हेयका परित्याग कर सर्व उपादेय उत्तम तत्त्वको ग्रहण करें ॥५३॥ अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती गृहस्थ और सकलव्रती सरागसंयमी साधु मुख्यरूपसे पुण्यास्रव और पुण्यबन्धका कर्ता होता है ॥५४॥ और कभी मिथ्यादृष्टि जीव भी पापकर्मोंके मन्द उदय होनेपर भोगोंकी प्राप्तिके लिए शारीरिक क्लेशादि सहनेसे पुण्यास्रव और पुण्यबन्धको करता है ॥५५॥ दुराचारी मिथ्यादृष्टि करोड़ों खोटे आचरणोंके द्वारा मुख्य रूपसे पापास्रव और पापबन्धका विधाता होता है ॥५६॥ संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन तत्त्वोंके कर्त्ता संसारमें केवल जितेन्द्रिय, रत्नत्रय-विभूपित और दक्ष योगी ही होते हैं ॥५७॥ भव्य जीवोंको संवरादि तीन तत्त्वोंकी सिद्धिके लिए व्यवहारनयसे इस लोकमें पंचपरमेष्ठी कारण जानना चाहिए और निश्चयनयसे निर्विकल्प निज आत्मा ही कारण जानना चाहिए ॥५८॥ मिथ्या-दृष्टि जीव इस लोकमें अपने और अन्य अज्ञानी जीवोंके पापास्रव और पापबन्धके लिए संसारके कारण भूत होते हैं ॥५९॥ इस प्रकार समस्त बुद्धिमानोंको पाँच प्रकारका अजीव-तत्त्व निश्चयसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका कारण जानना चाहिए ॥६०॥ दृष्टिशाली

पापास्रवायबन्धौ द्वौ केवलं भवकारणौ । शठात्मनां च विज्ञेयौ कृत्स्नदुःखनिबन्धनौ ॥६२॥
भवतो हेतुभूतेऽत्र मुक्तेः संवरनिर्जरे । साक्षाद्धेतुर्भवेन्मोक्षो ह्यनन्तसुखवारिधेः ॥६३॥
इति सर्वपदार्थानां स्वामिहेतुफलादिकान् । सम्यगुक्त्वा ततः शेषप्रश्नानित्याह सोऽखिलान् ॥६४॥
सप्तदुर्व्यसनासक्ताः परस्त्रीश्र्यादिकाङ्क्षिणः । बह्वारम्भकृतोत्साहा बहुश्रीसंग्रहोद्यताः ॥६५॥
क्रूरकर्मकराः क्रूरा निर्दया रौद्रमानसाः । रौद्रध्यानरताः नित्यं विषयामिषलम्पटाः ॥६६॥
निन्द्यकर्मान्विता निन्द्या जिनशासननिन्दकाः । प्रतिकूला जिनेन्द्राणां धर्मिणां च सुयोगिनाम् ॥६७॥
कुशास्त्राभ्याससंलीना मिथ्यामतमदोद्धताः । कुदेवगुरुभक्ताः कुकर्माघप्रेरकाः खलाः ॥६८॥
अत्यन्तमोहिनः पापपण्डिता धर्मदूरगाः । निःशीलाश्च दुराचारा व्रतमात्रपराङ्मुखाः ॥६९॥
कृष्णलेश्याशया रौद्रा महापञ्चाघकारकाः । इत्यन्यबहुदुःकर्मकारिणः पापिनोऽखिलाः ॥७०॥
ये ते व्रजन्ति दुःकर्मजातपापोदयेन च । रौद्रध्यानेन वै मृत्वा नरकं पापिनां गृहम् ॥७१॥
आद्यादिसप्तमान्तं स्वदुष्कर्मयोग्यमञ्जसा । विश्वदुःखाकरीभूतं निमेषार्धसुखातिगम् ॥७२॥
मायाविनोऽतिकौटिल्यकर्मकोटिविधायिनः । परश्रीहरणासक्ता अष्टप्रहरभक्षकाः ॥७३॥
महामूर्खाः कुशास्त्रज्ञाः पशुवृक्षादिसेविनः । नित्यस्नानकराः शुद्ध्यै कुतीर्थगमनोद्यताः ॥७४॥
जिनधर्मबहिर्भूता व्रतशीलादिदूरगाः । निन्द्याः कपोतलेश्याढ्या आर्तध्यानकराः सदा ॥७५॥

अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवोंके पुण्यास्रव और पुण्यबन्ध तीर्थंकरादिकी विभूतिके कारणभूत हैं और मिथ्यादृष्टियोंके पुण्यास्रव और पुण्यबन्ध संसारके कारण हैं ॥६१॥ अज्ञानी मिथ्यात्वियोंके पुण्यास्रव और पुण्यबन्ध ये दोनों ही केवल संसारके कारण और समस्त दुःखोंके निमित्त जानना चाहिए ॥६२॥ संवर और निर्जरा मुक्तिके परम्परा कारणभूत हैं और मोक्ष अनन्त सुख-सागरका साक्षात् हेतु है ॥६३॥ इस प्रकार सर्व पदार्थोंके स्वामी, हेतु और फलादिको कहकर पुनः भगवान्‌ने गौतमके शेष प्रश्नोंका इस प्रकार उत्तर देना प्रारम्भ किया ॥६४॥

जो जीव सप्त दुर्व्यसनोंमें आसक्त हैं, पर-स्त्री और पर-धन आदिकी आकांक्षा रखते हैं, बहुत आरम्भ-समारम्भ करनेमें उत्साही हैं, बहुत लक्ष्मी और परिग्रहके संग्रहमें उद्यत हैं, क्रूर हैं, क्रूर कर्म करनेवाले हैं, निर्दयी हैं, रौद्र चित्तवाले हैं, रौद्रध्यानमें निरत हैं, नित्य ही विषयोंमें लम्पट हैं, मांस-लोलुपी हैं, निन्द्य कर्मोंमें संलग्न हैं, निन्दनीय हैं, जैनशास्त्रोंके निन्दक हैं, जिनेन्द्रदेव, जिनधर्म और उत्तम गुरुजनोंके प्रतिकूल-आचरण करते हैं, कुशास्त्रोंके अभ्यासमें संलग्न हैं, मिथ्यामतोंके मदसे उद्धत हैं, कुदेव और कुगुरुके भक्त हैं, खोटे कर्मों और पापोंकी प्रेरणा देते हैं, दुष्ट हैं, अत्यन्त मोही हैं, पाप करनेमें कुशल हैं, धर्मसे दूर रहते हैं, शील-रहित हैं, दुराचारी हैं, व्रतमात्रसे पराङ्मुख हैं, जिनका हृदय कृष्णलेश्या-युक्त रहता है, जो भयंकर हैं, पाँचों महापापोंको करते हैं, तथा इसी प्रकारके अन्य बहुतसे दुष्कर्मोंके करनेवाले हैं, ऐसे समस्त पापी जीव इन दुष्कर्मोंसे उत्पन्न हुए पापके द्वारा, तथा रौद्रध्यानसे मरकर पापियोंके घर नियमसे जाते हैं ॥६५–७१॥ वह पापियोंका घर पहलेसे लेकर सातवें तक सात नरक हैं, वे पापी अपने दुष्कर्मके अनुसार यथायोग्य नरकोंमें जाते हैं। ये नरक संसारके समस्त दुःखोंके निधानस्वरूप हैं और उनमें अर्ध निमेष मात्र भी सुख नहीं है ॥७२॥

जो मायाचारी हैं, अति कुटिलतायुक्त कोटि-कोटि कार्योंके विधायक हैं, पर-धनोंके अपहरण करनेमें आसक्त हैं, दिन-रातके आठों पहरोंमें खाते-पीते रहते हैं, महामूर्ख हैं, खोटे शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, धर्म मानकर पशुओं और वृक्षोंकी सेवा-पूजा करते हैं, शुद्धिके लिए नित्य स्नान करते हैं, कुतीर्थोंकी यात्रार्थ जानेको उद्यत रहते हैं, जिनधर्मसे बहिर्भूत हैं, व्रत-शीलादिसे दूर रहते हैं, निन्दनीय हैं, कापोतलेश्यासे युक्त हैं, सदा आर्तध्यान करते रहते हैं,

इत्याद्यपरदुष्कर्मरता ये मूढमानसाः । आर्तध्यानेन ते प्राप्य मरणं दुःखविह्वलाः ॥७६॥
तिर्यग्गतीः प्रगच्छन्ति वह्वीर्दुःखखनीर्द्रुतम् । मरणोत्पत्तिसंपूर्णाः पराधीनाः सुखच्युताः ॥७७॥
नास्तिका ये दुराचाराः परलोकं वृषं तपः । वृत्तं जिनेन्द्रशास्त्रादीन् मन्यन्ते न च दुर्धियः ॥७८॥
तेऽत्यन्तविपयासक्तास्तीव्रमिथ्यात्वपूरिताः । अन्तातीतं निकोतं प्रयान्ति दुःखैकसागरम् ॥७९॥
अनन्तकालपर्यन्तं महादुःखं वचोऽतिगम् । भुञ्जन्ति तत्र ते पापान्मरणोत्पत्तिजं खलाः ॥८०॥
तीर्थेशां सद्गुरूणां च ज्ञानिनां धर्मिणां सदा । तपस्विनां च कुर्वन्ति सेवां भक्तिं च येऽर्चनाम् ॥८१॥
महाव्रतानि चार्हन्निर्ग्रन्थाज्ञां पालयन्ति ये । अणुव्रतानि सर्वाणि मुनयः श्रावका मुदा ॥८२॥
द्विपड्भेदतपांस्येव स्वशक्त्या ये प्रकुर्वते । कपायेन्द्रियचौराणां विधाय निग्रहं वुधाः ॥८३॥
ध्यायन्ति धर्मशुक्लाख्यध्यानानि जितमानसाः । आर्तरौद्राणि चाहत्य शुभलेश्याशयान्विताः ॥८४॥
दधते दृष्टिहारं ये हृदये कर्णयोरपि । ज्ञानकुण्डलयुग्मे च मूर्ध्नि चारित्रशेखरम् ॥८५॥
श्रयन्ति येऽतिसंवेगं भवभोगाङ्गधामसु । भावयन्ति सदाचाराप्त्यै भावनाः शुभाः ॥८६॥
कुर्वन्ति प्रत्यहं धर्मं क्षमाद्यैर्दशलक्षणैः । स्वयं ये सर्वशक्त्या च वाचाऽन्येषां दिशन्त्यलम् ॥८७॥
इत्याद्यन्यैः शुभाचारैरर्जयन्ति महावृषम् । ये ते सर्वे शुभध्यानान्मृत्वा यान्ति सुरालयम् ॥८८॥
श्रावका मुनयो वात्र विश्वसौख्यैकसागरम् । सर्वदुःखातिगं रम्यं पुण्यभाजां कुलालयम् ॥८९॥
ये दृष्टिभूपिता दक्षा नियमेन व्रजन्ति ते । परं कल्पं न जात्वेषां मतयो व्यन्तरादिकाः ॥९०॥
अज्ञानतपसा मूढाः कायक्लेशं चरन्ति ये । नीचदेवगतिं व्यन्तरादिकां तेऽपि यान्त्यहो ॥९१॥

तथा इसी प्रकारके अन्य दुष्कर्मोंके करनेमें जो मूढचित्त पुरुष संलग्न रहते हैं, वे आर्तध्यानसे मरण कर दुःखोंसे विह्वल हो वहुत दुःखोंकी खानिरूप तिर्यग्गतिमें जाते हैं, जहाँ पर वे उत्पत्तिसे लेकर मरण-पर्यन्त पराधीन और दुःखी रहते हैं ॥७३–७७॥ जो नास्तिक हैं, दुराचारी हैं, परलोक, धर्म, तप, चारित्र, जिनेन्द्र शास्त्र आदिको नहीं मानते हैं, दुर्वुद्धि हैं, विपयोंमें अत्यन्त आसक्त हैं, तीव्र मिथ्यात्वसे भरे हुए हैं, ऐसे जीव अनन्त दुःखोंके सागर ऐसे निगोदको जाते हैं। और वहाँ पर वे पापी अपने पापसे अनन्त काल-पर्यन्त वचनातीत जन्म-मरण-जनित महादुःखोंको भोगते हैं ॥७८–८०॥

जो तीर्थंकरोंकी, सद्-गुरुओंकी, ज्ञानियोंकी, धर्मात्माओंकी, तपस्वियोंकी सदा सेवा भक्ति और पूजा करते हैं, जो पंच महाव्रतोंका और अर्हन्तदेव वा निर्ग्रन्थ गुरुओंकी आज्ञा-का पालन करते हैं, ऐसे मुनिजन हैं, तथा जो सर्व अणुव्रतोंका पालन करते हैं, ऐसे श्रावक हैं, जो हर्पसे अपनी शक्तिके अनुसार वारह प्रकारके तपोंको करते हैं, जो ज्ञानी कपाय और इन्द्रियरूप चोरोंका निग्रह करके तथा आर्त-रौद्रध्यानको दूर करके धर्मध्यान और शुक्ल-ध्यानको ध्याते हैं, मनको जीतनेवाले हैं, शुभलेश्याओंसे जिनका चित्त युक्त है, जो अपने हृदयमें सम्यग्दर्शन रूपी हारको, दोनों कानोंमें ज्ञानरूप कुण्डल-युगलको, और मस्तकपर चारित्ररूप मुकुटको धारण करते हैं, जो संसार, शरीर, भोग और भवनादिकमें अतिसंवेग भाव रखते हैं, जो सदाचारकी प्राप्तिके लिए सदा शुभ भावनाओंको भाते रहते हैं, जो प्रतिदिन क्षमादि दशलक्षणोंसे उत्तम धर्मको अपनी शक्तिके अनुसार स्वयं करते हैं, और वचनोंके द्वारा धर्म-पालनका भली-भाँति उपदेश देते हैं, इन और इसी प्रकारके अन्य शुभ आचरणोंसे जो महान् धर्मका उपार्जन करते हैं, वे सव जीव मरकर शुभध्यानके योगसे देवोंके आलय (स्वर्ग) को जाते हैं ॥८१–८८॥ जो संसारमें श्रावक, मुनि और सम्यग्दर्शनसे भूपित दक्ष पुरुष हैं, वे नियमसे कल्पवासी देवोंमें उत्पन्न होते हैं, उनकी व्यन्तरादि गति कभी नहीं होती हैं ॥८९-९०॥ जो मूढ अज्ञान तपसे कायक्लेश करते हैं, वे जीव ही व्यन्तरादिकी नीचगतिको प्राप्त करते हैं ॥९१॥

स्वभावमार्दवोपेता आर्जवाङ्कितविग्रहाः । सन्तोषिणः सदाचारा नित्यं मन्दकषायिणः ॥९२॥
शुद्धाशया विनीताश्च जिनेन्द्रगुरुधर्मिणाम् । इत्याद्यन्यामलाचारैर्मण्डिता येऽत्र जन्तवः ॥९३॥
ते लभन्तेऽन्यपाकेन चार्यखण्डे शुभाश्रिते । नृगतिं सत्कुलोपेतां राज्यादिश्रीसुखान्विताम् ॥९४॥
भक्त्योत्तमसुपात्रायान्नदानं ददतेऽत्र ये । महाभोगसुखाकीर्णां भोगभूमिं व्रजन्ति ते ॥९५॥
येऽत्र मायाविनो मर्त्या अतृप्ताः कामसेवने । विकारकारिणोऽङ्गादौ योषिद्वेषादिधारिणः ॥९६॥
मिथ्यादृशश्च रागान्धा निःशीला मूढचेतसः । नार्यो भवन्ति ते लोके मृत्वा स्त्रीवेदपाकतः ॥९७॥
शुद्धाचरणशीला या मायाकौटिल्यवर्जिताः । विचारचतुरा दक्षा दानपूजादितत्पराः ॥९८॥
स्वल्पाक्षशर्मसंतोषान्विता दृग्ज्ञानभूषिताः । नार्यः पुंवेदपाकेन जायन्तेऽत्र च मानवाः ॥९९॥
अतीवकामसेवान्धाः परदारादिलम्पटाः । अनङ्गक्रीडनासक्ता निःशीला व्रतवर्जिताः ॥१००॥
नीचधर्मरता नीचा नीचमार्गप्रवर्तिनः । ये ते नपुंसकाः स्युश्च क्लीबवेदवशाज्जडाः ॥१०१॥
कारयन्ति पशूनां येऽतिभारारोपणं शठाः । घ्नन्ति पादेन सत्त्वांश्चेक्षणाद्दतेऽध्वगामिनः ॥१०२॥
कुतीर्थे पापकर्मादौ गच्छन्ति निर्दयाशयाः । मृत्वा ते पङ्गवो निन्द्याः स्युराङ्गोपाङ्गकर्मणा ॥१०३॥
अश्रुतं परदोषादि श्रुतं वदन्ति चेर्ष्यया । शृण्वन्ति परनिन्दां ये विकथां दुःश्रुतिं जडाः ॥१०४॥
केवलिश्रुतसङ्घानां दूषणं चात्र धर्मिणाम् । मत्वेयुर्बधिरास्ते कुज्ञानावरणपाकतः ॥१०५॥
ब्रुवन्त्यन्त्रेर्ष्ययादृष्टदृष्टं ये परदूषणम् । कुर्युर्नेत्रविकारं च पश्यन्त्यादरतः खलाः ॥१०६॥
परस्त्रीस्तनयोन्यास्यान् कुतीर्थदेवलिङ्गिनः । तेऽतीवदुःखिनोऽन्धाः स्युश्चक्षुरावरणोदयात् ॥१०७॥

जो स्वभावसे मृदुता-युक्त हैं, जिनका शरीर सरलतासे संयुक्त है, सन्तोषी हैं, सदाचारी हैं, सदा जिनकी कषाय मन्द रहती है, शुद्ध अभिप्राय रखते हैं, विनीत हैं, जिनेन्द्र देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिनधर्मका विनय करते हैं, इन तथा ऐसे ही अन्य निर्मल आचरणोंसे जो जीव यहाँपर विभूषित होते हैं, वे पुण्य के परिपाकसे शुभके आश्रयभूत आर्यखण्डमें सत्कुलसे युक्त, राज्यादि लक्ष्मीके सुखसे भरी हुई मनुष्यगतिको प्राप्त करते हैं ॥९२–९४॥ जो पुरुष भक्तिसे उत्तम सुपात्रोंको यहाँपर आहारदान देते हैं, वे महान् भोगों और सुखोंसे भरी हुई भोगभूमिको जाते हैं ॥९५॥ जो मनुष्य यहाँपर मायावी होते हैं, काम सेवन करनेपर भी जिनकी तृप्ति नहीं होती, शरीरादिमें विकारी कार्य करते हैं, स्त्री आदिके वेपको धारण करते हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, रागान्ध हैं, शील-रहित हैं और मूढ़चित्त हैं, ऐसे मनुष्य मरकर स्त्रीवेदके परिपाकसे इस लोकमें स्त्री होते हैं ॥९६-९७॥ जो शुद्धाचरणशाली हैं, माया-कुटिलतासे रहित हैं; हेय-उपादेयके विचारमें चतुर हैं, दक्ष हैं, दान-पूजादिमें तत्पर हैं, अल्प इन्द्रिय-सुखसे जिनका चित्त सन्तोष-युक्त है, और सम्यग्दर्शन-ज्ञानसे विभूषित हैं, ऐसी स्त्रियाँ पुरुषवेदके परिपाकसे यहाँपर मनुष्य होती हैं ॥९८-९९॥ जो पुरुष काम-सेवनमें अत्यन्त अन्ध (आसक्त) होते हैं, परस्त्री-पुत्री आदिमें लम्पट हैं, हस्तमैथुनादि अनङ्गक्रीड़ामें आसक्त रहते हैं, शील-रहित हैं, व्रत-रहित हैं, नीच धर्ममें संलग्न हैं, नीच हैं और नीच मार्गके प्रवर्तक हैं; ऐसे जड़ जीव नपुंसक वेदके वशसे नपुंसक होते हैं ॥१००-१०१॥

जो शठ पशुओंके ऊपर उनकी शक्तिसे अधिक भारको लादते और लदवाते हैं, पैरोंसे प्राणियोंको मारते हैं, विना देखे मार्गपर चलते हैं; कुतीर्थमें और पाप-कार्यादिमें जाते हैं, ऐसे निर्दय चित्तवाले निन्द्य जीव मरकर अंगोपांगनामकर्मके उदयसे पंगु (लँगड़े) होते हैं ॥१०२-१०३॥ जो जड़ लोग नहीं सुने हुए भी पर-दोषोंको ईर्ष्यासे कहते हैं, पर-निन्दा, विकथा और कुशास्त्रोंको सुनते हैं, केवली भगवान्, श्रुत संघ और धर्मात्माओंको दूषण लगाते हैं, वे कुज्ञानावरणकर्मके विपाकसे बधिर (बहरे) होते हैं ॥१०४-१०५॥ जो अन्य लोगोंके देखे या अनदेखे दूषणोंको कहते हैं, नेत्रोंकी विकार युक्त चेष्टा करते हैं, जो दुष्ट

प्रजल्पन्ति वृथा येऽत्र विकथाः प्रत्यहं शठाः । दोषान्निर्दोषिणां चार्हच्छ्रुतसद्गुरुधर्मिणाम् ॥१०८॥
पठन्ति पापशास्त्राणि स्वेच्छया च जिनागमम् । विनयादिं विना लोभख्यातिपूजादिवाञ्छया ॥१०९॥
धर्मसिद्धान्ततत्त्वार्थानयुक्त्याऽन्यान् दिशन्ति च । ते ज्ञानावृतिपाकेन मूकाः स्युः श्रुतवर्जिताः ॥११०॥
स्वेच्छया ये प्रवर्तन्ते हिंसादिपापपञ्चसु । उन्मत्ता इव गृह्णन्ति तत्त्वार्थान् श्रीजिनोदितान् ॥१११॥
देवश्रुतगुरून् धर्मार्चादीन् सत्यांस्तथेतरान् । भवन्ति विकलास्ते मतिज्ञानावरणोदयात् ॥११२॥
कुबुद्ध्या येऽत्र सेवन्ते सप्त वै व्यसनान्यलम् । विषयामिषलाम्पट्यान्मूर्खा दुर्गतिगामिनः ॥११३॥
मित्रत्वं च प्रकुर्वन्ति व्यसनासक्तचेतसाम् । मिथ्यादृशां च साधुभ्यो दूरं नश्यन्ति पापिनः ॥११४॥
ते श्वभ्रादिगतीर्भ्रान्त्वा पुनः श्वभ्रादिसिद्धये । उत्पद्यन्तेऽतिपापेन खला दुर्व्यसनाकुलाः ॥११५॥
तपोयमव्रतादीन् विना येऽतिलम्पटाशयाः । पोषयन्ति वपुर्नित्यं नानाभोगैर्वृषादृते ॥११६॥
चरन्ति निशि चान्नादीन् पीडयन्त्यङ्गिनो वृथा । भक्षयन्ति ह्यखाद्यानि पापिनः करुणातिगाः ॥११७॥
तेऽसातकर्मपाकेन कृत्स्नरोगैकभाजनाः । जायन्ते रोगिणस्तीव्रवेदना विह्वलाशयाः ॥११८॥
शरीरे ममतां त्यक्त्वा ये चरन्ति तपोव्रतम् । स्वसमां जीवराशिं विज्ञाय घ्नन्ति न जातुचित् ॥११९॥
आक्रन्ददुःखशोकादीन् स्वान्ययोर्जनयन्ति न । भवेयुः सुखिनस्तेऽत्र विश्वरोगातिगाः शुभात् ॥१२०॥
ये न कुर्वन्ति संस्कारं वपुषो मण्डनादिभिः । तपोनियमयोगाद्यैः कायक्लेशं श्रयन्ति च ॥१२१॥
सेवन्ते परया भक्त्या पादाब्जान् जिनयोगिनाम् । शुभप्रकृतिपाकेन दिव्यरूपा भवन्ति ते ॥१२२॥

परस्त्रियोंके स्तन, योनि आदि अंगोंको आदर और प्रेमसे देखते हैं, कुतीर्थी, कुदेवभक्त और कुलिंगी हैं, वे पुरुष चक्षुदर्शनावरणकर्मके उदयसे अतीव दुःख भोगनेवाले अन्धे होते हैं ॥१०६-१०७॥ जो शठ यहाँपर प्रतिदिन वृथा ही विकथाओंको कहते रहते हैं, निर्दोष अर्हन्त, श्रुत, सद्-गुरु और धार्मिकजनोंके मन-गढ़न्त दोषोंको कहते हैं, पापशास्त्रोंको अपनी इच्छासे पढ़ते हैं, और जिनागमको विनय आदिके विना लोभ, ख्याति, पूजा आदिकी इच्छा से पढ़ते हैं, जो धर्म, सिद्धान्त और तत्त्वार्थका कुयुक्तियोंसे अन्यथारूप दूसरोंको उपदेश देते हैं, वे जीव ज्ञानावरणकर्मके विपाकसे श्रुतज्ञानसे रहित मूक (गूँगे) होते हैं ॥१०८-११०॥ जो जीव हिंसादि पाँचों पापोंमें अपनी इच्छासे प्रवृत्त होते हैं, श्रीजिनेन्द्रदेवसे उपदिष्ट तत्त्वार्थको उन्मत्त पुरुषके समान यद्वा-तद्वा रूपसे ग्रहण करते हैं, तथा सत्य और असत्य देव शास्त्र, गुरु, धर्म, प्रतिमा आदिको भी समान मानते हैं, ऐसे जीव मति ज्ञानावरणकर्मके उदयसे विकलाङ्गी होते हैं ॥१११-११२॥ जो लोग कुबुद्धिसे यहाँपर सातों व्यसनोंका भरपूर सेवन करते हैं, वे मूर्ख विषय-लोलुपता और मांस-भक्षणकी लम्पटतासे दुर्गतियोंमें जाते हैं ॥११३॥ जो लोग नरकादिकी सिद्धिके लिए व्यसनासक्त चित्तवाले मिथ्यादृष्टियोंके साथ मित्रता करते हैं, और साधु पुरुषोंसे दूर रहते हैं, वे पापी जन विनाशको प्राप्त होते हैं, वे अति पापके उदयसे नरकादि गतियोंमें परिभ्रमण कर दुर्व्यसनी और दुःखोंसे व्याकुल दुर्गतियोंमें उत्पन्न होते हैं ॥११४-११५॥ जो अति लम्पट चित्तवाले पुरुष तप, संयम, व्रतादिके विना धर्मको छोड़कर नाना प्रकारके भोगोंसे शरीरको सदा पोषण करते रहते हैं, रात्रिमें अन्नादिको खाते हैं, प्राणियोंको अकारण वृथा पीड़ा देते हैं, अभक्ष्य वस्तुओंको खाते हैं, और करुणासे रहित हैं, वे पापी असाताकर्मके परिपाकसे सर्व रोगोंके भाजन, तीव्र वेदनासे विह्वल चित्तवाले ऐसे महारोगी उत्पन्न होते हैं ॥११६-११८॥ जो पुरुष शरीरमें ममताका त्याग कर तप और व्रतको पालते हैं, अपने समान सर्वजीवराशिको मानकर किसी भी जीवका कभी भी घात नहीं करते हैं, जो आक्रन्दन, दुःख, शोक आदि न स्वयं करते हैं और न दूसरोंको उत्पन्न कराते हैं, वे मनुष्य यहाँपर साता कर्मके उदयसे सर्व रोगादिसे दूर रहते हैं, और निरोगी सुखी जीवन यापन करते हैं ॥११९-१२०॥ जो ज्ञानी पुरुष आभूषण आदिसे शरीरका संस्कार

कायं मत्वा स्वकीयं ये क्षालयन्ति पशूपमाः । शुद्धयै च मण्डयन्त्यत्र रागिणो भूषणादिभिः ॥१२३॥
कुदेवगुरुधर्मादीन् भजन्ति शुभकाङ्क्षया । कुरूपिणोऽतिबीभत्सा भवेयुस्तेऽशुभोदयात् ॥१२४॥
ये कुर्वन्ति परां भक्तिं जिनेन्द्रागमयोगिनाम् । आचरन्ति तपोधर्मं व्रतानि नियमादिकान् ॥१२५॥
हत्वा च दुर्ममत्वादीन् जयन्तीन्द्रियतस्करान् । स्युस्ते नेत्रप्रिया लोके सुभगाः सुभगोदयात् ॥१२६॥
मुनौ मलादिलिप्ताङ्गे घृणां कुर्वन्ति ये शठाः । रूपादीनां मदान् गर्वाद्दीहन्ते परयोषितः ॥१२७॥
उत्पादयन्ति वा प्रीतिं स्वजनानां मृषोक्तिभिः । दुर्भगोदयतस्ते स्युर्दुर्भगा विश्वनिन्दिताः ॥१२८॥
ददते कुत्सितां शिक्षां येऽन्येषां वञ्चनोद्यताः । विचारेण विना भक्तिं पूजां धर्माय कुर्वते ॥१२९॥
देवशास्त्रगुरूणां च सत्यासत्यात्मनां जडाः । ते मत्यावरणान्निन्द्या जायन्ते दुर्धियोऽशुभाः ॥१३०॥
सुबुद्धिं ददतेऽन्येषां तपोधर्मादिकर्मसु । विचारयन्ति ते नित्यं तत्त्वातत्त्वादिकान् बहून् ॥१३१॥
सारान् गृह्णन्ति धर्मादीन् मुञ्चन्त्यन्यान् बुधोत्तमाः । मत्यावरणमन्दात्ते सन्ति मेधाविनो विदः ॥१३२॥
पाठयन्ति न पाठार्हं ये ज्ञानमदगर्विताः । जानन्तोऽपि दुराचारांस्तन्वन्ति स्वान्ययोः खलाः ॥१३३॥
हितं जिनागमं त्यक्त्वा पठन्ति दुःश्रुतं चिदे । वदन्ति कटुकालापान् वचश्चागमनिन्दितम् ॥१३४॥
परपीडाकरं लोके वासत्यं धर्मदूरगम् । निन्द्याः सन्ति महामूर्खास्ते श्रुतावरणोदयात् ॥१३५॥
पठन्ति पाठयन्त्यन्यान् ये सदा श्रीजिनागमम् । कालाद्यष्टविधाचारैर्व्याख्यान्ति धर्मसिद्धये ॥१३६॥
बोधयन्ति बहून् भव्यान् धर्मोपदेशनादिभिः । प्रवर्तन्ते स्वयं शश्वन्निर्मले धर्मकर्मणि ॥१३७॥

नहीं करते हैं, और तप-नियम-योगादिके द्वारा कायक्लेशको करते हैं, परम भक्तिसे जिनदेव और योगियोंके चरण-कमलोंकी सेवा करते हैं, वे शुभकर्मके परिपाकसे दिव्यरूपके धारी होते हैं ॥१२१-१२२॥ जो पशु-तुल्य मूढ जीव यहाँपर शरीरको अपना मानकर उसकी शुद्धिके लिए जलसे प्रक्षालन करते हैं, जो रागी पुरुष आभूषणादिसे शरीरका शृंगार करते हैं, जो शुभ (पुण्य) की इच्छासे कुदेव, कुगुरु और कुधर्मादिकी सेवा करते हैं, वे जीव अशुभ कर्मके उदयसे अति बीभत्स कुरूपके धारक होते हैं ॥१२३-१२४॥ जो पुरुष जिनदेव, जिनागम और योगियोंकी परम भक्ति करते हैं, तप, धर्म, व्रत और नियम आदिको धारण करते हैं, खोटे ममत्व आदिका घात कर इन्द्रियरूप चोरोंको जीतते हैं, ये पुरुष सुभग कर्मके उदयसे लोकमें सौभाग्यशाली और नेत्रप्रिय होते हैं ॥१२५-१२६॥ जो शठ मल-मूत्रादिसे लिप्त मुनिपर घृणा करते हैं, जो रूप आदि मदोंके गर्वसे परस्त्रियोंकी इच्छा करते हैं, जो मृषा भाषणोंसे स्वजनोंके प्रीतिको उत्पन्न करते हैं, वे पुरुष दुर्भगनामकर्मके उदयसे दुर्भागी और लोक-निन्दित होते हैं ॥१२७-१२८॥ दूसरोंको छलसे ठगनेमें उद्यत जो पुरुष खोटी शिक्षा देते हैं और जो जड़ पुरुष सद्-असद् विचारके विना धर्मके लिए सच्चे और झूठे देव शास्त्र गुरुओंकी भक्ति-पूजा करते हैं, वे मतिज्ञानावरणकर्मके उदयसे दुर्बुद्धि और अशुभ प्रवृत्तिवाले होते हैं ॥१२९-१३०॥ जो पुरुष दूसरोंको सद्-बुद्धि देते हैं, तप और धर्मादि कार्योंमें नित्य ही जो तत्त्व-अतत्त्व और सत्य-असत्य आदि अनेक बातोंका विचार करते हैं, जो उत्तम बुधजन धर्मादि सार बातोंको ग्रहण करते हैं और असार बातोंको छोड़ देते हैं, वे पुरुष मत्यावरणके मन्द होनेसे मेधावी और विद्वान् होते हैं ॥१३१-१३२॥ ज्ञानके मदसे गर्व-युक्त जो पुरुष पढ़ानेके योग्य भी व्यक्तिको नहीं पढ़ाते हैं, जो दुष्ट यथार्थ तत्त्वको जानते हुए भी अपने और दूसरोंके लिए दुराचारोंका विस्तार करते हैं, हितकारी जैनागमको छोड़कर ज्ञान-प्राप्तिके लिए कुशास्त्रको पढ़ते हैं, लोकमें कटुक वचनालाप करते हैं, आगम-निन्दित, पर-पीड़ाकारी, असत्य और धर्मसे पराङ्मुख वचन बोलते हैं, वे पुरुष श्रुतज्ञानावरणकर्मके उदयसे महामूर्ख और निन्दनीय होते हैं ॥१३३–१३५॥ जो कालशुद्धि आदि आठ प्रकारके ज्ञानाचारोंके साथ सदा श्रीजिनागमको स्वयं पढ़ते हैं, औरोंको पढ़ाते हैं, धर्म-सिद्धिके लिए उसका व्याख्यान करते हैं,

भाषन्तेऽत्र हितं सत्यं वचोऽसत्यं न जातुचित् । ते विद्वांसो जगत्पूज्याः स्युः श्रुतावरणात्क्षयात् ॥१३८
वैराग्यं भवभोगाङ्गे जिनेन्द्रगुरुसद्गुणान् । धर्मं धर्माय तत्त्वादीन् चिन्तयन्ति सदा हृदि ॥१३९॥
त्यक्त्वा ये चार्जवादींश्च कौटिल्यं दधते क्वचित् । शुभाशया भवेयुस्ते शुभाच्छुभविधायिनः ॥१४०॥
परस्त्रीहरणादौ ये कौटिल्यं कुटिलाशयाः । चिन्तयन्त्यन्वहं चित्ते ह्युच्चाटनं च धर्मिणाम् ॥१४१॥
तुष्यन्ति मनसा दृष्ट्वा दुराचाराणि दुर्धियाम् । पापार्जनाय जायन्ते तेऽशुभेनाशुभाशयाः ॥१४२॥
ये कुर्वन्ति सदा धर्मं तपोव्रतक्षमादिभिः । सत्पात्रदानपूजाद्यैर्दृक्चिद्वृत्तैर्दृगन्विताः ॥१४३॥
ते नाकादौ सुखं भुक्त्वा पुनरुच्चैः पदाप्तये । धर्मकर्मकरा धर्मादुत्पद्यन्तेऽत्र धर्मिणः ॥१४४॥
येऽर्जयन्ति सदा पापं हिंसानृतादिभिः खलाः । दुर्बुद्ध्या विषयासक्त्या मिथ्यादेवादिभक्तिभिः ॥१४५॥
श्वभ्रादौ तत्फलेनात्र चिरं भुक्त्वाऽसुखं महत् । जायन्ते पापिनः पापात्तेऽहो तद्गतिहेतवे ॥१४६॥
ददते येऽन्वहं दानं सत्पात्रेभ्योऽतिभक्तितः । अर्चयन्ति जिनेन्द्राङ्घ्री गुरुपादाम्बुजौ शुभौ ॥१४७॥
विद्यमानान् बहून् भोगांस्त्यजन्ति धर्मसिद्धये । ते लभन्तेऽत्र धर्मेण महतीर्भोगसंपदः ॥१४८॥
सेवन्ते प्रत्यहं येऽत्र भोगानन्यायकर्मभिः । यान्ति जातु न संतोषं बहुभिर्भोगसेवनैः ॥१४९॥
पात्रदानजिनार्चां च नैव स्वप्नेऽपि कुर्वते । तेऽघपाकेन जायन्ते दीना भोगादिवर्जिताः ॥१५०॥
ये तन्वन्ति सदा धर्मं पूजनं च जिनेशिनाम् । वितरन्ति सुपात्रेभ्यो दानं भक्तिभराङ्किताः ॥१५१॥
तपोव्रतयमादींश्चाचरन्ति लोभदूरगाः । तान् प्रति स्वयमायान्ति जगत्साराः श्रियः शुभात् ॥१५२॥

धर्मोपदेशादिके द्वारा अनेक भव्यजीवोंको बोध देते हैं, स्वयं सदा निर्मल धर्म-कर्ममें प्रवृत्ति करते हैं, हितकारी और सत्य वचन ही बोलते हैं और लोकमें कभी भी असत्य वचन नहीं बोलते हैं, वे पुरुष श्रुतज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे विद्वान् और जगत्पूज्य होते हैं ॥१३६-१३८॥

जिनके हृदयमें संसार, भोग और शरीरसे वैराग्य है, जिनेन्द्र देव और सद्-गुरुके गुणोंका, धर्मका और तत्त्वादिका धर्म-प्राप्तिके लिए सदा चिन्तवन करते हैं, जो आर्जव आदि सद्-गुणोंको छोड़कर क्वचित्-कदाचित् भी कुटिलता नहीं करते हैं, वे शुभ आशयवाले पुरुष पुण्यकर्मके उदयसे शुभ कार्योंके करनेवाले होते हैं ॥१३९-१४०॥ जो कुटिल अभिप्रायवाले मनुष्य परस्त्रीहरण आदि कुटिल प्रवृत्ति करते हैं, धर्मात्माजनोंके उच्चाटनका चित्तमें सदा विचार करते रहते हैं और दुर्बुद्धियोंके दुराचारोंको देखकर मनमें सन्तुष्ट होते हैं, वे अशुभ कर्मके उदयसे पापोपार्जनके लिए अशुभ अभिप्रायवाले उत्पन्न होते हैं ॥१४१-१४२॥ जो पुरुष तप, व्रत, क्षमादिके द्वारा, सत्पात्रदान-पूजादिके द्वारा, दर्शन-ज्ञान और चारित्रके द्वारा सदा धर्मको करते हैं, सम्यग्दर्शनसे युक्त हैं, वे स्वर्गादिमें सुख भोगकर पुनः उच्च पदोंकी प्राप्तिके लिए धर्म-कार्य करते हैं, वे जीव इस लोकमें धर्मके प्रभावसे धर्मात्मा उत्पन्न होते हैं ॥१४३-१४४॥ जो दुष्ट मनुष्य हिंसा, झूठ आदिके द्वारा दुर्बुद्धिसे, विषयोंमें आसक्तिसे और कुदेवादिकी भक्तिसे सदा पापोंका उपार्जन करते हैं, वे जीव इस लोकमें ही चिरकाल तक दुःख भोगकर उस पाप कर्मके फलसे नरकादि गतियोंमें उत्पन्न होते हैं। अहो गौतम, वे जीव दुर्गतिको जानेके लिए पापसे पापी ही उत्पन्न होते हैं ॥१४५-१४६॥ जो पुरुष सत्पात्रोंके लिए अति भक्तिसे प्रतिदिन दान देते हैं, जिनेन्द्रदेवके और गुरुजनोंके शुभ चरण-कमलोंको पूजते हैं, और धर्मकी सिद्धिके लिए विद्यमान बहुत से भोगोंको छोड़ते हैं, वे मनुष्य इस लोकमें धर्मके द्वारा महा भोग-सम्पदाओंको पाते हैं ॥१४७-१४८॥ जो पुरुष इस लोकमें प्रतिदिन अन्याय और अत्याचार-परिपूर्ण कार्योंके द्वारा भोगोंको भोगते हैं, बहुत भोगोंके सेवनसे भी कभी सन्तोषको प्राप्त नहीं होते हैं, और पात्रदान, जिनपूजा आदिको स्वप्नमें भी नहीं करते हैं, वे उस पापके परिपाक द्वारा भोगोंसे रहित दीन अनाथ उत्पन्न होते हैं ॥१४९-१५०॥ जो सदा धर्मका विस्तार करते हैं, जिनेशोंका पूजन करते हैं, भक्तिभारसे

समर्था अपि ये पात्रदानं श्रीजिनपूजनम् । धर्मकार्यं च जैनानामुपकारं न कुर्वते ॥१५३॥
वाञ्छन्ति सकला लक्ष्मीर्लोभाद्धर्मव्रतातिगाः । तेऽघपाकेन दुःखाढ्या निर्धनाः स्युर्भवे भवे ॥१५४॥
पशूनां वा मनुष्याणां वियोगं ये वितन्वते । बन्ध्वाद्यैः पररामाश्रीवस्त्वादींश्च हरन्त्यलम् ॥१५५॥
निःशीलास्ते लभन्तेऽत्र वियोगं च पदे पदे । पुत्रबान्धवकान्ताश्र्यादीष्टेभ्यो ह्यशुभोदयात् ॥१५६॥
दूषयन्ति न जीवान् ये वियोगताडनादिभिः । पोषयन्ति सदा जैनांस्तदीहितसुसंपदा ॥१५७॥
सेवन्ते यत्नतो धर्मं व्रतदानार्चनादिभिः । स्पृहयन्ति न शर्मस्त्रीतुग्धनादीन् शिवं विना ॥१५८॥
संपद्यन्तेऽत्र तेषां च पुण्यभाजां सुपुण्यतः । संयोगाश्च मनोऽभीष्टपुत्रस्त्रीधनकोटिभिः ॥१५९॥
पात्रेभ्यो येऽनिशं दानं धनं भक्त्या च सिद्धये । चैत्यचैत्यालयादीनां ददते धर्मकाङ्क्षिणः ॥१६०॥
तेषां सर्वत्र जायेत दातृत्वगुण उत्तमः । पूर्वसंस्कारयोगेन श्रेयसेऽत्र परत्र च ॥१६१॥
वितरन्ति न दानं ये पात्रेभ्यः कृपणाः क्वचित् । धनं न जिनपूजायै त्रिजगच्छ्रीसुखार्थिनः ॥१६२॥
ते दुर्गतौ चिरं भ्रान्त्वा तीव्रलोभाकुला ह्यघात् । पुनः सर्पादिगत्याप्त्यै जायन्ते कृपणा भुवि ॥१६३॥
ध्यायन्ति तद्गुणाप्त्यै ये गुणांल्लोकोत्तमान् सदा । अर्हतां च गणेशानां तद्वाचो मुनिधर्मिणाम् ॥१६४॥
गुणग्रहणशीलाश्च सर्वत्रागुणदूरगाः । गणिनस्ते भवन्त्यत्र बुधार्च्या गुणवृद्धये ॥१६५॥
दोषान् गृह्णन्ति ये मूढा गुणिनां न गुणान् क्वचित् । निर्गुणानां कुदेवादीनां स्मरन्ति गुणान् वृथा ॥१६६॥

युक्त होकर सुपात्रोंको दान देते हैं, तप, व्रत, संयमादिका आचरण करते हैं, और लोभसे दूर रहते हैं, उनके पास पुण्यकर्मके उदयसे जगत् में सारभूत लक्ष्मी स्वयं जाती है ॥१५१-१५२॥ जो पुरुष समर्थ होकरके भी पात्रदान, श्री जिनपूजन, धर्म-कार्य और जैनोंका उपकार नहीं करते हैं, धर्म और व्रतसे दूर रहते हैं और लोभसे संसारकी सम्पदाओंकी वांछा करते हैं, वे जीव पापके परिपाकसे भव-भवमें निर्धन और दुःख भोगनेवाले होते हैं ॥१५३-१५४॥ जो जीव पशुओंका अथवा मनुष्योंका उनके बन्धु जनोंसे वियोग करते हैं, पर-स्त्री, पर-लक्ष्मी और पर-वस्तु आदिका निरन्तर अपहरण करते हैं, तथा व्रत-शीलसे रहित हैं, वे जीव यहाँ पद-पद पर पाप कर्मके उदयसे पुत्र, बान्धव, स्त्री और लक्ष्मी आदि इष्ट वस्तुओंसे वियोगको प्राप्त होते हैं ॥१५५-१५६॥ जो पुरुष वियोग, ताड़न आदिसे दूसरे जीवोंको दुःख नहीं पहुँचाते हैं, सदा जैनोंका उनकी अभीष्ट सम्पदासे अर्थात् मनोवांछित वस्तु देकर पोषण करते हैं, यत्नपूर्वक व्रत, दान, पूजनादिके द्वारा धर्मका सेवन करते हैं, मोक्षके विना सांसारिक सुख-स्त्री, पुत्र और धनादिकी इच्छा नहीं करते हैं, उन पुण्यशाली लोगोंकी सुपुण्यके निमित्तसे मनोभीष्ट पुत्र स्त्री और कोटि-कोटि धनके साथ इस लोकमें संयोग प्राप्त होते हैं ॥१५७-१५९॥ जो धर्मके अभिलाषी जन पात्रोंके लिए सदा दान देते हैं, जिन-प्रतिमा और जिनालय आदिके निर्माणके लिए भक्तिके साथ धन देते हैं, उनके पूर्व संस्कारके योगसे सर्वत्र उत्तम दातृत्व गुण प्राप्त होता है, जो उनके इस लोक और परलोकमें कल्याणके लिए कारण होता है ॥१६०-१६१॥ जो कृपण पुरुष क्वचित् कदाचित् भी पात्रोंके लिए दान नहीं देते हैं और तीन लोककी लक्ष्मी और सुखके इच्छुक होकरके भी जिनपूजाके लिए धन नहीं देते हैं, वे कृपण अपने इस पापके द्वारा तीव्र लोभसे आकुलित होकर चिरकाल तक दुर्गतियोंमें परिभ्रमण कर पुनः सर्प आदिकी गति पानेवाले होते हैं ॥१६२-१६३॥

जो पुरुष अरिहन्तोंके, गणधरोंके और अन्य मुनिधर्म पालन करनेवालोंके लोकोत्तम गुणोंका तथा उनके वचनोंका उन जैसे गुणोंकी प्राप्तिके लिए सदा ध्यान करते हैं, गुण-ग्रहण करनेका जिनका स्वभाव है, जो सर्वत्र सर्वदा दुर्गुणोंसे दूर रहते हैं, ऐसे पुरुष इस लोकमें गुणवृद्धि के लिए विद्वानों द्वारा पूजित ऐसे गुणवान् होते हैं ॥१६४-१६५॥ जो मूढ़ पुरुष दोषोंको ही ग्रहण करते हैं और गुणी जनोंके गुणोंको क्वचित् कदाचित् भी ग्रहण नहीं करते

२४

जातु दोपान्न जानन्ति मिथ्यामार्गकुलिङ्गिनाम् । भवेयुर्निर्गुणास्तेऽत्र निर्गन्धकुसुमोपमाः ॥१६७॥
मिथ्यादृशां कुदेवानां कुत्सितानां कुलिङ्गिनाम् । सेवां भक्तिं च कुर्वन्ति ये धर्माय वृषोपमाः ॥१६८॥
न च श्रीजिननाथानां धर्मिणां न सुयोगिनाम् । परकिङ्करता पापात्ते लभन्ते पदे पदे ॥१६९॥
त्रिजगत्स्वामिनश्चार्हद्गणेन्द्रागमयोगिनः । रत्नत्रयं तपोधर्ममाराधयन्ति येऽनिशम् ॥१७०॥
त्रिशुद्ध्या नुतिपूजाद्यैस्त्यक्त्वा सर्वान्मतान्तरान् । उत्पद्यन्तेऽत्रपुण्यात्ते स्वामिनो विश्वसंपदाम् ॥१७१॥
निर्दया ये व्रतैर्हीना घ्नन्त्यत्र परबालकान् । तन्वन्ति बहुमिथ्यात्वं संतानादिप्रसिद्धये ॥१७२॥
तेषां शठात्मनां मिथ्यात्वाघपाकेन निश्चितम् । स्वल्पायुषो न जीवन्ति पुत्राः पुण्यादिवर्जिताः ॥१७३॥
चण्डिकाक्षेत्रपालादीन् यागगौर्यादिकान् बहून् । दूर्वादीन् पुत्रलाभाय ये भजन्त्यर्चनादिभिः ॥१७४॥
न चार्हतोऽत्र पुत्रादिसर्वार्थसिद्धिदान् शठाः । वन्ध्यत्वं ते लभन्तेऽहो मिथ्यात्वेन भवे भवे ॥१७५॥
स्वसंतानसमान्मत्वाऽन्यपुत्रान् घ्नन्ति जातु न । मिथ्यात्वं शत्रुवत्त्यक्त्वा येऽहिंसादिव्रतान्विताः॥१७६॥
यजन्ति जिनसिद्धान्तयोगिनः स्वेष्टसिद्धये । दिव्यरूपाः शुभात्तेषां सुताः स्युश्चिरजीविनः ॥१७७॥
तपोनियमसद्ध्यानकायोत्सर्गादिकर्मसु । वापरे धर्मकार्यादौ दीक्षादानेऽतिदुष्करे ॥१७८॥
कातरत्वं प्रकुर्वन्ति हीनसत्त्वा हि येऽङ्गिनः । कातरास्तेऽत्र जायन्ते सर्वकार्येऽक्षमा ह्यघात् ॥१७९॥
स्वधैर्यं प्रकटीकृत्य दुष्कराणि तपांसि च । ध्यानाध्ययनयोगादीन् कायोत्सर्गं चरन्ति ये ॥१८०॥

हैं, गुण-हीन कुदेव आदिके गुणोंका व्यर्थ स्मरण करते हैं और मिथ्यामार्ग पर चलनेवाले कुलिंगियोंके दोपोंको कदाचित् भी नहीं जानते हैं, वे पुरुप इस लोकमें निर्गन्ध कुसुमके समान निर्गुणी होते हैं ॥१६६-१६७॥ जो पुरुप मिथ्यादृष्टि कुदेवोंकी और खोटे आचरण करनेवाले कुलिंगियोंकी धर्म-प्राप्तिके लिए सेवा और भक्ति करते हैं और श्री जिननाथोंकी, धर्मात्मा सुयोगियोंकी सेवा-भक्ति नहीं करते हैं, वे अपने इस उपार्जित पापसे बैलोंके समान पद-पदपर पर-बन्धनमें बद्ध होकर दासपनेको पाते हैं ॥१६८-१६९॥ जो लोग तीन जगत्के स्वामी अर्हन्तोंकी, गणधरोंकी, जिनागमकी, योगी जनोंकी, रत्नत्रयधर्मकी और तपकी निरन्तर मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक और सर्व मतान्तरोंको छोड़कर आराधना करते हैं, वे इस लोकमें उस पुण्यसे सर्व सम्पदाओंके स्वामी होते हैं ॥१७०-१७१॥ जो निर्दय, व्रत-हीन मनुष्य इस लोकमें दूसरोंके बालकोंका घात करते हैं और सन्तान आदिकी प्राप्तिके लिए अनेक प्रकारका मिथ्यात्व सेवन करते हैं, उन शठ पुरुपोंके मिथ्यात्वपापके परिपाकसे उनके पुत्र अल्प आयुके धारक होते हैं, वे जीते नहीं हैं और जितने दिन जीवित रहते हैं, उतने दिन पुण्य और सौभाग्य आदिसे हीन रहते हैं ॥१७२-१७३॥ जो मूर्ख पुत्र-लाभके लिए चण्डिका गौरी क्षेत्रपाल आदि देवी-देवताओंकी, पूजा-अर्चना आदिसे सेवा करते हैं, अनेक प्रकारके यज्ञ-यागादिकको करते हैं, और दूर्वा-पीपल आदिको पूजते हैं, किन्तु पुत्रादि सर्व अर्थोंकी सिद्धि देनेवाले अर्हन्तोंकी पूजा-उपासना नहीं करते हैं, वे पुरुप मिथ्यात्व कर्मके उदयसे भव-भवमें पुत्र हीन होते हैं, अर्थात् वन्ध्यापने वाली स्त्रियोंको पाते हैं ॥१७४-१७५॥ जो पुरुप अन्यके पुत्रोंको अपनी सन्तानके समान मानकर उनका स्वप्नमें भी घात नहीं करते (किन्तु प्रेमसे पालन-पोपण करते हैं) और मिथ्यात्वको शत्रुके समान जान उसे छोड़कर अहिंसादि व्रतोंको धारण करते हैं, तथा जो अपनी इष्ट सिद्धिके लिए जिन देव, जिन-सिद्धान्त और जिनानुयायी साधुओंकी पूजा-उपासना करते हैं, उस पुण्यके उदयसे उनके पुत्र चिरकाल तक जीनेवाले और दिव्यरूपके धारक होते हैं ॥१७६-१७७॥ जो लोग तप, नियम, सद्-ध्यान और कायोत्सर्ग आदि कार्योंमें तथा अन्य धार्मिक कार्योंमें, एवं अतिकठिन दीक्षा लेनेमें कायरता प्रकट करते हैं, वे हीन सत्त्ववाले जीव उस पापसे इस लोकमें कायर और सर्व कार्योंके करनेमें असमर्थ होते हैं ॥१७८-१७९॥ जो अपने धैर्यको प्रकट कर अति

सहन्ते निजशक्त्याखिलोपसर्गपरीषहान् । क्षमाः कर्मारिघातेऽत्र धीरास्तेऽहो भवन्त्ययात् ॥१८१॥
निन्दां कुर्वन्ति ये दुष्टा जिनेशां च गणेशिनाम् । सिद्धान्तस्य च निर्ग्रन्थश्रावकादिषु धर्मिणाम् ॥१८२॥
प्रशंसा पापिनां मिथ्यादेवश्रुततपस्विनाम् । तेऽयशःकर्मणा दोषाढ्या निन्द्याः स्युर्जगत्त्रये ॥१८३॥
दिगम्बरगुरूणां च ज्ञानिनां गुणिनां सताम् । सशीलानां सदा भक्तिं सेवां पूजां प्रकुर्वते ॥१८४॥
पालयन्ति त्रिधा शीलं समं साराखिलव्रतैः । शीलवन्तो भवेयुस्ते धर्मात्स्वर्मुक्तिगामिनः ॥१८५॥
निःशीलान् कुगुरून् दुष्टान् कुदेवशास्त्रपापिनः । भजन्ते नुतिपूजाद्यैर्निःशीला ये व्रतातिगाः ॥१८६॥
सुखं वैषयिकं नित्यमीहन्तेऽन्यायकर्मणा । निःशीलास्ते भवन्त्यत्र पापाद्दुर्गतिगामिनः ॥१८७॥
गुणाब्धीनां गुरूणां च ज्ञानिनां जिनयोगिनाम् । सद्दृष्टीनां सदा सङ्गं कुर्वते तद्गुणाय ये ॥१८८॥
तेषां संपद्यते सार्धं गुर्वादिगुणिभिश्च तैः । भवेत्सर्वमहान् सङ्गः स्वर्गमुक्तिगुणादिदः ॥१८९॥
संसर्गमुत्तमानां ये त्यक्त्वा कुर्वन्ति चान्वहम् । गुणध्वंसकरं सङ्गं मिथ्यादृशां शठात्मनाम् ॥१९०॥
तेऽधोगामिन एवाहो इहामुत्रासुनाशिनम् । सङ्गं तद्गतिहेतुं तैर्लभन्ते दुर्जनैः सह ॥१९१॥
तत्त्वातत्त्वात्तशास्त्राणां गुरुदेवतपोभृताम् । धर्माधर्मादिदानानां विचारं तन्वतेऽनिशम् ॥१९२॥
सूक्ष्मबुद्धयात्र ये तेषां विवेकः परमो हृदि । अमुत्र विश्वदेवादिपरीक्षायां क्षमो भवेत् ॥१९३॥
देवा हि गुरवः सर्वे वन्दनीयाश्च भक्तितः । निन्दनीया न कर्तव्या विश्वे धर्माः शिवाप्तये ॥१९४॥
मत्वेति ये भजन्त्यत्र कृत्स्नधर्मामरादिकान् । दुर्बुद्धया मूढतां निन्द्यास्ते लभन्ते भवे भवे ॥१९५॥

दुष्कर तपोंको ध्यान, अध्ययन आदि योगोंको और कायोत्सर्गको करते हैं, तथा अपनी शक्तिसे समस्त घोर उपसर्ग और परीषहोंको सहन करते हैं, अहो गौतम, वे पुरुष उस तपस्याके प्रभावसे कर्मरूप शत्रुओंके घातनेमें समर्थ ऐसे धीर-वीर होते हैं ॥१८०-१८१॥ जो दुष्ट पुरुष जिनराजोंकी, गणधरोंकी, जिनसिद्धान्तकी, निर्ग्रन्थ साधु साध्वी, श्रावक और श्राविकादि धार्मिक जनोंकी निन्दा करते हैं, तथा पापी मिथ्या देव शास्त्र गुरुओंकी प्रशंसा करते हैं, वे अयशःकीर्तिकर्मके उदयसे तीनों लोकोंमें निन्दनीय और दुःखोंसे संयुक्त होते हैं ॥१८२-१८३॥ जो पुरुष दिगम्बर गुरुओंकी, ज्ञानी गुणी सज्जन और शीलवान् पुरुषोंकी सदा सेवा भक्ति और पूजा करते हैं जो त्रियोगसे सदा सारभूत सर्व व्रतोंके साथ शीलव्रतको पालते हैं, वे शीलवान् होते हैं और शीलधर्मके प्रभावसे स्वर्ग और मुक्ति-गामी होते हैं ॥१८४-१८५॥ जो व्रत-रहित जीव शील-रहित दुष्ट कुगुरुओंकी कुदेव, कुशास्त्र और पापियोंकी नमस्कार-पूजादि से सेवा-उपासना करते हैं, स्वयं शीलरहित रहते हैं, और अन्याययुक्त कार्योंके द्वारा विषय जनित सुखकी नित्य इच्छा करते हैं, वे लोग इस लोकमें निःशील और दुर्गतिगामी होते हैं ॥१८६-१८७॥

जो मनुष्य गुणोंके सागर ऐसे जिन-योगियोंकी, ज्ञानी गुरुओंकी और सम्यग्दृष्टि पुरुषोंकी उनके गुण पानेके लिए सदा संगति करते हैं उन्हें गुणी गुरु आदि सुजनोंके साथ स्वर्ग-मुक्तिका दाता महान् संगम प्राप्त होता है ॥१८८-१८९॥ जो लोग उत्तम जनोंका संगम छोड़कर अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंका गुण-नाशक संगम नित्य करते हैं, वे अधोगामी जीव इस लोक और परलोकमें प्राण-नाशक और दुर्गतिका कारणभूत कुसंग—दुर्जनोंका साथ सदा पाते हैं ॥१९०-१९१॥ जो पुरुष अपनी सूक्ष्म बुद्धिसे निरन्तर तत्त्व-अतत्त्वका, शास्त्र-कुशास्त्रका, तथा देव, गुरु, तपस्वी, धर्म-अधर्म और दान-कुदान आदिका विचार करते रहते हैं, परलोकमें उनका विवेक सभी देव-अदेव आदिकी परीक्षा करनेमें समर्थ होता है ॥१९२-१९३॥ जो समझते हैं कि सभी देव और सभी गुरु, भक्ति पूर्वक वन्दनीय हैं, किसीकी निन्दा नहीं करना चाहिए। तथा सभी धर्म मोक्षके देनेवाले हैं, ऐसा मानकर दुर्बुद्धिसे सभी धर्मोंकी और सभी देवादिकी इस लोकमें सेवा करते हैं, वे भव-भवमें निन्दनीय एवं मूढ़ताको प्राप्त

तीर्थेशगुरुसङ्घानामुच्चैः पदमयात्मनाम् । प्रत्यहं च नुतिं भक्तिं तन्वन्ति गुणकीर्तनम् ॥१९६॥
स्वस्य निन्दां च येऽत्रार्या गुणिदोषोपगूहनम् । तेऽमुत्र त्रिजगद्वन्द्यं गोत्रं श्रयन्ति गोत्रतः ॥१९७॥
स्वगुणाख्यापनं दोषोद्भावनं गुणिनां सदा । कुर्वन्ति नीचदेवांश्च नीचधर्मगुरून् जडाः ॥१९८॥
ये सेवन्ते च धर्माय ते नीचपदभागिनः । नीचगोत्रं च संप्राप्नुवन्त्यत्र नीचकर्मणा ॥१९९॥
मिथ्यामार्गानुरागेणात्रैकान्ते कुत्सिते पथि । स्थिता ये कुगुरून् मिथ्यादेवधर्मान् भजन्ति च ॥२००॥
दुर्धियः श्रेयसे तेषां पूर्वसंस्कारयोगतः । मिथ्यामार्गेऽनुरागोऽमुत्र जायेताशुभाकरः ॥२०१॥
जिनशास्त्रगुरून् धर्मं परीक्ष्य ज्ञानचक्षुषा । ये तात्पर्येण सेवन्ते भक्त्या तद्गुणरञ्जिताः ॥२०२॥
अनन्यशरणानन्यान् स्वप्नेऽपि कुपथस्थितान् । जिनधर्मेऽनुरक्तास्ते स्युरमुत्र शिवाध्वगाः ॥२०३॥
व्युत्सर्गं दुष्करं योगं तपोमौनव्रतादिकान् । स्वशक्त्या दधते ये च बुधाः स्वर्मुक्तिकाङ्क्षिणः ॥२०४॥
नाच्छादयन्ति सद्वीर्यं तपोधर्मादिकर्मसु । ते लभन्ते दृढं कायं तपोभारक्षमं शुभम् ॥२०५॥
शक्ता येऽत्र निजं वीर्यं व्यक्तं कुर्वन्ति जातु न । कायशर्मरता धर्मतपोव्युत्सर्गसिद्धये ॥२०६॥
तन्वन्ति पापकर्माणि गृहव्यापारकोटिभिः । परत्रावाद्भवेत्तेषां वपुर्निन्द्यं तपोऽक्षमम् ॥२०७॥

इति विशदगिरासौ प्रश्नराजेर्जिनेन्द्रः सुरशिवगतिहेतोरर्थरूपेण युक्त्या ।
प्रति सगणगणेशं प्रादिशद्योत्तरं यस्तमिह परमभक्त्या वीरनाथं स्तुवेऽहम् ॥२०८॥

होते हैं ॥१९४-१९५॥ जो आर्यजन तीर्थंकर, सुगुरु, जिनसंघ और उच्चपदमयी पंचपरमेष्ठियों-की प्रतिदिन पूजा-भक्ति करते हैं, उनके गुणोंका कीर्तन करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं, अपने दोषोंकी निन्दा करते हैं और दूसरे गुणी जनोंके दोषोंका उपगूहन करते हैं, वे पुरुष उच्च गोत्र कर्मके परिपाकसे परभवमें त्रिजगद्-वन्द्य गोत्र कर्मका आश्रय प्राप्त करते हैं अर्थात् तीर्थंकर होते हैं ॥१९६-१९७॥ जो जड़ पुरुष अपने-अपने गुणोंको प्रकट करते हैं और गुणी जनोंके दोषोंको सदा प्रकट करते रहते हैं, तथा नीच देवोंकी, नीच धर्मकी और नीच गुरुओंकी धर्मके लिए सेवा करते हैं, वे लोग इस संसारमें नीच गोत्र कर्मके उदयसे नीचगोत्र पाते हैं और नीच पदके भागी होते हैं ॥१९८-१९९॥ जो दुर्बुद्धि पुरुष इस लोकमें मिथ्यामार्गके अनुरागसे एकान्ती मिथ्यामार्गमें स्थित हैं और कुगुरु कुदेव कुधर्मकी आत्मकल्याणके लिए सेवा करते हैं उनका पूर्व भवके संस्कारके योगसे परभवमें अशुभका भण्डार-ऐसा अनुराग मिथ्यामार्गमें होता है ॥२००-२०१॥

जो अपने ज्ञाननेत्रसे यथार्थ जिनदेव, शास्त्र-गुरु और धर्मकी परीक्षा करके उनके गुणानुरागी होकर उन गुणोंकी प्राप्तिके अभिप्राय से भक्ति पूर्वक उनकी सेवा करते हैं, उन्हें ही अपने अनन्य (एक मात्र) शरण मानते हैं और कुमार्गमें स्थित अन्य कुदेवादिकी स्वप्नमें भी सेवा नहीं करते हैं, वे परलोकमें जिनधर्मानुरक्त और शिवमार्गके पथिक होते हैं ॥२०२-२०३॥ जो स्वर्ग-मुक्तिके इच्छुक ज्ञानी पुरुष अपनी शक्तिके अनुसार अति दुष्कर कायोत्सर्गयोगको और मौनव्रत आदिको धारण करते हैं, तपश्चरण और धर्म सेवनादि कार्योंमें अपने विद्यमान बल-वीर्यको नहीं छिपाते हैं, वे परभवमें तपके भारको सहन करनेमें समर्थ ऐसे शुभ वज्रवृषभनाराचसंहननवाले दृढ़ शरीरको पाते हैं ॥२०४-२०५॥ जो समर्थ होकरके भी धर्म तप व्युत्सर्ग आदिकी सिद्धिके लिए कदाचित् भी अपने बल-वीर्यको व्यक्त नहीं करते हैं और शरीरके सुखमें मग्न रहते हैं, तथा घरके व्यापार-सम्बन्धी करोड़ों कार्योंके द्वारा पाप कर्मोंको करते रहते हैं, उन जीवोंको उस पापसे परभवमें तप करनेमें असमर्थ और निन्दनीय शरीर प्राप्त होता है ॥२०६-२०७॥

इस प्रकार जिस वीर जिनेन्द्रने स्वर्ग और मोक्षगतिकी कारणभूत गौतमकी प्रश्नावली का विशद वाणी द्वारा अर्थरूपसे युक्तिपूर्वक समस्त गण और गणधरके लिए उत्तर दिया, उस

वीरोऽत्रैष नुतः स्तुतः किल मया वीरं श्रयाम्यन्वहं
वीरेणानुचराम्यमा शिवपथं वीराय कुर्वे नुतिं ।
वीरान्नास्त्यपरो ममातिहितकृद्वीरस्य पादौ श्रये
वीरे स्वस्थितिमातनोमि परमां मां वीर तेऽन्तं नय ॥२०९॥

इति भट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते श्रीवीरवर्धमानचरिते श्रीगौतम-स्वामिकृतप्रश्नमालोत्तरवर्णनो नाम सप्तदशोऽधिकारः ॥१७॥

वीरनाथकी मैं यहाँ पर परम भक्तिसे स्तुति करता हूँ ॥२०८॥ जो वीरप्रभु मेरे द्वारा यहाँ पर नमस्कृत स्तुतिके विषयभूत हैं, मैं उन वीरनाथका आश्रय लेता हूँ। वीर प्रभुके साथ मैं भी शिवमार्गका अनुसरण करता हूँ, तथा वीरप्रभुके लिए नमस्कार करता हूँ। वीरसे अति-रिक्त अन्य कोई मेरा हित करनेवाला नहीं है, इसलिए मैं वीर जिनेन्द्रके चरणोंका आश्रय लेता हूँ। मैं वीर-भगवान्में अपने चित्तकी परम स्थितिको करता हूँ। हे वीरभगवान्, आप मुझे अपने समीप ले जायें ॥२०९॥

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति-विरचित श्री वीरवर्धमानचरितमें श्री गौतम स्वामी द्वारा पूछे गये प्रश्नमालाके उत्तर वर्णन करनेवाला सत्रहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥१७॥

अष्टादशोऽधिकारः

श्रीवीरं मुक्तिभर्तारं वन्देऽज्ञानतमोऽपहम्। विश्वदीपं समान्तःस्थं धर्मोपदेशनोद्यतम् ॥१॥
अथ गौतम धीमंस्त्वं शृणु सार्धं गणैर्ब्रुवे। मुक्तेर्मार्गं विदो येन शिवं यान्ति न संशयः ॥२॥
शङ्कादिदोषदूरं यच्छ्रद्धानं तद्गुणान्वितम्। तत्त्वार्थानां शिवाङ्गं तद्व्यवहाराख्यदर्शनम् ॥३॥
नार्हद्भ्यो जातु देवोऽन्यो निर्ग्रन्थेभ्यो गुरुर्न च। अहिंसादिव्रतेभ्योऽन्यापरो धर्मो न तत्त्वतः ॥४॥
जैनशासनतो नान्यच्छासनं प्रवरं क्वचित्। अङ्गपूर्वेभ्य एवान्यन्न ज्ञानं विश्वदीपकम् ॥५॥
रत्नत्रयात्परो नान्यो मुक्तिमार्गो हि विद्यते। भव्यानां परमेष्ठिभ्यो हितकर्तापरो न च ॥६॥
पात्रदानात्परं दानं न च श्रेयोनिबन्धनम्। सहगामि सुधर्मान्न पाथेयं परजन्मनि ॥७॥
नात्मध्यानात्परं ध्यानं केवलज्ञानकारणम्। धर्मवद्भिः समः स्नेहो न महान् धर्मशर्मदः ॥८॥
द्वादशभ्यस्तपोभ्योऽन्यत्तपो नाघक्षयंकरम्। नमस्कारमहामन्त्रान्मन्त्रो न भुक्तिमुक्तिदः ॥९॥
कर्माक्षेभ्योऽपरो वैरी नेहामुत्रातिदुःखदः। इत्यादि सकलं विद्धि त्वं दृष्टेर्मूलकारणम् ॥१०॥
ज्ञानचारित्रयोर्बीजं मुक्तेः सोपानमग्रिमम्। अधिष्ठानं व्रतादीनां जानीहि दर्शनं परम् ॥११॥
दर्शनेन विना पुंसां ज्ञानमज्ञानमेव भोः। दुश्चारित्रं च चारित्रं निष्फलं स्यात्तपोऽखिलम् ॥१२॥
इति ज्ञात्वा दृढीकार्यं सम्यक्त्वं चन्द्रनिर्मलम्। निःशङ्कादिगुणैर्हत्वा शङ्कामौढ्यादितन्मलान् ॥१३॥

मुक्तिके भर्ता, अज्ञानरूप अन्धकारके हर्ता, विश्वके प्रकाशक, समवशरणके मध्यमें विराजमान और धर्मोपदेश देनेमें उद्यत ऐसे श्री वीर भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥ इसके पश्चात् भगवान्‌ने कहा—हे धीमन् गौतम, तुम सर्व गणोंके साथ सुनो। मैं मोक्षका मार्ग कहता हूँ, जिससे कि ज्ञानी जन मोक्षको जाते हैं इसमें कोई संशय नहीं है ॥२॥ तत्त्वार्थका जो शंकादि दोषोंसे रहित और निःशंकादि गुणोंसे युक्त श्रद्धान है, मोक्षका अंगस्वरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन है ॥३॥ इस संसारमें अर्हन्तोंसे अतिरिक्त कोई श्रेष्ठ देव नहीं है, निर्ग्रन्थ गुरुओंसे बढ़कर कोई उत्तम गुरु नहीं है, अहिंसादि पंच महाव्रतोंसे बढ़कर कोई अन्य धर्म नहीं है ॥४॥ जैनशासनसे भिन्न कोई उत्कृष्ट शासन नहीं है, द्वादश अंगों और चतुर्दश पूर्वोंसे बढ़कर अन्य कोई विश्वप्रकाशक ज्ञान नहीं है ॥५॥ रत्नत्रयसे अन्य कोई दूसरा मुक्तिका मार्ग नहीं है, पंच परमेष्ठियोंसे अन्य कोई दूसरा भव्य जीवोंका हितकर्ता नहीं है ॥६॥ पात्रदानसे परे कोई दूसरा कल्याणकारक दान नहीं है, सुधर्मसे अतिरिक्त अन्य कोई पर जन्ममें साथ जानेवाला पाथेय (मार्ग-भोजन, कलेवा) नहीं है ॥७॥ केवलज्ञानके कारणभूत आत्मध्यानसे बढ़कर कोई दूसरा ध्यान नहीं है, धर्मात्माओंके साथ स्नेहके समान धर्म और सुखको देनेवाला अन्य कोई स्नेह नहीं है ॥८॥ द्वादश तपोंसे अन्य, पापोंका क्षय करनेवाला अन्य कोई तप नहीं है, पंचनमस्कारमहामन्त्रसे भिन्न स्वर्ग और मोक्षको देनेवाला अन्य कोई मित्र नहीं है ॥९॥ कर्म और इन्द्रियोंके सिवाय इस लोक और परलोकमें अति दुःखोंको देनेवाला और कोई शत्रु नहीं है। इत्यादि सकल कार्योंको हे गौतम, तुम सम्यग्दर्शनका मूलकारण जानो ॥१०॥ यह सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रका बीज है, मोक्षका प्रथम सोपान (सीढ़ी) है और व्रतादिका परम अधिष्ठान है, ऐसा तू जान ॥११॥ हे गौतम, सम्यग्दर्शनके विना जीवोंका ज्ञान तो अज्ञान है, चारित्र कुचारित्र है और समस्त तप निष्फल है ॥१२॥ ऐसा जानकर निःशंकादि गुणोंके द्वारा शंका और मूढ़तादि मलोंको दूर कर सम्यक्त्वको चन्द्रमाके समान निर्मल और दृढ़ करना चाहिए ॥१३॥

तत्त्वार्थानां परिज्ञानं याथातथ्येन यत्सताम् । विपरीतातिगं तज्ज्ञानं व्यवहारसंज्ञकम् ॥१४॥
ज्ञानेन ज्ञायते विश्वं धर्मं पापं हिताहितम् । बन्धो मोक्षः परीक्षा च देवधर्मादियोगिनाम् ॥१५॥
ज्ञानहीनो न जानाति हेयादेयं गुणागुणम् । कृत्याकृत्यं विवेकं च तत्त्वानामन्धवत् क्वचित् ॥१६॥
मत्वेति प्रत्यहं यत्नात्स्वर्मुक्तिसुखकाङ्क्षिणः । जिनागमश्रुताभ्यासं कुरुध्वं शिवसिद्धये ॥१७॥
हिंसादिपञ्चपापानां सामस्त्येन च सर्वदा । त्यजनं यत्त्रिगुप्त्यापञ्चधा समितिपालनैः ॥१८॥
चारित्रं व्यवहाराख्यं भुक्तिमुक्तिनिबन्धनम् । तज्ज्ञेयं शर्मदं सारं कर्मागमनिरोधकम् ॥१९॥
चारित्रेण विना जातु तपोऽङ्गक्लेशकोटिभिः । कर्मणां संवरः कर्तुं शक्यते न जिनैरपि ॥२०॥
संवरेण विना मुक्तिः कुतो मुक्तेर्विना सुखम् । कथं च जायते पुंसां शाश्वतं परमं यतः ॥२१॥
वृत्तहीनो जिनेन्द्रोऽपि दृष्टित्रिज्ञानभूषितः । सुरार्च्यो जातु पश्येन्नाहो मुक्तिस्त्रीमुखाम्बुजम् ॥२२॥
चिरप्रव्रजितो ज्येष्ठो मुनिश्चानेकशास्त्रवित् । राजते न विना वृत्ताद्दन्तहीनो गजो यथा ॥२३॥
विज्ञायेति बुधैर्धार्यं चारित्रं शशिनिर्मलम् । न च स्वप्नेऽपि मोक्तव्यं ह्युपसर्गपरीषहैः ॥२४॥
इदं रत्नत्रयं साक्षात्तीर्थकृत्त्वादिसद्विधेः । कारणं निश्चयाख्यस्य रत्नत्रयस्य साधकम् ॥२५॥
सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तमहासुखकरं सताम् । निरौपम्यं जगत्पूज्यं भव्यानां परमं हितम् ॥२६॥
अनन्तगुणवाराशेः स्वात्मनोऽभ्यन्तरेऽत्र यत् । श्रद्धानं निश्चयाख्यं तत्सम्यक्त्वं कल्पनातिगम् ॥२७॥

तत्त्वार्थोंका जो सन्त पुरुषोंके विपरीतपनेसे रहित यथार्थरूपसे ज्ञान होता है, वह व्यवहार सम्यग्ज्ञान है ॥१४॥ ज्ञानके द्वारा ही सर्व धर्म-अधर्म, हित-अहित, बन्ध-मोक्ष ज्ञात होते हैं, एवं देव, गुरु और धर्मादिकी परीक्षा जानी जाती है ॥१५॥ ज्ञान-हीन व्यक्ति हेय-उपादेय, गुण-अवगुण, कर्तव्य-अकर्तव्य और तत्त्वोंके विवेकको अन्धेके समान कभी नहीं जानता है ॥१६॥ ऐसा जानकर स्वर्ग और मुक्तिके सुखोंके अभिलाषी तुम सब लोग मोक्षकी सिद्धिके लिए जिनागमश्रुतका अभ्यास करो ॥१७॥

हिंसादि पाँचों पापोंका समस्त रूपसे, अर्थात् कृत कारित और अनुमोदनासे, सर्वदाके लिए त्रियोगकी शुद्धि पूर्वक तीन गुप्ति और पंच समितिके परिपालनके साथ त्याग करना व्यवहारचारित्र है, यह भुक्ति (सांसारिक भोगसुख) और मुक्तिका कारण है, इसे ही कर्मोंके आस्रवका रोकनेवाला और सारभूत सुखका देनेवाला जानना चाहिए ॥१८-१९॥ औरोंकी तो बात ही क्या है, तीर्थंकर भी चारित्रके बिना शरीरको कष्ट देनेवाले कोटि-कोटि तपोंके द्वारा कर्मोंका संवर नहीं कर सकते हैं ॥२०॥ संवरके बिना मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है और कर्मोंसे मुक्त हुए बिना जीवोंको शाश्वत स्थायी परम सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता ॥२१॥

सम्यग्दर्शन और तीन ज्ञानसे विभूषित एवं देवेन्द्रोंसे पूजित भी चारित्र-हीन तीर्थंकर देव अहो मुक्तिस्त्रीके मुख-कमलको नहीं देख सकते हैं ॥ २२ ॥ चिरकालका दीक्षित, अनेक शास्त्रोंका वेत्ता भी ज्येष्ठ मुनि चारित्रके बिना दन्त-हीन हाथीके समान शोभाको नहीं पाता है ॥ २३ ॥ ऐसा जानकर ज्ञानियोंको चन्द्रके समान निर्मल (निर्दोष) चारित्र धारण करना चाहिए और उपसर्ग-परीषहोंके आने पर स्वप्नमें भी उसे नहीं छोड़ना चाहिए ॥२४॥ यह व्यवहार रत्नत्रय तीर्थंकर आदि शुभपद देनेवाले [illegible] साक्षात् कारण है और निश्चय रत्नत्रयका साधक है ॥२५॥ यह व्यवहाररत्नत्रय सर्वार्थ-सिद्धि तकके महासुख सन्त जनोंको प्रदान करता है, उपमा-रहित है, जगत्पूज्य है और भव्योंका परम हितकारी है ॥२६॥

अनन्त गुणोंके सागर ऐसे अपने आत्माका जो भीतर श्रद्धान किया जाता है, वह निर्विकल्प निश्चय सम्यक्त्व है ॥२७॥ स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा अपने ही स्वरूपका जो

स्वसंवेदनबोधेन स्वस्यैव परमात्मनः । अन्तरे यत्परिज्ञानं तज्ज्ञानं निश्चयाह्वयम् ॥२८॥
त्यक्त्वाऽन्तर्बाह्यसंकल्पान् स्वरूपे यन्निजात्मनः । चरणं ज्ञानिनां तत्स्याच्चारित्रं निश्चयाभिधम् ॥२९॥
एतद्रत्नत्रयं सर्वबाह्यचिन्तातिगं परम् । निर्विकल्पं भवेत्साक्षात्तद्भवे मुक्तिदं सताम् ॥३०॥
द्वेधायं मुक्तिमार्गोऽत्र मुक्तिस्त्रीजनको महान् । भव्यैः सेव्योऽनिशं छित्वा मोहपाशं मुमुक्षुभिः ॥३१॥
निर्वाणं ये गता भव्या यान्ति यास्यन्ति भूतले । प्रतिपाल्यं द्विधेदं ते केवलं जातु नान्यथा ॥३२॥
मुक्तेर्नित्यं फलं ज्ञेयमन्तातीतं सुखं महत् । सम्यक्त्वादिगुणैः सार्धमष्टभिः परमैः परम् ॥३३॥
संसारजलधौ पाताद्य उद्धृत्य स्वयं यतः । सेव्यमानो विधत्तेऽहो राज्ये लोकत्रयाग्रिमे ॥३४॥
स धर्मोहि द्विधा प्रोक्तः स्वर्गमुक्तिसुखप्रदः । सुगमा श्रावकाणां स दुःकरो योगिनां परः ॥३५॥
सप्तव्यसनसंत्यक्ता ह्यष्टमूलगुणान्विताः । दृग्विशुद्धिश्च या साद्या प्रतिमा दर्शनाभिधा ॥३६॥
पञ्चैवाणुव्रतान्यत्र त्रिधा गुणव्रतानि च । शिक्षाव्रतानि चत्वारि द्वादशेति व्रतानि वै ॥३७॥
मनोवचनकायैश्च त्रसाङ्गिनां कृतादिभिः । रक्षणं क्रियते यत्नाद्यत्तदाद्यमणुव्रतम् ॥३८॥
एतत्सर्वव्रतानां च मूलं विश्वाङ्गिरक्षकम् । गुणानामाकरीभूतं धर्मबीजं जिनैः स्मृतम् ॥३९॥
वचः सत्यं हितं सारं ब्रूयते यद्वृषाकरम् । असत्यं निन्दितं त्यक्त्वा तद्द्वितीयमणुव्रतम् ॥४०॥
सत्येन वचसा कीर्तिः प्रादुर्भवति भारती । कलाविवेकचातुर्यगुणैः सार्धं च धीमताम् ॥४१॥
परस्वं पतितं स्थूलं नष्टं वा स्थापितं क्वचित् । ग्रामादौ गृह्यते यन्न तृतीयं तदणुव्रतम् ॥४२॥

अपने भीतर परिज्ञान है, वह निश्चय सम्यग्ज्ञान है ॥२८॥ अन्तरंग और बहिरंग सभी प्रकारके संकल्पोंको त्याग कर जो अपनी आत्माके स्वरूपमें विचरण करना, वह ज्ञानियोंका निश्चय सम्यक् चारित्र है ॥२९॥ यह निश्चय रत्नत्रय सर्व बाह्य चिन्ताओंसे रहित और निर्विकल्प है तथा उसी भवमें सज्जनोंको साक्षात् मोक्षका देनेवाला है ॥३०॥ निश्चय और व्यवहाररूप यह दोनों प्रकारका मोक्षमार्ग मुक्तिस्त्रीका जनक है, महान् है। अतः मोक्षके इच्छुक भव्योंको मोक्षकी आशा छोड़कर निरन्तर उसे सेवन करना चाहिए ॥३१॥ इस भूतलपर भूतकालमें जो भव्य जीव मोक्ष गये हैं, वर्तमानमें जा रहे हैं, और आगे जायेंगे, इस द्विविध रत्नत्रयको प्रतिपालन करके ही जायेंगे, अन्य प्रकारसे कभी कोई मोक्ष नहीं जा सकता ॥३२॥ मुक्तिका नित्य फल अनन्त महान् सुख है। वह परम सुख सम्यक्त्व आदि आठ परम गुणोंके साथ प्राप्त होता है ॥३३॥

जो संसार-समुद्रसे उद्धार कर सेवन करनेवाले पुरुषको तीन लोकके अग्रिम मुक्ति-राज्यमें स्वयं स्थापित करे, वह स्वर्ग और मुक्तिके सुखोंको देनेवाला धर्म दो प्रकारका कहा गया है—पहला श्रावकोंका धर्म जो पालन करनेमें सुगम है और दूसरा मुनियोंका धर्म जो पालन करनेमें कठिन है ॥३४-३५॥ इनमें श्रावक धर्म ग्यारह प्रतिमारूप है। जो सातों व्यसनोंके त्यागी हैं, आठ मूलगुणोंसे युक्त हैं और निर्मल सम्यग्दर्शनके धारक हैं, वे जीव दर्शन नामकी प्रतिमाके धारी हैं ॥३६॥ जो इस लोकमें पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह व्रतोंको धारण करते हैं वे श्रावक दूसरी व्रतप्रतिमाके धारी हैं ॥३७॥ मन वचन कायसे और कृत कारित आदिसे त्रस प्राणियोंका रक्षण यत्नसे किया जाता है, वह प्रथम अहिंसाणुव्रत है ॥३८॥ यह अहिंसाणुव्रत सर्व व्रतोंका मूल है, विश्वके प्राणियोंका रक्षक है, गुणोंका निधान है और धर्मका बीज है, ऐसा जिनेन्द्रोंने कहा है ॥३९॥ जो निन्दित असत्य वचनको छोड़कर धर्मके निधानस्वरूप हितकारी सारभूत सत्य वचन बोले जाते हैं वह दूसरा सत्याणुव्रत है ॥४०॥ सत्य वचनसे कला विवेक और चातुर्य आदि गुणोंके साथ बुद्धिमानोंके कीर्ति और सरस्वती प्रकट होती है ॥४१॥ जो ग्रामादिकमें पतित, नष्ट या कहीं पर स्थापित परधनको ग्रहण नहीं करता वह तीसरा अचौर्याणुव्रत है ॥४२॥

वधवन्धादयः पापात्परद्रव्यापहारिणाम् । जायन्तेऽत्रैव चामुत्र श्वभ्रदुःखान्यनेकशः ॥४३॥
सर्पिणीरिव सर्वान्यस्त्रियस्त्यक्त्वा विधीयते । संतोषो यः स्वरामायां तद्ब्रह्माणुव्रतं मतम् ॥४४॥
क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं दासीदासाश्चतुष्पदाः । आसनं शयनं वस्त्रं भाण्ड्यं सङ्गा इमे दश ॥४५॥
एषां परिग्रहाणां च संख्या या क्रियते बुधैः । लोभाशाघविनाशाय पञ्चमं तदणुव्रतम् ॥४६॥
परिग्रहप्रमाणेन चाशालोभादयः सताम् । विलीयन्तेऽत्र जायन्ते संतोषधर्मभूतयः ॥४७॥
योजनग्रामसीमाद्यैर्मर्यादा या विधीयते । गमनादौ दशाशानां प्रथमं तद्गुणव्रतम् ॥४८॥
विना प्रयोजनं यच्च पापारम्भाद्यनेकधा । त्यज्यतेऽनर्थदण्डादिविरतिव्रतमेव तत् ॥४९॥
पापोपदेशहिंसादानापध्यानानि दुःश्रुतिः । निन्द्या प्रमादचर्येते तद्भेदाः पञ्च पापदाः ॥५०॥
भोगानामुपभोगानां प्रमाणं क्रियतेऽत्र यत् । पञ्चाक्षारिजयायैव तत्तृतीयं गुणव्रतम् ॥५१॥
श्रृङ्गवेरादयः कन्दा अनन्तजीवकायिकाः । कीटाढ्यफलमूलाद्याः कुसुमात्थानकादयः ॥५२॥
अभक्ष्याः सर्वथा त्याज्या विषविष्टा इवाखिलाः । व्रताय पापहान्यै च व्रतिभिः पापभीरुभिः ॥५३॥
गृहपाटकवीथ्याद्यैर्गमनादेर्दिनं प्रति । गृह्यते नियमं यत्तद्व्रतं देशावकाशिकम् ॥५४॥
हत्वा दुर्ध्यान-दुर्लेश्याः सामायिकं प्रपाल्यते । काले काले त्रिवारं यत्तच्च सामायिकव्रतम् ॥५५॥
अष्टम्यां यश्चतुर्दश्यां त्यक्त्वारम्भान् विधीयते । नियमेनोपवासस्तृतीयं शिक्षाव्रतं च तत् ॥५६॥
मुनिभ्यो दीयते दानं विधिना यच्चतुर्विधम् । निष्पापं प्रत्यहं भक्त्या शिक्षाव्रतं तदन्तिमम् ॥५७॥

परधनके अपहरण करनेवालोंको इस लोकमें ही चोरीके पापसे वध-बन्धनादि दण्ड प्राप्त होते हैं और परलोकमें अनेक वार नरकके दुःख प्राप्त होते हैं ॥४३॥ सर्पिणियोंके समान समझकर जो अन्य सर्व स्त्रियोंका त्याग कर अपनी स्त्रीमें सन्तोष धारण किया जाता है वह चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत माना गया है ॥४४॥ क्षेत्र, वास्तु, धन-धान्य, दासी-दास, चतुष्पद, पशु, आसन, शयन, वस्त्र और भांड ये दश प्रकारके परिग्रह होते हैं। ज्ञानी जनोंके द्वारा लोभ और आशारूप पापके विनाशके लिए जो इन दशों प्रकारके परिग्रहोंकी संख्या स्वीकार की जाती है वह पाँचवाँ परिग्रहपरिमाणाणुव्रत है॥४५-४६॥ परिग्रहके परिमाणसे सज्जनोंकी आशाएँ और लोभादिक विलीन हो जाते हैं, तथा इसी लोकमें सन्तोष धर्मके प्रभावसे अनेक विभूतियाँ प्राप्त होती हैं ॥४७॥ योजन और ग्रामसीमा आदिके द्वारा दशों दिशामें गमनादिकी जो मर्यादा की जाती है वह दिग्व्रत नामका पहला गुणव्रत है ॥४८॥ विना प्रयोजनके जो अनेक प्रकारके पापारम्भोंका त्याग किया जाता है, वह अनर्थदण्डविरति नामका दूसरा गुणव्रत है ॥४९॥ उस पापकारी अनर्थदण्डके पाँच भेद हैं—पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और निन्दनीय प्रमादचर्या ॥५०॥ पाँच इन्द्रियरूप शत्रुओंके जीतनेके लिए भोग-उपभोगकी वस्तुओंका प्रमाण किया जाता है, वह भोगोपभोगपरिमाण नामका तीसरा गुणव्रत है ॥५१॥ अनन्त जीवकायिक अदरक आदि कन्द, मूली आदि मूल, कीड़ोंसे युक्त फलादिक, कुसुम (फूल), अथाना (अचार-मुरब्बा) आदिक अभक्ष्य हैं। ये सब पाप-भीरु व्रती जनोंके द्वारा पापकी हानि और व्रतकी वृद्धिके लिए विष और विष्टाके समान छोड़नेके योग्य हैं ॥५२-५३॥ दिग्व्रतकी सीमाके अन्तर्गत प्रतिदिन गमनागमनादिकी घर, बाजार, गली, मोहल्ला आदिकी सीमा द्वारा नियम ग्रहण किया है वह देशावकाशिक नामका पहला शिक्षाव्रत है ॥५४॥ दुर्ध्यान और दुर्लेश्याको छोड़कर प्रतिदिन प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल तीन बार सामायिक पालन किया जाता है, वह सामायिक नामका दूसरा शिक्षाव्रत है ॥५५॥ प्रत्येक मासकी अष्टमी और चतुर्दशीके दिन सर्व गृहारम्भोंको छोड़कर नियमसे जो उपवास किया जाता है, वह प्रोषधोपवास नामका तीसरा शिक्षाव्रत है ॥५६॥ मुनियोंके लिए प्रतिदिन विधिपूर्वक भक्तिसे जो निर्दोष दान दिया जाता है, वह अतिथिसंविभाग नामका चौथा शिक्षाव्रत है ॥५७॥

त्रिशुद्धया द्वादशेमानि व्रतानि पालयन्ति ये । अतीचारादृते तेषां द्वितीया प्रतिमा वरा ॥५८॥
त्यक्त्वाहारकषायादीन् गृहीत्वा मुनिसंयमम् । अन्ते सल्लेखना कार्या व्रतिभिः सत्पदाप्तये ॥५९॥
सामायिकाभिधा ज्ञेया तृतीया प्रतिमा शुभा । चतुर्थी प्रतिमा प्रोषधोपवासाह्वया परा ॥६०॥
फलाम्बुबीजपत्रादि सचित्तं यत्सचेतनम् । दयायै त्यज्यते सर्वं पञ्चमी प्रतिमात्र सा ॥६१॥
रात्रौ चतुर्विधाहारं यन्निराक्रियते सदा । दिवसे मैथुनं मुक्त्यै सा षष्ठी प्रतिमा वरा ॥६२॥
पालयन्ति त्रिशुद्धया येऽत्रेमाः षट् प्रतिमा बुधाः । ते जघन्या मता सद्भिः श्रावकाः स्वर्गगामिनः ॥६३॥
चर्यते ब्रह्मचर्यं यन्मनोवाक्कायकर्मभिः । मत्वाम्बावत् स्त्रियः सर्वा ब्रह्मचर्याभिधा हि सा ॥६४॥
वाणिज्याद्यखिलो निन्द्यो गृहारम्भोऽशुभार्णवः । त्यज्यते पापभीतैर्यः साष्टमी प्रतिमोर्जिता ॥६५॥
वस्त्रं विना समस्तानां सङ्गानां पापकारिणाम् । त्रिशुद्धया त्यजनं यत्सा नवमी प्रतिमा सताम् ॥६६॥
नवेमाः प्रतिमा येऽत्र भजन्ति रागदूरगाः । मध्यमाः श्रावकाः प्रोक्तास्ते जिनैः पूजिता सुरैः ॥६७॥
गृहारम्भे विवाहादौ स्वाहारे वा धनार्जने । निवृत्तिर्यानुमत्यादेर्दशमी प्रतिमात्र सा ॥६८॥
त्यक्त्वाखाद्यमिवाशेषं सदोषान्नं कृतादिजम् । भिक्षया भुज्यतेऽन्नं तत्प्रतिमा सा परान्तिमी ॥६९॥
सर्वयत्नेन सर्वा ये दधते प्रतिमा इमाः । उत्कृष्टश्रावका विरागिणस्ते जगदर्चिताः ॥७०॥
इमं श्रावकधर्मं ये सेवन्ते व्रतिनोऽनिशम् । षोडशस्वर्गपर्यन्ते ते लभन्ते सुखोल्बणम् ॥७१॥

जो पुरुष त्रियोगकी शुद्धि द्वारा अतिचारोंसे रहित इन बारह व्रतोंको पालते हैं, उनके यह श्रेष्ठ दूसरी व्रतप्रतिमा होती है ॥५८॥ इस प्रतिमाधारी व्रती श्रावकोंको उत्तम पदोंकी प्राप्तिके लिए जीवनके अन्तमें आहार और कषायादिका त्याग और मुनियोंके सकल संयमको धारण करना चाहिए ॥५९॥

सामायिक नामकी तीसरी और प्रोषधोपवास नामकी चौथी शुभप्रतिमा है। (दूसरी प्रतिमामें बताये गये सामायिक और प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतको निरतिचार नियमपूर्वक पालन करने पर ही उन्हें प्रतिमा संज्ञा प्राप्त होती है) ॥६०॥ जीव-दयाके लिए जो सचेतन सर्व फल, जल, बीज और सचित्त पत्र-पुष्पादिका त्याग किया जाता है, वह पाँचवीं सचित्त-त्याग प्रतिमा है ॥६१॥ मुक्तिकी प्राप्तिके लिए जो रात्रिमें सदा चारों प्रकारके आहारका और दिनमें मैथुन-सेवनका त्याग किया जाता है, वह श्रेष्ठ रात्रिभुक्तित्याग अथवा दिवा मैथुन त्याग नामवाली छठी प्रतिमा है ॥६२॥ जो ज्ञानीजन इस जीवनमें त्रियोगकी शुद्धिसे इन छह प्रतिमाओंका पालन करते हैं, सन्तोंके द्वारा वे ग्यारह प्रतिमाधारियोंमें जघन्य श्रावक माने गये हैं। ये सब स्वर्गगामी होते हैं ॥६३॥ मन वचन कायसे सर्व स्त्रियोंको माताके समान मानकर जो ब्रह्मचर्यका पालन किया जाता है, वह सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा है ॥६४॥ वाणिज्य, कृषि आदि सभी गृहारम्भ निन्द्य और पापके समुद्र हैं। पाप-भीरु जनोंके द्वारा उनका जो त्याग किया जाता है, वह आरम्भ त्याग नामकी आठवीं श्रेष्ठ प्रतिमा है ॥६५॥ एक मात्र वस्त्रके बिना पापकारी समस्त परिग्रहोंका जो त्रियोगशुद्धिसे त्याग किया जाता है, वह सज्जनोंकी परिग्रहत्याग नामवाली नवमी प्रतिमा है ॥६६॥ जो रागभावसे दूर रहकर इन नौ प्रतिमाओंका पालन करते हैं, उन्हें जिनराजोंने मध्यम श्रावक कहा है। वे देवोंसे पूजे जाते हैं ॥६७॥ घरके आरम्भमें, विवाहादिमें, अपने आहार-पानादिमें और धनके उपार्जनमें अनुमति देनेका त्याग किया जाता है, वह अनुमतित्याग नामकी दसवीं प्रतिमा है ॥६८॥ जो कृत-कारितादि दोष-जनित सदोष सर्व अन्नको अभक्ष्यके समान त्याग कर भिक्षासे भोजन करते हैं, वह अन्तिम (ग्यारहवीं) उत्कृष्ट उद्दिष्टत्याग प्रतिमा है ॥६९॥ जो सर्व प्रयत्नके साथ इन सर्व प्रतिमाओंको धारण करते हैं, वे जगत्पूजित विरागी सन्त उत्कृष्ट श्रावक हैं ॥७०॥ जो व्रती पुरुष निरन्तर इस श्रावकधर्मका पालन करते हैं, वे यथायोग्य

सम्यग्दर्शनसंशुद्धाः धर्मेणानेन भूतले । भुक्त्वा त्रिलोकजं सौख्यं क्रमान्मोक्षं प्रयान्त्यहो ॥७२॥
इति गार्हस्थ्यधर्मेण मुदमुत्पाद्य रागिणाम् । ततः प्रीत्यै यतीनां स आह तद्धर्ममञ्जसा ॥७३॥
अहिंसादीनि साराणि महाव्रतानि पञ्च वै । शुभाः समितयः पञ्च हीर्याभाषैषणादिकाः ॥७४॥
पञ्चेन्द्रियनिरोधाश्च लोचोऽथावश्यकानि षट् । अचेलत्वं सुरैः पूज्यमस्नानं शयनं क्षितौ ॥७५॥
अदन्तधावनं रागदूरं च स्थितिभोजनम् । एकभक्तमिमे मूलगुणा धर्मस्य योगिनाम् ॥७६॥
मूलभूताः सदादेया अष्टाविंशतिसंख्यकाः । प्राणान्तेऽपि न मोक्तव्यास्त्रिजगच्छ्रीसुखप्रदाः ॥७७॥
परीषहजयातापनादियोगा अनेकशः । बहूपवासमौनाद्याः स्युरुत्तरगुणाः सताम् ॥७८॥
आदौ मूलगुणान् सम्यक् प्रतिपाल्यानतिक्रमात् । पालयन्तु ततो योगिनोऽत्रोत्तरगुणव्रजान् ॥७९॥
उत्तमाद्या क्षमा मार्दवार्जवौ सत्यमुत्तमम् । शौचं च संयमो द्वेधा तपस्त्यागः परस्ततः ॥८०॥
आकिंचन्यं महद्ब्रह्मचर्यं धर्मस्य योगिनाम् । लक्षणानि दशेमानि सर्वधर्माकराणि च ॥८१॥
मूलोत्तरगुणैः सर्वैः क्षमादिदशलक्षणैः । जायते परमो धर्मो मोक्षदस्तद्भवे सताम् ॥८२॥
धर्मेणानेन योगीन्द्रा यान्ति मोक्षं निरन्तरम् । भुक्त्वा सर्वार्थसिद्ध्यन्तं सौख्यं तीर्थकरादिजम् ॥८३॥
न धर्मसदृशः कश्चिद्बन्धुः स्वामी हितंकरः । पापहन्ता च सर्वत्र सर्वाभ्युदयसाधकः ॥८४॥
अथेह भारतस्यार्यखण्डे कालौ प्रकीर्तितौ । उत्सर्पिण्यवसर्पिण्याख्यौ द्वौ चैरावते तथा ॥८५॥
कोटीकोटिदशाब्धिप्रमाणाद्योत्सर्पिणी बुधैः । उत्सर्पात्कथ्यते रूपबलायुर्देहशर्मणाम् ॥८६॥

सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होकर उत्तम सुखोंको प्राप्त करते हैं ॥७१॥ इस भूतलपर सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव इस श्रावकधर्मके द्वारा तीन लोकमें उत्पन्न सुखोंको भोग कर क्रमसे मोक्षको जाते हैं ॥७२॥ इस प्रकार गृहस्थधर्मके वर्णन-द्वारा सरागी श्रावकोंको हर्ष उत्पन्न करके तत्पश्चात् उन वीर प्रभुने साधुओंकी प्रीतिके लिए उनका मुनिधर्म निश्चय रूपसे कहा ॥७३॥

अहिंसादि सारभूत पंच महाव्रत, ईर्या भाषा एषणा आदि पाँच शुभ समितियाँ, पाँचों इन्द्रिय-विषयोंका निरोध, केशलुंच, समता-वन्दनादि छह आवश्यक देवोंके द्वारा पूज्य अचेलकपना (नग्नता), स्नान-त्याग, भूमि-शयन, अदन्तधावन, रागसे दूर रहते हुए खड़े-खड़े भोजन करना और एक बार ही खाना, ये योगियोंके धर्मके अट्ठाईस मूलगुण हैं। ये निश्चयधर्मके मूल स्वरूप हैं। इनको सदा धारण करना चाहिए। ये लोकमें लक्ष्मी और सुख देनेवाले गुण प्राणोंका अन्त होने पर भी नहीं छोड़ना चाहिए ॥७४–७७॥ बाईस प्रकारकी परीषहोंका जीतना, आतापन आदि अनेक योगोंका धारण करना, अनेक प्रकारके उपवास करना, मौन-धारण करना इत्यादि मुनियोंके उत्तर गुण हैं ॥७८॥ आदिमें मुनिजन सम्यक् प्रकारसे क्रमका उल्लंघन नहीं करके इन अट्ठाईस मूलगुणोंका पालन कर तत्पश्चात् उत्तरगुण समूहका पालन करें ॥७९॥ उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव, उत्तम सत्य शौच, दो प्रकारका संयम, दो प्रकारका तप, उत्तम त्याग, आकिंचन्य और महान् ब्रह्मचर्य ये मुनियोंके धर्मके दश लक्षण हैं, और सर्वधर्मके निधान हैं ॥८०-८१॥ सर्व मूल और उत्तर गुणोंसे और क्षमादि दश लक्षणोंसे सन्तोंको उसी भवमें मोक्ष देनेवाला परमधर्म होता है ॥८२॥ इस मुनिधर्मसे योगीन्द्रजन सर्वार्थसिद्धि तकके तथा तीर्थंकरादि पद-जनित सुखोंको भोग कर सदा मोक्षको जाते रहते हैं ॥८३॥ इस लोकमें सर्वत्र धर्मके सदृश न कोई बन्धु है, न स्वामी है, न हितकारक है, न पाप-विनाशक है और न सर्व अभ्युदय—सुखोंका साधक है ॥८४॥

इस प्रकार वीर जिनेन्द्रने श्रावक-मुनिधर्मका उपदेश देकर कालका स्वरूप इस प्रकार-से कहना प्रारम्भ किया—इस मनुष्य लोकमें भरतक्षेत्र-स्थित आर्य खण्डमें प्रवर्तमान उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामके दो काल कहे गये हैं। इसी प्रकार ऐरावत क्षेत्रमें भी दोनों काल प्रवर्तते हैं। इनमें उत्सर्पिणी काल दश कोड़ाकोड़ी सागर-प्रमाण होता है। [illegible]

अवसर्पात्समास्या अवसर्पिणी तयान्यथा । पृथक्-पृथक्तयोर्विद्धिः षट् काला हि प्रकीर्तिताः ॥८७॥
प्रथमोऽत्रावसर्पिण्या द्विरुक्तसुषमाभिधः । कालो भवेच्चतुःकोटीकोटिसागरमानकः ॥८८॥
तस्यादौ भवन्त्यार्याः पल्यत्रितयजीविनः । क्रोशत्रयसमुत्तुङ्गा उदयादित्यभानिभाः ॥८९॥
दिनत्रयगते तेषां बदरीफलमात्रकः । दिव्याहारोऽस्ति सर्वेषां नीहारवर्जितात्मनाम् ॥९०॥
मद्यतूर्यविभूषास्रग्ज्योतिर्दीपगृहाङ्गकाः । भोजनाङ्गाश्च वस्त्राङ्गा भाजनाङ्गा दशेत्यहो ॥९१॥
कल्पवृक्षाः सपुण्यानां ददते भोगसंपदः । संकल्पिता महाभूत्योत्तमपात्रसुदानतः ॥९२॥
आर्या आर्यस्वभावेन भुक्त्वा भोगान्निरन्तरम् । सहजन्मोत्थनार्यामा सर्वे यान्ति दिवालयम् ॥९३॥
उत्कृष्टा भोगभूरेषा विज्ञेयाखिलशर्मदा । तत्रैषां रौद्रपञ्चाक्षविकलत्रयवर्जिता ॥९४॥
ततो द्वितीयकालो मध्यमभोगधरान्वितः । त्रिकोटीकोटिवाराशिसमानः सुषमाह्वयः ॥९५॥
तदादौ मानवाः सन्ति द्विपल्योपमजीविनः । गव्यूतिद्वयतुङ्गाङ्गाः पूर्णेन्दुसमकान्तयः ॥९६॥
दिनद्वयान्तरे दिव्यमाहारं तृप्तिकारणम् । भुञ्जन्त्यक्षफलेनात्र तुल्यं ते भोगभागिनः ॥९७॥
पश्चात्तृतीयकालः सुषमादिदुषमाभिधः । जघन्यभोगभूभाग् द्विकोटीकोव्यब्धिमानकः ॥९८॥
तस्यादौ स्युर्नरा एकपल्याखण्डायुषः शुभाः । क्रोशैकतुङ्गसद्देहाः प्रियङ्गुकान्तिसंनिभाः ॥९९॥
एकान्तरेण तेषां स्यादाहारस्तृप्तिकारकः । तुल्य आमलकेनात्र कल्पद्रुभोगभागिनाम् ॥१००॥ ✓

रूप बल आयु शरीर और सुखके उत्सर्पण (वृद्धि) होनेसे ज्ञानियोंने इसे उत्सर्पिणी काल कहा है ॥८५-८६॥ जिस कालमें जीवोंके रूप बल आयु शरीर और सुखादिका अवसर्पण (क्रमशः ह्रास) होता है, उसे अवसर्पिणीकाल कहा जाता है। यह उत्सर्पिणीसे विपरीत होती है। इन दोनोंके पृथक्-पृथक् छह काल-विभाग कहे गये हैं ॥८७॥ उनमेंसे अवसर्पिणीका पहला काल सुषम-सुषमा नामवाला है, इसका समय चार कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है ॥८८॥ इस कालके आदिमें उत्पन्न होनेवाले आर्य पुरुष तीन पल्यकी आयुवाले, तीन कोशके ऊँचे और उदय होते हुए सूर्यके समान आभावाले होते हैं ॥८८-८९॥ तीन दिनके बीतने पर बदरी फल (बेर) के प्रमाणवाला उनका दिव्य आहार होता है और ये सब नीहार (मल-मूत्रादि) से रहित होते हैं ॥९०॥ उस कालमें यहाँपर मद्यांग, तूर्यांग, विभूषांग, मालांग, ज्योतिरंग, दीपांग, गृहांग, भोजनांग, वस्त्रांग और भाजनांग ये दश जातिके कल्पवृक्ष होते हैं। वे महाविभूतिके साथ दिये गये उत्तम पात्रदानके फलसे पुण्यशाली उन आर्य जनोंको संकल्पित भोग-सम्पदाएँ देते हैं ॥९१-९२॥ वे आर्य अपने आर्य (उत्तम) स्वभावसे जन्मके साथ ही उत्पन्न हुई स्त्रीके साथ निरन्तर भोगोंको भोगकर मरणको प्राप्त हो वे सभी देवलोकको जाते हैं ॥९३॥

यह उत्कृष्ट भोगभूमि समस्त सुखोंको देनेवाली जाननी चाहिए। वहाँपर क्रूर स्वभावी पंचेन्द्रिय और विकलत्रय तिर्यंच नहीं होते हैं ॥९४॥ तत्पश्चात् मध्यम भोगभूमिसे युक्त दूसरा सुषमा नामका काल प्रवृत्त होता है। उसका प्रमाण तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम है ॥९५॥ उसके आदिमें मनुष्य दो पल्योपमकाल तक जीवित रहनेवाले, दो कोशकी ऊँचाईवाले शरीरके धारक और पूर्ण चन्द्रके समान कान्तिमान् होते हैं ॥९६॥ वे भोगभूमियाँ दो दिनके पश्चात् अक्षफल (बहेड़ा) प्रमाणवाले, तृप्तिकारक दिव्य आहारको करते हैं ॥९७॥ तत्पश्चात् सुषमदुषमा नामवाला, दो कोड़ाकोड़ी सागरके प्रमाणवाला जघन्य भोगभूमिसे युक्त तीसरा काल प्रवृत्त होता है ॥९८॥ उसके आदिमें मनुष्य एक पल्यकी अखण्ड आयुके धारक, शुभ, एक कोश ऊँचे उत्तम देहवाले और प्रियंगुके समान कान्तिके धारक होते हैं ॥९९॥ कल्पवृक्षोंके द्वारा दिये गये भोगोंके भोगनेवाले उन मनुष्योंका एक दिनके अन्तरसे आँवलेके तुल्य प्रमाणवाला तृप्तिकारक दिव्य आहार होता है ॥१००॥

ततश्चतुर्थकालोऽस्ति दुःषमादिसुषाह्वयः । कर्मभूमिजधर्माढ्यः शलाकापुरुषान्वितः ॥१०१॥
कोटीकोटयब्धिमानास्य स्थितिरूना मतागमे । सहस्रवत्सराणां द्विचत्वारिंशत्प्रमाणकैः ॥१०२॥
तस्यादौ मनुजाः पूर्वैककोटीवर्षजीविनः । शतपञ्चधनुस्तुङ्गाः पञ्चवर्णप्रभान्विताः ॥१०३॥
दिनं प्रति मनुष्यास्ते भुञ्जन्त्याहारमूर्जितम् । वारैकं तत्र जायन्ते शलाकापुरुषा इमे ॥१०४॥
वृषभोऽजिततीर्थेशः शम्भाख्योऽभिनन्दनः । सुमतिः पञ्चमः पद्मप्रभः सुपार्श्वतीर्थकृत् ॥१०५॥
चन्द्रप्रभजिनः पुष्पदन्तः शीतलसंज्ञकः । श्रेयान् श्रीवासुपूज्याख्यो विमलोऽनन्तनामकः ॥१०६॥
धर्मः शान्तीश्वरः कुन्थुररो मल्लिजिनाधिपः । मुनिसुव्रतनाथः श्रीनमिर्नेमिजिनाग्रणीः ॥१०७॥
पार्श्वः श्रीवर्धमानाख्य इमे तीर्थकरा इह । त्रिजगत्स्वामिभिर्वन्द्याः स्युश्चतुर्विंशतिप्रमाः ॥१०८॥
भरतः सगरश्चक्री मघवा चक्रनायकः । सनत्कुमारचक्रेशः शान्तिकुन्थ्वरचक्रिणः १०९॥
सुभूमाख्यो महापद्मो हरिषेणो जयाभिधः । ब्रह्मदत्तोऽप्यमी ज्ञेयाश्चक्रिणो द्वादशैव हि ॥११०॥
विजयाख्योऽचलो धर्मः सुप्रभो हि सुदर्शनः । नन्दी च नन्दिमित्राख्यो रामः पद्म इमे बलाः ॥१११॥
त्रिपृष्टाख्यो द्विपृष्टोऽथ स्वयंभूः पुरुषोत्तमः । ततः पुरुषसिंहः पुण्डरीको दत्तसंज्ञकः ॥११२॥
लक्ष्मणः कृष्ण एवात्र वासुदेवा नव स्मृताः । त्रिखण्डस्वामिनो धीराः प्रकृत्या रौद्रमानसाः ॥११३॥
अश्वग्रीवोऽर्धचक्री च तारको मेरकाह्वयः । निशुम्भः कैटभारिश्च मधुसूदनसंज्ञकः ॥११४॥
बलिहन्ताभिधो रावणो जरासन्ध एव हि । वासुदेवद्विषोऽत्रैते तत्समानर्धिभागिनः ॥११५॥
त्रिषष्टिपुरुषाणाममीषां नरखगाधिपैः । सुरैर्नुतपदाब्जानां पूज्यानां च परात्मनाम् ॥११६॥
भवान्तराणि सर्वाणि पुराणानि पृथक्-पृथक् । ऋद्धयायुर्बलसौख्यानि भाविनीर्निखिला गतीः ॥११७॥
विस्तरेण जिनाधीशो दिव्येन ध्वनिना स्वयम् । व्याजहार गणाधीशं गणान् प्रति शिवाप्तये ॥११८॥

तत्पश्चात् दुषमसुषमा नामका कर्मभूमिज धर्मसे युक्त तिरेसठ शलाका पुरुषोंको जन्म देनेवाला चौथा काल प्रवृत्त होता है ॥१०१॥ इसकी जिनागममें बयालीस हजार वर्षों-से कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम स्थिति कही गयी है ॥१०२॥ इसके आदिमें मनुष्य एक पूर्व कोटी वर्षजीवी, पाँच सौ धनुष ऊँचे और पाँचों वर्णोंकी प्रभासे युक्त होते हैं ॥१०३॥ वे मनुष्य प्रतिदिन एक बार उत्तम आहार करते हैं। इस कालमें ये शलाका पुरुष उत्पन्न हुए हैं ॥१०४॥ भावार्थ—चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्र ये तिरेसठ शलाका अर्थात् गण्य-मान्य पुरुष हुए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं। श्री ऋषभ, अजित, शम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयान्, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रतनाथ, नमि, नेमि, पार्श्व और वर्धमान ये चौबीस तीर्थंकर इस युगमें हुए हैं। ये सभी तीन लोकके स्वामियों द्वारा वन्दनीय हैं ॥१०५-१०८॥ भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार, शान्ति, कुन्थु, अर, सुभूम, महापद्म, हरिषेण, जय और ब्रह्मदत्त ये बारह चक्रवर्ती जानना चाहिए ॥१०९-११०॥ विजय, अचल, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दी, नन्दिमित्र, पद्म और राम ये नौ बलभद्र हुए हैं ॥१११॥ त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ट, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, लक्ष्मण और कृष्ण ये नौ वासुदेव (नारायण) हुए हैं। ये सभी तीन खण्डके स्वामी, धीरवीर और स्वभावसे ही अतिरौद्र चित्त होते हैं ॥११२-११३॥ अश्वग्रीव, तारक, मेरक, निशुम्भ, कैटभारि, मधुसूदन, बलिहन्ता, रावण और जरासन्ध ये नौ वासुदेवोंके प्रतिपक्षी अर्थात् प्रतिवासुदेव (प्रति-नारायण) हुए हैं। ये सभी वासुदेवके समान ही ऋद्धिके भागी होते हैं ॥११४-११५॥ नरेन्द्र, विद्याधराधिप और देवोंसे नमस्कृत चरण कमलवाले इन पूज्य तिरेसठ शलाका महापुरुषोंके सर्व भवान्तर, चरित, ऋद्धि, आयु, बल, सौख्य और भावी सब गतियोंको भी सर्व जिनेन्द्रने दिव्यध्वनिके द्वारा विस्तारसे स्वयं ही गणाधीश गौतम और सर्व गणोंके शिवप्राप्तिके लिए

अथ दुःषमकालाख्यः पञ्चमो दुःखपूरितः। वत्सराणां सहस्रैकविंशतिप्रम एव हि ॥११९॥
विंशत्यग्रशतायुष्का वर्षाणां मन्दधीयुताः। नराः सप्तकरोत्सेधा रूक्षदेहाः सुखातिगाः ॥१२०॥
दुःखिनोऽसकृदाहाराः प्रत्यहं कुटिलाशयाः। तस्यादौ स्युः क्रमाद्धीनाः स्वाङ्गायुर्धीबलादिभिः ॥१२१॥
दुःषमादुःषमाख्योऽथ षष्ठकालोऽतिदुःखदः। वर्षैः पञ्चमकालस्य समो धर्मादिदूरगः ॥१२२॥
अस्यादौ द्विकरोत्सेधा धूमवर्णाः कुरूपिणः। नग्नाश्च स्वेच्छयाहारा विंशत्यब्दायुषो नराः ॥१२३॥
एकहस्तोच्छ्रितास्ते स्युः कालान्तेऽत्र पशूपमाः। षोडशाब्दाः परायुष्का निन्द्या दुर्गतिगामिनः ॥१२४॥
यथावसर्पिणीकालः क्रमेण हानिसंयुतः। तथात्रोत्सर्पिणीकालो वृद्धियुक्तो जिनैर्मतः ॥१२५॥
अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीसमः। मृदङ्गसदृशश्चान्ते लोकः षड्द्रव्यपूरितः ॥१२६॥
इत्याद्यनेकसंस्थानं श्वभ्रस्वर्गादिगोचरम्। त्रैलोक्यस्यायवादेन न्यवेदयज्जिनाधिपः ॥१२७॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालत्रितयगोचराः। ये केचित्त्रिजगन्मध्ये पदार्थाश्च शुभाशुभाः ॥१२८॥
भूताश्च भाविनो वर्तमानाः कैवल्यदृष्टिगाः। सन्त्यलोकेन सार्धं तान् पदार्थान् सकलान् जिनः ॥१२९॥
द्वादशाङ्गगतार्थेनादिशंच्छ्रीगौतमं प्रति। हिताय विश्वभव्यानां धर्मतीर्थप्रवृत्तये ॥१३०॥
इति श्रीजिनवक्त्रेन्दूद्भवं ज्ञानामृतं महत्। पीत्वा श्रीगौतमो हत्वा मिथ्याहालाहलं द्रुतम् ॥१३१॥
काललब्ध्या मुदासाद्य संवेगं दृष्टिपूर्वकम्। विश्वाङ्गश्रीखभोगादौ स्वहृदीत्थमतर्कयत् ॥१३२॥

कहा ॥११६-११८॥ अथानन्तर दुःखोंसे भरा हुआ दुःषम नामका पंचम काल होगा। उसका काल-प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष है ॥११९॥ उसके प्रारम्भमें मनुष्य एक सौ बीस वर्ष की आयुके धारक और सात हाथके ऊँचे होंगे। इस कालके मनुष्य मन्द बुद्धिसे युक्त रूक्ष देह-वाले और सुखोंसे रहित होंगे ॥१२०॥ वे दुःखी लोग प्रतिदिन अनेक वार आहार करेंगे और कुटिल चित्त होंगे। पुनः उनका शरीर, आयु, बुद्धि और बल आदिक क्रमसे हीन होता जायेगा ॥१२१॥ तत्पश्चात् दुःषमदुःषमा नामका अति दुःखदायी छठा काल आयेगा। उसका काल-प्रमाण पंचम कालके समान इक्कीस हजार वर्ष है। उस समय धर्मादि नहीं रहेगा ॥१२२॥ इस कालके आदिमें मनुष्योंके देह दो हाथ ऊँचे और धूम्रवर्णके होंगे। वे मनुष्य कुरूपी, नग्न, स्वेच्छाहारी और बीस वर्षकी आयुके धारक होंगे ॥१२३॥ इस कालके अन्तमें मनुष्य एक हाथ ऊँचे, पशुके समान आहार-विहार करनेवाले, उत्कृष्ट, सोलह वर्षकी आयुके धारक, निन्दनीय और दुर्गतिगामी होंगे ॥१२४॥ जिस प्रकारसे यह अवसर्पिणी काल क्रमसे आयु, बल, शरीर आदिकी हानिसे संयुक्त है, उसी प्रकारसे उत्सर्पिणीकाल उन सबकी वृद्धिसे संयुक्त जिनराजोंने कहा है ॥१२५॥

तदनन्तर वीरप्रभुने लोकका वर्णन करते हुए कहा—इस लोकका अधोभाग वेत्रासन-के आकारवाला है, मध्यमें झल्लरीके समान है और ऊपर मृदंगके सदृश है। यह सदा जीवादि छह द्रव्योंसे भरपूर है ॥१२६॥ (इस लोकके अधोभागमें नरक हैं, ऊर्ध्वभागमें स्वर्ग हैं और मध्यभागमें असंख्यात द्वीप-समुद्र हैं।) इत्यादि प्रकारसे सत्यार्थवादी जिनराज श्री वर्धमान स्वामीने अनेक संस्थानवाले और स्वर्ग-नरकादि विषयवाले तीन लोकका स्वरूप कहा ॥१२७॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या, इस तीन लोकके मध्यमें त्रिकाल-विषयक और केवलज्ञानगोचर जितने कुछ भी शुभ-अशुभ पदार्थ भूतकालमें हुए हैं, वर्तमानमें विद्य-मान हैं और भविष्यमें होंगे, उन सर्व पदार्थोंको अलोकाकाशके साथ वीर जिनेन्द्रने द्वादशांगगत अर्थके साथ श्री गौतमके प्रति सर्व भव्य जीवोंके हितार्थ और धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिके लिए उपदेश दिया ॥१२८-१३०॥

इस प्रकार श्री वीरजिनके मुख चन्द्रसे उत्पन्न हुए वचनरूप अमृतको पीकर और अपने मिथ्यात्वरूपी हलाहल विषको शीघ्र नाश कर श्री गौतम काललब्धिसे हर्षके साथ सम्यग्दर्शन-

अहो मिथ्यात्वमार्गोऽयं विश्वपापाकरोऽशुभः । चिरं वृथा मया निन्द्यः सेवितो मूढचेतसा ॥१३३॥
स्रग्भ्रान्त्यात्र यथा कश्चित्कृष्णाहिं शर्मणेऽग्रहीत् । तथाहं धर्मबुद्धयेदं मिथ्यापापं महद्दधे ॥१३४॥
धूर्तप्रजल्पितेनानेन मिथ्यावर्त्मना शठाः । नीयन्ते नरकं घोरं संख्यातीतास्तदाश्रिताः ॥१३५॥
उन्मत्ता विकला यद्गूथवीथ्यां पतन्ति भोः । तद्वन्मिथ्यादृशो दृष्टिवैकल्यादुत्पथेऽशुभे ॥१३६॥
चरतां भो यथान्धानां कूपादौ पतनं भवेत् । तथा मिथ्याध्वलग्नानां नरकाद्यन्धकूपके ॥१३७॥
इमं मिथ्यात्वदुर्मार्गं मन्येऽहं विषमं तराम् । खलान् श्वभ्रपथं नेतुं सार्थवाहं शठादृतम् ॥१३८॥
सम्यक्चिद्वृत्तधर्मादिनृपतीनां च शात्रवम् । प्राणिनः खादितुं सर्पमाकरं परमेनसाम् ॥१३९॥
गोशृङ्गाच्च यथा दुग्धं वह्वम्भोमथनाद् घृतम् । यशो दुर्व्यसनात्ख्यातिः कृपणत्वात्कुकर्मणा ॥१४०॥
धनं वा लभ्यते जातु नैव मिथ्यात्वतस्तथा । न शुभं न सुखं नात्र सद्गतिश्च जडात्मभिः ॥१४१॥
मिथ्यात्वाचरणेनाहो केवलं गम्यते स्फुटम् । अगम्यं नरकं घोरं मिथ्यादृग्भिर्वृषातिगैः ॥१४२॥
इति मत्वा बुधैरादौ धर्मस्वर्मुक्तिसिद्धये । मिथ्यात्वारिः प्रहन्तव्यो दृग्विशुद्ध्यसिना द्रुतम् ॥१४३॥
अद्याहमेव धन्योऽहो सफलं जन्म मेऽखिलम् । यतो मयातिपुण्येन प्राप्तो देवो जगद्गुरुः ॥१४४॥
अनर्घ्यस्तत्प्रणीतोऽयं मार्गो धर्मः सुखाकरः । नाशितं दृष्टिमोहान्धतमश्चास्य वचोंऽशुभिः ॥१४५॥
इत्यादि चिन्तनात्प्राप्य परमानन्दमुल्बणम् । धर्मे धर्मफलादौ च स वैराग्यपुरस्सरम् ॥१४६॥

पूर्वक संसार, शरीर, लक्ष्मी और इन्द्रिय-भोगादिमें संवेगको प्राप्त होकर अपने हृदयमें इस प्रकार विचार करने लगे ॥१३१-१३२॥ अहो, यह मिथ्यात्वमार्ग समस्त पापोंका आकर है, अशुभ है और निन्दनीय है। मुझ मूढ़-हृदयने चिरकालसे इसे वृथा सेवन किया है ॥१३३॥ इस लोकमें जैसे कोई अज्ञानी मालाके भ्रमसे सुख-प्राप्तिके लिए काले साँपको ग्रहण करे, उसीके समान मैंने धर्मबुद्धिसे यह महान् मिथ्यात्व पाप हृदयमें धारण किया ॥१३४॥ धूर्त जनोंसे प्ररूपित इस मिथ्यात्वमार्गके द्वारा मिथ्यात्वको प्राप्त हुए असंख्यात मूर्ख प्राणी घोर नरकमें ले जाये जा रहे हैं ॥१३५॥ जैसे मदिरापानसे उन्मत्त विकल पुरुष विष्टासे भरी गलीमें पड़ते हैं, अरे, उसी प्रकार मिथ्यात्वसे विमोहित मिथ्यादृष्टि जीव अशुभ कुमार्गमें पड़ते हैं ॥१३६॥ अहो, जैसे चलते हुए अन्धोंका कूप आदि निम्न स्थानमें पतन होता है उसी प्रकार मिथ्यामार्गगामियोंका नरकादि अन्धकूपमें पतन होता है ॥१३७॥ (भगवान्‌के उपदेशसे प्रबोध पाकर अब) मैं मानता हूँ कि यह मिथ्यात्वरूप कुमार्ग अत्यन्त विषम है और दुर्जनोंको नरकके मार्गपर ले जानेके लिए सार्थवाह के सदृश है। यह शठ पुरुषोंसे समादृत है, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और दश धर्मादि राजाओंका शत्रु है, प्राणियोंको खानेके लिए अजगर साँप है और महापापोंका आकर है ॥१३८-१३९॥ जिस प्रकार गायके सींगसे दूध, बहुत भी जलके मन्थनसे घी, दुर्व्यसन-सेवनसे यश, कृपणतासे ख्याति, और खोटे व्यापारादि कार्योंसे धन नहीं प्राप्त होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व-सेवनसे कभी भी जड़ात्मा पुरुषोंको इस लोकमें न शुभ वस्तु मिल सकती है, न सुख मिल सकता है, और न सद्गति प्राप्त हो सकती है ॥१४०-१४१॥ अहो, मिथ्यात्वके आचरणसे तो धर्म-विमुख मिथ्यादृष्टि जीव निश्चयसे केवल अगम्य घोर नरकको ही जाते हैं ॥१४२॥ ऐसा मानकर बुद्धिमानोंको धर्मकी प्राप्ति और स्वर्ग-मोक्षकी सिद्धिके लिए सबसे पहले मिथ्यात्वरूपी वैरी-को दृग्विशुद्धिरूप तलवारके द्वारा शीघ्र मार देना चाहिए ॥१४३॥

अहो, आज मैं धन्य हूँ, मेरा यह सारा जीवन सफल हो गया है, क्योंकि अति पुण्यसे आज मैंने जगद्-गुरु श्री जिनदेवको पाया है ॥१४४॥ इनके द्वारा प्रणीत (उपदिष्ट) यह मार्ग और यह धर्म अनमोल है, और सुखका भण्डार है। आज इनके वचनरूप किरणोंसे दर्शनमोह-रूप महान्धकार नष्ट हो गया है ॥१४५॥ इत्यादि प्रकारसे धर्म और धर्मफल का चिन्तन

मिथ्यात्वारातिसंतानं हन्तुं मोहादिशत्रुभिः । सार्धं विप्राग्रणीर्मुक्त्यै दीक्षामादातुमुद्ययौ ॥१४७॥
ततस्त्यक्त्वान्तरे सङ्गान् दश बाह्ये चतुर्दश । त्रिशुद्ध्या परया भक्त्यार्हतीं मुद्रां जगन्नुताम् ॥१४८॥
भ्रातृभ्यां सह जग्राह तत्क्षणं च द्विजोत्तमः । शतपञ्चप्रमैश्छात्रैः प्रबुद्धस्तत्त्वमञ्जसा ॥१४९॥
अन्ये च बहवो भव्या जिनवाक्किरणोत्करैः । मोहसङ्गतमो हत्वा जगृहुर्मुनिसंयमम् ॥१५०॥
काश्चिन्नृपात्मजा अन्या बह्व्यश्च सुस्त्रियो मुदा । प्रबुद्धास्तद्गिरा सिद्ध्यै बभूवुरार्यिकास्तदा ॥१५१॥
केचिच्छ्रीजिनवाक्येन सकलानि व्रतानि वै । आददुः श्रावकाणां च नरा नार्योऽपराः शुभाः ॥१५२॥
केचित्सत्पशवः सिंहसर्पाद्याः क्रूरतां निजाम् । प्रहत्य तद्वचो लब्ध्वा स्वीचक्रुः श्रावकव्रतान् ॥१५३॥
केचिच्चतुर्णिकायस्था देवाः काश्चिच्च देवताः । मानवाः पशवो हत्वा मिथ्या हालाहलं विषम् ॥१५४॥
तद्वाक्यामृतपानेन कालाप्त्याशु शिवाप्तये । अनर्घ्यं दृष्टिहारं स्वहृदये निर्मलं व्यधुः ॥१५५॥
व्रताद्याचरणेऽशक्ताः केचित्स्वश्रेयसे जनाः । दानपूजाप्रतिष्ठादीनुद्ययुः कर्तुमञ्जसा ॥१५६॥
केचित्तपोव्रतादीनि सर्वशक्त्या प्रयत्नतः । आदाय येष्वशक्ताश्च तेषु दुष्करकर्मसु ॥१५७॥
आतापनादियोगेषु चक्रुः कर्मारिहानये । सर्वेषु भावनां भक्त्या त्रिशुद्ध्या भवनाशिनीम् ॥१५८॥
तदैवास्य गणेशस्य सौधर्मेन्द्रोऽतिभक्तितः । दिव्यार्चनैः प्रपूज्यैष पादाब्जौ त्रिजगन्नुतौ ॥१५९॥
नत्वा कृत्वा स्तुतिं दिव्यैर्गुणैर्मध्ये जगत्सताम् । इन्द्रभूतिरयं स्वामीत्युक्त्वा नामान्तरं व्यधात् ॥१६०॥
तत्क्षणं श्रीगणेशस्य सर्वास्य महर्धयः । प्रादुर्बभूवुरत्यन्तपरिणामसुशुद्धितः ॥१६१॥
भो मनःशुद्धिरेवात्र सर्वाभीष्टप्रदा सताम् । ययाप्यन्ते क्षणार्धेन केवलज्ञानसंपदः ॥१६२॥

करनेसे अति उत्कृष्ट परम आनन्दको प्राप्त हुआ वह ब्राह्मणोंका नेता गौतम वैराग्यपूर्वक मोहादि शत्रुओंके साथ मिथ्यात्वरूपी वैरीकी सन्तानको मारने और मुक्ति पानेके लिए दीक्षा लेनेको उद्यत हुआ ॥१४६-१४७॥ तत्पश्चात् निश्चयसे तत्त्वके प्रबोधको प्राप्त उस गौतमने अपने दोनों भाइयोंके तथा पाँच सौ छात्रोंके साथ चौदह अन्तरंग और दश बाह्य परिग्रहको छोड़कर त्रियोग शुद्धिपूर्वक परम भक्तिसे जगत्-पूज्य जिनमुद्राको तत्काल ग्रहण कर लिया ॥१४८–१५०॥ उसी समय भगवान्‌की वाणीसे प्रबोधको प्राप्त हुई कितनी ही राजकुमारियाँ और अन्य बहुत-सी उत्तम स्त्रियाँ आत्मसिद्धिके लिए आर्यिका बन गयीं ॥१५१॥ उसी समय श्री जिनेन्द्रके वचनोंसे प्रबुद्ध हुए कितने ही उत्तम मनुष्योंने और कितनी ही उत्तम स्त्रियोंने श्रावकोंके सर्व व्रतोंको ग्रहण किया ॥१५२॥ उसी समय कितने ही सिंह, सर्प आदि उत्तम पशुओंने अपनी क्रूरताको छोड़कर और भगवान्‌के वचनोंका लाभ पाकर श्रावकके व्रतोंको स्वीकार किया ॥१५३॥ तभी चतुर्णिकायके कितने ही देवोंने और कितनी ही देवियोंने तथा अनेक मनुष्यों और पशुओंने भगवान्‌के वचनामृत पानसे मिथ्यात्वरूपी हालाहल विषको दूरकर काललब्धिसे शिव-प्राप्तिके लिए शीघ्र ही अनमोल सम्यग्दर्शनरूपी निर्मल हारको अपने हृदयोंमें धारण किया ॥१५४-१५५॥ व्रतादिके पालन करनेमें असमर्थ कितने ही लोग दान-पूजा-प्रतिष्ठा आदि करनेके लिए शीघ्र उद्यत हुए ॥१५६॥ कितने ही लोगोंने अपनी सर्व शक्तिके अनुसार प्रयत्नपूर्वक व्रत-नियमादि ग्रहण कर उन कठिन आतापनादि योगोंमें अशक्त होनेसे कर्मशत्रुके विनाशके लिए उन सर्व उत्तम कार्योंमें त्रियोगशुद्धिपूर्वक भक्तिसे संसारको नाश करनेवाली भावना की ॥१५७-१५८॥ उसी समय सौधर्मेन्द्रने द्वादश गणोंके स्वामीपद-को प्राप्त हुए गौतम गणधरके अतिभक्तिसे दिव्य पूजन-द्रव्योंके द्वारा त्रिलोक-नमस्कृत चरण-कमलोंको पूजकर, नमस्कार कर और दिव्य गुणोंके द्वारा स्तुति करके सब सत्पुरुषोंके मध्यमें 'ये इन्द्रभूति स्वामी हैं' ऐसा कहकर उनका इन्द्रभूति यह दूसरा नाम रखा ॥१५९-१६०॥

जिन-दीक्षा ग्रहण करनेपर श्री गौतम गणधरको परिणामोंकी अत्यन्त विशुद्धिसे तत्काल सातों ही महाऋद्धियाँ प्रकट हो गयीं ॥१६१॥ हे भव्यजनो, सन्तोंके मनकी शुद्धि ही इस

सद्यः श्रीवर्धमानार्हत्तत्त्वोपदेशनेन च । सर्वाङ्गार्थपदान्येव हृदा परिणतिं ययुः ॥१६३॥
अर्थरूपेण पूर्वाह्णे श्रावणे बहुले तिथौ । पक्षादौ योगशुद्धयास्य हीन्द्रभूतिगणेशिनः ॥१६४॥
ततः पूर्वाणि सर्वाणि भागेऽस्य पश्चिमे धिया । दिवसस्यार्थरूपेण प्रादुरासन् विधेः क्षयात् ॥१६५॥
ततोऽसौ ज्ञातसर्वाङ्गपूर्वो धीचतुष्कवान् । तीक्ष्णप्रज्ञोरुबुद्धयाखिलाङ्गानां रचनां पराम् ॥१६६॥
चकार विश्वभव्यानामुपकारप्रसिद्धये । पूर्वरात्रे सुभक्त्या पदवस्तुप्राभृतादिभिः ॥१६७॥
पूर्वाणां पश्चिमे भागे यामिन्या रचनां शुभाम् । पदग्रन्थादिरूपेण चक्रेऽसौ तीर्थवृत्तये ॥१६८॥

इति वृषपरिपाकाद् गौतमः श्रीगणेशः सकलयतिगणानां मुख्य आसीत्सुरार्च्यः ।
निखिलश्रुतविधाता चेति मत्वा सुधर्मं कुरुत हृदयशुद्धया भो बुधाः कार्यसिद्ध्यै ॥१६९॥

योऽभूद्धर्ममयो व्यनक्ति च सतां धर्मं जगच्छर्मणे
धर्मेणेह हि वर्ततेऽघविजयी धर्माय लोकं भजन् ।
धर्माद् वक्ति शिवालयं प्रकटयेद्धर्मस्य मार्गं गिरा
धर्मे दत्तमनाः स वीरजिनपो दद्यात्स्वधर्मं मम ॥१७०॥

इति भट्टारक-श्रीसकलकीर्तिविरचिते श्रीवीरवर्धमानचरिते
भगवद्धर्मोपदेशवर्णनो नामाष्टादशोऽधिकारः ॥१८॥

लोकमें सर्व अभीष्ट फलोंको देनेवाली है और इसी मनकी शुद्धिसे आदे क्षणमें केवलज्ञान सम्पदा प्राप्त हो जाती है ॥१६२॥ श्री वर्धमान जिनके तत्त्वोपदेशसे सर्व अंगश्रुतके बीज पद इन्द्रभूति गौतम गणधरके हृदयमें श्रावण कृष्णपक्षके आदि दिन अर्थात् प्रतिपदाके पूर्वाह्णकालमें योगशुद्धिके द्वारा अर्थरूपसे परिणत हो गये ॥१६३-१६४॥ तत्पश्चात् उसी दिनके पश्चिम भागमें श्रुतज्ञानावरण कर्मके विशिष्ट क्षयोपशमसे प्रकट हुई बुद्धिके द्वारा सभी (चौदह) पूर्व अर्थरूपसे परिणत हो गये ॥१६५॥ भावार्थ—श्रावण कृष्णा प्रतिपदाके पूर्वाह्णकालमें तो गौतम अंगश्रुतके वेत्ता हुए और अपराह्णकालमें चतुर्दश पूर्वोके वेत्ता बने । इसके पश्चात् सर्व अंग-पूर्वके ज्ञाता और चार ज्ञानके धारी गौतम गणधरने अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा और विशाल बुद्धिके द्वारा समस्त अंगोंकी उत्कृष्ट रचना समस्त भव्यजीवोंके उपकारकी सिद्धिके लिए पूर्व रात्रिमें सुभक्तिसे की । और रात्रिके पश्चिम भागमें पद, वस्तु, प्राभृत आदिके द्वारा सर्व पूर्वोकी शुभ रचना पद-ग्रन्थादिरूपसे धर्मतीर्थकी प्रवृत्तिके लिए की ॥१६६–१६८॥

इस प्रकार धर्मके परिपाकसे देवोंसे पूज्य श्री गौतम गणधर सर्वसाधु समूहके प्रमुख हुए और सकलश्रुतके विधाता बने । ऐसा समझकर हे ज्ञानी जनो, स्वाभीष्ट कार्य सिद्धिके लिए तुम लोग हृदयकी शुद्धिके साथ उत्तम धर्मका पालन करो ॥१६९॥

जो स्वयं धर्ममय हुए, जिन्होंने जगत्‌के सुखके लिए सन्तोंको धर्मका उपदेश दिया, जो धर्मके द्वारा ही पापोंके जीतनेवाले हुए, जिन्होंने धर्मके लिए लोकमें विहार किया, धर्मसे शिवपदको प्राप्त हुए, अपनी वाणीसे धर्मका मार्ग प्रकट किया और धर्ममें मन लगाया, वे श्री वीरजिनेन्द्र मुझे अपना धर्म देवें ॥१७०॥

इस प्रकार भट्टारक श्रीसकलकीर्ति-विरचित श्रीवीरवर्धमानचरितमें भगवान्‌के
धर्मोपदेशका वर्णन करनेवाला अठारहवाँ अधिकार पूर्ण हुआ ॥१८॥

एकोनविंशोऽधिकारः

मोहनिद्राघहन्तारं श्रीवीरं ज्ञानभास्करम्। दीपकं विश्वतत्त्वानां वन्दे भव्याब्जबोधकम् ॥१॥
अथ शान्ते जनक्षोभे दिव्यभाषोपसंहृते। त्रिजगद्भव्यमध्यस्थं विश्वाङ्गिबोधनोद्यतम् ॥२॥
भगवन्तं मुदा नत्वा सौधर्मेन्द्रः सुधीर्महान्। भक्त्येति स्तोतुमारेभे स्वसिद्ध्यै गुणवित्तराम् ॥३॥
जगत्सारैर्गुणव्रातैर्भव्यसंबोधनोद्भवैः। तत्सुतीर्थविहारायोपकाराय च धीमताम् ॥४॥
त्वां जगत्त्रयदक्षेड्यं स्तोष्येऽनन्तगुणार्णवम्। केवलं देव शुद्ध्यर्थं स्ववचःकायचेतसाम् ॥५॥
त्वामभिष्टुवतां यस्मात्त्रिजगच्छ्रीसुखादयः। आविर्भवन्ति सर्वाश्च शुद्धयोऽघमलात्ययात् ॥६॥
निश्चित्येत्याप्यसामग्रीं सकलां त्वत्सुताविमाम्। विशिष्टफलकाङ्क्षी को विद्वांस्त्वां स्तौति न प्रभो ॥७॥
स्तुतिः स्तोता महान् स्तुत्यः फलं चेति चतुर्विधा। सामग्री परमा ज्ञेया त्वत्स्तवेऽघविनाशिनी ॥८॥
अर्हतां गुणराशीनां याथातथ्येन कीर्तनम्। क्रियते यद्विचारज्ञैः सा स्तुतिर्महती शुभा ॥९॥
पक्षपातच्युतो वाग्मी यो गुणागुणतत्त्ववित्। आगमज्ञः कवीन्द्रः स स्तोता सद्दृष्टिरुत्तमः ॥१०॥
योऽनन्तदर्शनज्ञानाद्यनन्तगुणवारिधिः। वीतरागो जगन्नाथः स्तुत्यः स परमः सताम् ॥११॥
साक्षाद्यच्च परं पुण्यं जायते स्तुतिकारिणाम्। क्रमात् स्तुत्यगुणव्रातं सकलं तत्स्तुतेः फलम् ॥१२॥

मोहरूपी निद्राके नाशक, विश्वतत्त्वोंके प्रकाशक और भव्यजीवरूपी कमलोंके प्रबोधक ऐसे ज्ञान-भास्कर श्री वीर स्वामीको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१॥

अथानन्तर दिव्यध्वनिके उपसंहार होनेपर तथा मनुष्योंका कोलाहल शान्त होनेपर महान् विद्वान् एवं गुणवेत्ता सौधर्मेन्द्रने तीन लोकके जीवोंके मध्यमें स्थित और समस्त प्राणियोंके सम्बोधन करनेमें उद्यत श्री वीर भगवान्‌को हर्षसे नमस्कार कर अपने गुणोंकी सिद्धिके लिए, बुद्धिमानोंके उपकारके लिए और यहाँपर धर्मतीर्थ-प्रवर्तनार्थ विहार करनेके लिए जगत्‌में सारभूत, भव्योंका सम्बोधन करनेवाले गुणसमूहके कीर्तनसे इस प्रकार स्तुति करना प्रारम्भ किया ॥२-४॥

हे देव, मैं केवल अपने मन-वचन-कायकी शुद्धिके लिए तीन लोकके दक्ष पुरुषोंके द्वारा पूज्य और अनन्त गुणोंके सागर ऐसे आपकी स्तुति करता हूँ। क्योंकि आपकी स्तुति करने-वाले जीवोंके पापमलके विनाशसे सर्वप्रकारकी शुद्धियाँ और तीन लोककी लक्ष्मी सुख आदिक सम्पदाएँ स्वयं ही प्रकट होते हैं। ऐसा निश्चय कर हे प्रभो, आपकी स्तुति करनेके लिए यह सर्व योग्य सामग्री पाकर विशिष्ट फलका इच्छुक कौन विद्वान् आपकी स्तुति नहीं करता? अर्थात् सभी करते हैं ॥५-७॥ आपके स्तवन करनेमें स्तुति, स्तोता (स्तुति करनेवाला) महान् स्तुत्य (स्तुति करनेके योग्य पुरुष) और स्तुतिका फल; यह चार प्रकारकी पापविनाशिनी उत्तम सामग्री ज्ञातव्य है ॥८॥ गुणोंकी राशिवाले अर्हन्तोंके गुणोंका जो विचारशील पुरुषोंके द्वारा यथार्थरूपसे कीर्तन किया जाता है, वह महाशुभ स्तुति कही जाती है ॥९॥ जो पक्षपातसे रहित, गुण-अवगुणरूप तत्त्वोंका वेत्ता, आगमज्ञ, कवीन्द्र, सम्यग्दृष्टि वाग्मी (गुणवर्णन करनेवाला) पुरुष है, वह उत्तम स्तोता कहलाता है ॥१०॥ जो अनन्त ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुणोंका समुद्र है, वीतराग है, जगत्‌का नाथ है, वह परम पुरुष ही सज्जनोंका स्तुत्य माना गया है ॥११॥ स्तुतिका साक्षात् फल स्तुति करनेवाले मनुष्योंको परम पुण्यका प्राप्त होना है और परम्परा फल क्रमसे स्तुत्य देवसे सर्व गुण-समूहका प्राप्त

इत्यासाद्येह सामग्रीं त्वामहं स्तोतुमुद्यतः । देवाद्य मां पुनीहि त्वं दृष्ट्या प्रसन्नया मुदे ॥१३॥
अद्य नाथ भवद्वाक्यांशुभिर्मिथ्यातमोऽखिलम् । भिन्नं ननाश भव्यानामन्तःस्थं भान्वगोचरम् ॥१४॥
त्वद्वचोऽसिप्रहारेण भग्नो मोहारिरीश भोः । सगणं त्वां विहायाश्रितो मनोऽक्षजडात्मनाम् ॥१५॥
त्वद्धर्मदेशनावज्रघातेन प्रहतः स्मरः । देवाद्य मरणावस्थां प्राप सहाक्षतस्करैः ॥१६॥
नाथ त्वत्केवलज्ञानचन्द्रोदयेन धीमताम् । दृष्ट्यादिरत्नदाताद्य ववृधे धर्मवारिधिः ॥१७॥
भगवन्नद्य पापारिस्त्रिजगद्दुःखदायकः । भवद्धर्मोपदेशायुधेन याति क्षयं सताम् ॥१८॥
त्वत्तो नाथाद्य संप्राप्य दृग्वृत्ताद्याः पराः श्रियः । केचिन्मुक्तिपथे भव्या व्रजन्त्यनन्तशर्मणे ॥१९॥
रत्नत्रयतपोबाणान् केचिदासाद्य मुक्तये । ईशाद्य भवतो घ्नन्ति कर्मारातींश्चिरागतान् ॥२०॥
त्वं जगत्त्रयभव्येभ्यो दातासि प्रत्यहं प्रभो । सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रधर्मचिन्तामणीन् परान् ॥२१॥
चिन्तितार्थप्रदान् सारानन‍र्घ्यान् सुखसागरान् । अतः कस्त्वत्समो लोके महादाता महाधनी ॥२२॥
स्वामिन्नद्य जगत्सर्वं मोहनिद्रास्तचेतनम् । त्वद्ध्वनीनोदयाद्बुद्धं सुप्तोत्थितमिवाभवत् ॥२३॥
विभो भवत्प्रसादेन सन्तस्त्वच्चरणाश्रिताः । यान्ति सर्वार्थसिद्धिं च दिवं केचित्परं पदम् ॥२४॥
यथैष सकलः संघः पशुभिश्च सुरैः समम् । सज्जोऽभूत्त्वद्गिरा हन्तुं कर्मसंतानमञ्जसा ॥२५॥
तथा भवद्विहारेणात्रार्यखण्डोद्भवा विदः । विज्ञाय विश्वतत्त्वानि हनिष्यन्त्यघसंचयम् ॥२६॥

होना है ॥१२॥ इस प्रकार यहाँपर स्तुतिकी उत्तम सामग्रीको पाकर हे देव, मैं आपकी स्तुति करनेके लिए उद्यत हुआ हूँ। हे भगवन्, प्रसन्न दृष्टिसे आप आज मुझे पवित्र करें ॥१३॥ इस प्रकार प्रस्तावना करके इन्द्र स्तुति करना प्रारम्भ करता है—

हे नाथ, आज आपके वचनरूप किरणोंके द्वारा भव्यजीवोंके अन्तरंगमें स्थित और सूर्यके अगोचर ऐसा समस्त मिथ्यान्धकार नष्ट हो गया है ॥१४॥ हे भगवन्, आपके वचनरूप तलवारके प्रहारसे मोहरूपी शत्रु विनष्ट हो गया है, इसीसे वह सकलगण-सहित आपको छोड़कर इन्द्रिय और मनके विषयोंमें निमग्न जड़ात्माओंके आश्रयको प्राप्त हुआ है ॥१५॥ हे देव, आपके धर्मदेशनारूपी वज्रके प्रहारसे आहत हुआ कामदेव आज अपने इन्द्रिय-चोरोंके साथ मरण अवस्थाको प्राप्त हुआ है ॥१६॥ हे नाथ, आपके केवलज्ञानरूप चन्द्रके उदयसे बुद्धिमानोंको सम्यग्दर्शनादि रत्नोंका दाता धर्मरूपी समुद्र वृद्धिको प्राप्त हुआ है ॥१७॥ हे भगवन्, आज तीन लोकको दुःख देनेवाला भव्योंका पापरूपी शत्रु आपके धर्मोपदेशरूपी आयुधसे क्षयको प्राप्त हुआ है ॥१८॥ हे नाथ, आज आपसे सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र आदि उत्तम लक्ष्मीको पाकरके कितने ही भव्यजीव अनन्त सुखकी प्राप्तिके लिए मुक्तिमार्गपर चल रहे हैं ॥१९॥ हे ईश, आपसे रत्नत्रय और तपरूपी बाणोंको पाकरके कितने ही भव्य जीव आज मुक्ति पानेके लिए चिरकालसे साथमें आये (लगे) हुए कर्मरूपी शत्रुओंको नाश रहे हैं ॥२०॥ हे प्रभो, आप महान्-महान् दाता हैं, क्योंकि तीन लोकके भव्य जीवोंको प्रतिदिन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र धर्मरूप उत्तम चिन्तामणिरत्न देते हैं ॥२१॥ वे धर्मरत्न चिन्तित पदार्थोंको देनेवाले हैं, सारभूत हैं, अनमोल हैं और सुखके सागर हैं। अतः लोकमें आपके समान कौन महान् दाता और महाधनी है ॥२२॥ हे स्वामिन्, आज मोहनिद्रासे नष्ट चेतना-शक्तिवाला यह जगत् आपके ध्वनिरूप सूर्यके उदयसे प्रबुद्ध होकर सोनेसे उठे हुएके समान प्रतीत हो रहा है ॥२३॥ हे विभो, आपके प्रसादसे आपके चरणोंका आश्रय लेनेवाले लोगोंमें-से कितने ही स्वर्गको, कितने ही सर्वार्थसिद्धिको और कितने ही परम पद मोक्षको जा रहे हैं ॥२४॥ जिस प्रकार पशुओं और देवोंके साथ यह सर्व चतुर्विध संघ आपकी वाणीसे कर्म-सन्तानका घात करनेके निश्चयसे सज्जित हुआ है, उसी प्रकार आपके विहारसे इस आर्यखण्ड-में उत्पन्न हुए अन्य ज्ञानी जन भी सर्व तत्त्वोंको जानकर अपने पापोंके संचयका नाश करेंगे

भवत्तीर्थविहारेण केचिद्भव्या भवस्थितिम् । हत्वा तपोसिना मोक्षं यास्यन्ति सत्सुखाम्बुधिम् ॥२७॥
अहमिन्द्रपदं केचित्साधयिष्यन्ति योगिनः । वृत्तेन वापरे स्वर्गं त्वत्सद्धर्मोपदेशतः ॥२८॥
त्वयोपदिष्टसन्मार्गं प्राप्येशात्र च मोहिनः । मोहारातिं हनिष्यन्ति पापिनः पापविद्विषम् ॥२९॥
मोक्षद्वीपान्तरं नेतुं भव्यान् दक्षस्त्वमेव च । सार्थवाह इवाक्षान्तश्चौरान् हन्तुं महाभटः ॥३०॥
अतो देव विधेहि त्वं विहारं धर्मकारणम् । अनुग्रहाय भव्यानां मोक्षमार्गप्रवृत्तये ॥३१॥
भगवन् भव्यशस्यांस्त्वं मिथ्यादुर्भिक्षशोषिणः । धर्मामृतप्रसेकेनोद्धरेश स्वःशिवाप्तये ॥३२॥
जगत्संतापिनं मोहारातिं जयाद्य दुर्जयम् । देव पुण्यात्मनां धर्मोपदेशबाणपङ्क्तिभिः ॥३३॥
यतः सज्जमिदं वासीद्धर्मचक्रं सुरैर्धृतम् । मिथ्याज्ञानतमोहन्तृ विजयोद्यमसाधनम् ॥३४॥
तथा संमुखमायातः कालोऽयं नाथ ते महान् । उपदेष्टुं च सन्मार्गं निराकर्तुं हि दुष्पथम् ॥३५॥
अतो देवात्र किं साध्यं बहुनोक्तेन संप्रति । विहृत्य स्वार्थखण्डस्थान् भव्यान् पुनीहि सद्गिरा ॥३६॥
यतो न त्वत्समोऽन्योऽस्ति स्वर्गमुक्त्यध्वदर्शकः । दुर्मार्गान्धतमोहन्ता क्वचित्कालेऽपि धीमताम् ॥३७॥
अतो देव नमस्तुभ्यं नमस्ते गुणसिन्धवे । नमोऽनन्तचिदेऽनन्तदर्शिनेऽनन्तशर्मणे ॥३८॥
नमोऽनन्तमहावीर्यात्मने दिव्यसुमूर्तये । नमोऽद्भुतमहालक्ष्मीभूषिताय विरागिणे ॥३९॥
नमोऽसंख्यामरस्त्रीभिर्वृताय ब्रह्मचारिणे । नमो दयार्द्रचित्ताय मोहाद्यरिविघातिने ॥४०॥
नमस्ते शान्तरूपाय कर्मारिजयिने सते । नमस्ते विश्वनाथाय मुक्तिस्त्रीवल्लभाय च ॥४१॥

॥२५-२६॥ आपके तीर्थ विहारसे कितने ही भव्य जीव तपरूप खड्गके द्वारा संसारकी स्थिति का घात कर उत्तम सुखके समुद्र ऐसे मोक्षको प्राप्त होंगे ॥२७॥ कितने ही योगीजन चारित्र धारण कर अहमिन्द्र पदको सिद्ध करेंगे और कितने ही जीव आपके सत्यधर्मके उपदेशसे स्वर्गको जायेंगे ॥२८॥ हे ईश, इस लोकमें आपके द्वारा उपदिष्ट सन्मार्गको प्राप्त होकर मोही जीव अपने मोह-शत्रुका घात करेंगे और पापी जीव अपने पापशत्रुका विनाश करेंगे ॥२९॥ हे नाथ, भव्यजीवोंको मोक्षरूपी द्वीपान्तर ले जानेके लिए सार्थवाहके समान आप ही दक्ष हैं और इन्द्रिय-कषायरूपी अन्तरंग चोरोंको मारनेके लिए आप ही महाभट हैं ॥३०॥ अत एव हे देव, भव्यजीवोंके अनुग्रहके लिए और मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिके लिए धर्मका कारणभूत विहार कीजिए ॥३१॥ हे भगवन्, मिथ्यात्वरूपी दुर्भिक्षसे सूखनेवाले भव्यजीवरूपी धान्योंका धर्मरूप अमृतके सिंचनसे स्वर्ग-मोक्षकी प्राप्तिके लिए हे ईश, उद्धार कीजिए ॥३२॥ हे देव, जगत्को सन्तापित करनेवाले, दुर्जय मोहशत्रुको पुण्यात्मा जनोंके लिए धर्मोपदेशरूप बाणों-की पंक्तियोंसे आज आप जीतें ॥३३॥ क्योंकि देवोंके द्वारा मस्तकपर धारण किया हुआ, मिथ्याज्ञानरूप अन्धकारका नाशक, विजयके उद्यमका साधक यह धर्मचक्र सजा हुआ उपस्थित है ॥३४॥ तथा हे नाथ, सन्मार्गका उपदेश देनेके लिए और कुमार्गका निराकरण करनेके लिए यह महान् काल आपके सम्मुख आया है ॥३५॥ अतएव हे देव, इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ है? अब आप विहार करके इस उत्तम आर्यखण्डमें स्थित भव्य जीवोंको अपनी सद्वाणीसे पवित्र कीजिए ॥३६॥ क्योंकि किसी भी कालमें आपके समान बुद्धिमानोंके कुमार्गरूप घोर अन्धकारका नाशक और स्वर्ग-मोक्षके मार्गका दर्शक अन्य कोई नहीं है ॥३७॥ अतः हे देव, आपके लिए नमस्कार है, गुणोंके समुद्र आपको नमस्कार है, अनन्तज्ञानी, अनन्त दर्शनी और अनन्त सुखी आपको मेरा नमस्कार है ॥३८॥ अनन्त महा-वीर्यशाली और दिव्य सुमूर्ति आपको नमस्कार है, अद्भुत महालक्ष्मीसे विभूषित होकरके भी महाविरागी आपको नमस्कार है ॥३९॥ असंख्य देवांगनाओंसे आवृत होनेपर भी ब्रह्मचारी आपको नमस्कार है। मोहारि शत्रुओंके नाशक होनेपर भी दयार्द्र चित्तवाले आपको नमस्कार है ॥४०॥ कर्मशत्रुके विजेता होनेपर भी शान्तरूप आपको नमस्कार है, विश्वके नाथ और

नमः सन्मतये तुभ्यं महावीराय ते नमः । नमो वीराय ते नित्यं मूर्ध्ना देव स्वसिद्धये ॥४२॥
अनेन स्तवसद्भक्तिनमस्कारफलेन च । देव देहि त्वमस्माकं भक्तिमेकां भवे भवे ॥४३॥
तव पादाम्बुजे सम्यग्दृक्चिद्वृत्तादिपूर्विकाम् । नान्यद्बहुतरं किंचित्त्वां प्रार्थयाम एव हि ॥४४॥
यतः सैवात्र भक्तिर्नोऽमुत्र नूनं फलिष्यति । त्रिजगत्सारशर्माणि मनोऽभीष्टफलानि च ॥४५॥
इति शक्रोक्तितः पूर्वं जगत्संबोधनोद्यतः । पुनः प्रार्थनयास्यासौ तीर्थकृत्कर्मपाकतः ॥४६॥
तरां स्थापयितुं भव्यान्मुक्तिमार्गे भ्रमातिगे । निहत्याखिलदुर्मार्गानुद्ययौ त्रिजगद्गुरुः ॥४७॥
ततोऽसौ भगवान् देवैर्वीज्यमानः सुचामरैः । वृतो गणैर्द्विषड्भेदैः सितछत्रत्रयाङ्कितः ॥४८॥
परीतः परया भूत्या ध्वनत्सु वाद्यकोटिषु । विहारं कर्तुमारेभे विश्वसंबोधहेतवे ॥४९॥
तदा पटहतूर्याणां दध्वनुः कोटयस्तराम् । आसीद्रुद्धं चलद्भिर्नभश्छत्रध्वजपङ्क्तिभिः ॥५०॥
जय मोहं जगच्छत्रुं नन्देश भुवनत्रये । घोषयन्तोऽमरा इत्थं परितस्तं विनिर्ययुः ॥५१॥
देवोऽसौ विहरत्येवमनुयातः सुरासुरैः । अनिच्छापूर्विकां वृत्तिमास्कन्दन्निव भानुमान् ॥५२॥
सर्वत्रास्थानतो दिक्षु सर्वासु जायतेऽर्हतः । शतयोजनमात्रं च सुभिक्षमीतिवर्जनम् ॥५३॥
विश्वभव्योपकारार्थं व्रजत्येष नभोऽङ्गणे । नानादेशाद्रिपुर्यादीन् धर्मचक्रपुरःसरः ॥५४॥
विभोः साम्यप्रभावेण क्रूरैः सिंहादिजातिभिः । बाधा न वर्तते जातु मृगादीनां भयादि च ॥५५॥
नोकर्माहारपुष्टस्यानन्तसुखभागिनः । भुक्तिर्न वीतरागस्य विद्यते घातिघातनात् ॥५६॥

मुक्तिस्त्रीके वल्लभ (प्रिय) आपको नमस्कार है ॥४१॥ हे सन्मति, आपको मेरा नमस्कार है, हे महावीर, आपको मेरा नमस्कार है और हे वीर प्रभो, हे देव, आत्म-सिद्धिके लिए आपको मेरा मस्तक झुकाकर नित्य नमस्कार है ॥४२॥ हे देव, इस स्तवन, सद्भक्ति और नमस्कारके फलसे आप हमें भव-भवमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादिपूर्वक अपने चरण-कमलोंमें एकमात्र भक्तिको ही दीजिए। हे भगवन्, हम इसके सिवाय और अधिक कुछ भी नहीं चाहते हैं। क्योंकि वह एक भक्ति ही हमारे इस लोकमें और परलोकमें निश्चयसे तीन लोकमें सारभूत सुखोंको और मनोवांछित सर्व फलोंको देगी ॥४३-४५॥ इस प्रकार इन्द्रके निवेदन करनेसे भी पहले भगवान् जगत्के सम्बोधन करनेके लिए उद्यत थे, किन्तु फिर भी इन्द्रकी प्रार्थनासे और तीर्थंकर प्रकृतिके विपाकसे वे त्रिजगद्गुरु भव्य जीवोंको समस्त दुर्मार्गोंसे हटाकर और भ्रमरहित मुक्तिमार्गपर स्थापित करनेके लिए उद्यत हुए ॥४६-४७॥

अथानन्तर देवोंके द्वारा उत्तम चँवरोंसे वीज्यमान, द्वादश गणोंसे आवृत, श्वेत तीन छत्रोंसे शोभित और उत्कृष्ट विभूतिसे विभूषित भगवान्ने करोड़ों बाजोंके बजनेपर संसारको सम्बोधनके लिए विहार करना प्रारम्भ किया ॥४८-४९॥ उस समय करोड़ों पटह (ढोल) और तूर्यों (तुरई) के बजनेपर तथा चलते हुए देवोंसे तथा छत्र-ध्वजा आदिकी पंक्तियोंसे आकाश व्याप्त हो गया ॥५०॥ हे ईश, जगत्के जीवोंके शत्रुभूत मोहको जीतनेवाले आपकी जय हो, आप आनन्दको प्राप्त हों, इस प्रकारसे जय, नन्द आदि शब्दोंकी तीन लोकमें घोषणा करते हुए देवगण भगवान्को सर्व ओरसे घेरकर निकले ॥५१॥ सुर और असुर देवगण जिनके अनुगामी हैं ऐसे श्री वीर जिनेन्द्र अनिच्छापूर्वक गतिको प्राप्त होते हुए सूर्यके समान विहार करने लगे ॥५२॥ विहार करते समय सर्वत्र भगवान्के अवस्थानसे सर्व दिशाओंमें सौ योजन तक सभी ईति-भीतियोंसे रहित सुभिक्ष (सुकाल) रहता है ॥५३॥ धर्मचक्र जिनके आगे चल रहा है, ऐसे वीर प्रभुने संसारके भव्य जीवोंके उपकारके लिए आकाशमें चलते हुए अनेक देश, पर्वत और नगरादिमें विहार किया ॥५४॥ वीर प्रभुके साम्य भावके प्रभावसे क्रूर जातिवाले सिंहादिके द्वारा मृगादिके कदाचित् भी बाधा और भयादि नहीं होता था ॥५५॥ घातिकर्मोंके विनाशसे विशिष्ट नोकर्मरूप आहारसे पुष्ट और अनन्त सुखके

शक्रादिवेष्टितस्यास्यासातोदयातिमन्दतः । अनन्तचतुराढ्यस्य नोपसर्गो नरादिजः ॥५७॥
चतुर्मुखश्चतुर्दिक्षु दृश्यते त्रिजगद्गुरुः । गणैर्द्वादशभिः सर्वसभायां किल सन्मुखः ॥५८॥
दुर्घातिकर्मनाशेन केवलज्ञानचक्षुषः । स्वामित्वं विश्वविद्यानामासीद्विश्वार्थदर्शकम् ॥५९॥
न छाया दिव्यदेहस्य जातून्मेषो न नेत्रयोः । वृद्धिर्न नखकेशानां जगन्नाथस्य जायते ॥६०॥
अनन्यविषया एते दशैवातिशया विभोः । प्रादुरासन् स्वयं दिव्याश्चतुर्घात्यरिघातनात् ॥६१॥
सर्वार्धमागधीभाषा सर्वाङ्गध्वनिसंभवा । सर्वाक्षरदिव्याङ्गी समस्ताक्षरनिरूपिका ॥६२॥
सर्वानन्दकरा पुंसां सर्वसंदेहनाशिनी । विभोरस्ति द्विधाधर्मविश्वतत्त्वार्थसूचिका ॥६३॥
कृष्णाहिनकुलादीनां जातिकारणवैरिणाम् । जायते परमा मैत्री बन्धूनामिव सद्गुरोः ॥६४॥
सर्वर्तुफलपुष्पादीन् फलन्ति तरवोऽखिलाः । दर्शयन्त इवात्यन्तं फलं सुतपसां प्रभोः ॥६५॥
आस्थानमण्डले चास्य धर्मराजस्य सर्वतः । मही रत्नमयी दिव्याभवदादर्शसंनिभा ॥६६॥
व्रजन्तं त्रिजगन्नाथं जगत्संबोधनोद्यतम् । प्राणिशर्माकरोऽन्वेति सुगन्धिः शिशिरो मरुत् ॥६७॥
विभोर्ध्यानमहानन्दादानन्दो धर्मशर्मकृत् । जायते परमः पुंसां सर्वदा शोकिनामपि ॥६८॥
मरुत्सुरः समास्थानात्तृणकीटादिवर्जितम् । योजनान्तरभूभागं गुरोः कुर्यान्मनोहरम् ॥६९॥
स्तनिताख्योऽमरो भक्त्या विद्युन्मालादिभूषिताम् । गन्धोदकमयीं वृष्टिं कुरुते परितो जिनम् ॥७०॥
दिव्यकेसर-पत्राणि हेमरत्नमयान्यपि । महादीप्राणि पद्मानि सप्त सप्तप्रमाणि च ॥७१॥

भोक्ता वीतरागी भगवान्के असाता कर्मके अति मन्द उदय होनेसे कवलाहाररूप भोजन नहीं होता है तथा इन्द्रादिसे वेष्टित और अनन्तचतुष्टयके धारक भगवान्के मनुष्यादि कृत उपसर्ग भी नहीं होता है ॥५६-५७॥ समवशरणमें तथा विहार करते समय सर्वत्र होनेवाली व्याख्यानसभाओंमें द्वादश गणोंके द्वारा त्रिजगद्गुरु चारों दिशाओंमें चार मुखवाले दिखाई देते हैं ॥५८॥ दुष्ट घातिकर्मोंके विनाशसे केवलज्ञाननेत्रवाले भगवान्के समस्त विद्याओंका विश्वार्थदर्शक स्वामित्व प्राप्त हो गया था ॥५९॥ तीर्थंकरके दिव्यदेहकी छाया नहीं पड़ती है, उनके नेत्रोंकी कभी भी पलकें नहीं झपकती हैं और न उस त्रिलोकी-नाथके नख और केशोंकी वृद्धि ही होती है ॥६०॥ इस प्रकार अन्य साधारण जनोंमें नहीं पाये जानेवाले ये दशों दिव्य अतिशय चार घातिकर्मोंके नाशसे प्रभुके स्वयं ही प्रकट हो गये थे ॥६१॥ तीर्थंकर प्रभुकी भाषा सर्वार्ध-मागधी थी जो कि सर्वाङ्गसे उत्पन्न हुई ध्वनिस्वरूप थी। वह सर्व अक्षररूप दिव्य अंगवाली, समस्त अक्षरोंकी निरूपक, सर्वको आनन्द करने-वाली, पुरुषोंके सर्व सन्देहोंका नाश करनेवाली, दोनों प्रकारके धर्म और समस्त तत्त्वार्थको प्रकट करनेवाली थी ॥६२-६३॥ सद्गुरुके प्रभावसे कृष्ण सर्प और नकुल आदि जाति स्वभावके कारण वैर पाले जीवोंके बन्धुओंके समान परम मित्रता हो जाती है ॥६४॥ प्रभुके प्रभावसे सभी वृक्ष सर्व ऋतुओंके फल-पुष्पादिको प्रभुके उत्तम तपोंका अति महान् फल दिखलाते हुएके समान फूलने-फलने लगे ॥६५॥ इस धर्म सम्राट्के सभामण्डलमें पृथ्वी सर्व ओर दर्पणके समान निर्मल दिव्य रत्नमयी हो गयी ॥६६॥ जगत्को सम्बोधन करनेमें उद्यत और विहार करते हुए त्रिलोकीनाथके सर्व ओर सर्व प्राणियोंको सुख करनेवाला शीतल मन्द सुगन्धि वाला पवन वहने लगता है ॥६७॥ तीर्थंकर प्रभुके ध्यान-जनित महान् आनन्दसे सर्वदा शोकमुक्त पुरुषोंके भी धर्म और सुखका करनेवाला आनन्द प्राप्त होता है ॥६८॥ पवन-कुमारदेव त्रिजगद्गुरुके सभास्थानसे एक योजनके अन्तर्गत भूमिभागको तृण, कंटक और कीड़े आदिसे रहित एवं मनोहर कर देते हैं ॥६९॥ मेघकुमार नामक देव भक्तिसे विद्युन्माला आदिसे युक्त गन्धोदकमयी वर्षा जिनभगवान्के सर्व ओर करते हैं ॥७०॥ प्रभुके गमन करते समय उनके चरण-कमलोंके नीचे, आगे और पीछे सात-सात संख्याके प्रमाण-युक्त,

द्विद्विपद्माङ्कमानानि देवाः संचारयन्ति वै । पदाब्जयोः पुरः पृष्ठेऽधोभागे व्रजतः प्रभोः ॥७२॥
व्रीह्यादिसर्वशस्यानि विश्वसंतर्पकाण्यपि । सर्वर्तुफलनम्राणि भान्त्यस्य निकटे सुरैः ॥७३॥
निर्मलस्य जिनेन्द्रस्यास्थाने सर्वा दिशोऽमलाः । व्योम्ना समं विराजन्ते पापान्मुक्ता इवामरैः ॥७४॥
तीर्थकर्तुः सुयात्रायै चतुर्णिकायनिर्जराः । कुर्वन्त्याह्वाननं नित्यमिन्द्रादेशात्परस्परम् ॥७५॥
स्फुरद्रत्नमयं दीप्रं सहस्रारं व्रजेत् पुरः । व्रजतोऽस्य हतध्वान्तं धर्मचक्रं सुरावृतम् ॥७६॥
आदर्शप्रमुखा अष्टौ मङ्गलद्रव्यसंपदः । विश्वमाङ्गल्यकर्तुर्मुदा ढौकयन्ति नाकिनः ॥७७॥
महतोऽतिशयानेतान् देवाश्चक्रुश्चतुर्दश । महातिशायिनो भक्त्यासाधारणान् जगत्सताम् ॥७८॥
इत्येषोऽतिशयैर्दिव्यैश्चतुस्त्रिंशत्प्रमाणकैः । प्रातिहार्याष्टकैः संज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयैः ॥७९॥
अन्यैरनन्तातिगैर्दिव्यैर्गुणैश्चालंकृतः प्रभुः । नानादेशपुरग्रामखेटान् वै विहरन् क्रमात् ॥८०॥
धर्मोपदेशपीयूषैः प्रीणयन् सज्जनान् बहून् । मुक्तिमार्गे सतोऽनेकान् स्थापयंस्तत्त्वदर्शनैः ॥८१॥
मिथ्याज्ञानकुमार्गान्धतमो निघ्नन् वचोंऽशुभिः । रत्नत्रयात्मकं मुक्तेर्मार्गं व्यक्तं प्रकाशयन् ॥८२॥
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोदीक्षामहामणीन् । समीहितान् ददन्नित्यं भव्येभ्यः कल्पशाखिवत् ॥८३॥
संघैर्देवैर्वृतो राजगृहाद्बाह्यस्थितस्य च । विपुलाचलतुङ्गस्योपरि धर्माधिपोऽगमत् ॥८४॥
तदागमं परिज्ञाय वनपालमुखाद् द्रुतम् । श्रेणिको भूपतिर्भक्त्या पुत्रस्त्रीभव्यबन्धुभिः ॥८५॥
सहागत्य मुदा भक्त्या त्रिः परीत्य जगद्गुरुम् । ननाम शिरसा शुद्ध्यै भक्तिभारवशीकृतः ॥८६॥

दिव्य केसर और पत्रवाले सुवर्ण और रत्नमयी महा दीप्तिमान् कमलोंको बिछाते हुए चलते हैं ॥७१-७२॥ भगवान्‌के निकटवर्ती क्षेत्रोंमें संसारको तृप्त करनेवाले व्रीहि आदि सर्व प्रकारके धान्य और सर्व ऋतुओंके फलोंसे नम्र वृक्ष देवोंके द्वारा शोभाको प्राप्त होते हैं ॥७३॥ कर्म-मलसे रहित जिनेन्द्रके सभास्थानमें आकाशके साथ सर्व दिशाएँ देवोंके द्वारा निर्मल होती हुई शोभित होती हैं, जो पापसे मुक्त हुई के समान; प्रतीत होती हैं ॥७४॥ तीर्थंकर प्रभुकी विहारयात्रामें साथ चलनेके लिए चतुर्णिकायके देव इन्द्रके आदेशसे परस्पर बुलाते हैं ॥७५॥ तीर्थंकर प्रभुके चलते समय चमकते हुए रत्नोंसे निर्मित, दीप्तियुक्त, एक हजार आरेवाला, अन्धकारका नाशक और देवोंसे वेष्टित धर्मचक्र आगे-आगे चलता है ॥७६॥ विश्वके मंगल करनेवाले भगवान्‌के विहारकालमें देव लोग दर्पण आदि आठ मंगल द्रव्यरूप सम्पदाको हर्षके साथ लेकर आगे-आगे चलते हैं ॥७७॥ इन महान् चौदह अतिशयोंको, जो कि जगत्‌के अन्य सामान्य लोगोंके लिए असाधारण हैं, महान् अतिशयशाली देव भक्तिसे सम्पन्न करते हैं ॥७८॥ इस प्रकार इन चौंतीस दिव्य अतिशयोंसे, आठ प्रातिहार्योंसे, सद्ज्ञानादि अनन्त-चतुष्टयसे एवं अन्य अनन्त दिव्य गुणोंसे अलंकृत वीरप्रभुने अनेक देश-पुर-ग्राम-खेटोंमें क्रमसे विहार करते हुए, धर्मोपदेशरूपी अमृतके द्वारा सज्जनोंको तृप्त करते, बहुतोंको मुक्ति-मार्गमें स्थापित करते, अनेकोंका तत्त्व-दर्शनरूप वचनकिरणोंसे मिथ्याज्ञानरूप कुमार्गके गाढ़ अन्धकारको हरते, मुक्तिका मार्ग स्पष्ट रूपसे प्रकाशित करते, भव्य जीवोंके लिए कल्पवृक्षके समान सम्यक्त्व ज्ञान-चारित्र-तप और दीक्षारूपी मनोवांछित महामणियोंको नित्य देते हुए चतुर्विध संघ और देवोंसे आवृत और धर्मके स्वामी ऐसे श्री वीरजिनेन्द्र राजगृहके बाहर स्थित विपुलाचलके उन्नत शिखरके ऊपर आये ॥७९-८४॥

वीर प्रभुका वनपालके मुखसे आगमन सुनकर राजा श्रेणिकने भक्तिपूर्वक पुत्र-स्त्री-बन्धु अनेक भव्यजनोंके साथ आकर, हर्षित हो जगद्-गुरुको भक्तिसे तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया। तत्पश्चात् आत्म-शुद्धिके लिए भक्तिभारसे वशीभूत होकर आठ प्रकारके महा-द्रव्योंसे जिनेन्द्रदेवोंकी पूजा कर और पुनः नमस्कार कर अति भक्तिसे उनकी स्तुति करनेके लिए उद्यत हुआ ॥८५-८७॥ श्रेणिकने कहा—हे नाथ, आज हम धन्य हैं, आज हमारा

ततोऽभ्यर्च्य जिनेन्द्राङ्घ्री सोऽष्टभेदैर्महार्चनैः। पुनर्नत्वातिभक्त्येति तरस्तवं कर्तुमुद्ययौ ॥८७॥
अद्य नाथ वयं धन्याः सफलं नोऽद्य जीवितम्। मर्त्यजन्म च यस्मात्त्वं प्राप्तोऽस्माभिर्जगद्गुरुः ॥८८॥
अद्य मे सफले नेत्रे भवत्पादाम्बुजेक्षणात्। सार्थकं च शिरो देव प्रणामात्त्वत्क्रमाब्जयोः ॥८९॥
धन्यौ मम करौ स्वामिन्नद्य ते चरणार्चनात्। यात्रया च क्रमौ वाणी सार्थिका स्तवनेन च ॥९०॥
अद्य मेऽभून्मनः पूतं त्वद्ध्यानगुणचिन्तनात्। गात्रं शुश्रूषया सर्वं दुरितारिर्ननाश च ॥९१॥
संसारसागरोऽपारश्चुलुकाभोऽद्य भासते। त्वां पोतसममासाद्य नाथ मे किं भयं ततः ॥९२॥
इति स्तुत्वा जगन्नाथं मुहुर्नत्वा मुदान्वितः। सद्धर्मश्रवणायासौ नरकोष्ठे ह्युपाविशत् ॥९३॥
तत्रासीनो नृपो भक्त्या शुश्राव ध्वनिना गुरोः। धर्मं यतिगृहस्थानां तत्त्वानि सकलानि च ॥९४॥
पुराणानि जिनेशानां पुण्यपापफलानि च। लक्षणानि सुधर्मस्य क्षमादीनि व्रतानि च ॥९५॥
ततः श्रीगौतमं नत्वा प्राक्षीदिति महीपतिः। भगवन् मद्दयां कृत्वा प्राग्जन्मानि ममादिश ॥९६॥
तच्छ्रुत्वेति गणेशोऽवादीत्तं प्रति परार्थकृत्। शृणु धीमन् प्रवक्ष्ये ते वृत्तकं त्रिभवाश्रितम् ॥९७॥
इह जम्बूमति द्वीपे विन्ध्याद्रौ कुटवाह्वये। वने खदिरसाराख्यः किरातो भद्रकोऽवसत् ॥९८॥
सोऽन्यदा वीक्ष्य पुण्येन समाधिगुप्तयोगिनम्। विश्वजन्तुहितोद्युक्तं शिरसा प्राणमत्सुधीः ॥९९॥
धर्मलाभोऽस्तु ते भद्र ह्याशीर्वादं स इत्यदात्। तदाकर्ण्य किरातोऽसावित्यपृच्छन्मुनीश्वरम् ॥१००॥
स धर्मः कीदृशो नाथ किं कृत्यं तेन देहिनाम्। किमस्य कारणं कोऽत्र लाभ एतन्ममादिश ॥१०१॥
तच्छ्रुत्वोवाच योगीति त्यागो यः क्रियते बुधैः। मधुमांससुरादीनां स धर्मो वधदूरगः ॥१०२॥

जीवन और मनुष्य जन्म पाना सफल हो गया, क्योंकि हमें आप-जैसे जगद्-गुरु प्राप्त हुए हैं ॥८८॥ आपके चरण-कमलोंके देखनेसे आज हमारे ये दोनों नेत्र सफल हो गये हैं, आपके चरण-कमलोंको प्रणाम करनेसे हे देव, हमारा यह सिर सार्थक हो गया है। हे स्वामिन्, आज आपके चरणोंकी पूजासे मेरे दोनों हाथ धन्य हो गये हैं, आपकी दर्शन-यात्रासे हमारे दोनों पैर कृतकृत्य हो गये हैं और आपके स्तवनसे हमारी वाणी सार्थक हो गयी है ॥८९-९०॥ आज मेरा मन आपका ध्यान करने और गुणोंके चिन्तनसे पवित्र हो गया, आपकी सेवा-शुश्रूषासे सारा शरीर पवित्र हो गया और हमारे पापरूपी शत्रुका नाश हो गया है ॥९१॥ हे नाथ, आप-जैसे जहाजको पा करके यह अपार संसार-सागर चुल्लू-भर जलके समान प्रतिभासित हो रहा है। इसलिए अब हमें क्या भय है ॥९२॥ इस प्रकार जगत्के नाथ वीर प्रभुकी स्तुति कर, पुनः हर्षसे संयुक्त हो नमस्कार कर उत्तम धर्मको सुननेके लिए मनुष्योंके कोठेमें जा बैठा ॥९३॥ वहाँपर बैठे हुए राजाने भक्तिसे जगद्-गुरुकी दिव्यध्वनिके द्वारा मुनि और गृहस्थोंका धर्म, सर्व तत्त्व, जिनेन्द्रोंके पुराण, पुण्य-पापके फल, सुधर्मके क्षमादिक लक्षण, और अहिंसादि व्रतोंको सुना ॥९४-९५॥ तत्पश्चात् श्रेणिक राजाने श्रीगौतम प्रभुको नमस्कार कर पूछा—हे भगवन्, मेरे ऊपर दया करके मेरे पूर्वजन्मोंको कहिए ॥९६॥ श्रेणिकके प्रश्नको सुनकर परोपकारी श्री गौतमगणधर बोले—हे श्रीमन्, मैं तेरे तीन भवसे सम्बन्ध रखनेवाले वृत्तान्तको कहता हूँ सो तू सुन ॥९७॥

इसी जम्बूद्वीपमें विन्ध्याचल पर कुटव नामक वनमें एक खदिरसार नामका भला भील रहता था ॥९८॥ उस बुद्धिमान्ने किसी समय पुण्योदयसे सर्व प्राणियोंके हित करनेमें उद्यत समाधिगुप्त योगीको देखकर प्रणाम किया ॥९९॥ उन्होंने 'हे भद्र, तुझे धर्मलाभ हो' यह आशीर्वाद दिया। यह सुनकर उस भीलने मुनीश्वरसे पूछा—हे नाथ, वह धर्म कैसा है, उससे प्राणियोंका क्या कार्य सिद्ध होता है; उसका क्या कारण है और उससे इस लोकमें क्या लाभ है, यह मुझे बतलाइए ॥१००-१०१॥ उसके इन वचनोंको सुनकर योगिराजने कहा—हे भव्य, मधु, मांस और मदिरा आदिके खान-पानका बुद्धिमानोंके द्वारा त्याग किया जाना

तत्कृते तु परं पुण्यं पुण्यात्स्वर्गसुखं महत् । धर्मस्य योऽत्र लाभः स्याद्धर्मलाभः स उच्यते ॥१०३॥
तदाकर्ण्य जगौ भिल्ल इत्थं तं प्रति भो मुने । नाहं मांससुरादीनां त्यागं कर्तुं क्षमोऽञ्जसा ॥१०४॥
तदाकूतं ततो ज्ञात्वा मुनिराह वनेचरम् । काकमांसं त्वया पूर्वं भक्षितं किं न वा दिश ॥१०५॥
तदाकर्ण्य स इत्याख्यत्कदाचित्तन्न भक्षितम् । मया ततो यमी प्राह यद्येवं तर्हि शर्मणे ॥१०६॥
भद्र त्वं नियमं तस्य गृहाण भक्षणेऽधुना । नियमेन विना यस्माज्जातु पुण्यं न धीमताम् ॥१०७॥
सोऽपि तद्वाक्यमाकर्ण्य संतुष्टो दीयतां व्रतम् । इत्युक्त्वाशु तदादाय यतिं नत्वा गृहं ययौ ॥१०८॥
कदाचित्तस्य संजातेऽसाध्ये रोगेऽशुभोदयात् । वैद्यस्तच्छान्तये काकमांसौषधं किलादिशत् ॥१०९॥
तदा तद्भक्षणे दक्षः स्वजनैः प्रेरितोऽवदत् । स इत्यहो व्रतं त्यक्त्वा दुर्लभं भवकोटिभिः ॥११०॥
रक्ष्यन्ते ये शठैः प्राणास्तैः किं साध्यं सुधर्मिणाम् । यतो भवे भवे प्राणाः स्युः स्यान्न च शुभं व्रतम् ॥
वरं प्राणपरित्यागो व्रतभङ्गान्न जीवितम् । प्राणत्यागाद्भवेत्स्वर्गः श्वभ्रं च व्रतभङ्गतः ॥११२॥
इति तन्नियमं श्रुत्वा सारसाख्यपुरात्तदा । आगच्छंस्तत्पुरं सूरवीरस्तन्मिथुनः शुचा ॥११३॥
महागहनमध्यस्थस्य वटस्याप्यधस्तले । कांचिद्देवीं रुदन्तीं संवीक्ष्याप्राक्षीदिति स्फुटम् ॥११४॥
का त्वं वा हेतुना केन रोदिषि ब्रूहि देवते । तदाकर्ण्यावदत्सेदं शृणु भद्र वचो मम ॥११५॥
वनयक्षी वसाम्यत्र वनेऽहं व्याधिपीडितः । त्वन्मैथुनो गतायुःखदिरसारोऽशुभाद्य यः ॥११६॥

और जीव-हिंसासे दूर रहना धर्म है ॥१०२॥ उस धर्मके करने पर उत्तम पुण्य होता है, पुण्यसे महान् स्वर्ग-सुख प्राप्त होता है। ऐसे धर्मका जो लाभ (प्राप्ति) यहाँपर हो, वही धर्मलाभ कहा जाता है ॥१०३॥ यह सुनकर वह भील उनसे इस प्रकार बोला—हे मुनिराज, मैं मांस-भक्षण और मदिरा-पान आदिका निश्चित रूपसे त्याग करनेके लिए समर्थ नहीं हूँ ॥१०४॥ तब उसका अभिप्राय जानकर मुनिराजने उस भीलसे कहा—क्या तूने पहले कभी काकका मांस खाया, अथवा नहीं, यह मुझे बता ॥१०५॥ यह सुनकर वह बोला—मैंने कभी काक-मांस नहीं खाया है। तब योगी बोले—यदि ऐसी बात है तो हे भद्र, सुख-प्राप्तिके लिए तू अब उसके खानेके त्यागका नियम ग्रहण कर। क्योंकि नियमके बिना बुद्धिमानोंको कभी पुण्य प्राप्त नहीं होता है ॥१०६-१०७॥ वह भील भी मुनिराजके यह वचन सुनकर सन्तुष्ट होकर बोला—'तब मुझे व्रत दीजिए', ऐसा कहकर और उनसे काक-मांस नहीं खानेका शीघ्र व्रत लेकर और मुनिको नमस्कार कर अपने घर चला गया ॥१०८॥

अथानन्तर किसी समय पापके उदयसे उसके असाध्य रोगके उत्पन्न होनेपर वैद्यने उस रोगकी शान्तिके लिए 'काक-मांस औषध है', ऐसा कहा ॥१०९॥ तब काक-मांसके खानेके लिए स्वजनोंसे प्रेरित हुआ वह चतुर भील इस प्रकार बोला—अहो, कोटि भवोंमें बड़ी कठिनतासे प्राप्त व्रतको छोड़कर जो अज्ञानी अपने प्राणोंकी रक्षा करते हैं, उनसे धर्मात्माओंका क्या प्रयोजन साध्य है? क्योंकि प्राण तो भव-भवमें सुलभ हैं, किन्तु शुभव्रत पाना सुलभ नहीं है ॥११०-१११॥ इसलिए प्राणोंका परित्याग करना उत्तम है, किन्तु व्रत-भंग करके जीवित रहना अच्छा नहीं है। व्रतकी रक्षा करते हुए प्राण-त्यागसे स्वर्ग प्राप्त होगा और व्रत-भंग करनेसे नरक प्राप्त होगा ॥११२॥ (इस प्रकार कहकर उसने औषधरूपमें भी काक-मांसको खाना स्वीकार नहीं किया। रोग उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। यह समाचार उसकी ससुराल पहुँचा।) तब उसके इस नियमको सुनकर शूरवीर नामका उसका साला शोकसे पीड़ित होकर अपने सारसपुरसे चला और मार्गमें आते हुए उसने महागहन वनके मध्यमें स्थित वटवृक्षके नीचे रोती हुई किसी देवीको देखकर पूछा—हे देवते, तू कौन है, और किस कारणसे रो रही है? यह सुनकर वह बोली—हे भद्र, तुम मेरे यह वचन सुनो ॥११३-११५॥ मैं वनयक्षी हूँ और इस वनमें रहती हूँ। पापके उदयसे [illegible] खदिरसार बहनोई [illegible]

काकमांसनिवृत्त्यात्तपुण्यान्मे भविता पतिः । मांसं भोजयितुं गच्छन् मज्जनं कर्तुमिच्छसि ॥११७॥
नरके घोरदुःखानां तस्य त्वं हि वृथा शठ । अनेन हेतुनाद्याहं करोमि रोदनं शुचा ॥११८॥
श्रुत्वा तदुक्तिमित्याह स हे देवि शुचं त्यज । नाहं तन्नियमस्यैव जातु भङ्गं करोम्यहम् ॥११९॥
इत्युक्त्वा तां स संतोष्य मङ्क्ष्वासाद्य तमातुरम् । परिणामपरीक्षार्थं तस्येदमब्रवीद्वचः ॥१२०॥
मित्रामयापनोदार्थं प्रभोक्तव्यमिदं त्वया । सत्यत्र जीवितव्ये भोः सत्पुण्यं क्रियते मुहुः ॥१२१॥
तच्छ्रुत्वा सोऽवदद्धीमान् सुहृत्प्रोक्तमिदं वचः । नोचितं ते जगन्निन्द्यं श्वभ्रदं धर्मनाशकृत् ॥१२२॥
अन्तावस्था ममायातो यमतो ब्रूहि संप्रति । किंचिद्धर्माक्षरं येनामुत्रात्मा मे सुखायते ॥१२३॥
ज्ञात्वा तन्निश्चयं सोऽनु यक्ष्याः सर्वं कथानकम् । फलं च तद्व्रतस्यैव सुप्रीत्या तमबूबुधत् ॥१२४॥
तच्छ्रुत्वाथ स संवेगं धर्मे धर्मफले सुधीः । त्यक्त्वा समस्तमांसादीन् जग्राहाणुव्रतानि च ॥१२५॥
कालान्ते तत्फलेनासौ मुक्त्वा प्राणान् समाधिना । महर्धिकामरो जातः सौधर्मेऽनेकशर्मभाक् ॥१२६॥
सूरवीरस्ततो गच्छन् स्वपुरं तत्र वीक्ष्य ताम् । साश्चर्यहृदयो यक्षीमित्यपृच्छद् गिरा स्वयम् ॥१२७॥
देवि मन्मैथुनः किं ते पतिर्जातो न वाधुना । साहेदं मे पतिर्नासीत्स किन्तु निर्जरोऽजनि ॥१२८॥
सर्वव्रतोत्थपुण्येन कल्पे सौधर्मनामनि । महर्धिको गुणाढ्योऽस्मद्व्यन्तरत्वपराङ्मुखः ॥१२९॥
तत्र भुङ्क्ते परं सौख्यं देवीनिकरसंभवम् । स्वर्गलक्ष्मीं स आसाद्य कुर्वन् पूजां जिनेशिनाम् ॥१३०॥
तदाकर्ण्य स इत्थं स्वहृदयेऽचिन्तयत्सुधीः । अहो पश्य व्रतस्येदं प्रवरं फलमञ्जसा ॥१३१॥

पीड़ित है। वह मरकर काक-मांसकी निवृत्तिसे प्राप्त पुण्यके फलसे मेरा पति होगा। किन्तु हे शठ, काक-मांस खिलानेके लिए जाते हुए तुम उसे नरकमें भेजकर वृथा ही घोर दुःखोंका भाजन बनाना चाहते हो। इस कारण शोकसे आज मैं रोदन कर रही हूँ ॥११६-११८॥ उसकी यह बात सुनकर वह बोला—हे देवि, तुम शोकको छोड़ो, मैं उसके नियमका कभी भी भंग नहीं करूँगा ॥११९॥

इस प्रकार कहकर और उसे सन्तुष्ट कर वह शीघ्र उस बीमार खदिरसारके पास आया और उसके परिणामोंकी परीक्षाके लिए ये वचन बोला ॥१२०॥ हे मित्र, रोगके दूर करनेके लिए तुम्हें यह काक-मांस उपयोगमें लेना चाहिए। अरे, जीवनके रहनेपर यह पुण्य तो फिर भी किया जा सकता है ॥१२१॥ अपने सालेके यह वचन सुनकर वह बुद्धिमान् खदिरसार बोला—हे मित्र, ये लोक-निन्द्य, नरक देनेवाले और धर्मके नाशक वचन कहना उचित नहीं है ॥१२२॥ मेरी यह अन्तिम अवस्था आ गयी है, अतः इस समय तुम धर्मके कुछ अक्षर बोलो, जिससे कि परलोकमें मेरी यह आत्मा सुखी होवे ॥१२३॥ उसका यह निश्चय जानकर तत्पश्चात् उसने यक्षीका सर्व कथानक और उसके व्रतका फल अतिप्रीतिसे खदिरसारको बतलाया ॥१२४॥ उसके वचन सुनकर उस सुधी खदिरसारने धर्म और धर्मके फलमें संवेगको धारण कर और सर्व प्रकारके मांसादिकको छोड़कर अणुव्रतोंको ग्रहण कर लिया ॥१२५॥ जीवन-कालके अन्तमें प्राणोंको समाधिसे त्यागकर, वह उसके फलसे सौधर्म स्वर्गमें अनेक सुखोंका भोक्ता महर्धिक देव हुआ ॥१२६॥

तत्पश्चात् अपने नगरको जाते हुए सूरवीरने वनके उसी स्थानपर उस यक्षीको देखकर आश्चर्ययुक्त हृदय होकर उससे स्वयं ही पूछा—हे देवि, मेरा वह बहनोई क्या अब तेरा पति हुआ है, अथवा नहीं हुआ है? वह बोली—वह मेरा पति नहीं हुआ, किन्तु सर्व व्रतोंसे उपार्जित पुण्यसे सौधर्म नामके प्रथम स्वर्गमें हमारी व्यन्तरोंकी क्षुद्रजातिसे पराङ्मुख, उत्कृष्ट जातिका महाऋद्धिधारी देव हुआ है ॥१२७-१२९॥ वहाँपर वह स्वर्गकी लक्ष्मीको पाकर जिनेश्वर देवकी पूजाको करता हुआ देवियोंके समूहसे उत्पन्न हुए परम सुखको भोग रहा है ॥१३०॥ यक्षीकी यह बात सुनकर वह बुद्धिमान् सूरवीर अपने हृदयमें इस प्रकार विचारने

येन व्रतेन लभ्यन्तेऽमुत्रदृश्योऽत्र संपदः । विना तेन न योग्यैका नेतुं कालकला क्वचित् ॥१३२॥
विचिन्त्येति स गत्वाशु समाधिगुप्तयोगिनम् । नत्वा मुदाग्रहीद् भव्यो व्रतानि गृहमेधिनाम् ॥१३३॥
स्वर्गात्खदिरसाराङ्गिदेवो भुक्त्वा सुखं महत् । स द्विसागरपर्यन्तं च्युत्वा पुण्यविपाकतः ॥१३४॥
सूनुः कुणिकभूपस्य श्रीमत्याश्च नृपोत्तमः । जातस्त्वं श्रेणिको नाम्ना भव्यश्रेणिशिवाग्रणीः ॥१३५॥
तत्कथाश्रवणात्प्राप्य तत्त्वे श्रद्धां परां नृपः । जिनेन्द्रधर्मगुर्वादौ पुनर्नत्वा पप्रच्छ तम् ॥१३६॥
देव मे महती श्रद्धा विद्यते धर्मकर्मणि । हेतुना केन न स्याच्च मनाग्व्रतगुणोऽधुना ॥१३७॥
उवाचेदं ततो योगी धीमंस्त्वं बद्धवानिह । प्रागेव नरकायुष्कं गाढमिथ्यात्वभावतः ॥१३८॥
हिंसादिपञ्चपापाच्च बह्वारम्भपरिग्रहात् । अतीवविषयासक्त्या बौद्धभक्त्या वृषादृते ॥१३९॥
तेन दोषेण ते नास्ति मनाग्व्रतपरिग्रहः । बद्धदेवायुषो यस्मात्स्वीकुर्वन्ति द्विधा व्रतम् ॥१४०॥
आज्ञाख्यं मार्गसम्यक्त्वं ह्युपदेशाभिधं ततः । सूत्राह्वयं च बीजाख्यं संक्षेपाख्यं सविस्तरम् ॥१४१॥
अर्थोत्थमवगाढं परमावगाढसंज्ञकम् । दशधेति सुसम्यक्त्वं सोपानं प्रथमं शिवे ॥१४२॥
सर्वज्ञाज्ञानिमित्तेन षड्द्रव्यादिषु या रुचिः । जायते महती तत्स्यादाज्ञासम्यक्त्वमुत्तमम् ॥१४३॥
अत्र निःसङ्गनिश्चेलपाणिपात्रादिलक्षणम् । श्रुत्वा या मोक्षमार्गस्य श्रद्धा तन्मार्गदर्शनम् ॥१४४॥
त्रिषष्टिपुरुषादीनां पुराणश्रवणाच्च यः । सद्यः स्यान्निश्चयोऽत्रैतदुपदेशाख्यदर्शनम् ॥१४५॥

लगा—अहो, व्रतको शीघ्र प्राप्त हुए उत्तम फलको देखो ॥१३१॥ जिस व्रतके द्वारा परलोकमें ऐसी स्वर्ग-सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं, उस व्रतके विना मनुष्यको कालकी एक कला भी कभी विताना योग्य नहीं है ॥१३२॥ ऐसा विचार कर और शीघ्र ही समाधिगुप्त मुनिराजके पास जाकर, उन्हें नमस्कार कर उस भव्यने गृहस्थोंके व्रतोंको हर्षके साथ ग्रहण कर लिये ॥१३३॥

खदिरसारका जीव वह देव दो सागरोपम काल तक वहाँके महासुखोंको भोगकर और स्वर्गसे च्युत होकर पुण्यके विपाकसे कुणिक राजा और श्रीमती रानीके श्रेणिक नामसे प्रसिद्ध नृपोत्तम और भव्य जीवोंकी पंक्तिमें-से मोक्ष जानेमें अग्रेसर पुत्र हुआ है ॥१३४-१३५॥ अपने पूर्वजन्मकी इस कथाको सुननेसे तत्त्वोंमें जिनेन्द्रदेव, जिनधर्म और जिनगुरु आदिमें परम श्रद्धाको प्राप्त होकर उन्हें नमस्कार कर पुनः पूछा ॥१३६॥ हे देव, धर्मकार्यमें मेरी भारी श्रद्धा है, किन्तु किस कारणसे अभी तक मेरे कोई जरा-सा भी व्रत या गुण धारण करनेका भाव नहीं हो रहा है ॥१३७॥ यह सुनकर गौतम गणधरने कहा—हे सुधी, तीव्र मिथ्यात्वभावके द्वारा आजसे पूर्व ही तूने इसी जीवनमें हिंसादि पाँचों पापोंके आचरणसे, बहुत आरम्भ और परिग्रहसे, अत्यन्त विषयासक्तिसे और सत्य धर्मके विना बौद्धोंकी भक्तिसे नरकायुको बाँध लिया है, अतः उस दोषसे तेरे रंचमात्र भी व्रतका परिग्रह नहीं है। क्योंकि देवायुको बाँधनेवाले जीव ही मुनि और श्रावकके दो भेदरूप धर्मको स्वीकार करते हैं ॥१३८-१४०॥ (अपने नरकायुका बन्ध सुनकर राजा श्रेणिक मन ही मन विचारने लगा—अहो भगवान्, तब इससे मेरा कैसे छुटकारा होगा? उसके मनकी यह बात जानकर गौतमने कहा—) संसारसे उद्धार करनेवाला सम्यक्त्व है। यह दश प्रकारका है—१ आज्ञासम्यक्त्व, २ मार्ग सम्यक्त्व, ३ उपदेशसम्यक्त्व, ४ सूत्रसम्यक्त्व, ५ बीजसम्यक्त्व, ६ संक्षेपसम्यक्त्व, ७ विस्तारसम्यक्त्व, ८ अर्थोत्पन्नसम्यक्त्व, ९ अवगाढसम्यक्त्व और १० परमावगाढ-सम्यक्त्व। यह दश प्रकारका सम्यक्त्व मोक्षरूप प्रासादमें जानेके लिए प्रथम सोपान है ॥१४१-१४२॥ सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके निमित्तसे जीवादि छह द्रव्योंमें दृढ रुचि या श्रद्धा होती है, वह उत्तम आज्ञासम्यक्त्व है ॥१४३॥ यहाँ पर परिग्रह-रहित निर्ग्रन्थ ([illegible] दिगम्बर) और पाणिपात्रभोजी साधु आदिके लक्षणवाले जिनेन्द्र धर्मकी [illegible] जो दृढ श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह मार्ग सम्यक्त्व है ॥१४४॥ [illegible]

[illegible] । प्रादुर्भूता [illegible] तत् ॥१४६॥
[illegible] । प्रादुर्भवति भव्यानां बीजदर्शनमेव तत् ॥१४७॥
[illegible] । संक्षेपदर्शनं तद्धि कथ्यते शर्मकारणम् ॥१४८॥
[illegible] । यो निश्चयोऽत्र तत्सारं सम्यक्त्वं विस्ताराह्वयम् ॥१४९॥
[illegible] । [illegible] या रुचिस्तदर्थदर्शनम् ॥१५०॥
[illegible] । [illegible] क्षीणकषायस्यावगाढं दर्शनं हि तत् ॥१५१॥
[illegible] । या सम्यक्त्वं परं तत्परमावगाढसंज्ञकम् ॥१५२॥ ८
[illegible] । तेषां मध्ये कियन्तस्ते तद्भेदाः सन्ति भूपते ॥१५३॥
[illegible] षोडशकारणैः । समस्तैश्च जगद्वन्द्यैरन्ते श्रीत्रिजगद्गुरोः ॥१५४॥
[illegible] । ध्रुवं रत्नप्रभामन्ते कर्मपाकेन यास्यसि ॥१५५॥
[illegible] कालाब्दमानकैः । तस्मान्निर्गत्य भव्यस्त्वं महापद्माख्यतीर्थकृत् ॥१५६॥
[illegible] धर्मतीर्थप्रवर्तकः । आगाम्युत्सर्पिणीकाले प्रथमः क्षेमकृत्सताम् ॥१५७॥
[illegible] मा भैषीः संसृतेर्यतः । भ्रमन्तः प्राणिनोऽनेकवारान् प्राङ्नरकं गताः ॥१५८॥
[illegible] श्रेणिकस्तदा । विषण्णस्तं पुनर्नत्वेत्यपृच्छच्छ्रीगणाधिपम् ॥१५९॥
[illegible] पुरेऽत्रास्मिन् विशाले पुण्यधामनि । मां विनाधोगतिं कश्चिदन्यो यास्यति वा न च ॥१६०॥

महामानवोंके पुराणोंको सुननेसे जो आत्म-निश्चय या धर्म-श्रद्धान उत्पन्न होता है, वह लोकमें उपदेशनामक सम्यक्त्व है ॥१४५॥ आचारादि अंगोंमें कही तपश्चरणक्रियाके सुननेसे ज्ञानियोंको जो उसमें रुचि उत्पन्न होती है, वह सूत्रसम्यक्त्व है ॥१४६॥ बीजपदोंको ग्रहण करनेसे और उनके सूक्ष्म अर्थके सुननेसे भव्यजीवोंके जो तत्त्वार्थमें रुचि उत्पन्न होती है, वह बीज सम्यक्त्व है ॥१४७॥ जीवादि पदार्थोंके संक्षेप कथनको सुनकर ही जो बुद्धिमानों के हृदयमें श्रद्धा उत्पन्न होती है वह सुखकारण संक्षेपसम्यक्त्व कहा जाता है ॥१४८॥ जीवादि पदार्थोंके विस्तार-युक्त कथनको सुनकर प्रमाण और नयोंके विस्तारद्वारा जो धर्ममें निश्चय उत्पन्न होता है, वह विस्तार सम्यक्त्व है ॥१४९॥ द्वादशांगश्रुतरूप समुद्रका अवगाहन कर वचन-विस्तारको छोड़कर और अर्थमात्रको अवधारण कर जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह अर्थसम्यक्त्व है ॥१५०॥ अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुतके रहस्य चिन्तनसे क्षीणकषायी योगीके जो दृढ़ रुचि उत्पन्न होती है, वह अवगाढ़सम्यक्त्व है ॥१५१॥ तथा केवलज्ञानके द्वारा अवलोकित समस्त पदार्थोंपर जो चरम सीमाको प्राप्त अत्यन्त दृढ़ रुचि उत्पन्न होती है वह परमावगाढ़ नामका सम्यक्त्व है ॥१५२॥ इस प्रकार जिनेन्द्र देवने तात्त्विक दृष्टिसे सम्यक्त्वके दश भेद कहे हैं। हे राजन्, उनमें-से कितने भेद तेरे हैं ॥१५३॥ जगद्-वन्द्य दर्शनविशुद्धि आदि षोड़श कारणोंमेंसे कुछ या सब कारणोंसे त्रिजगद्-गुरु श्री वर्धमान-स्वामीके समीप जगत्में आश्चर्यका कारण तीर्थंकर नामकर्म यहाँपर निश्चयसे बाँधकर जीवनके अन्तमें पूर्वोपार्जित कर्मके उदयसे रत्नप्रभापृथिवीवाले नरकमें जाओगे। वहाँपर उपार्जित कर्मोंका फल भोगकर आगामी चार काल-प्रमाण अर्थात् चौरासी हजार वर्षोंके बाद वहाँसे निकलकर हे भव्य, तू महापद्मनामका धर्मतीर्थका प्रवर्तक, सज्जनोंका क्षेम-कुशलकर्ता, आगामी उत्सर्पिणी कालमें प्रथम तीर्थंकर होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥१५४–१५७॥ हे राजन्, तुम निकटभव्य हो, अब इस अल्पकालिक संसारके परिभ्रमणसे मत डरो। क्योंकि इसके भीतर परिभ्रमण करनेवाले प्राणी अनेक बार पहले नरक गये हैं ॥१५८॥ अपनी रत्न-प्रभागत नरककी प्राप्तिकी बात सुनकर विषादको प्राप्त हुए श्रेणिकने पुनः श्री गौतमगणधरको नमस्कार करके इस प्रकार पूछा ॥१५९॥ हे भगवन्, इस विशाल, पुण्यधामवाले मेरे नगरमें

तदनुग्रहधर्माय ततः श्रीगौतमो जगौ। शृणु धीमन् वचस्तथ्यं भवच्छोकापनोदकम् ॥१६१॥
कालशौकरिकोऽत्रैव पुरे नीचकुले भृशम्। भवस्थितिवशाद् बद्धमनुष्यायुः कुकर्मणा ॥१६२॥
सप्तकृत्वोऽधुना जातिस्मरो भूत्वेत्यचिन्तयत्। पुण्यपापफलेनाहो संबन्धोऽस्त्यङ्गिनां यदि ॥१६३॥
तर्हि पुण्यादृते कस्मात्प्राप्तोऽयं नृभवो मया। ततः पापं न पुण्यं वा श्रेयो वैषयिकं सुखम् ॥१६४॥
इति मत्वा स पापात्मा भूत्वा निःशङ्क एव च। हिंसादिपञ्चपापानि मांसाद्याहारमञ्जसा ॥१६५॥
करोति तत्फलेनैव बह्वारम्भपरिग्रहैः। बद्धश्वभ्रायुरन्तेऽधाद्यास्यस्ति श्वभ्रमन्तिमम् ॥१६६॥
शुभाख्या द्विजपुत्री च रागान्धा मदविह्वला। उग्रस्त्रीवेदपाकेन निःशीला निर्विवेकिनी ॥१६७॥
गुणशीलसदाचारान् वीक्ष्य श्रुत्वातिकोपिनी। अतीवेन्द्रियलाम्पट्यान्नरकायुर्बबन्ध च ॥१६८॥
रौद्रध्यानेन मृत्वेति ततः सात्र गमिष्यति। सर्वदुःखखनीं निन्द्यां पापात्तमःप्रभावनिम् ॥१६९॥
इति तद्वचनस्यान्ते प्रणिपत्य गणाधिपम्। अभयाख्यः कुमारः पप्रच्छ स्वस्य भवान्तरम् ॥१७०॥
तदनुग्रहबुद्धयासौ प्राह तस्य भवावलीम्। इहैव भरते विप्रतनूजः सुन्दराभिधः ॥१७१॥
मूढत्रययुतो भद्रो मिथ्यादृष्टिर्व्रजन् पथि। वेदाभ्यासाय स जैनार्हद्दासेन समं कुधीः ॥१७२॥
वीक्ष्य पाषाणराशिं च पिप्पलाधःस्थितां पराम्। देवोऽयं मम हीत्युक्त्वानमत्परीत्य तं द्रुमम् ॥१७३॥
तच्चेष्टां वीक्ष्य तद्बोधनाय प्रहस्य तं तरुम्। पादेन मर्दनं कृत्वाश्वर्हद्दासो बभञ्ज सः ॥१७४॥

मेरे विना क्या और कोई पुरुष अधोगति (नरक) को जायेगा, या नहीं? श्रेणिककी बात सुनकर उसके अनुग्रह करनेके लिए श्रीगौतमने कहा—हे धीमन्, तेरे शोकको दूर करनेवाले मेरे यथार्थ वचन सुनो ॥१६०-१६१॥ इसी राजगृहनगरमें भवस्थितिके वशसे पूर्वभवमें मनुष्यायुको बाँधकर नीचगोत्रके उदयसे अत्यन्त नीच कुलमें उत्पन्न हुआ कालशौकरिक नामका कसाई रहता है। अब उसे सात भव-सम्बन्धी जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हुआ है, अतः वह विचारने लगा है कि यदि पुण्य-पापके फलसे जीवोंका सम्बन्ध होता, तो मैंने पुण्यके विना यह मनुष्य जन्म कैसे पा लिया? इसलिए न पुण्य है और न पाप है। किन्तु इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न हुआ वैषयिक सुख ही कल्याण-कारक है ॥१६२-१६४॥ ऐसा मानकर वह पापात्मा निःशंक होकर हिंसादि पाँचों पापोंको और मांसादिके आहारको निश्चयतः करता है। इन पापोंके फलसे तथा बहुत आरम्भ और परिग्रहसे उसने नरकायुको बाँध लिया है। जीवनके अन्तमें वह उक्त पापोंके उदयसे अन्तिम (सातवें) नरकको जायेगा ॥१६५-१६६॥ तथा इसी नगरमें शुभानामवाली एक ब्राह्मणपुत्री है, वह रागसे अन्धी और मदसे विह्वल है। तीव्र स्त्रीवेदके उदयसे शील-रहित है, अर्थात् व्यभिचारिणी है, और विवेक-रहित है। वह गुणी, शीलवान् और सदाचारी पुरुषोंको देखकर और सुनकर अत्यन्त कुपित होती है। उसने भी इन्द्रिय विषय-सेवनकी अतीव लम्पटतासे नरकायु बाँध ली है। वह भी जीवनके अन्तमें रौद्रध्यानसे मरकर पापके फलसे निन्द्य और सर्वदुःखोंकी खानिस्वरूप तमःप्रभा नामकी छठी नरकभूमि जायेगी ॥१६७-१६९॥ (यह सुनकर राजा श्रेणिक कुछ आश्वस्त हुआ।)

जब गौतमस्वामी नरक जानेवाले उक्त दोनोंकी बात कह चुके, तब अभयकुमारने गणधरदेवको नमस्कार करके अपने पूर्वभवोंको पूछा ॥१७०॥ उसके अनुग्रहकी बुद्धिसे गौतमस्वामीने उसकी भवावलीको इस प्रकारसे कहना प्रारम्भ किया—हे भद्र, इस भरत क्षेत्रमें सुन्दरनामका एक ब्राह्मणपुत्र था। वह तीन मूढ़ताओंसे युक्त मिथ्यादृष्टि था। वह कुबुद्धि वेदोंके अभ्यासके लिए एकबार जब अर्हद्दास जैनीके साथ मार्गमें जा रहा था, तब किसी स्थान पर पीपलके वृक्षके नीचे रखी हुई पत्थरोंकी राशिको देखकर 'यह मेरा देव है' ऐसा कहकर और उस वृक्षकी तीन प्रदक्षिणा देकर उसने उसे नमस्कार किया ॥१७१-१७३॥ उसकी यह चेष्टा देखकर उसे समझानेके लिए अर्हद्दासने हँसकर और पैरसे उसे मर्दन कर उसे

ततोऽग्रे कपिरोमाख्यवल्लीजालं समाप्य सः । श्रावको मद्देवोऽयमित्युक्त्वा माययानमत् ॥१७५॥
कराभ्यां सुन्दरश्छिन्दन् विगृह्णंस्तत्तदीर्ष्यया । सर्वाङ्गे तत्कृतासह्यकण्डूयबाधनात्तराम् ॥१७६॥
भीत्वा तस्माज्जजल्पेति सत्यस्ते देव एव हि । ततो विहस्य जैनोऽवादीत्तत्संबोधहेतवे ॥१७७॥
रे भद्र तरवोऽत्रैते निग्रहानुग्रहच्युताः । एकेन्द्रियत्वमापन्नाः पापाद्देवा न जातुचित् ॥१७८॥
किन्तु तीर्थंकरा एव भुक्तिमुक्तिकराः सताम् । त्रिजगज्ज्ञानतोऽभ्यर्च्या देवाः स्युर्नात्र चापरे ॥१७९॥
इत्यादिवचनैस्तस्य देवमौढ्यं निराकरोत् । ततः क्रमाद् द्विजौ गच्छन्तौ गङ्गातीरमागतौ ॥१८०॥
तीर्थनीरमिदं नूनं पवित्रं शुद्धिकारणम् । इत्युक्त्वा तज्जलैः स्नात्वा मिथ्यादृष्टिरवन्दत ॥१८१॥
तत्रास्मै भोक्तुकामाय भुक्त्वा भोक्तुं स्वयं ददौ । स्वोच्छिष्टान्नं च गङ्गाम्बुमिश्रितं श्रावकोत्तमः ॥१८२॥
तं दृष्ट्वाहं कथं भुञ्जेऽन्योच्छिष्टमिति सोऽवदत् । ततो जैन उवाचेदं तस्य सन्मार्गसिद्धये ॥१८३॥
मित्राशुद्धं मयोच्छिष्टं गङ्गाम्बु यदि निन्दितम् । गर्दभाद्यैस्तदुच्छिष्टं कथं शुद्धं च शुद्धिदम् ॥१८४॥
अतो जलं न तीर्थं न जातु शुद्धिकरं नृणाम् । स्नानं तथाङ्गिघाताच्च केवलं पापकारणम् ॥१८५॥
देहोऽशुच्याकरे नित्यं स्वभावान्निर्मलोऽसुमान् । शुद्धिं स्नानेन नायाति तस्मात्स्नानं वृथावदम् ॥१८६॥
स्नानेन यदि शुद्धाः स्युर्मिथ्यात्वादिमलीमसाः । तर्हि मत्स्यादयो वन्द्याः शुद्धये न दयान्विताः ॥१८७॥
किन्त्वर्हत्तीर्थमेवात्र तद्वाक्यामृतमुत्तमम् । विद्धि शुद्धिकरं पुंसामन्तःपापमलापहम् ॥१८८॥

तोड़ दिया ॥१७४॥ वहाँसे आगे जानेपर कपिरोमा (करेंच) नामकी वेलिके समूहको देखकर उस अर्हद्दास श्रावकने 'यह मेरा देव है' ऐसा कहकर मायाचारसे उसे नमस्कार किया ॥१७५॥ यह देखकर उस सुन्दर ब्राह्मण-पुत्रने पहलेकी ईर्ष्यासे उसे दोनों हाथोंसे उखाड़कर और उसकी फलियोंको मसलकर सारे शरीरमें रगड़ डाला। उसकी रगड़से उसके सारे शरीरमें असह्य वेदना हुई। उससे डरकर वह अर्हद्दाससे बोला—अहो, तेरा देव सच्चा है। तब वह जैनी हँसकर उसके सम्बोधनके लिए बोला ॥१७६-१७७॥ अरे भद्र, ये वृक्ष पापके उदयसे यहाँ एकेन्द्रिय वनस्पतिकी पर्यायको प्राप्त हैं। ये किसीका निग्रह या अनुग्रह करनेमें असमर्थ हैं, ये कभी देव नहीं कहे जा सकते ॥१७८॥ किन्तु सच्चे देव तो तीर्थंकर ही हैं, जो कि सांसारिक सुख और मुक्तिको देनेवाले हैं, तीन लोकके ज्ञानसे युक्त हैं। वे ही पूजनीय देव हैं। उनके सिवा इस लोकमें और कोई देव नहीं है ॥१७९॥ इत्यादि वचनोंसे अर्हद्दासने उस ब्राह्मण-पुत्रकी देव मूढ़ताको दूर किया। तत्पश्चात् क्रमसे चलते हुए वे दोनों गंगा नदीके किनारे आ पहुँचे ॥१८०॥ तब उस मिथ्यादृष्टि ब्राह्मणपुत्रने 'यह तीर्थजल निश्चयसे पवित्र है, शुद्धिका कारण है' यह कहकर उसके जलसे स्नान कर उसकी वन्दना की ॥१८१॥ वहाँपर उस श्रावकोत्तम अर्हद्दासने भोजन किया और खानेका इच्छुक देखकर उस ब्राह्मणपुत्रको अपने खानेसे बचे हुए जूठे अन्नको गंगाके जलसे मिश्रित कर उसे खानेके लिए दिया। यह देखकर वह बोला कि इन जूठे अन्नको मैं कैसे खा सकता हूँ ? तब उसको सन्मार्ग प्राप्त करानेके लिए वह जैनी बोला—हे मित्र, गंगाजलसे मिश्रित भी यह जूठा अन्न यदि निन्दनीय है तो गधे आदिसे जूठा किया गया जल कैसे शुद्ध और शुद्धिको देनेवाला हो सकता है ॥१८२–१८४॥ अतः न जल पवित्र है, न जलस्थान तीर्थ है और न उसमें किया गया स्नान मनुष्योंकी शुद्धि कर सकता है। किन्तु जलमें स्नान करनेसे अनेक प्राणियोंका नाश होता है, अतः वह केवल पापका कारण ही है ॥१८५॥ यह शरीर स्वभावसे अशुचिका भण्डार है, किन्तु इसके भीतर विराजमान आत्मा शुद्ध है, निर्मल है। स्नानसे पवित्रता नहीं आती है, इस कारण स्नान करना व्यर्थ ही पापोंका उपार्जन करनेवाला है ॥१८६॥ मिथ्यात्व आदि भावमलसे मलिन जीव यदि स्नान करनेसे शुद्ध होते होवें, तब तो नित्य ही जलमें स्नान करनेवाले मगर-मच्छादि वन्दन करनेके योग्य हैं, दयायुक्त मनुष्य नहीं ॥१८७॥ इस-

इति संबोधनोपायैर्वाक्यैस्तीर्थादिसूचकैः । अर्हद्दासो बलात्तस्य तीर्थमौढ्यमपाकरोत् ॥१८९॥
तत्र पञ्चाग्निमध्यस्थं तापसं वीक्ष्य सोऽवदत् । पश्य मद्दर्शने सन्ति बहीदृशास्तपस्विनः ॥१९०॥
अर्हद्दासः स तद्गर्वहानये तममाषत । तापसं तपसोऽनेकैः कौलिकागमभाषणैः ॥१९१॥
ततस्तं निर्मदं कृत्वा जैनोऽवादीदिति स्फुटम् । भद्रैते किं तपः कर्तुं क्षमाः स्युः कुतपस्विनः ॥१९२॥
किन्तु देवा महान्तोऽत्र सर्वज्ञा एव भूतले । निर्ग्रन्था गुरवो वन्द्याः कार्यो धर्मो दयामयः ॥१९३॥
जिनोक्तमेव सिद्धान्तं तथ्यं विश्वार्थदीपकम् । जिनं च शासनं वन्द्यं शरणं च तपोऽनघम् ॥१९४॥
एतेषां निश्चयं कृत्वा गृहाण मित्र दर्शनम् । कुमार्गं शत्रुवत्त्यक्त्वा धर्ममूलं सुखाकरम् ॥१९५॥
इति तद्बोधनं श्रुत्वा नत्वा तं सुन्दरो मुदा । काललब्ध्याददौ त्यक्त्वा मिथ्यात्वं दर्शनं वृषम् ॥१९६॥
ततो मित्रत्वमापन्नौ ह्यटवीगहनान्तरे । गच्छन्तौ प्रापतुः पापोदयाद्दिग्मूढतां द्विजौ ॥१९७॥
तत्रैवामानुषेऽरण्ये जीवनोपायवर्जिते । विदित्वा शरणं चैकं जिनधर्मं जिनाधिपम् ॥१९८॥
हित्वाहारशरीरादीन् प्रोत्साहं प्रविधाय तौ । संन्यासं शिवसिद्ध्यर्थमगृह्णातां बुधोत्तमौ ॥१९९॥
ततः सोढ्वातिधैर्येण क्षुत्तृषादिपरीषहान् । मुक्त्वा समाधिना प्राणान् शुभध्यानेन तौ द्विजौ ॥२००॥
तदाचारोत्थपुण्येन सौधर्मेऽतिमहर्धिकौ । अभूतां सुरसंसेव्यौ देवौ दिव्यसुखोदयौ ॥२०१॥
तत्र भुक्त्वामरं सौख्यं चिरं च्युत्वा शुभोदयात् । स सुन्दरचरो नाकी ततः श्रेणिकभूपतेः ॥२०२॥

लिए हे भद्र, यह गंगा तीर्थ नहीं है, किन्तु अर्हन्तदेव ही तीर्थ हैं और उनका वचनरूप अमृत जल ही जीवोंकी शुद्धि करनेवाला और अन्तरंग मलका विनाशक है ॥१८८॥ इस प्रकार तीर्थादिके सूचक सम्बोधनात्मक वचनोंसे अर्हद्दासने हठात् उसकी तीर्थमूढ़ता दूर की ॥१८९॥ वहीं कुछ दूरपर गंगाके किनारे ही पंचाग्निके मध्यमें बैठे किसी तापसको देखकर वह विप्रपुत्र बोला—देखो, मेरे मतमें ऐसे-ऐसे बहुत-से तपस्वी हैं ॥१९०॥ तब उस अर्हद्दासने उसके गर्वको दूर करनेके लिए कौलिकशास्त्रके तपसम्बन्धी अनेक वचनोंके द्वारा उस तापसके साथ सम्भाषण किया और अपनी प्रबल युक्तियोंसे उसे मद-रहित करके उस जैनीने उस ब्राह्मण-पुत्रसे स्पष्ट कहा—हे भद्र, ये कुतपस्वी क्या सच्चा तप करनेके लिए समर्थ हैं ? अर्थात् नहीं हैं। किन्तु इस भूतलपर सर्वज्ञदेव ही सच्चे महान् देव हैं, परिग्रह-रहित निर्ग्रन्थ साधु ही सच्चे साधु हैं और वे ही वन्दनीय हैं। मनुष्यको दयामयी धर्म ही सेवन करना चाहिए ॥१९१–१९३॥ जिनदेवके द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त ही सत्य है और वही विश्वकी सर्व वस्तुओं-का दर्शक है, जिनशासन ही वन्दन करनेके योग्य है और हिंसादि पापोंसे रहित निर्दोष तप ही प्राणियोंको शरण देनेवाला है ॥१९४॥ इसलिए हे मित्र, कुमार्गको शत्रुके समान छोड़कर इन सत्यार्थ देव-शास्त्र-गुरु और दयामयी धर्मका निश्चय करके सम्यग्दर्शनको ग्रहण करो। यह सम्यग्दर्शन ही धर्मका मूल है और सर्व सुखोंकी खानि है ॥१९५॥ इस प्रकार उस अर्हद्दासके सम्बोधक वचनोंको सुनकर उस सुन्दर विप्रपुत्रने हर्षके साथ मिथ्यादर्शनको छोड़कर काललब्धिके प्रभावसे सत्यधर्मको ग्रहण कर लिया ॥१९६॥

तत्पश्चात् मित्रताको प्राप्त वे दोनों द्विज गहन अटवीके मध्यमें जाते हुए पापोदयसे दिग्मूढ़ताको प्राप्त हो गन्तव्य दिशा भूल गये ॥१९७॥ जीवनके उपायसे रहित निर्जन वनमें एक-मात्र जिनेन्द्रदेव और जिनधर्मको ही शरण जानकर उन दोनों उत्तम ब्राह्मणोंने आहार-शरीर आदिका त्याग कर और उत्साहको धारण कर मुक्ति-सिद्धिके लिए संन्यासको ग्रहण कर लिया ॥१९८-१९९॥ तदनन्तर अति धैर्यके साथ क्षुधा तृषादि परीषहोंको सहकर और शुभध्यानसे समाधिपूर्वक प्राणोंको छोड़कर वे दोनों ब्राह्मण उस धर्माचरणसे उपार्जित पुण्यके द्वारा सौधर्मस्वर्गमें महा ऋद्धिके धारक अनेक सुरोंसे पूजित एवं दिव्य सुखोंके भोक्ता देव हुए ॥२००-२०१॥ वहाँपर पुण्योदयसे देव-सम्बन्धी सुखको चिरकाल तक भोगकर वह सुन्दर

दक्षः सूनुर्महाप्राज्ञोऽजनिष्टस्त्वमिहेदृशः । द्रुतमाप्स्यसि निर्वाणं तपसा च विधेः क्षयात् ॥२०३॥
इति तत्सत्कथां श्रुत्वा केचिद्वैराग्यवासिताः । आददुः संयमं केचिद् हृदि धर्मं च दर्शनम् ॥२०४॥
ससुतः श्रेणिकस्तस्मात्पीतधर्मश्रुतामृतः । नत्वा च श्रीजिनं भक्त्या गणेशान् स्वपुरं ययौ ॥२०५॥
अथेन्द्रभूतिरेवाद्यो वायुभूत्यग्निभूतिकौ । सुधर्ममौर्यमौण्ड्याख्यपुत्रमैत्रेयसंज्ञकाः ॥२०६॥
अकम्पनोऽन्धवेलाख्यः प्रभासोऽमी सुरार्चिताः । एकादश चतुर्ज्ञानाः सन्मतेः स्युर्गणाधिपाः २०७॥
शतत्रयप्रमा ज्ञेया विभोः पूर्वार्थधारकाः । सहस्राणि नवैवाथ तथा नवशतान्यपि ॥२०८॥
इति संख्यान्विताः सन्ति शिक्षकाश्चरणोद्यताः । त्रयोदशशतान्येव मुनयोऽवधिभूषिताः ॥२०९॥
केवलज्ञानिनः सप्तशतसंख्याश्च तत्समाः । मुनयो विक्रियर्द्ध्याढ्याः स्युः शतानि नवास्य च ॥२१०॥
चतुर्थज्ञानिनः पूज्याः शतपञ्चप्रमाः प्रभोः । चतुःशतप्रमाणा भवन्त्यनुत्तरवादिनः ॥२११॥
सर्वे पिण्डीकृताः सन्ति सहस्राणि चतुर्दश । संयताः श्रीवर्धमानस्य रत्नत्रितयभूषिताः ॥२१२॥
आर्यिकाश्चन्दनाद्याः षट्त्रिंशत्सहस्रसंमिताः । नमन्ति तत्पदाब्जौ सत्तपोमूलगुणान्विताः ॥२१३॥
दृग्ज्ञानसद्व्रतोपेताः श्रावकाः लक्षसंख्यकाः । त्रिलक्षश्राविकाश्चास्यार्चयन्त्यङ्घ्रिसरोरुहौ ॥२१४॥
देवा देव्यस्त्वसंख्याताः सेवन्ते तत्पदाम्बुजौ । दिव्यैः स्तुतिनमस्कारपूजाद्युत्सवकोटिभिः ॥२१५॥
तिर्यञ्चः सिंहसर्पाद्याः शान्तचित्ता व्रताङ्किताः । संख्याता भक्तिका वीरं श्रयन्ते भवभीरवः ॥२१६॥
एतैर्द्वादशसंख्यातैर्गणैर्भक्तिभरोत्कटैः । संपरीतो जगन्नाथस्ततो हि विहरन् शनैः ॥२१७॥

ब्राह्मणका जीववाला देव वहाँसे चय कर यहाँपर श्रेणिक राजाके ऐसे चतुर महाप्राज्ञ अभयकुमार नामके पुत्र हुए हो। और शीघ्र ही तपसे कर्मोंका क्षय करके निर्वाणको प्राप्त होओगे ॥२०२-२०३॥ अभयकुमारकी इस पूर्वभवसम्बन्धी उत्तम कथाको सुनकर वैराग्यसे परिपूर्ण हुए कितने ही लोगोंने तो संयमको ग्रहण किया और कितने ही मनुष्योंने अपने हृदयमें श्रावक धर्म और सम्यग्दर्शनको धारण किया ॥२०४॥ इस प्रकार गौतमस्वामीसे धर्म और श्रुतरूप अमृतको पीकर अभयकुमार पुत्रके साथ श्रेणिक राजा भक्तिपूर्वक श्रीवीरजिनको और गौतम गणधरको नमस्कार कर अपने राजगृह नगरको चला गया ॥२०५॥

अथानन्तर वीर जिनेन्द्रके ग्यारह गणधरोंमें इन्द्रभूति गौतम प्रथम गणधर थे। दूसरे वायुभूति, तीसरे अग्निभूति, चौथे सुधर्मा, पाँचवें मौर्य, छठे मौंड्य, (मण्डिक) सातवें पुत्र (?), आठवें मैत्रेय, नवें अकम्पन, दशवें अन्धवेल, और ग्यारहवें प्रभास गणधर हुए। ये वीर भगवान्‌के सभी ग्यारह गणधर देव-पूजित और चार ज्ञानके धारक थे ॥२०६-२०७॥ भगवान् महावीरके समवशरणमें चतुर्दश पूर्वके अर्थको धारण करनेवाले तीन सौ थे। नौ हजार नौ सौ चारित्र आचरण करनेमें उद्यत शिक्षक मुनि थे, तेरह सौ मुनि अवधिज्ञानसे भूषित थे। उनके ही समान ज्ञानवाले सात सौ केवलज्ञानी थे। नौ सौ मुनि विक्रिया ऋद्धिसे युक्त थे। पाँच सौ पूज्य मनःपर्ययज्ञानी थे, चार सौ अनुत्तरवादी थे। इस प्रकार ये सब मिलकर चौदह हजार साधु श्रीवर्धमानस्वामीके शिष्य परिवारमें थे और ये सब रत्नत्रयसे विभूषित थे ॥२०८-२१२॥ चन्दन आदिक छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थीं। वे सब उत्तम तप और मूलगुणोंसे युक्त थीं और भगवान्‌के चरण-कमलोंको नमस्कार करती थीं ॥२१३॥ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और गृहस्थव्रतोंसे संयुक्त एक लाख श्रावक थे और तीन लाख श्राविकाएँ थीं। ये सभी जिनेन्द्रदेवके चरण-कमलोंको पूजते थे ॥२१४॥ असंख्यात देव और देवियाँ भगवान्‌के पादारविन्दोंकी दिव्य स्तुति, नमस्कार, पूजा और करोड़ों प्रकारके उत्सवोंसे सेवा करते थे ॥२१५॥ सिंह-सर्पादि शान्तचित्त, व्रत-युक्त, भक्तिमान् और भवभीरु संख्यात तिर्यंचोंने वीर भगवान्‌का आश्रय लिया था ॥२१६॥ भक्तिभारसे व्याप्त इन बारह गणोंसे वेष्टित जगत्‌के नाथ श्रीवर्धमान तीर्थंकर देव तत्पश्चात् धीरे-धीरे विहार करते, नाना देश-पुर-ग्राम-

नानादेशपुरग्रामान् बोधयन् भव्यमाक्तिकान् । बहुधर्मोपदेशेन कुर्वन्मोक्षपथे स्थिरान् ॥२१८॥
निर्धूयाज्ञानकुध्वान्तं प्रकाश्याध्वानमूर्जितम् । मुक्तेर्वचोंऽशुभिर्देव आजगाम क्रमान्महान् ॥२१९॥
सच्चम्पानगरोद्यानं फलपुष्पादिशोभितम् । विहृत्य षड्दिनोनानि त्रिंशद्वर्षाणि तीर्थराट् ॥२२०॥
तत्र योगं निरुध्यासौ दिव्यभाषां च निःक्रियः । मुक्तयेऽघातिहन्तारं प्रतिमायोगमाददौ ॥२२१॥
अथ देवगतिः पञ्चशरीराणि तथैव च । पञ्चसंघातनामानि पञ्चाङ्गबन्धनान्यथ ॥२२२॥
त्रीण्याङ्गोपाङ्गानि षट्संस्थानानि संहननानि षट् । पञ्च वर्णा द्विगन्धप्रकृती पञ्च रसास्तथा ॥२२३॥
अष्टौ स्पर्शास्तथा देवगत्यानुपूर्व्यकर्म वै । ततोऽगुरुलघुश्चोपघातोऽथ परघातकः ॥२२४॥
उच्छ्वासो द्विविहायोगती चापर्याप्तिसंज्ञकः । प्रत्येकः स्थिरनामास्थिरः शुभाशुभदुर्भगाः ॥२२५॥
दुःस्वरः सुस्वरानादेया यशःकीर्तिरेव हि । असातकर्मनीचैर्गोत्रं निर्माणं जिनोत्तमः ॥२२६॥
द्वासप्ततिप्रमा एताः प्रकृतीर्मुक्तिबाधिनीः । अयोगाख्यगुणस्थानमारुह्य योगशक्तितः ॥२२७॥
तुर्यशुक्लमहाध्यानखड्गेन सुभटो यथा । निजारातीन् जघानाशु तस्यान्त्यसमयद्वये ॥२२८॥
तत आदेयनामाथ मनुष्यगतिसंज्ञकः । ततो नरगतिप्रायोग्यानुपूर्व्यसमाह्वयः ॥२२९॥
पञ्चाक्षजातिमर्त्यायुःपर्याप्तित्रसबादराः । सुभगाख्यो यशःकीर्तिः सातोच्चैर्गोत्रसंज्ञकौ ॥२३०॥
तीर्थकृन्नाम तीर्थेश एतास्त्रयोदशप्रमाः । प्रकृतीस्तेन शुक्लेन तस्यान्त्यसमयेऽप्यहन् ॥२३१॥
ततोऽसौ कृत्स्नकर्मारिकायत्रयविनाशतः । निर्वाणमगमच्चोर्ध्वगतिस्वभावतोऽमलः ॥२३२॥
कार्तिकाख्ये शुभे मासे अमावास्याभिधे तिथौ । स्वातिनामनि नक्षत्रे प्रभातसमये वरे ॥२३३॥
तत्र सिद्धत्वमासाद्य सम्यक्त्वादिगुणाष्टकम् । भुङ्क्ते सुखं निरौपम्यं सोऽमूर्तो विषयातिगम् ॥२३४॥
परद्रव्यातिगं नित्यं स्वात्मजं दुःखदूरगम् । निराबाधं क्रमातीतमनन्तं परमं शुभम् ॥२३५॥

वासी जनोंको सम्बोधते, धर्मोपदेशसे मोक्षमार्गमें स्थिर करते हुए तथा अपनी वचन-किरणोंसे अज्ञानान्धकारका नाश कर और उत्तम मार्गका प्रकाश कर छह दिन कम तीस वर्ष तक विहार करके क्रमसे फल-पुष्पादि शोभित चम्पानगरीके उद्यानमें आये ॥२१७-२२०॥ वहाँपर दिव्यध्वनिको और योगको रोककर निष्क्रिय हो उन्होंने मुक्ति-प्राप्तिके लिए अघाति कर्मोंका हनन करनेवाला प्रतिमायोग ग्रहण कर लिया ॥२२१॥

तत्पश्चात् उन्होंने देवगति, पाँच शरीर, पाँच संघात नामकर्म, पाँच बन्धन, तीन अंगोपांग, छह संहनन, छह संस्थान, पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस, आठ स्पर्श, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, दोनों विहायोगति, अपर्याप्तनाम, प्रत्येकशरीर, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, असातावेदनीय, नीचगोत्र और निर्माण नामकर्म इन बहत्तर संख्यावाली मुक्तिकी बाधक प्रकृतियोंको जिनोत्तम वर्धमान स्वामीने योगशक्तिसे अयोगिगुणस्थानमें चढ़कर चौथे महाशुक्लध्यानरूप खड्गसे अपने शत्रुओंको सुभटके समान उस गुणस्थानके द्विचरम समयमें एक साथ क्षय कर दिया ॥२२२-२२८॥ तत्पश्चात् आदेयनाम, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्यायु, पर्याप्तिनाम, त्रस, बादरनाम, सुभग, यशःकीर्ति, सातावेदनीय, उच्चगोत्र और तीर्थंकरनामकर्म इन तेरह प्रकृतियोंको वर्धमानतीर्थेश्वरने उसी शुक्लध्यानके द्वारा अयोगिकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमें क्षय कर दिया ॥२२९-२३१॥

इस प्रकार शुभ कार्तिक मासकी अमावस्या तिथिके दिन स्वाति नक्षत्रके रहते प्रभात समय समस्त कर्मशत्रुओंके तीनों शरीरोंका विनाश कर उन निर्मल भगवान्ने ऊर्ध्वगति स्वभाव होनेसे ऊपर जाकर निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त किया ॥२३२-२३३॥ वहाँपर क्षायिक सम्यक्त्व आदि आठ गुणस्वरूप सिद्धत्वको प्राप्त कर वे अमूर्त अतीन्द्रिय सिद्धपदमें उपमा-रहित, विषयातीत, परद्रव्योंके सम्बन्धसे रहित, दुःखोंसे रहित, बाधाओंसे रहित

नृदेवखेचराधीशा आर्या म्लेच्छाश्च मानवाः । अन्ये च त्रिजगज्जीवा बुभुजुर्यत्सुखं परम् ॥२३६॥
भुञ्जन्ति यच्च भोक्ष्यन्ति तत्सर्वं पिण्डितं भुवि । तस्मादन्तव्यतिक्रान्तं सुखं वाचामगोचरम् ॥२३७॥
एकेन समयेनैव भुङ्क्ते मोक्षे निरन्तरम् । सर्वोत्कृष्टं जगद्वन्द्योऽनन्तकालान्तमूर्जितम् ॥२३८॥
तदा चतुर्णिकायेशाः सकलत्राश्च सामराः । तन्निर्वाणं परिज्ञाय स्वैः स्वैश्चिह्नैः पृथग्विधैः ॥२३९॥
विभूत्या परया सार्धं गीतनृत्यमहोत्सवैः । अन्त्यकल्याणपूजार्थमाजग्मुस्तत्र सिद्धये ॥२४०॥
पवित्रं तद्वपुर्मत्वा विभो निर्वाणसाधनम् । शिबिकान्ते व्यधुर्भूत्या स्फुरन्मणिमये सुराः ॥२४१॥
ततोऽभ्यर्च्य जगत्सारैः सुगन्धिद्रव्यराशिभिः । कायं भक्त्यानमन्मूर्ध्ना रत्नशेखरशालिना ॥२४२॥
पर्यायान्तरमेवाप सुगन्धीकृतखाङ्गणम् । तद्गात्रं शीघ्रमग्नीन्द्रमुकुटोत्पन्नवह्निना ॥२४३॥
तदादाय पवित्रं तद्भस्म शक्रादयोऽमराः । एवमस्माकमत्रास्त्वचिरान्निर्वाणसाधनम् ॥२४४॥
इत्युक्त्वा प्रथमं चक्रुर्भाले बाह्वोश्च दृग्द्वये । सर्वाङ्गेषु पुनर्भक्त्या मुदा तद्गतिशंसिनः ॥२४५॥
तत्रैव ते प्रपूज्योच्चैः पूतं तत्सुमहीतलम् । निर्वाणक्षेत्रसंकल्पं व्यधुर्धर्मप्रवृत्तये ॥२४६॥
पुनर्देवा मुदा तुष्टा संभूय सममूर्जितम् । आनन्दनाटकं चक्रुर्देवीभिः परमोत्सवैः ॥२४७॥
ततोऽस्य केवलज्ञानं श्रीगौतमगणेशिनः । प्रादुरासीत्सुशुक्लध्यानेन घात्यरिघातनात् ॥२४८॥
तत्रापि ते महेन्द्राद्याश्चक्रुः कैवल्यपूजनम् । इन्द्रभूतेर्गणैः सार्धं तद्योग्यभूरिभूतिभिः ॥२४९॥

क्रमसे रहित, नित्य, स्वात्मीय, परम शुभ अनन्त सुखको भोग रहे हैं ॥२३४-२३५॥ संसारमें नरपति, विद्याधरपति, देवपति, आर्य और म्लेच्छ मानव और अन्य भी तीन लोकके जीव जिस उत्तम सुखको वर्तमानमें भोग रहे हैं, भूतकालमें उन्होंने भोगा है और भविष्यकालमें वे भोगेंगे, वह सब यदि एकत्रित कर दिया जाये, तो उससे भी अनन्तगुणा वचन-अगोचर सुख मोक्षमें एक समयके भीतर भोगते हैं। ऐसा सर्वोत्कृष्ट सुख जगद्-वन्द्य वीर सिद्धप्रभु मोक्षमें निरन्तर अनन्त कालतक भोगते रहेंगे ॥२३६-२३८॥

अथानन्तर अपने-अपने पृथक् चिह्नोंसे भगवान्का निर्वाण जानकर समस्त चतुर्निकायके देवेन्द्रोंने अपने-अपने देव-परिवारके साथ परम विभूतिसे गीत-नृत्यमहोत्सव करते हुए आत्मसिद्ध्यर्थ अन्तिम निर्वाणकल्याणककी पूजा करनेके लिए वहाँपर आये ॥२३९-२४०॥ निर्वाणका साधक प्रभुका यह शरीर पवित्र है, ऐसा मानकर उन देवोंने चमकते हुए मणियों-वाली पालकीमें बड़ी भारी विभूतिके साथ उसे विराजमान किया ॥२४१॥ पुनः तीन जगत्में सारभूत सुगन्धी द्रव्य समूहसे उस शरीरकी पूजा कर भक्तिसे रत्नमुकुटधारी मस्तकसे उन्होंने उसे नमस्कार किया ॥२४२॥ तत्पश्चात् अग्निकुमार देवेन्द्रके मुकुटसे उत्पन्न हुई अग्निसे वह शरीर गगनाङ्गणको सुगन्धित करता हुआ पर्यायान्तर (भस्मभाव) को प्राप्त हुआ ॥२४३॥

तब इन्द्रादिक देवोंने 'यह हमारे भी शीघ्र निर्वाणका साधक हो' इस प्रकार कहकर उस पवित्र भस्मको हाथमें ग्रहण करके पहले मस्तकपर, फिर नेत्रोंमें, फिर बाहुओंमें, फिर हृदयपर और फिर सर्वांगोंमें भक्तिपूर्वक मोक्षगतिकी प्रशंसा करते हुए लगाया ॥२४४-२४५॥ वहींपर उस उत्तम पवित्र भूमितलको उत्कृष्ट भक्तिसे पूजकर आगे धर्मकी प्रवृत्तिके लिए उसे निर्वाणक्षेत्र संकल्पित किया ॥२४६॥ पुनः हर्षसे सन्तुष्ट हुए उन देवोंने एकत्रित होकर अपनी देवियोंके साथ परम उत्सव पूर्वक आनन्द नाटक किया ॥२४७॥

तत्पश्चात् उत्तम शुक्लध्यानसे घातिकर्मशत्रुओंके घातनेसे उन श्री गौतम गणधरमें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ॥२४८॥ वहाँपर जाकर उन उत्तम देवेन्द्रोंने सर्व गणके साथ उनके योग्य भारी विभूतिसे इन्द्रभूति केवलीके केवलज्ञानकी पूजा की ॥२४९॥

इति सुचरणयोगाच्छर्मसारं महद्यो नृसुरगतिषु भुक्त्वा तीर्थनाथोऽभूत्वा ।
नृखगसुरपतीड्यः कृत्स्नकर्माणि हत्वागमदनु शिवसौधं संस्तुवे वीरनाथम् ॥२५०॥

वीरो वीरजनार्चितो गुणनिधिर्वीरं सुवीराः श्रिता
वीरेणेह किलाप्यते शिवसुखं वीराय नित्यं नमः ।
वीरान्नास्त्यपरः क्षमोऽघविजये वीरस्य वीर्यं परं
वीरे चित्तमहं दधे रिपुजये मां वीर वीरं कुरु ॥२५१॥

अन्तिम मंगल-कामना

वीरो योऽत्र मया चरित्ररचनाव्याजेन मूर्ध्ना नतो
भक्त्या तद्गुणभाषणैर्निजगिरा शक्त्या स्तुतः पूजितः ।
भावेनैव मुहुर्मुहुः स जिनपो दद्याच्च मे लोभिनः
सामग्रीं सकलां विमुक्तिजननीं शीघ्रं त्रिरत्नोद्भवाम् ॥२५२॥

यो बाल्येऽपि सुसंयमं त्रिमणिजं जग्राह मुक्त्याप्तये
यं तं मे स ददातु मुक्तिजनकं चेहाप्यमुत्र स्फुटम् ।
यः सद्ध्यानमहासिनाखिलरिपून् शीघ्रं जघानोर्जितान्
मेऽसौ कर्मरिपून् खचौरसहितान् हन्याद् द्रुतं मुक्तये ॥२५३॥

येनाप्तास्त्रिजगत्स्तुता वरगुणा सीमातिगा निर्मलाः
कैवल्यप्रमुखाः स तान्निजगुणान् सर्वान् प्रदद्यान्मम ।
तस्माद्येन शिवात्मजा त्रिविधिना वीरेण भोः स्वीकृता
क्षिप्रं मे स तनोतु मुक्तिगमलां चान्तातिगां शर्मणे ॥२५४॥

इस प्रकार उत्तम चारित्रके योगसे जो देव और मनुष्यगतिमें सारभूत महासुखको भोगकर और तीर्थके नाथ होकर, नरपति, खगपति और सुरपतियोंसे पूजित हुए और तत्पश्चात् सर्व कर्मोंका नाश कर शिव-सदनको प्राप्त हुए, उन वीरनाथकी मैं सकलकीर्ति स्तुति करता हूँ ॥२५०॥ वीरजिन वीरजनोंसे पूजित हैं, गुणनिधि हैं, वीरजिनको वीरजन ही आश्रित होते हैं, वीरके द्वारा ही इस लोकमें शिवसुख प्राप्त किया जाता है, अतः वीरके लिए मेरा नित्य नमस्कार है। वीरसे परे दूसरा कोई भी पापकर्मोंको जीतनेमें समर्थ नहीं है, वीरका वीर्य परम श्रेष्ठ है, मैं वीर जिनमें अपना मन लगाता हूँ, हे वीर, शत्रुको जीतनेमें मुझे वीर करो ॥२५१॥

अन्तिम मंगल-कामना

मैंने चरित्रकी रचनाके बहाने जो वीरप्रभुको मस्तकसे नमस्कार किया है, भक्तिपूर्वक अपनी वाणीके द्वारा शक्तिके अनुसार उनके गुणोंका वर्णन कर उनकी प्रशंसा और स्तुति की है एवं शुभ भावोंसे बार-बार उनकी पूजा की है, ऐसे वे श्रीवीर जिनेन्द्र मुझ लोभीको मुक्तिको प्राप्त करानेवाली और सम्यग्दर्शनादि तीन रत्नोंसे उत्पन्न होनेवाली समस्त सामग्रीको शीघ्र देवें ॥२५२॥ जिस वीरप्रभुने बालकाल (कुमारावस्था) में भी मुक्तिकी प्राप्तिके लिए रत्नत्रय-जनित उत्तम संयमको ग्रहण किया, जिन्होंने उत्तम शुक्लध्यानरूपी महान् खड्गके द्वारा अति प्रचण्ड सर्व कर्मशत्रुओंको विनष्ट किया, वे वीर प्रभु मुझे इस लोक और परलोकमें मुक्ति-दाता संयम और रत्नत्रयको देवें, तथा इन्द्रियरूपी चोरोंके साथ मेरे सब कर्मशत्रुओंका मुक्ति पानेके लिए शीघ्र विनाश करें ॥२५३॥ जिन्होंने तीन लोकसे स्तुति किये गये उत्तम निर्मल केवलज्ञानादि उत्तम गुण प्राप्त किये हैं, वे वीर प्रभु उन सब अपने गुणोंको मुझे

न कीर्तिपूजादिकलाभलोभतो नाहो कवित्वाद्यभिमानतोऽत्र ।
ग्रन्थः कृतोऽयं परमार्थबुद्धया स्वान्योपकाराय च कर्महान्यै ॥२५५॥
वीरनाथगुणकोटिनिबद्धं पावनं वरचरित्रमिदं च ।
शोधयन्तु सुविदश्च्युतदोषाः सर्वकीर्तिगणिना रचितं यत् ॥२५६॥
यत्किंचिद्विहितं मयात्र च शुभे ग्रन्थे प्रमादात्क्वचि-
दज्ञानादथवाक्षरादिरहितं सन्ध्यादिमात्रोज्झितम् ।
तत्सर्वं मम तुच्छधीश्रुतविदो दृष्ट्वा परं साहसं
सद्वृत्तोद्धरणे समं जिनगिरा यूयं क्षमध्वं विदः ॥२५७॥
ये पठन्ति निपुणा, श्रुतमेतत्पाठयन्ति गुणिनो गुणरागात् ।
ते समाप्य विरतिं विषयादौ ज्ञानतीर्थमचिराच्च लभन्ते ॥२५८॥
लिखन्ति ये ग्रन्थमिदं पवित्रं वा लेखयन्ते भुवि वर्तनाय ।
ते ज्ञानदानेन किलाप्य सौख्यं विश्वोद्भवं केवलिनो भवन्ति ॥२५९॥
सर्वे तीर्थकराः परार्थजनकाः श्रीभुक्तिमुक्तिप्रदाः
सिद्धा अन्तविवर्जिता निरुपमास्त्रैलोक्यचूडोपमाः ।
पञ्चाचारपरायणाश्च गणिनः श्रीपाठकाः सद्विदः
उद्योगाङ्कितसाधवः शुभकरं कुर्वन्तु वो मङ्गलम् ॥२६०॥
प्रवरगुणसमुद्रं धर्मरत्नादिखानि
....सुशरणमिहभव्यानां महेन्द्रादिपूज्यम् ।
सुरशिवगतिमूलं शासनं श्रीजिनस्य
त्रिभुवनगतभव्यैर्यातु वृद्धिं धरित्र्याम् ॥२६१॥

प्रदान करें। जिन वीर जिनेन्द्रने मुक्तिरूपी कुमारीको विधिपूर्वक स्वीकार किया है, वे प्रभु वह अनन्त निर्मल मुक्तिलक्ष्मी सुख-प्राप्तिके लिए मुझे देवें॥२५४॥ मुझ सकलकीर्तिने यह ग्रन्थ कीर्ति, पूजा के लाभ या किसी प्रकारके लोभसे नहीं रचा है और न कविपनेके अभिमानसे ही रचा है, किन्तु इसकी रचना परमार्थ बुद्धिसे अपने और अन्यके उपकारके लिए तथा अपने कर्मोंके विनाशके लिए की है ॥२५५॥ वीर जिनेन्द्रके कोटि-कोटि गुणोंसे निबद्ध यह पावन श्रेष्ठ चरित्र, जिसे सकलकीर्ति गणीने रचा है, उसे दोषोंसे रहित सुज्ञानी जन शुद्ध करें ॥२५६॥ इस शुभ ग्रन्थमें मेरे द्वारा प्रमादसे, अथवा अज्ञानसे यदि कहीं कुछ अक्षरादिसे रहित, या सन्धि-मात्रासे रहित अशुद्ध या असम्बद्ध लिखा गया हो, तो श्रुतवेत्ता ज्ञानी जन इस उत्तम चरित्रके जिन वाणीसे उद्धार करनेमें मुझ तुच्छ बुद्धिका भारी साहस देखकर आप लोग मुझे क्षमा करें ॥२५७॥ जो निपुण बुद्धिवाले लोग इस शास्त्रको पढ़ते हैं और गुणियोंके गुणानुरागसे दूसरोंको पढ़ाते हैं वे अपने विषय-कषायादिमें विरतिभावको प्राप्त होकर केवलज्ञानरूपी ज्ञानतीर्थको शीघ्र प्राप्त करते हैं ॥२५८॥ जो भव्य श्रावकजन इस पवित्र ग्रन्थको लिखते हैं और भूमण्डल पर प्रसार करनेके लिए दूसरोंसे लिखाते हैं, वे अपने इस ज्ञानदानके द्वारा विश्वमें उत्पन्न होनेवाले सुखोंको प्राप्त कर निश्चयसे केवलज्ञानी होते हैं ॥२५९॥ परके उपकारक, सांसारिक लक्ष्मी, स्वर्गीय भोग और मुक्तिके प्रदाता, सभी तीर्थ-कर, अन्त-रहित उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त, उपमासे रहित और तीन लोकके चूड़ामणि, सभी सिद्ध भगवन्त, पंच आचारोंमें परायण, सभी आचार्य, उत्तम श्रुतवेत्ता, सभी उपाध्याय और आत्म-साधनके उद्योगसे युक्त, सभी साधुजन आप लोगोंका शुभ करनेवाला मंगल करें ॥२६०॥ यह वीर जिनेन्द्रदेवका चरित गुणोंका समुद्र है, धर्मरत्न आदिकी खानि है, भव्योंको

अर्थाढ्यं धर्मबीजं ख-विरतिजनकं वीरनाथस्य दिव्यैः
सार्थैस्तथ्यैर्गुणौघैर्निचितमपमलं रागनिर्णाशहेतुम् ।
कर्मघ्नं ज्ञानमूलं विशदमुनिगणैः पावनं तच्चरित्रं
यावत्कालान्तमत्रासमगुणगहनैर्नन्दतादार्यखण्डे ॥२६२॥

येनोक्तो धर्मसारः सुरशिवगतिदस्त्यक्तदोषो गुणाब्धिः
द्वेधा हिंसादिदूरो गृहिजनमुनिभिर्वर्ततेऽद्यापि नित्यम् ।
स्थास्यत्यग्रेऽत्र नूनं परमसुखकरो यावदस्यावधिः स्यात्
कालस्यासौ जिनेशो मम हरतु भवं वन्दितः संस्तुतश्च ॥२६३॥

जल्पितेन बहुना किमाश्रयेद्वीरनाथ इह यो मया स्तुतः ।
मे ददातु कृपयाशु सोऽद्भुतान् मुक्तये निजगुणान् स्वशर्मणे ॥२६४॥
त्रिसहस्राधिकाः पञ्चत्रिंशच्छ्लोकाः भवन्ति वै ।
यत्नेन गुणिताः सर्वे चारित्रस्यास्य सन्मतेः ॥२६५॥

इति भट्टारकश्रीसकलकीर्तिविरचिते श्रीवीरवर्धमानचरिते श्रेणिकाभयकुमारभवावली-भगवन्निर्वाणगमनवर्णनो नामैकोनविंशोऽधिकारः ॥१९॥

शरण देनेवाला है, इन्द्रादिकोंके द्वारा पूज्य है, स्वर्ग और मोक्षका मूल कारण है, एवं परम पवित्र है, वह कालके अन्त-पर्यन्त इस आर्यखण्डमें सर्वत्र प्रसिद्धिको प्राप्त हो ॥२६१॥ यह चरित्र सुन्दर अर्थसे संयुक्त है, धर्मका बीज है, इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्तिका उत्पादक है, सत्यार्थ गुणोंसे युक्त है, निर्मल है, रागके नाशका कारण है, कर्मोंका विनाशक है, ज्ञानका मूल है, निर्मल मुनिजनोंके गुणोंसे पवित्र है, और अतुल गुणोंसे गहन है ॥२६२॥ जिस वीर प्रभुने स्वर्ग और शिवगतिका देनेवाला, दोषोंसे रहित, गुणोंका समुद्र, हिंसादिसे दूरवर्ती परम अहिंसामयी धर्मके सारवाला यह धर्म गृहस्थ और मुनिके रूपसे दो प्रकारका कहा है, जो आज भी गृहस्थ और मुनिजनोंके द्वारा नित्य प्रवर्तमान है और आगे भी निरन्तर प्रवर्तमान रहेगा, वह परम सुखका करनेवाला जैनधर्म जब तक इस कालकी अवधि है, तब तक सदा प्रवर्तमान रहे। इस धर्मके उपदेष्टा, एवं मेरे द्वारा वन्दित और संस्तुत वे जिनेन्द्र देव मेरे संसारको हरें ॥२६३॥ इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या, जिन वीरनाथका मैंने आश्रय लिया है, और इस ग्रन्थमें मैंने जिनकी स्तुति की है, वे कृपाकर शीघ्र ही अपने अद्भुत गुणोंको मुक्ति और आत्मीय सुखकी प्राप्तिके लिए मुझे देवें ॥२६४॥

श्री सन्मतिके इस चरित्रके यत्नसे गणना किये गये सर्वश्लोक तीन हजार पैंतीस हैं। अर्थात् मूल संस्कृतचरित्र तीन हजार पैंतीस (३०३५) श्लोक प्रमाण है।

इस प्रकार भट्टारक श्री सकलकीर्ति-विरचित इस श्रीवीरवर्धमानचरितमें श्रेणिक राजा, और अभयकुमारकी भवावली तथा भगवान्के निर्वाण-गमनका वर्णन करनेवाला यह उन्नीसवां अधिकार समाप्त हुआ ॥१९॥

परिशिष्ट

१. श्लोकानुक्रमणिका

[ध]

[न]

[श]

२. केवली और श्रुतधर-आचार्य-नामसूची

(जिनका नामोल्लेख प्रस्तुत चरितके प्रारम्भमें (तीन केवलज्ञानियोंके पश्चात्) ग्रन्यकारने किया है—–)

केवली

	समय
१. श्री गौतम स्वामी २. सुधर्मा स्वामी ३. जम्बूस्वामी	६२ वर्ष

श्रुतकेवली

१. नन्दी (विष्णु) २. नन्दिमित्र ३. अपराजित ४. गोवर्धन ५. भद्रबाहु	१०० वर्ष

दशपूर्वी

६. विशाखाचार्य ७. प्रोष्ठिल ८. क्षत्रिय ९. जय १०. नाग ११. सिद्धार्थ १२. जिनसेन (धृतिसेन) १३. विजय १४. बुद्धिल १५. गंग १६. सुधर्म (धर्मसेन)	१८३ वर्ष

एकादशाङ्गधारी

	समय
१७. नक्षत्र १८. जयपाल १९. पाण्डु २०. द्रुमसेन (ध्रुवसेन) २१. कंस	२२० वर्ष

आचाराङ्गधारी

२२. सुभद्र २३. यशोभद्र २४. जयबाहु (यशोबाहु) २५. लोहाचार्य **एकदेश अंग-पूर्वज्ञाता** २६. विनयधर २७. श्रीदत्त २८. शिवदत्त २९. अर्हद्दत्त	११८ वर्ष

३०. (धरसेन)
३१. भूतबलि
३२. पुष्पदन्त
३३. कुन्दकुन्द

(अधिकार २ श्लोक ४१–५६)

३. तिरेसठ शलाकापुरुष-नाम-सूची

चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण और नौ बलभद्र इन तिरेसठ महापुरुषोंको शलाकापुरुष कहते हैं। ये तिरेसठ शलाकापुरुष प्रत्येक अवसर्पिणीके चौथे कालमें और उत्सर्पिणीके तीसरे कालमें होते हैं। इस युगमें हुए शलाकापुरुषोंके नाम इस प्रकार हैं—

२४ तीर्थंकर

१. ऋषभदेव
२. अजितनाथ
३. संभवनाथ
४. अभिनन्दन
५. सुमतिदेव
६. पद्मप्रभ
७. सुपार्श्वदेव
८. चन्द्रप्रभ
९. पुष्पदन्त
१०. शीतलनाथ
११. श्रेयान्सनाथ
१२. वासुपूज्य
१३. विमलनाथ
१४. अनन्तदेव
१५. धर्मनाथ
१६. शान्तिनाथ
१७. कुन्थुनाथ
१८. अरनाथ
१९. मल्लिनाथ
२०. मुनिसुव्रत
२१. नमिनाथ
२२. अरिष्टनेमि
२३. पार्श्वनाथ
२४. वर्धमान

१२ चक्रवर्ती

१. भरत
२. सगर
३. मघवा
४. सनत्कुमार
५. शान्तिनाथ
६. कुन्थुनाथ
७. अरनाथ
८. सुभूम
९. महापद्म
१०. हरिषेण
११. जयकुमार
१२. ब्रह्मदत्त

९ नारायण

१. त्रिपृष्ठ
२. द्विपृष्ठ
३. स्वयम्भू
४. पुरुषोत्तम
५. पुरुषसिंह
६. पुण्डरीक
७. दत्त
८. लक्ष्मण
९. कृष्ण

९ बलभद्र

१. विजय
२. अचल
३. धर्म
४. सुप्रभ
५. सुदर्शन
६. नन्दी
७. नन्दिमित्र
८. पद्म (रामचन्द्र)
९. बलदेव

९ प्रतिनारायण

१. अश्वग्रीव
२. तारक
३. मेरक
४. निशुम्भ
५. [illegible]
६. [illegible]
७. [illegible]
८. [illegible]
९. [illegible]

४. भ. महावीरके पाँचों कल्याणकोंकी तिथि और नक्षत्र

१. गर्भ कल्याणक—आषाढ़ शुक्ला षष्ठी,	उत्तराषाढा
२. जन्म कल्याणक—चैत्र शुक्ला त्रयोदशी,	उत्तराफाल्गुनी
३. दीक्षा कल्याणक—मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी	,,
४. केवल कल्याणक—वैशाख शुक्ला दशमी,	मघा
५. निर्वाण कल्याणक—कार्तिक कृष्णा अमावस्या,	स्वाति

५. भ. महावीरके ५ नाम

१. वीर, जन्माभिषेकके समय इन्द्र-प्रदत्त-नाम
२. श्री वर्धमान—नाम संस्कारके समय पिता द्वारा प्रदत्त-नाम
३. सन्मति—विजय-संजय मुनि द्वारा शंका-समाधान होनेपर प्रदत्त-नाम
४. महावीर—संगमक देव-द्वारा प्रदत्त-नाम
५. महति महावीर—स्थाणु रुद्र-द्वारा प्रदत्त-नाम



६. पौराणिक-नाम सूची

७. गणधरोंका

दिगम्बर शास्त्रोंमें भ. महावीरके ११ गणधरोंके नाम और कहीं पर उनके माता-पिता आदिका जानकर श्वे. शास्त्रोंके आधार पर उनका परिचय यहां दिया जा रहा है—

संख्या	१ नाम गणधर	२ पिता का नाम	३ माता का नाम	४ गोत्र-नाम	५ जन्म-नक्षत्र	६ जन्मस्थान	७ गृहस्थ जीवन
१	इन्द्रभूति	वसुभूति ब्राह्मण	पृथ्वी	गौतम	ज्येष्ठा	गोवर ग्राम (मगध)	५० वर्ष
२	अग्निभूति	,,	,,	,,	कृत्तिका	,,	४६ ,,
३	वायुभूति	,,	,,	,,	स्वाति	,,	४२ ,,
४	व्यक्त	धनमित्र ,,	वारुणी	भारद्वाज	श्रवण	कोल्लाग (मगध)	५० ,,
५	सुधर्मा	धम्मिल्ल ,,	भद्दिला	अग्निवैश्यायन	उत्तरा फाल्गुनी	,,	५० ,,
६	मंडिक	धनदेव ,,	विजया	वशिष्ठ	मघा	मौर्यसन्निवेश	५३ ,,
७	मौर्यपुत्र	मौर्य ,,	विजया	काश्यप	रोहिणी	,,	६५ ,,
८	अकम्पित	वसु ,,	नन्दा	हारीत	मृगशिरा	मिथिला	४६ ,,
९	अचलभ्राता	देव ,,	जयन्ती	गौतम	उत्तराषाढ़ा	कोशल	४८ ,,
१०	मेतार्य	दत्त ,,	वरुणा	कौडिन्य	अश्विनी	तुंगिक सन्निवेश	३६ ,,
११	प्रभास	वल ,,	अतिभद्रा	,,	पुष्य	राजगृह	१६ ,,

उल्लेख मात्र पाया जाता है, पर श्वेताम्बर शास्त्रोंमें इन गणधरोंका विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। इनकी

८ दीक्षा- स्थान	९ शिष्य संख्या	१० छद्मस्थ- काल	११ केवलि- काल	१२ सर्वआयु	१३ निर्वाण काल	१४ निर्वाण- स्थान	१५ गणधर बनने से पूर्व [illegible]—
मध्यम पावा	५००	३० वर्ष	१२ वर्ष	९२ वर्ष	४२ वर्ष —भगवान् महावीरकी केवलीपर्यायके पश्चात्	वैभारगिरि (राजगृह)	जीवके अस्तित्वमें
,,	५००	१२ ,,	१६ ,,	७४ ,,	२८ ,,		कर्मके [illegible]
,,	५००	१० ,,	१८ ,,	७० ,,	२८ ,,		जीव और शरीरके ,,
,,	५००	१२ ,,	१८ ,,	८० ,,	३० ,,		पंचभूतोंके [illegible] ,,
,,	५००	४२ ,,	८ ,,	१०० ,,	५० ,,		[illegible]
,,	३५०	१४ ,,	१६ ,,	८३ ,,	३० ,,		[illegible]
,,	३५०	१४ ,,	१६ ,,	९५ ,,	३० ,,		,,
,,	३००	१२ ,,	१४ ,,	७२ ,,	३० ,,		[illegible]
,,	३००	९ ,,	२१ ,,	७८ ,,	१६ ,,		[illegible] ,,
,,	३००	१० ,,	१६ ,,	६२ ,,	२६ ,,		[illegible]
,,	३००	८ ,,	१६ ,,	४० ,,	२४ ,,		[illegible]

Bhāratīya Jñānapīṭha

Mūrtidevī Jaina Granthamālā

General Editors :

Dr. H. L. JAIN, Balaghat : Dr. A. N. UPADHYE, Mysore.

The Bhāratīya Jñānapīṭha, is an Academy of Letters for the advancement of Indological Learning. In pursuance of one of its objects to bring out the forgotten, rare unpublished works of knowledge, the following works are critically or authentically edited by learned scholars who have, in most of the cases, equipped them with learned Introductions, etc. and published by the Jñānapīṭha.

Mahābandha or the Mahādhavalā :

This is the 6th Khaṇḍa of the great Siddhānta work [illegible] of Bhūtabali : The subject matter of this work is of a highly technical nature which could be interesting only to those adepts in Jaina Philosophy who desire to probe into the minutest details of the Karma Siddhānta. The entire work is published in 7 volumes. The Prākrit Text which is based on a single Ms. is edited along with the Hindī Translation. Vol. I [illegible] Pt. S. C. DIWAKAR and Vols. II to VII by Pt. PHOOLCHANDRA, Prākrit Grantha Nos. 1, 4 to 9. Super Royal Vol. I : pp. [illegible]; Vol. II : pp. 4 + 40 + 440; Vol. III : pp. 10 + 496; Vol. IV : pp. [illegible]; Vol. V : pp. 4 + 460; Vol. VI : pp. 22 + 370; Vol. VII : pp. 8 + 324. [illegible] to 1958. Vol. I Second edition 1966. Price Rs. 15 – [illegible]

Karalakkhaṇa :

This is a small Prākrit Grantha dealing with [illegible] The Text is edited along with a Sanskrit [illegible] Prof. P. K. MODI. Prākrit Grantha No. 3. [illegible] Third edition 1964. Price Rs. 1.50.

Madanaparājaya :

An allegorical Sanskrit Campū by N[illegible] or so) depicting the subjugation of [illegible] MAR JAIN with a Hindī Introduction [illegible] No. 1. Super Royal pp. [illegible]

Kannada Prāntīya [illegible]

A descriptive [illegible] [illegible] Pt. K. [illegible] Last edition [illegible] Price Rs. [illegible]

Ratna-Mañjūṣā with Bhāṣya :

An anonymous treatise on Sanskrit prosody. Edited with a critical Introduction and Notes by Prof. H. D. VELANKAR. Sanskrit Grantha No. 5. Super Royal pp. 8 + 4 + 72. First edition 1949. Price Rs. 3/-.

Nyāyaviniścaya-vivaraṇa :

The Nyāyaviniścaya of Akalaṅka (about 8th century A. D.) with an elaborate Sanskrit commentary of Vādirāja (*c.* 11th century A. D.) is a repository of traditional knowledge of Indian Nyāya in general and of Jaina Nyāya in particular. Edited with Appendices, etc. by Pt. MAHENDRAKUMAR JAIN. Sanskrit Grantha Nos. 3 and 12. Super Royal Vol. I : pp. 68 + 546; Vol. II : pp. 66 + 468. First edition 1949. and 1954. Price Rs. 18/-each.

Kevalajñāna-Praśna-cūḍāmaṇi :

A treatise on astrology, etc. Edited with Hindī Translation, Introduction, Appendices, Comparative Notes etc. by Pt. NEMICHANDRA JAIN. Sanskrit Grantha No. 7. Second edition 1969. Price Rs. 5/-.

Nāmamālā :

This is an authentic edition of the Nāmamālā, a concise Sanskrit Lexicon of Dhanaṁjaya (*c.* 8th century A. D.) with an unpublished Sanskrit commentary of Amarkīrti (*c.* 15th century A. D.). The Editor has added almost a critical Sanskrit commentary in the form of his learned and intelligent foot-notes. Edited by Pt. SHAMBHUNATH TRIPATHI, with a Foreword by Dr. P. L. VAIDYA and a Hindī Prastāvanā by Pt. MAHENDRAKUMAR. The Appendix gives Anekārtha nighaṇṭu and Ekākṣarī-kośa. Sanskrit Grantha No. 6. Super Royal pp. 16 + 140. First edition 1950. Price Rs. 4/50.

Samayasāra :

An authoritative work of Kundakunda on Jaina spiritualism. Prākrit Text, Sanskrit Chāyā. Edited with an Introduction, Translation and Commentary in English by Prof. A. CHAKRAVARTI. The Introduction is a masterly dissertation and brings out the essential features of the Indian and Western thought on the all important topic of the Self. English Grantha No. 1. Super Royal pp. 10 + 162 + 244. Second edition 1971. Price Rs. 15/—.

Jātakaṭṭhakathā :

This is the first Devanāgarī edition of the Pāli Jātaka Tales which are a storehouse of information on the cultural and social aspects of ancient India. Edited by Bhikshu DHARMARAKSHITA. Pāli Grantha No. 1, Vol. 1. Super Royal pp. 16 + 384. First edition 1951. Price Rs. 9/-.

Mahāpurāṇa :

It is an important Sanskrit work of Jinasena-Guṇabhadra, full of encyclopaedic information about the 63 great personalities of Jainism and about Jaina lore in general and composed in a literary style. Jinasena (837 A. D.) is an outstanding scholar, poet and teacher; and he occupies a unique

place in Sanskrit Literature. This work was completed by his pupil Guṇabhadra. Critically edited with Hindī Translation, Introduction, Verse Index, etc. by PT. PANNALAL JAIN. Sanskrit Grantha Nos. 8, 9 and 14. Super Royal : Vol. I : pp. 8 + 68 + 746, Vol. II : pp. 8 + 555: Vol. III : pp. 24 + 708; Second edition 1963–68. Price Rs. 20/- each.

Vasunandi Śrāvakācāra :

A Prākrit Text of Vasunandi (*c.* Saṁvat first half of 12th century) in 546 gāthās dealing with the duties of a householder, critically edited along with a Hindī Translation by PT. HIRALAL JAIN. The Introduction deals with a number of important topics about the auther and the pattern and the sources of the contents of this Śrāvakācāra. There is a table of contents. There are some Appendices giving important explanations, extracts about Pratiṣṭhāvidhāna, Sallekhanā and Vratas. There are 2 Indices giving the Prākrit roots and words with their Sanskrit equivalents and an Index of the gāthās as well. Prāktit Grantha No. 3. Super Royal pp. [illegible]. First edition 1952. Price Rs. 6/-.

Tattvārthavārttikam or Rājavārttikam :

This is an important commentary composed by the great logician [illegible] on the Tattvārthasūtra of Umāsvāti. The text of the commentary is critically edited giving variant readings from different Mss. by Prof. MAHENDRAKUMAR JAIN. Sanskrit Grantha Nos. 10 and 20. Super Royal Vol. I : pp. 16 + 430; Vol. II : pp. 18 + 435. First edition [illegible]. Price Rs. 12/- for each Vol.

Jinasahasranāma :

It has the Svopajña commentary of Paṇḍita Āśādhara [illegible]. In this edition brought out by PT. HIRALAL a number of [illegible] of Jinasahasranāma composed by Āśādhara, [illegible] Hemacandra are given. Āśādhara's text is accompanied [illegible] tion. Śrutasāgara's commentary of the same [illegible] a Hindī Introduction giving information about [illegible] some useful Indices. Sanskrit Grantha No. 11. [illegible] edition 1954. Price Rs. 6/-.

Purāṇasāra-Saṁgraha :

This is a Purāṇa in Sanskrit by [illegible] of Tīrthaṁkaras and other great persons [illegible] a Hindī Translation and a short [illegible] Grantha Nos. 15 and [illegible] 16 + 205, First edition [illegible]

Sarvārtha-Siddhi :

[illegible]

Jainendra Mahāvṛtti :

This is an exhaustive commentary of Abhayanandi on the *Jainendra Vyākaraṇa*, a Sanskrit Grammar of Devanandi alias Pūjyapāda of circa 5th-6th century A. D. Edited by Pts. S. N. TRIPATHI and M. CHATURVEDI. There are a Bhūmikā by Dr. V. S. AGRAWALA, *Devanandikā Jainendra Vyākaraṇa* by PREMI and *Khilapāṭha* by MIMĀṀSAKA and some useful Indices at the end. Sanskrit Grantha No. 17. Super Royal pp. 56 + 506. First edition 1956. Price Rs. 18/-.

Vratatithinirṇaya :

The Sanskrit Text of Sinhanandi edited with a Hindī Translation and detailed exposition and also an exhaustive Introduction dealing with various Vratas and rituals by Pt. NEMICHANDRA SHASTRI. Sanskrit Grantha No. 19. Crown pp. 80 + 200. First edition 1956. Price Rs. 5/-.

Pauma-cariu :

An Apabhraṁśa work of the great poet Svayambhū (677 A. D.). It deals with the story of Rāma. The Apabhraṁśa text with Hindī Translation and Introduction of Dr. DEVENDRAKUMAR JAIN, is published in 5 Volumes. Apabhraṁśa Grantha. Nos. 1, 2, 3, 8 & 9. Crown Vol. I : pp. 28 + 333; Vol. II : pp. 12 + 377; Vol. III : pp. 6 + 253, Vol. IV : pp. 12 + 342, Vol. V : pp. 18 + 354. First edition 1957 to 1970. Price Rs. 5/- for each vol.

Jīvaṁdhara-Campū :

This is an elaborate prose Romance by Haricandra written in Kāvya style dealing with the story of Jīvaṁdhara and his romantic adventures. It has both the features of a folk-tale and a religious romance and is intended to serve also as a medium of preaching the doctrines of Jainism. The Sanskrit Text is edited by PT. PANNALAL JAIN along with his Sanskrit Commentary, Hindī Translation and Prastāvanā. There is a Foreword by PROF. K. K. HANDIQUI and a detailed English Introduction covering important aspects of Jivaṁdhara tale by Drs. A. N. UPADHYE and H. L. JAIN. Sanskrit Grantha No. 18. Super Royal pp. 4 + 24 + 20 + 344. First edition 1958. Price Rs. 15/-.

Padma-purāṇa :

This is an elaborate Purāṇa composed by Raviṣeṇa (V. S. 734) in stylistic Sanskrit dealing with the Rāma tale. It is edited by PT. PANNALAL JAIN with Hindī Translation, Table of contents, Index of verses and Introduction in Hindī dealing with the author and some aspects of this Purāṇa. Sanskrit Grantha Nos. 21, 24, 26. Super Royal Vol. I : pp. 44 + 548; Vol. II : pp. 16 + 460; Vol. III : pp. 16 + 472. First edition 1958-1959. Price Vol. I Rs. 16/-, Vol. II Rs. 16/-, Vol. III Rs. 13/-.

Siddhi-viniścaya :

This work of Akalaṅkadeva with Svopajñavṛtti along with the commentary of Anantavīrya is edited by Dr. MAHENDRAKUMAR JAIN. This is a new find and has great importance in the history of Indian Nyāya literature. It is a feat of editorial ingenuity and scholarship. The edition is equipped with

exhaustive, learned Introductions both in English and Hindi, and they shed abundant light on doctrinal and chronological problems connected with this work and its author. There are some 12 useful Indices. Sanskrit Grantha Nos. 22, 23. Super Royal Vol. I : pp. 16 + 174 + 370; Vol II : pp. 8 + 808. First edition 1959. Price Rs. 20/-and Rs. 16/-.

Bhadrabāhu Saṁhitā :

A Sanskrit text by Bhadrabāhu dealing with astrology, omens, portents, etc. Edited with a Hindī Translation and occasional Vivecana by PT. NEMICHANDRA SHASTRI. There is an exhaustive Introduction in Hindī dealing with Jain Jyotiṣa and the contents, authorship and age of the present work. Sanskrit Grantha No. 25. Super Royal pp. 72 + 416. First edition [illegible]. Price Rs. 14/-.

Pañcasaṁgraha :

This is a collective name of 5 Treatises in Prākrit dealing with the [illegible] doctrine the topics of discussion being quite alike with those in the [illegible] ṭasāra, etc. The Text is edited with a Sanskrit Commentary, Prākrit [illegible] by PT. HIRALAL who has added a Hindī Translation as well. A [illegible] Text of the same name by one Śrīpāla is included in this volume. There are a Hindī Introduction discussing some aspects of this work, a [illegible] contents and some useful Indices. Prākrit Grantha No. 10. Super Royal pp. 60 + 801. First edition 1960. Price Rs. 21/-.

Mayaṇa-parājaya-cariu :

This Apabhraṁśa Text of Harideva is critically edited [illegible] Translation by PROF. DR. HIRALAL JAIN. It is an [illegible] with the defeat of the god of love by Jina. This edition [illegible] learned Introduction both in English and Hindī. [illegible] important passages from Vedic, Pāli and Sanskrit [illegible] explanatory Notes, and there is an Index [illegible] Grantha No. 5. Super Royal pp. [illegible]

Harivaṁśa Purāṇa :

This is an elaborate Purāṇa by [illegible] dealing with the Harivaṁśa in which [illegible] about Kṛṣṇa and Pāṇḍavas. The [illegible] lation and Introduction giving [illegible] a detailed Table of contents and [illegible] an Index of significant words by Pt. [illegible] 27. Super Royal pp. 12 + [illegible]

[illegible]

[illegible]

Upāsakādhyayana :

It is a portion of the Yaśastilaka-campū of Somadeva Sūri. It deals with the duties of a householder. Edited with Hindi Translation, Introduction and Appendices, etc. by Pt. KAILASHCHANDRA SHASTRI. Sanskrit Grantha No. 28. Super Royal pp. 116 + 539. First edition 1964. Price Rs. 16/-.

Bhojacaritra :

A Sanskrit work presenting the traditional biography of the Paramāra Bhoja by Rājavallabha (15th century A. D.). Critically edited by Dr. B. CH. CHHABRA, Jt. Director General of Archaeology in India and S. SANKARNARAYANA with a Historical Introduction and Explanatory Notes in English and Indices of Proper names. Sanskrit Grantha No. 29. Super Royal pp. 24 + 192. First edition 1964. Price Rs. 8/-.

Satyaśāsana-parīkṣā :

A Sanskrit text on Jain logic by Ācārya Vidyānanda critically edited for the first time by Dr. GOKULCHANDRA JAIN. It is a critique of selected issues upheld by a number of philosophical schools of Indian Philosophy. There is an English compendium of the text, by Dr. NATHMAL TATIA. Sanskrit Grantha No. 30. Super Royal pp. 56 + 34 + 62. First edition 1964. Price Rs. 5/-.

Karakaṇḍa-cariu :

An Apabhraṁśa text dealing with the life story of king Karakaṇḍa, famous as 'Pratyeka Buddha' in Jaina & Buddhist literature. Critically edited with Hindī & English Translations, Introductions, Explanatory Notes and Appendices, etc. by Dr. HIRALAL JAIN. Apabhraṁśa Grantha No 4. Super Royal pp. 64 + 278. 1964. Price Rs. 15/-.

Sugandha-daśamī-kathā :

This edition contains Sugandha-daśamī-kathā in five languages, viz. Apabhraṁśa, Sanskrit, Gujarātī, Marāṭhī and Hindī, critically edited by Dr, HIRALAL JAIN. Apabhraṁśa Grantha No. 6. Super Royal pp. 20 + 26 + 100 + 16 and 48 Plates. First edition 1966. Price Rs. 11/-.

Kalyāṇakalpadruma :

It is a Stotra in twenty five Sanskrit verses Edited with Hindī Bhāṣya and Prastāvanā, etc. by Pt. JUGALKISHORE MUKHTAR. Sanskrit Grantha No. 32. Crown pp. 76. First edition 1967. Price Rs. 1/50.

Jaṁbū sāmi cariu :

This Apabhraṁśa text of Vīra Kai deals with the life story of Jaṁbū Svāmi a historical Jaina Ācārya who passed in 463 A. D. The text is critically edited by Dr. VIMAL PRAKASH JAIN with Hindī translation, exhaustive introduction and indices, etc. Apabhraṁśa Grantha No. 7. Super Royal pp. 16 + 152 + 402. First edition 1968. Price Rs. 15/-.

Gadyacintāmaṇi :

This is an elaborate prose romance by Vādibha Singh Sūri, written in Kāvya style dealing with the story of Jīvaṁdhara and his romantic adventures. The Sanskrit text is edited by PT. PANNALAL JAIN along with his Sanskrit Commentary, Hindī Translation, Prastāvanā and indices, etc. Sanskrit Grantha No. 31. Super Royal pp. 8 + 10 + 258. First edition [illegible]. Price Rs. 12/-.

Yogasāra Prābhṛta :

A Sanskrit text of Amitagati Ācārya dealing with Jaina Yoga vidyā. Critically edited by Pt. JUGALKISHORE MUKHTAR with Hindī Bhāṣya, Prastāvanā, etc. Sanskrit Grantha No. 33. Super Royal pp. 44 + 236. First edition [illegible]. Price Rs. 8/-.

Karma-Prakṛti :

It is a small Sanskrit text by Abhayacandra Siddhāntacakravartī dealing with the Karma doctrine. Edited with Hindī translation, etc. by Pt. [illegible] CHANDRA JAIN. Sanskrit Grantha No. 31. Crown pp. 92. First edition [illegible]. Price Rs. 2/-.

Dvisaṁdhāna Mahākāvya :

The Dvisaṁdhāna Mahākāvya also called Rāghava Pāṇḍavīya [illegible] aṁjaya is perhaps one of the oldest if not the only [illegible] Dvisaṁdhāna Kāvya. Edited with Sanskrit commentary of [illegible] Hindī translation by Prof. KHUSHALCHANDRA GORAWALA. [illegible] General Editorial by Dr. H. L. Jain and Dr. A. N. Upadhye [illegible] tha No. 35. Super Royal pp. 32 + 401. First edition [illegible]

Saddarśanasamuccaya :

The earliest known compendium giving [illegible] Darśanas, i. e. six systems of Indian Philosophy [illegible] Sūri, Edited with the commentaries of [illegible] with Hindī translation, Appendices, etc. by [illegible] NYĀYĀCĀRYA. There is a Hindī Introduction [illegible] Sanskrit Grantha No. 36. Super Royal pp. [illegible] Price Rs. 2[illegible]

Śākaṭāyana Vyākaraṇa with Amo[illegible]

An authentic Sanskrit Grammar [illegible] by Pt. [illegible] tion by Prof. [illegible] etc. Sanskrit Grantha No. 37 [illegible] 1971. Price Rs. 3[illegible]

[illegible]

[illegible]

Some Twenty-one thousand subjects are dealt in four vols. Compiled and edited by Śrī Jinendra Varṇī. All the four volumes are published and as Sanskrit Grantha No. 38, 40, 42, and 44. Super Royal pp. Vol. I pp. 516, Vol. II pp. 642, Vol. III pp. 637, Vol.IV pp. 544. First edition 1970-73. Price Vol. I Rs. 50/-, Vol. II Rs. 55/-, Vol. III Rs. 55/-, and Vol. IV Rs. 50/-. Advance Price for full set Rs. 150/-.

Dharmaśarmābhyudaya :

This is a Sanskrit Mahākāvya of very high standard by Mahākavi Haricandra. Edited with Sanskrit commentary, Hindī translation, Introduction and Appendices, etc. by PT. PANNALAL JAIN. Sanskrit Grantha No. 39. Super Royal pp. 30 + 397. First edition 1971. Price Rs. 20/-.

Nayacakra (Dravyasvabhāvaprakāśaka) :

This is a Prakrit text by Śrī Māilla Dhavala dealing with the Jaina Theory of Naya covering all the other topic dealt in the Ālāpapaddhati, Edited with Hindī translation and useful indices, etc. by PT. KAILASH CHANDRA SHASTRI. In this edition Ālāpapaddhati of Devasena and Nayavivaraṇa from Tattvārthavārtika are also included with Hindī translations. Prakrit Grantha No. 12. Super Royal pp. 50 + 276. First edition 1971. Price Rs. 15/-.

Purudevacampū :

It is a stylistic Campūkāvya in Sanskrit composed by Arhaddāsa of the 13-14th century of the Vikrama era. Edited with a Sanskrit Commentary, Vāsantī, and Hindi Translation by Pt. Pannalal Jaina. Sanskrit Grantha No. 41. Super Royal pp. 36 + 428. Delhi 1972. Price Rs. 21/-.

Ṇāyakumāracariū

An Apabhraṁśa Poem of Puṣpadanta (10th century A.D.), critically edited from old Mss. with an Exhaustive Introduction, Hindi Translation, Glossary and Indices, Old Ṭippaṇa and English Notes by Dr. Hiralal Jaina. This is a Second Revised edition. Apabhraṁśa Grantha No. 10. Super Royal pp. 32 + 48 + 276. Delhi 1972. Price Rs. 18/-.

Jasaharacariū :

It was first edited by Dr. P. L. Vaidya. Here is a Second edition of the same with the addition of Hindi Translation and Hindi Introduction by Dr. Hiralal Jaina. This is the famous Apabhraṁśa Poem of Puṣpadanta (10th century A.D.), so well-known for its story. Apabhraṁśa Granth No. 11. Super Royal pp. 64 + 246. Delhi 1972. Price Rs. 18/-.

Dakṣiṇa Bhārata Men Jaina Dharma :

A study in the South Indian Jainism by PT. KAILASH CHANDRA SHASTRI. Hindī Grantha No. 12. Demy pp. 209. First edition 1967. Price Rs. 7/-.

Sanskrit Kāvya ke Vikāsa men Jaina Kaviyon kā Yogadāna :

A study of the contribution of Jaina Poets to the Development of Sanskrit Kāvya literature by Dr. NEMI CHANDRA SHASTRI. Hindī Grantha No. 14. Demy pp. 32 + 684. First edition 1971. Price Rs. 30/-.

For Copies Please write to :

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA,
B/45–47, Connaught Place, New Delhi–1